प्राचीन भारत का इतिहास

प्राचीन भारत का इतिहास

(ANCIENT HISTORY OF INDIA)

ओमप्रकाश
एम० ए० पी-एच० डी०
प्राध्यापक इतिहास विभाग
किरोडीमल कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

पुनर्मुद्रित संस्करण

विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा० लि०
दिल्ली ◆ बम्बई ◆ बंगलोर ◆ कानपुर ◆ लन्दन

द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का प्रथम सस्करण प्रकाशित होने के उपरान्त पुरातत्त्व सम्बन्धी कुछ नई खाजे हुई है जिनसे प्राचीन भारत के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडा है। पहले हिन्दी क्षेत्र मे भी अधिकतर विश्वविद्यालयों ने बी० ए० के विद्यार्थियो को ही हिन्दी माध्यम द्वारा परीक्षा देने की सुविधा प्रदान की थी। अब इस क्षेत्र के अनेक विश्वविद्यालयो ने ऑनर्स और एम० ए० के विद्यार्थियो का भी ऐसा करने की अनुमति दे दी है। इसलिए इस सस्करण मे सभी अध्यायो के विवेच्य विषय का मैंने आमूल सशोधन और परिवर्द्धन किया है।

इस सस्करण की प्रमुख विशेषताएँ निम्न है अध्याय २ मे पुरातत्त्व सम्बन्धी साधनो का अधिक पूर्ण विवेचन, अध्याय ३ मे नवीन खाजो के आधार पर प्रागैतिहासिक सभ्यताओ का विस्तृत वर्णन; अध्याय ८ मे चार्वाको और आजीविको के सिद्धान्तो का विवेचन, अध्याय १० मे मौर्य शासन व्यवस्था के अन्तर्गत 'कण्टक शोधन' न्यायालयो का महत्त्व, अध्याय ११ मे शक सातवाहन सघर्ष का अलग वर्णन तथा सुदूर दक्षिण के राज्यो के प्रारंभिक इतिहास तथा शगम साहित्य का विवेचन, अध्याय १२ के अन्त मे बौद्धकला तथा व्यापार और वाणिज्य पर दो नये परिशिष्ट, अध्याय १३ के प्रारम्भ मे गुप्तकालीन और अध्याय २३ के प्रारभ मे चोल इतिहास के साधनो का विवेचन और अध्याय १८ मे सामन्तवाद के सभी पहलुओं और राजपूत शासन पद्धति का विशद विवेचन। भारत के विदेशो के साथ सम्बन्धो का वर्णन काल क्रमानुसार अलग अलग अध्यायो मे न करके केवल अध्याय २८ मे कर दिया गया है जिससे कि विद्यार्थी इस विषय को सरलता से समझ सके।

मै विशेष रूप से श्रीमती शारदा चावला का आभारी हूं क्योकि उन्होने बडे परिश्रम से इस पुस्तक की भाषा का समाजन करके पुस्तक की उपयोगिता बढाने की दिशा मे स्तुत्य प्रयत्न किया है।

मुझे पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक अपने सशोधित और परिवर्द्धित रूप मे प्राचीन भारत के इतिहास के विद्यार्थियो के लिए तो उपयोगी सिद्ध होगी ही साथ ही हिन्दी भाषा क्षेत्र के भारतीय संस्कृति मे रुचि रखने वाले व्यक्तियो के लिए भी ज्ञान वृद्धि मे सहायक होगी।

१ अगस्त, १९७१ —ओमप्रकाश

प्रथम सस्करण की भूमिका

इस पुस्तक के लिखने मे मेरा उद्देश्य यही रहा कि अभी तक हुई शोधो के आधार पर प्राप्त ज्ञान का उपयोग करके पाठकों के सामने काल-विशेष की यथार्थ स्थिति प्रस्तुत करूँ। इसके लिए मैंने प्राचीन भारत के इतिहास पर लिखी अनेक पुस्तको का उपयोग तो किया ही है, किन्तु साथ ही पुरातत्त्ववेत्ताओ के निष्कर्षों का भी उपयोग किया है जिन से उन युगो पर जो अब

तक अन्धकार युग कहलाते थे, कुछ प्रकाश पडा है। इस पुस्तक मे राजनीतिक इतिहास के साथ-साथ शासन-व्यवस्था, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक अवस्था, शिक्षा, साहित्य व कला के विकास पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। कुछ ऐसे विषयो पर भी जो अधिकतर प्राचीन भारत के इतिहास की पहेली बने हुए हैं सक्षेप मे कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है, जैसे कि कनिष्क की तिथि और रामगुप्त की समस्या।

कुछ विद्वान् गुप्तोत्तर-काल का इतिहास सभवत एक ही अध्याय मे देना अधिक ठीक समझेगे किन्तु १००० ई० के लगभग त्रिदलीय सघर्ष समाप्त हो जाता है और पाल, प्रतीहार और राष्ट्रकूट राजाओ ने विकेन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को रोकने के लिए जो प्रयत्न किये थे वे समाप्त हो जाते हैं। उत्तर भारत के अनेक राज्य उस समय तक प्रतीहारो को अपना अधिपति मानते थे। १००० ई० के पश्चात् अनेक शक्तिशाली राज्य भी आपस मे लडकर अपनी शक्ति क्षीण करने लगते है इसीलिए १००० ई० के पश्चात् के राजवशो का वर्णन अलग अध्यायो मे दिया गया है।

वेदोत्तर कालीन साहित्य मे महाभारत, रामायण और धर्म-शास्त्रो के प्रणयन का सर्वथा ठीक समय अनिश्चित है। रामायण की सस्कृति प्राय सूत्रकालीन सस्कृति से मिलती-जुलती है। महाभारत मे अनेक स्तर है किन्तु धर्मशास्त्रीय स्तर उसी भृगु-वश की कृति है जिसकी देन वर्त्तमान मनुस्मृति है। इनमे प्रदर्शित सस्कृति मे भी पर्याप्त समानता है। इस अध्याय की कुछ सामग्री कार्यक्रम के विचार से आठवे अध्याय के साथ भी दी जा सकती है किन्तु वैदिक सस्कृति के क्रमिक विकास को दिखाने के लिए मैंने इसे उत्तर-वैदिक-काल की सभ्यता के ठीक बाद ही रखना उचित समझा। आठवे अध्याय मे मुख्य रूप से बौद्ध-जैन आदि अवैदिक सिद्धान्तो का वर्णन रखा गया है।

कला के विकास को समझने के लिए काल-विशेष की प्रमुख कलात्मक कृतियो के चित्र देना आवश्यक था। इसीलिए कुछ चुने हुए चित्र दिए जा रहे है। विदेशो मे भारतीय सस्कृति के प्रसार का भी सक्षेप मे वर्णन दिया गया है जिसमे पाठको की यह निर्मूल भावना दूर हो जाए कि भारतीय सदा से कूपमडूक रहे हैं।

अन्त मे मै उन सब विद्वानो के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थो से मुझे इस पुस्तक के लिखने मे सहायता मिली है। इन पुस्तको की सूची प्रत्येक अध्याय के अन्त मे दी गई है जिससे विद्यार्थी उनका उपयोग साथ-साथ कर सके। पुस्तक को लिखने की प्रेरणा मुझे अपने इतिहास-गुरु डॉ० विश्वेश्वर प्रसाद जी से मिली और पथ-प्रदर्शन डॉ० दशरथ शर्मा जी ने किया है। उनके प्रति आभार प्रकट करना एक धृष्टता होगी। इस दिशा मे यह मेरा प्रथम प्रयास है, इसलिए सम्भव है कुछ त्रुटियाँ रह गई हो। उनके लिए मैं पूर्णतया अपने को उत्तरदायी मानता हूँ।

आशा है कि विश्वविद्यालयो के विद्यार्थियो के अतिरिक्त भारतीय सस्कृति मे रुचि रखने वाले अन्य पाठकों के लिए भी यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

—लेखक

विषय-सूची

अध्याय १

भारत की भौगोलिक स्थिति और उसकी सांस्कृतिक एकता

(Geographical Background and Cultural Unity of India)

हमारे देश के दो नाम है--भारत[1] और हिन्दुस्तान । पुराणों के अनुसार राजा दुष्यन्त के प्रतापी पुत्र भरत ने समस्त भारत मे अपना चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करके आर्य सस्कृति का प्रचार किया, तभी से यह देश भारत कहलाया । पुराणो मे उत्तर मे इसकी सीमा हिमालय पर्वत और दक्षिण मे समुद्र बतलाई गई है । आर्यो के भारत आगमन पर सिन्धु नदी का प्रदेश उनकी सस्कृति का प्रधान केन्द्र रहा । इसलिए इस प्रदेश के निवासी 'सिन्धु' कहलाने लगे । ईरान मे लोग इन्हे 'हिन्दु' पुकारते थे अत हमारे देश को वे 'हिन्दुस्तान' कहने लगे । यूनानी लोग सिन्धु नदी को 'इण्डस' कहते थे । इसी से यूरोपीय लोग हमारे देश को 'इण्डिया' कहने लगे ।

सभ्यता के उद्गम के समय मनुष्य अपनी भौगोलिक स्थिति पर पूर्णतया निर्भर था । इसीलिए प्रारम्भिक सभ्यताओ का विकास नदी घाटियो मे हुआ जहाँ जीवन-निर्वाह के साधन सुलभ थे । क्रमश मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करके भौगोलिक स्थिति को अपने अनुकूल बनाकर जीवन को अधिक सुखी बना लिया । परन्तु देश के पहाड, नदियाँ, मरुस्थल और समुद्र देश-निवासियो पर सदैव अपनी गहरी छाप छोड जाते है । मनुष्यो के विचार, राष्ट्रीय चरित्र और सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक सस्थाएँ भी बहुत अश तक भौगोलिक स्थितियो से प्रभावित होती है । भारत के इतिहास पर भी यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति का बहुत प्रभाव पडा है । अत उस पर विचार करना आवश्यक है ।

पहाडो और समुद्रो जैसी कुछ भौगोलिक रुकावटे भारत और पाकिस्तान के उपमहाद्वीप को अन्य देशो से अलग करती है । उत्तर के पहाडो और दक्षिण के समुद्र ने भारत को पूर्णतया एक भौगोलिक इकाई बना दिया है । इन भौगोलिक परिस्थितियो के कारण भारत निवासी किसी सीमा तक विदेशियो के आक्रमणो से सुरक्षित रहे किन्तु पूर्णतया नही । समय-समय पर विदेशियो के आक्रमण होते रहे । इन भौगोलिक विशेषताओं के कारण ही भारत की एक विशिष्ट सस्कृति रही है, परन्तु साथ ही इस पर विदेशी सस्कृतियो ने भी अपना पर्याप्त प्रभाव डाला है ।

भारत एक विशाल देश है । इसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम तक लगभग ४,००० किलोमीटर और उत्तर से दक्षिण तक लगभग ३,२०० किलोमीटर है । हमारे देश की अनेक भौगोलिक विशेषताए है । इसमे अनेक ऊँचे और दुर्गम पहाडी स्थान, नीचे उपजाऊ मैदान,

१. स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमारी सरकार ने इस देश का नाम 'भारत' ही स्वीकार किया है ।

ऊँचे पठार, घने जगल, एकान्त नदी घाटियाँ और ऊजड मरुस्थल है। इसमे उष्णतम मैदान, और शीततम पहाडी प्रदेश सभी विद्यमान है।

भौगोलिक विशेषताओं के आधार पर हम भारत का निम्नलिखित आठ भागो मे बाँट सकते हैं और इसी क्रम से हम भारत के इतिहास पर इनके प्रभाव का विवेचन करेंगे —

१ हिमालय पर्वत
२ उत्तर-पश्चिम के प्रवेश द्वार
३ गगा-सिन्ध का मैदान
४. मरुप्रदेश
५. मध्यभारत का पठार
६ दक्षिण का पठार
७ तटीय प्रदेश
८ समुद्र

हिमालय पर्वत

भारत के उत्तर म हिमालय पर्वत की श्रेणियां हैं जो लगभग २५६० किलोमीटर लम्बी और २४० से ३२० किलोमीटर चौडी है। इस पर्वत की ११४ चोटियाँ है जिनमे गौरीशकर या एवरेस्ट ९०६३ मीटर ऊँची है। कुछ अन्य प्रसिद्ध चोटियाँ कचनजघा, धौलागिरी तथा नन्दादेवी है। ये श्रेणियाँ एक धनुष की भाति काश्मीर से आसाम तक फैली हुई है। पश्चिम मे काराकोरम, हिन्दुकुश, सफेदकोह और सुलेमान पर्वत भारत को अफगानिस्तान से और किरथार पर्वत बिलोचिस्तान से अलग करते है। हिन्दुकुश पर्वत को हम उत्तर-पश्चिम म भारत की प्राकृतिक सीमा कह सकते है। उत्तर-पूर्व मे अनेक पर्वत शृखलाएँ है जो भारत को बर्मा से अलग करती है। इन पर्वत श्रेणियो मे पूर्व की पतकोई, लुशाई और चटगाव की पहाडियाँ भी शामिल है। इनका भारत की सस्कृति पर गहरा प्रभाव पडा। हिमालय की ऊँचाई और दुर्गमता के कारण हिन्दू लोग इन्हे देवताओं का निवास-स्थान समझते चले आए है। अमरनाथ, ज्वाला-मुखी, हरिद्वार, केदारनाथ, बदरीनाथ, पशुपतिनाथ आदि पवित्र तीर्थ हिमालय मे स्थित है। कैलाश पर्वत को शिव का निवास-स्थान भी माना गया है। इसके उत्तर मे तिब्बत का पठार है जो अधिक उपजाऊ नही है। वायुयानो के आविष्कार स पूर्व भारत मे किसी विदेशी जाति का आना बहुत कठिन था, इसीलिए भारत उत्तर की ओर मे बहुत-कुछ सुरक्षित रहा। परन्तु वैज्ञानिक आविष्कारो द्वारा तिब्बत का पार करना अब इतना कठिन नही रहा है और चीन ने इसी प्रदेश से होकर भारत के नीफा और लद्दाख प्रदेश पर आक्रमण किया था। वायुसेनाओं के कारण भी भारत की स्थिति उत्तर से अब पहले की भाँति सुरक्षित नही रह गई है।

इन पर्वतीय प्रदेशो मे कुछ ऊँचे पठार और कुछ घाटियां हैं। भारत के पश्चिम मे बिलोचिस्तान और अफगानिस्तान के पठार है। काश्मीर का पठार ससार के सुन्दरतम स्थानों मे से एक है। इसकी लम्बाई १२८ किलोमीटर और चौडाई ४० किलोमीटर है। इसके पूर्व मे नेपाल का राज्य है जो चारो ओर ऊँची पहाडियो से घिरा है जिनके बीच मे उपजाऊ मैदान है। इन पठारो के निवासी साधारणतया देश के अन्य भागो के जन-जीवन से अलग रहे। इसीलिए काश्मीर, नेपाल और असम का इतिहास भारत के अन्य प्रदेशो के इतिहास मे प्राय. अलग रहा। किन्तु अफगानिस्तान का भारत के इतिहास मे प्रमुख भाग रहा क्योकि यह देश

भारत और ससार के अन्य देशो के प्रमुख मार्ग पर स्थित है। इन पर्वतीय प्रदेशो की नदी-घाटियो मे चिरकाल मे कुछ बलवान् जन-जातियां रहती चली आ रही है। इन जन-जातियो ने सिकन्दर और अरबों जैसे प्रबल शत्रुओं के विरुद्ध भी अपनी रक्षा की।

भारत के इतिहास पर हिमालय का बहुत अधिक प्रभाव पडा है, जिसके फलस्वरूप भारतीयो का एशिया महाद्वीप के अन्य देशो से सम्बन्ध न रहा और वे अन्तर्दर्शी हो गए। उन्होने अन्य देशो के निवासियो के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न ही नही किया। इसी पृथकता की भावना के कारण वे विदेशियो से घृणा करने लगे। अपने को सदा पूर्णतया सुरक्षित जानकर, उन्होने अपने देश के पहाड़ो मे परे के देशो की गतिविधियों को समझने का प्रयत्न ही न किया। इसीलिए जब विदेशियो ने भारत पर आक्रमण किया तो उन्हे बहुत आश्चर्य हुआ। हिन्दुकुश के पीछे हटी हुई सेनाओ के पजाब-आक्रमण पर उनकी नीद खुली और बडी जल्दी मे उन्होने शत्रुओं का सामना करने की तैयारी की। उनके हृदय मे यह भावना कभी जागृत न हुई कि भारत एशिया महाद्वीप के बहुत से देशो मे से एक है। इसीलिए उन्होने अन्य देशो के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का कभी प्रयत्न न किया।

उत्तर-पश्चिम के प्रवेश द्वार

हिमालय पर्वत के उत्तर-पश्चिमी भाग मे अनेक दर्रे है। इन सब मे खैबर का दर्रा, जो पेशावर के निकट है, सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस दर्रे के द्वारा बहुत से विदेशी पजाब पहुँचे। इन्ही दर्रों मे होकर सम्भवत आर्य लोग भारत आए। उनका यहाँ के आदि निवासियो से सम्पर्क हुआ, जिससे एक नई संस्कृति—जिसे हम हिन्दू संस्कृति कहते है—का विकास हुआ। इसके बाद ईरानियो ने भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो को कुछ समय के लिए अपने राज्यो मे मिलाया, और ३२७ ई० पू० मे सिकन्दर ने खैबर दर्रे से पजाब पर आक्रमण किया। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद अन्य यवन राज्य भी पजाब मे स्थापित हुए। बोलन के दर्रे से होकर शक लोग भारत आए तथा पजाब और सिन्ध मे बस गए। इसके बाद इन्ही उत्तर-पश्चिमी दर्रो से कुषाण भारत आए। कनिष्क के समय मे उनका साम्राज्य खोतन से सारनाथ तक फैल गया। गुप्त-काल मे हूणो के आक्रमण हुए। स्कन्दगुप्त ने कुछ समय के लिए उनको आगे बढने से रोका। परन्तु ५१० ई० के बाद उनके भारत पर अनेक सफल आक्रमण हुए। सन् ७१२ मे सिन्ध और उसके आस-पास के प्रदेश पर अरबो ने अधिकार कर लिया, किन्तु चालुक्य, राष्ट्रकूट और प्रतीहार राजाओ ने उन्हे आगे बढने से रोक दिया। महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी के समय से जो मुसलमान सुलतान भारत मे आ बसे वे भारतीय हो गए, किन्तु अपनी इस्लामी संस्कृति के कारण वे भारतीय समाज के उसी प्रकार अभिन्न भाग न बन सके जैसे कि शक, कुषाण और हूण हो गए थे। मुगल बादशाहो ने भी उत्तर-पश्चिम मे आकर ही उत्तर भारत मे अपना साम्राज्य स्थापित किया। इस प्रकार उत्तर-पश्चिम के ये दर्रे खैबर, गोमल और टोची भारत के प्रवेश द्वार रहे है।

ये दर्रे केवल आक्रमण के मार्ग ही नही थे, वरन् इनके द्वारा भारत का मध्य-एशिया, चीन, पश्चिमी एशिया और यूरोप से सांस्कृतिक सम्बन्ध बना रहा। हडप्पा और मोहनजोदडो का सम्भवत इन्ही के द्वारा अनेक बाहरी देशो से सम्बन्ध था। अशोक और कनिष्क ने अपने धर्म-प्रचारकों को बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का प्रचार करने के लिए इन्ही दर्रों से भेजा, और इन दर्रों के माध्यम से ही सिन्धु नदी के पश्चिम मे गान्धार, कापिश, कम्बोज और बाल्हीक

प्रदेशो पर भारत का सास्कृतिक प्रभाव पडा। उत्तर की ओर भी काफी ऊँचाई पर कुछ ऐसे दर्रे है जिनके द्वारा भारत का तिब्बत से व्यापारिक और सास्कृतिक सम्बन्ध रहा है।

उत्तर-पूर्व से आने-जाने के कोई अच्छे मार्ग नही है, क्योकि यहाँ घने जगल है तथा बहुत अधिक वर्षा के कारण सडके बह जाती है।

गंगा-सिन्ध का मैदान

हिमालय पर्वत के दक्षिण मे और विन्ध्याचल के उत्तर मे जो गगा, सिंध और ब्रह्मपुत्र नदियो का उपजाऊ मैदान है, वह लगभग ३२०० किलोमीटर लम्बा है। इस मैदान की लगभग सभी नदियाँ हिमालय पर्वत से निकली है। परन्तु सिन्धु और उसकी सहायक नदियो का ढाल पश्चिम की ओर है और गगा और उसकी सहायक नदियो का पूर्व की ओर। सबसे उपजाऊ भाग होने के कारण यह प्रदेश, जिसे आर्यावर्त कहते थे, सास्कृतिक और आर्थिक विकास का मुख्य केन्द्र रहा।

जीवन-निर्वाह के साधन सुलभ होने के कारण इसी प्रदेश मे धर्म, दर्शन, कला और साहित्य की आशातीत प्रगति हुई।

मौर्य, गुप्त, तुर्को और मुगल राजाओ ने अपने बडे साम्राज्य भी यही स्थापित किए। यह प्रदेश इतना महत्त्वपूर्ण रहा है कि मध्य भारत और दक्षिणापथ के कुछ राजवशो ने भी इस प्रदेश पर अधिकार करके अपने को चक्रवर्ती राजा बनाना चाहा। प्रतिष्ठान के सातवाहन, अवन्ति के राजा और पूना के पेशवाओ ने भी अपने सामने यही लक्ष्य रखा। राष्ट्रकूट राजाओ ने तो तीन बार कन्नौज पर अधिकार किया था।

पजाब मे गगा के मैदान मे पहुँचने का केवल एक सकरा मार्ग है। यह हिमालय की पहाडियो के दक्षिण मे और राजस्थान के मरुस्थल के उत्तर मे है। दिल्ली इसी मार्ग के दक्षिण मे है। इसी लिए इस प्रदेश का इतना सामरिक महत्त्व रहा है।

मरुप्रदेश

पजाब के दक्षिण मे राजस्थान का मरुस्थल है। अरावली की पहाडियाँ इसके दो भाग करती है। इन पहाडियो के पश्चिम मे मारवाड और गुजरात के नीचे प्रदेश है और पूर्व मे कोटा, बूँदी, उदयपुर और मालवा के ऊँचे प्रदेश। विदेशियो के आक्रमणो के कारण जिन जातियो को अपने निवास-स्थान छोडने पडे, उन्होने यहाँ की अनुकूल भौगोलिक परिस्थिति के कारण इसी प्रदेश मे शरण ली। इसी प्रदेश मे रहकर उत्तर-मध्यकाल मे राजपूत मुगलो से लोहा लेते रहे। जब सभ्य जातियो ने उत्तर भारत के भागो पर अधिकार कर लिया तो आदिम जातियो ने उपजाऊ प्रदेशो को छोड कर इसी मरुस्थल मे शरण ली। इसी कारण कोल, भील आदि जातियाँ आज तक इस मरुस्थल मे निवास करती है।

मध्यभारत का पठार

उत्तर भारत के मैदान के दक्षिण मे मध्यभारत का पठार है जो गुजरात से राजमहल तक फैला हुआ है। यह प्रदेश बहुत समय तक जगलो मे ढका रहा। इसके दक्षिण मे विन्ध्याचल और पश्चिम मे अरावली की पहाडियाँ है। इसी प्रदेश के पश्चिमी भाग मे मालवा और पूर्व मे बाघेलखण्ड है। यह समस्त पठार उत्तरी और दक्षिणी भारत की राजनीतिक हलचलो से काफी

प्रभावित रहा है ।

विन्ध्याचल का ढाल कुछ उत्तर की ओर है । विन्ध्याचल की उत्तर-पूर्वी श्रेणियाँ वाराणसी के पास गगा नदी से जा मिलती है । विन्ध्याचल और राजमहल की पहाडियो के बीच एक तग लम्बा मार्ग है, जिसके पश्चिम मे चुनार और पूर्व मे तेलियागढ़ी है । पश्चिमी और पूर्वी भारत के बीच यही सबसे महत्त्वपूर्ण मार्ग था, अत इसका सामरिक महत्त्व बहुत रहा है । इस मार्ग की रक्षा करने के लिए ही रोहतास, चुनार, कालिजर और ग्वालियर के दुर्ग बनाए गए ।

इस पठार मे दो समानान्तर पर्वत श्रेणियाँ है, उत्तर मे विन्ध्याचल और दक्षिण मे सतपुडा पर्वत । इन दोनो को नर्मदा की घाटी अलग करती है । मध्य भारत के पठार ही उत्तर भारत को दक्षिण भारत से अलग करते है । जो आदिम जातियाँ गगा-सिन्ध के मैदानो की शक्तिशाली जातियो की अपेक्षा निर्बल थी उन्होंने इस पठार की पहाडियो और जगलो मे शरण ली और सफलतापूर्वक अपनी रक्षा की ।

दक्षिण का पठार

दक्षिण का पठार विन्ध्याचल के कारण उत्तर भारत से अलग रहा है । यह दक्षिण मे नीलगिरि तक फैला हुआ है, तथा इसके पूर्व मे बगाल की खाडी और पश्चिम मे अरब सागर है । इस पठार का ढाल पश्चिम से पूर्व की ओर है । पश्चिम की ओर पश्चिमी घाट नाम के पहाड इसकी विदेशियो से रक्षा करते रहे है । पूर्वी घाट मे बहुत-सी छोटी-छोटी पहाडियाँ हैं जिनके बीच मे होकर महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी आदि नदियाँ पठार से पूर्वी तटीय प्रदेश की ओर बहती हैं । नर्मदा और ताप्ती पश्चिम का ओर बहती है । इन नदियो मे नाव चलाना सुगम नही है और ये सिचाई के लिए भी उपयोगी नही है । इस पठार के उत्तरी भाग मे बरार का प्रदेश है जो अपनी काली मिट्टी के कारण कपास उगाने के लिए बहुत उपयोगी है । प्रारम्भ मे इस भाग की सस्कृति का विकास उत्तर भारत की सस्कृति से बिना प्रभावित हुए सम्भवत स्वतन्त्र रूप से होता रहा होगा । किन्तु ब्राह्मण काल मे उत्तर और दक्षिण भारत मे सास्कृतिक आदान-प्रदान होने लगा, और कई अशो मे द्रविड और आर्य सस्कृतिया हिल-मिलकर एक हो गई है । उत्तर भारत के राजा स्थायी रूप से दक्षिण भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित नही कर पाए । जब गुप्त राजा उत्तर भारत मे राज्य कर रहे थे तब वाकाटक राजाओ का दक्षिण भारत के उत्तरी प्रदेश मे राज्य था और दक्षिण मे अनेक स्वतन्त्र राजा राज्य करते थे । दिल्ली के सुलतानो मे अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि और वारगल के राजाओ को हराने के लिए अपनी सेनाएँ भेजी, किन्तु शीघ्र ही दक्षिण की भौगोलिक स्थिति का प्रभाव इतिहास पर स्पष्ट दिखाई पडा । इस प्रदेश मे बहमनी वंश और विजयनगर के स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गए । सोलहवी शताब्दी के अन्त मे अकबर के समय से मुगलो ने इस प्रदेश पर अधिकार करने का प्रयत्न किया, किन्तु अपनी मृत्यु के समय तक भी औरगजेब पूरे दक्षिण भारत पर अपना अधिकार न कर सका ।

दक्षिण भारत के पर्वत, पठार और नदी-घाटियो ने भारत के इस भाग को अनेक छोटे-छोटे प्रदेशो मे बाँट दिया था । इसी कारण यहाँ बडे साम्राज्य स्थापित न हो सके और दक्षिण भारत की युद्ध-नीति और आर्थिक समृद्धि उत्तर भारत से भिन्न रही । दक्षिण भारत का प्रायद्वीप अफ्रीका और चीन के समुद्री मार्ग के ठीक मध्य मे स्थित है । अत. यहाँ समुद्री व्यापार एक ओर पूर्वी द्वीप समूह, चीन आदि पूर्वी देशो से और दूसरी ओर पश्चिमी एशिया, अफ्रीका और यूरोप तक से होता था । इसी कारण पूर्वी देशो मे भारतीयों ने अनेक उप-

निवेश बसाए। दक्षिण भारत के कुछ राजवंशों जैसे सातवाहनों, पल्लवों और चोलों ने शक्तिशाली सेना बनाने पर भी बहुत ध्यान दिया।

तटीय प्रदेश

पश्चिमी घाट के पहाड़ बहुत ऊँचे है। इसके पश्चिम मे एक सकरा उपजाऊ प्रदेश है। पश्चिमी तट का उत्तरी भाग कोंकण और दक्षिणी भाग मलाबार कहलाता है। मलाबार का प्रदेश कोंकण से कई बातों मे भिन्न है। कोंकण के तटीय प्रदेश का अन्दर के पठार से कोई सम्बन्ध नही है। मलाबार मे कोयम्बतूर के निकट केवल पालघाट पर अन्दर जाने का मार्ग है। इस मार्ग के द्वारा मलाबार का अन्दर के पठार से घनिष्ट सम्बन्ध है। तटीय मैदान म वर्षा अधिक होने के कारण सदा हरे रहने वाले वन है और घनी हरियाली है। इन वनो मे बास, सागौन, शीशम और नागकेसर के वृक्ष बहुतायत से होते है। पश्चिमी तट पर भृगुकच्छ से कागनार तक के अनेक बन्दरगाहों से पश्चिमी एशिया और रूमसागर तक बहुत पुराने समय से व्यापार होता था।

पूर्वी घाट के पहाड इतने ऊँचे नही है। वे बहुत-से स्थानो पर टूटे हुए है। कृष्णा और तुगभद्रा नदियो का उपजाऊ प्रदेश रायचूर दोआब कहलाता है। इसके लिए बराबर बहमनी और विजयनगर के राज्यो के बीच सघर्ष चलता रहा। परन्तु दक्षिण भारत की द्रविड सस्कृति का मुख्य केन्द्र पूर्वी तट पर कावेरी नदी का मुहाना रहा। इस पर प्रारम्भ मे उत्तर भारत की सस्कृति का प्राय कोई प्रभाव न था। इस प्रदेश के लोगो की समुद्री व्यापार मे बहुत रुचि थी। यहाँ के लोग रूमसागर के तट पर बसने वाले व्यक्तियो से भी व्यापार करते। इस प्रदेश के राजनीतिक सम्बन्ध भी मलाया, स्याम, हिन्दचीन और हिन्देशिया से रहे। इन प्रदेशो मे काञ्ची के पल्लव राजाओ का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। चोल राजाओ ने भी मलाया के राजाओ को हराकर अपना साम्राज्य विस्तार करने का प्रयत्न किया।

भारत के समुद्रतट की लम्बाई लगभग ४,८०० किलोमीटर है किन्तु यह कटा-फटा नही है। नदियो के डेल्टो मे नाव चलाना बहुत कठिन है। पश्चिमी तट पर बम्बई अकेला अच्छा प्राकृतिक बन्दरगाह है। पूर्वी किनारा बहुत उथला है, इस पर कोई प्राकृतिक बन्दरगाह नही है। इसलिए मद्रास के कृत्रिम बन्दरगाह बनने से पूर्व केवल छोटी-छोटी नावों द्वारा ही तट पर पहुचा जा सकता था। हुगली का बन्दरगाह भी नदियो द्वारा लाई हुई मिट्टी से भर जाता है। किन्तु गगा के मैदान की उपज के निर्यात का यह मुख्य द्वार रहा है। मलाबार तट के नाविक समुद्री जहाजो को लूटने के लिए बदनाम थे। चोल प्रदेश के नाविक हिन्द महासागर की पूरी जानकारी रखते थे अत वे सफल नाविक कहलाये। मध्यकालीन अरब व्यापारियो ने भी उनकी नाव चलाने मे निपुणता का उल्लेख किया है।

इस तटीय प्रदेश का ससार के अन्य राष्ट्रो से समुद्र के द्वारा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। रोम के साम्राज्य, अरब, चीन और पुर्तगाल आदि देशो से इन तटीय प्रदेशो के निवासियो के चिरकाल तक व्यापारिक सम्बन्ध रहे। समुद्र तट के कारण ही दक्षिण भारत के तटीय प्रदेशो के निवासी कुशल नाविक बन सके तथा व्यापार के द्वारा उन्होंने सुदूर पूर्व म अनेक उपनिवेश बसाये। किन्तु भारतीयों की सभी सामुद्रिक गतिविधियों का उद्देश्य शान्तिपूर्ण ढग से भारतीय सभ्यता का प्रसार करना था, इन प्रदेशो के असहाय निवासियो का शोषण नही।

समुद्रों का प्रभाव

भारत के दक्षिण में तीन ओर समुद्र हैं और उत्तर मे हिमालय। इस कारण भारत एक स्वतन्त्र भौगोलिक और सांस्कृतिक इकाई के रूप मे विद्यमान रहा है। यही हमारा चक्रवर्ती क्षेत्र भी है। समुद्र ने प्राचीनकाल मे एक खाई का काम किया और भारत की रक्षा की। किन्तु समुद्रो और पर्वतो ने हमे कभी दूसरे देशो से सर्वथा अलग नही किया है। प्राचीन काल से मानसून हवाओं के कारण भारत का अरब सागर और लाल सागर तक व्यापार बराबर चलता रहा। पूर्व के देशा म भी भारत का अधिकतर व्यापार समुद्र द्वारा ही होता था। दक्षिण भारत के लोगो पर समुद्र का गहरा प्रभाव पडा। कलिंग, चोल और पाण्ड्य वश के राजा सदा समुद्रो पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की योजनाएँ बनाते रहे। राजेन्द्र चोल ने १००७ ई० मे मलय प्रायद्वीप के राजा श्रीविजय को हराकर वहाँ अपनी विजयपताका फहराई। आन्ध्र राजा अपने को त्रिसमुद्राधिपति कहते थे। व्यापार की दृष्टि से भी दक्षिण के बन्दरगाह बहुत महत्त्वपूर्ण थे। रोम के इतिहासकार प्लिनी के अनुसार ५५ करोड रुपये के मूल्य की भारतीय वस्तुएँ प्रतिवर्ष रोम जाती थी।

अनेक शताब्दियाँ बीतने पर जब सामुद्रिक विज्ञान का विकास हुआ तो समुद्र विदेशी व्यापारियो के मार्ग में एक बाधा न रहा। वह एक सुगम मार्ग बन गया तभी भारत यूरोपीय शक्तियो के समुद्री आक्रमणो का शिकार बना। १४९८ ई० मे पुर्तगालवासियो ने कालीकट पहुचकर भारतीय व्यापार को बडी क्षति पहुचाई। ५ वर्ष मे ही भारत का सामुद्रिक व्यापार चौपट हो गया। इसी समुद्र के द्वारा अंग्रेजो ने गगा और कावेरी के उपजाऊ प्रदेशो पर अपना अधिकार जमाकर सारे भारत पर अधिकार कर लिया। भारत के उद्योग धीरे-धीरे नष्ट होने लगे। भारत के शक्तिशाली राजा भी समुद्रो पर इन यूरोपीय शक्तियो का सामना न कर सके। इसका प्रमुख कारण यह था कि दूरी अधिक होने पर भी समुद्री मार्ग मे स्थल मार्ग की-सी कठिनाई नही पडती। स्थल से आने वाली विदेशी जातियो कुषाणो, हूणो, तुर्कों और मुगलो ने उत्तर भारत में ही अपनी राजधानी बनाई, परन्तु समुद्र द्वारा आने वाले अंग्रेज लन्दन को ही अपनी राजधानी समझते रहे।

मध्य एशिया की परम्पराओं पर चलने वाले उत्तर भारत के निवासियो के लिए समुद्र का कोई विशेष महत्त्व न था किन्तु दक्षिण भारत मे समुद्र के कारण ही जनसख्या मे परिवर्तन हुआ और इस प्रदेश का सांस्कृतिक विकास भी बहुत कुछ समुद्र पर ही आधारित था। प्राचीन तमिल साहित्य में सामुद्रिक व्यापार के अनेक सन्दर्भ भरे पडे है। आन्ध्र राजाओ ने त्रिसमुद्राधिपति की पदवी धारण की थी। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारत के निवासियो के जीवन पर समुद्र का सदा से व्यापक प्रभाव रहा है।

विविधता

देश की विशालता के कारण भारत मे अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ मिलती है। भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर हमे मालूम होता है कि इस बडे देश मे अनेक प्रकार की जलवायु है। हिमालय के प्रदेश म उत्तरी ध्रुव की सख्त ठड पडती है। मैदानो और समुद्र के निकट के प्रदेशो की समशीतोष्ण जलवायु है तो राजस्थान आदि प्रदेशो की चरम जलवायु। दक्षिण भारत के कुछ भागो मे सख्त गरमी पडती है। यदि आसाम मे प्रति वर्ष १२२० सेंटीमीटर

वर्षा होती है तो राजस्थान मे केवल ८ सेंटीमीटर प्रति वर्ष। इसी जलवायु की विभिन्नता के कारण भारत मे अनेक प्रकार के पेड-पौधे और पशु-पक्षी पाए जाते है।

भारत के निवासियो मे अनेक नस्लो के मनुष्य पाए जाते है। डॉ० बी० एस० गुह के अनुसार यहाँ के सबसे आदि निवासी हब्शी (Negrito) थे जो अफ्रीका से आये थे। उनकी नस्ल के कुछ चिन्ह अब कोचीन के दादार और आसाम के अगमी नागा लोगो मे पाए जाते है। आदिम आग्नेय जाति (Proto-Australoid) के लोग भी पश्चिम से आये थे। उनके कुछ चिन्ह कोल, मुण्डा और आसाम की मौन्खमेर जातियो मे पाए जाते है। मगोल जातियाँ आसाम, चटगाव की पहाडियो, सिक्किम और भूटान मे बसी है। रूमसागर से आने वाले लोग अधिकतर दक्षिण भारत मे रहते है। इस नस्ल के कुछ लोग पजाब, गगा की ऊपरी घाटी, राजस्थान और सिन्ध मे भी पाए जाते है। मध्य एशिया मे आने वाली कुछ नस्ले बगाल, उडीसा और गुजरात के निवासियो मे मिली है और उत्तर मे आने वाले नॉर्डिक (Nordic) लोग हिन्दी, मराठी और विविध पहाडी बोलियाँ बोलते है।

जातियो (races) की इस विभिन्नता के कारण भारत मे ५४४ बोलियाँ बोली जाती है और १७९ भाषाएँ है, किन्तु इनमे १५ भाषाएँ ऐसी है जिनका अपना सास्कृतिक महत्त्व है। दक्षिण भारत की चार प्रमुख भाषाएँ---तमिल, तेलगू, कन्नड और मलयालम है। उत्तर भारत की प्रमुख भाषाएँ---उडिया हिन्दी, पजाबी, पश्तो, काश्मीरी, गुजराती, असमी, बगला, मराठी, सिन्धी और लहन्दा है।

नस्लो और भाषाओ की विविधता के साथ-साथ भारत मे धर्म भी अनेक है। हिन्दू धर्म मे ही अनेक मत हैं। हिन्दुओ के अतिरिक्त भारत मे मुसलमान, ईसाई, पारसी, बौद्ध और जैन धर्म के मानने वाले भी अनेक व्यक्ति हे, जिनमे से प्रत्येक के अलग-अलग धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाज है।

आधारभूत एकता

इन सब भौगोलिक, सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक और भाषा-सम्बन्धी विभिन्नताओ को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इस विशाल देश भारत मे एकता नही हो सकती। परन्तु ऐसा समझना भारी भूल है। इन सब विभिन्नताओ के होते हुए भी भारत मे एक ऐसी सांस्कृतिक एकता है जिसे कोई समाप्त नही कर सकता। हमारे पूर्वजो ने हिमालय से समुद्र तक फैले हुए इस प्रदेश का नाम भारतवर्ष रखा, क्योकि जैसा हम पहले कह आए हैं भरत ने आर्य सस्कृति का सारे उत्तर भारत मे प्रचार किया और अगस्त्य ऋषि ने दक्षिणापथ तक आर्य सस्कृति को फैलाकर आर्यावर्त्त और दक्षिणापथ को एक सूत्र मे बाँध दिया। उत्तर की आर्य सस्कृति और दक्षिण की द्रविड सस्कृति के समन्वय से जिस हिन्दू सस्कृति का विकास हुआ उसने भारत की एकता को दृढ बना दिया। हमारे ऋषि-मुनियो ने ऐसी प्रार्थनाएं रची जिनसे सारे भारत का चित्र प्रतिदिन प्रत्येक हिन्दू की आँखो के सामने आ जाता है। यदि एक प्रार्थना मे भारत की सात पवित्र नदियाँ गगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी के नाम गिनाये गए है, तो दूसरी मे सात पवित्र नगरो---अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, काञ्ची, अवन्ति और द्वारावती के। इन प्रार्थनाओ के द्वारा उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सारे भारत का भव्य रूप हमारे सामने आ जाता है। हम यह समझने लगते है कि इन सब नगरो के निवासी हमारे भाई हैं।

इस एकता की भावना को दृढ़ बनाने के लिए तीर्थ यात्रा करना प्रत्येक हिन्दू का पवित्र धर्म ठहराया गया। शंकराचार्य ने इसी उद्देश्य से देश के सब कोनों मे बदरीनाथ, जगन्नाथपुरी, द्वारकापुरी और मैसूर मे मठ स्थापित किये। हमारे देश में जन्मभूमि को स्वर्ग से भी श्रेष्ठ माना गया और देवभूमि कहा गया। इस प्रकार देश-प्रेम की भावना को धर्म के बराबर ही महत्त्व दिया गया।

समस्त भारत ने समाज के एक ही ढाँचे को अपनाया। आज भी वर्णाश्रम धर्म भारत के कोने-कोने मे फैला हुआ है। रामायण और महाभारत, वेद और उपनिषद् प्रत्येक भारतीय के लिए पूज्य ग्रन्थ है। हिन्दू धर्म ने सारे भारत को एक सूत्र मे बाँध दिया। यही नही, बहुत से विदेशी, जैसे यूनानी, शक, पह्लव और कुषाण, सब हिन्दू धर्म के अनुयायी हो गए। इस सास्कृतिक एकता को बढ़ाने मे सस्कृत-भाषा, और साहित्य का भी कुछ कम हाथ नही है। हिन्दू, बौद्ध, जैन सब धर्मों के प्रमुख ग्रन्थ सस्कृत मे लिखे गए और भारत के प्रत्येक भाग का सारा शिष्ट समाज इस भाषा के द्वारा अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सका।

देश की विशालता और विविधताओ के कारण हम प्राचीन भारत के इतिहास मे दो प्रमुख शक्तियाँ देखते हैं—पहली विकेन्द्रीकरण और दूसरी केन्द्रीकरण की।

विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति

विकेन्द्रीकरण की शक्ति का प्रमुख कारण हमारे देश की अनेक गहरी नदियाँ, ऊँचे पहाड, बडे-बडे मरुस्थल और घने जगल है। इनके कारण एक भाग के निवासी अपने को दूसरे भाग से भिन्न मानने लगे। वे उसी भाग से प्रेम करते और उसकी रक्षा और स्वतन्त्रता के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए सदैव तत्पर रहते। इस भावना ने जहाँ एक ओर देश के टुकडे-टुकड़े करने की इच्छा को जन्म दिया वहाँ दूसरी ओर गणराज्यों और ग्राम पचायतो द्वारा स्थानीय शासन मे नागरिको को प्रमुख रूप से भाग लेने के लिए प्रेरित किया।

साम्राज्यवाद

केन्द्रीकरण की शक्ति ने देश के नेताओ को हिमालय से समुद्रो तक सूत्र मे बाँधने के लिए प्रेरित किया। ब्राह्मण ग्रन्थो मे लिखा है कि उस काल के राजा चक्रवर्ती राजा होने के लिए राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ करते थे। कौटिल्य ने भी समस्त भारत को चक्रवर्ती क्षेत्र कहा है। इस केन्द्रीकरण की शक्ति के सामने सारी नदियाँ, ऊँचे पहाड़ बडे मरुस्थल और घने जगल झुक गए।

चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, हर्ष, प्रतीहार, पाल, राष्ट्रकूट आदि अनेक राजवशो ने राजनीतिक एकता स्थापित की, परन्तु देश की विशालता और यातायात के साधन पूर्णतया विकसित न होने के कारण यह प्रयत्न चिरस्थायी न हो सका।

भूगोल का इतिहास पर प्रभाव

दिग्विजय की इच्छा भारत तक ही सीमित

भारतीय इतिहास का एक बडा भाग उन प्रयत्नो की कहानी है जो शक्तिशाली राजाओ ने इस देश के अधिकतर भाग पर स्थायी साम्राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से समय-

समय पर किये । किन्तु भारतीय सदा से अपने देश को अन्य देशो से पृथक् समझते थे । इसके फलस्वरूप भारत के सम्राटो ने अपनी महत्वाकाक्षा पूरी करने के लिए जो प्रयत्न किये वे भारत की सीमाओं तक ही सीमित रहे । चन्द्रगुप्त मौर्य और समुद्रगुप्त जैसे सम्राटो ने भी देश की सीमाओ को पार किए बिना ही अपनी विजय-पिपासा को तृप्त किया । राजेन्द्र चोल जैसे कुछ महत्वाकाक्षी राजा जिन्होने भारत के समुद्रो को पार करके अन्य देशो पर अधिकार करना चाहा, अपवादमात्र है । ससार के अन्य साम्राज्यो की यह प्रमुख विशेषता थी कि वे विदेशो पर अधिकार करके ही स्थापित हुए थे । भारतीय राजनीति मे विदेशो की विजय का कोई विशेष महत्त्व न था । भारत एक भौगोलिक इकाई होने के कारण यहा के राजाओ ने विदेशो को जीतकर बडे साम्राज्य बनाने की योजनाएँ ही नही बनाईं । उनकी दिग्विजय साधारणतया हिमालय से हिन्दमहासागर तक ही सीमित रही ।

दार्शनिक दृष्टिकोण

भारत की नदी-घाटियो मे जीवन-निर्वाह के साधन सुलभ थे अत भारत के निवासियो को जीवनयापन के लिए सघर्ष न करना पडा । इसीलिए उन्हे अपना बौद्धिक विकास करने के लिए पर्याप्त समय मिला । मनोहर प्राकृतिक दृश्यो के बाहुल्य के कारण भारतीयो की दार्शनिक विषयो और काव्य मे विशेष अनुरक्ति रही और इसी कारण यहाँ धर्म, दर्शन, कला और साहित्य की बहुत उन्नति हुई । इसके विपरीत जीवन-निर्वाह के लिए विशेष सघर्ष के अभाव मे यहाँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पूर्ण विकास न हुआ । भारतीयो की यह तीव्र इच्छा न हुई कि प्रकृति के रहस्यो को खोज निकालने के लिए वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाये । सक्षेप मे हम कह सकते है कि भारतीयो का बौद्धिक विकास अधिकाश मे यहाँ के प्राकृतिक वातावरण पर निर्भर था ।

अतुल धन संपत्ति, विदेशी आक्रमण और उपनिवेश

भारत मे उपजाऊ मैदानो का बाहुल्य था और सिंचाई के साधन सुलभ थे । अनेक प्रकार की धातुएँ और जगली लकडियाँ भी यहाँ प्राप्त थीं । नदियो और समुद्र द्वारा व्यापार करना सरल था अत देश के अन्दर और बाहर व्यापार का बहुत विकास हुआ और भारत एक धनी देश हो गया । भारत के धन की प्रसिद्धि भी दूर-दूर तक फैली जिससे लालायित होकर अनेक विदेशियो ने भारत पर आक्रमण किये । इसी व्यापार के कारण भारतीयो ने सुदुर पूर्व मे अनेक उपनिवेश स्थापित किये किन्तु उन्होने इन देशो के निवासियो का आर्थिक शोषण नही किया ।

भारतीयो की पराजय के कारण

कुछ विद्वानो का मत है कि भारतीयो की पराजय का मुख्य कारण यहाँ की उष्ण जलवायु थी । यह बात पूर्णत. सत्य नही है । उनकी पराजय के कुछ अन्य कारण थे । प्राकृतिक रुकावटो के कारण भारतीय नरेशो का दृष्टिकोण सकुचित रहा, उन्होने विदेशी राजनीतिक गतिविधियो पर ध्यान ही नही दिया । जब मध्य और पश्चिमी एशिया मे नई राजनीतिक शक्तियो का उदय हुआ उन्होने नई युद्धनीति का विकास किया और नए अस्त्र-शस्त्रो का आविष्कार किया तब भारतीय इनसे सर्वथा अनभिज्ञ रहे । इस अनभिज्ञता के दो प्रमुख कारण थे । पहला, प्राकृतिक

रुकावटें और दूसरा, भारतीयों में विदेशों को जीतकर साम्राज्य विस्तार करने की लालसा का अभाव।

विकेन्द्रीकरण की शक्तियाँ प्रबल हो जाने के कारण जब-तब हमारी राजनीतिक एकता स्थिर न रह सकी, किन्तु हमारी सांस्कृतिक एकता अक्षुण्ण बनी रही। सारे भारत पर एक ही विचारधारा की अमिट छाप है। इस देश के आदर्श और प्रथाएँ इसकी संस्कृति को दूसरे देशों की संस्कृति से बिलकुल अलग कर देती है। विज्ञान के इस युग मे वे बाधाएँ दूर हो गई है जिनके कारण हमारी राजनीतिक एकता स्थायी न रह सकी। अब हमारा कर्त्तव्य है कि भारत की सांस्कृतिक एकता के साथ-साथ राजनीतिक एकता को स्थायी बनाये। इस विज्ञान के युग मे हिमालय पर्वत अब चीन जैसे शत्रुओं से हमारी रक्षा नही कर सकता किन्तु राष्ट्र की सामूहिक शक्ति देश की रक्षा कर सकती है। उन भौगोलिक परिस्थितियों का, जिनके कारण हम अपने को सुरक्षित समझते थे, अब बहुत कम महत्त्व रह गया है। हमे स्थल के शत्रुओं से रक्षा करने के लिए अपनी वायु-सेना को शक्तिशाली बनाना होगा और समुद्र के शत्रुओं से देश की रक्षा के लिए जल-सेना को बढाना होगा।

भारत-जैसे विशाल देश के लिए सघ शासन सर्वथा उपयुक्त है। इसमे प्रत्येक राज्य को अपनी भाषा, साहित्य और परम्परा के अनुसार पूर्ण विकास करने का अवसर मिलता है तथा भारत की एकता भी बनी रहती है। स्वतन्त्र भारत का सविधान इसीलिए सघात्मक बनाया गया है। प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है कि इस शासन-प्रणाली को सफल बनाकर परिश्रम और ईमानदारी से अपना कर्त्तव्य करके भारत की उन्नति मे पूर्ण योग दे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत की भौगोलिक विशेषताओं का यहाँ के इतिहास पर बहुत व्यापक प्रभाव पडा है। इसीलिए इस देश की भौगोलिक पृष्ठभूमि को समझे बिना कोई इतिहास का विद्यार्थी इसकी घटनाओं को पूर्णतया नही समझ सकता।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी	**हिन्दू सभ्यता**, अध्याय ३, अनुवादक—वासुदेवशरण अग्रवाल
,, ,,	**प्राचीन भारत**, अध्याय १, अनुवादक—बुद्ध प्रकाश
वासुदेवशरण अग्रवाल	**भारत की मौलिक एकता**
राजबली पाण्डेय	**प्राचीन भारत**, अध्याय १
K. M Panikkar	*Geographical Factors in Indian History*
E J Rapson	*The Cambridge History of India*, Vol I, Chapters 1, 2
R C Majumdar	*History and Culture of the Indian People*. Vol I, Chapter 5
P E Roberts	*History of British India*, Part I, Cambridge 1952.
R C. Majumdar	*Ancient India* Introduction, Delhi 1960.

K. A. Nilakanta Sastri	*A History of South India*, Chapter 2, Madras, 1952
N K. Bose	*Culture and Society in India*, Chapter 1, Bombay, 1967

अध्याय २

प्राचीन भारतीय इतिहास की सामग्री

(Sources of Ancient Indian History)

इतिहास मे अतीत का यथासम्भव सही चित्र प्रस्तुत किया जाता है। कभी-कभी एक ही घटना के विषय मे परस्पर विरोधी वर्णन मिलते है। ऐसी दशा मे सही तथ्य जानना कठिन हो जाता है। इतिहासकार एक वैज्ञानिक की तरह परस्पर विरोधी तथ्यो का भली-भांति परीक्षण करके, अपनी पूर्वकल्पित धारणाओ से प्रभावित हुए बिना, उन्ही तथ्यो के आधार पर सही निश्चय पर पहुँचता है। पहले उसे इतिहास के उन साधनों की खोज करनी पड़ती है जो इतिहासकारो और पुरातत्ववेत्ताओ ने खोद निकाले हैं; उदाहरणत', अप्रकाशित पुस्तको की पाण्डुलिपियाँ या चिर अतीत के कुछ सीमित अवशेष। इन साधनो से वह घटनाओ का पता लगाता है और उनके आधार पर काल-विशेष का यथासम्भव सही चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है।

कुछ इतिहासकार किसी देश की राजनीतिक घटनाओ को ही उसका इतिहास मानते थे किन्तु अब अधिकतर इतिहासकार किसी देश या जाति के विचारो और परम्पराओ को राजनीतिक घटनाओ की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते है। इसमे सास्कृतिक आन्दोलनो का विशेष महत्व है। जाति-विशेष की सस्थाओ, रीति-रिवाजो, और धार्मिक-विश्वासो मे जो परिवर्तन अतीत मे हुए है उनका इतिहास हमारे लिए अधिक उपयोगी है।

इस प्रकार आधुनिक इतिहासकार इतिहास लिखने मे केवल परम्पराओ, लोक साहित्य और साहित्य का ही नही वरन् वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला की मुख्य कृतियो, अभिलेखो, सिक्को, स्मारको आदि सभी का उचित उपयोग करता है।

भारत के विषय मे यूरोपीय इतिहासकारो के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हुआ है। प्रारम्भिक यूरोपीय लेखक भारत को ऐसा देश समझते थे जो धन-सम्पत्ति से परिपूर्ण है, जहाँ के निवासी बहुत विद्वान् है और जादू इत्यादि करना भी जानते है। उन्नीसवी शती के कुछ लेखको, जैसे मैकोले, ने भारतीय सस्कृति को सर्वथा सारहीन बतलाया क्योकि उनके अनुसार उसमे तर्क पर आधारित विचारो और व्यक्ति के अधिकारो का सर्वथा अभाव था। किन्तु जब सर विलियम जोन्स, चार्ल्स विल्किन्स तथा मैक्समूलर आदि विद्वानो ने प्राचीन भारतीय सस्कृत साहित्य के ग्रथो की खोज की तब उन्होने भारत को पूर्व की आध्यात्मिक सस्कृति का प्रतीक माना।

प्रारम्भिक यूरोपीय इतिहासकारो का उद्देश्य अग्रेजी शासन की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना था। इसलिए उन्होने अपने ग्रन्थो मे केवल राजवशो के उत्थान और पतन का इतिहास लिखा। उनका मत था कि अधिकतर भारतीय राजा स्वेच्छाचारी थे जिन्हे जनता की भलाई से कोई सरोकार न था। उनके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक और अकबर, इन शासको मे अपवाद-स्वरूप थे। इसकी प्रतिक्रिया के रूप मे उन्नीसवी तथा बीसवी शती के भारतीय इतिहासकारो ने अग्रेजो के शासन से पूर्व के भारत को स्वर्ण युग मानकर भारतीयों की राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित किया। वे प्राचीन तथा मध्यकालीन दोषो का निष्पक्ष निरूपण न

कर सके ।

विन्सेण्ट स्मिथ जैसे कुछ यूरोपीय इतिहासकारो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारतीय कला और संस्कृति का मूल स्रोत यूनानी संस्कृति थी। उन्होंने अजन्ता के भित्तिचित्रों को ईरानी और यूनानी कला का ही एक रूप बतलाया। उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे कुमारस्वामी जैसे भारतीय कलाविदो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारतीय कला पर यूनानी कला का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं है ।

प्राचीन भारत के प्रारम्भिक इतिहासकारो ने अपने ग्रन्थो मे संस्कृत मे लिखे हिन्दू धर्म-ग्रन्थो का ही उपयोग किया था। यह वर्णन पूर्णतया वस्तुस्थिति को प्रदर्शित नही करते, उदाहरणत इन ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वर्ण-व्यवस्था मे कालान्तर मे कोई परिवर्तन ही नही हुआ जबकि वर्ण-व्यवस्था मे समय-समय पर अनेक परिवर्तन हुए। परवर्ती लेखको ने जैन और बौद्ध साहित्य का अनुशीलन करके पहले से अधिक सही चित्र प्रस्तुत किया। उन्होने इतिहास लिखने मे तत्कालीन अभिलेखो, सिक्को और विदेशी यात्रियो के वृतान्तो से मिलने वाले तथ्यो और खुदाई मे मिले पुरावशेषो का भी उपयोग किया जिससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वर्ण-व्यवस्था ने बहुत से व्यवसायो को श्रेणियो और ग्राम सभाओं द्वारा निर्धारित कुछ जातियो और स्थानो तक सीमित अवश्य किया किन्तु वर्ण-व्यवस्था मे काल और परिस्थिति के अनुसार अनेक परिवर्तन हुए ।

भारतीय संस्थाओ का अध्ययन करके प्रत्येक निष्पक्ष इतिहासकार इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि भारतीय संस्कृति गतिहीन नही रही है। इसका सामाजिक तथा आर्थिक संगठन काल और परिस्थिति के अनुसार बदलता रहा है। यह सत्य है कि प्राचीन संस्कृति के कुछ तत्त्व अभी तक भारतीय संस्कृति के अभिन्न तत्त्व है जैसे कि गायत्री मन्त्र। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसमे परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन नही हुए।

इतिहास को अब केवल प्राचीन संस्कृतियो का इतिहास मात्र नही समझा जाता, उसे समाजशास्त्र का एक भाग माना जाता है। यह ठीक है कि भारतीय समाज के निर्माण मे धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है किन्तु इसके अतिरिक्त अनेक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारण थे जिन्होने भारतीय इतिहास मे अनेक आन्दोलनो, संस्थाओं और विचारधाराओ को जन्म दिया। भारतीय इतिहास का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए उन सबका अध्ययन आवश्यक है ।

कुछ विद्वानो की ऐसी धारणा है कि भारतीयो को इतिहास से प्रेम नही था। यह सत्य है कि भारत मे यूनान के हिरोडोटस (Herodotus) या रोम के लिवी (Livy) जैसे इतिहास लेखक न हुए। परन्तु यह समझना कि भारतीय विद्वान् इतिहास को कोई महत्त्व नही देते थे, एक भारी भूल है। प्राचीन भारतीय विद्वान् इतिहास को पाँचवाँ वेद मानते थे। प्राचीन विद्याओ मे इतिहास की भी गिनती थी। राजा लोग अन्य विद्याओं के साथ इतिहास भी पढ़ते थे। हाँ, भारतीयो का इतिहास का क्षेत्र सीमित न था। तत्कालीन 'इतिहास' की भारतीय परिभाषा आधुनिक परिभाषा से भिन्न थी। यह इस बात से स्पष्ट है कि कौटिल्य ने 'इतिहास' के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र एव अर्थशास्त्र को भी गिना है। इसका यह अर्थ है कि भारतीय इतिहासकार केवल इतिहासकार ही नही, उपदेशक, सुधारक, गल्पकार और व्यवस्थाकार भी था। उसका लक्ष्य जन-साधारण के जीवन को उच्च बनाना था। इसीलिए प्राचीन भारत का इतिहास मौलिक तत्त्वो एव सिद्धान्तो का

इतिहास है। उसमे भौतिक घटनाओं को अधिक महत्त्व नही दिया गया है। भारतीयों का दृष्टिकोण भिन्न होने के कारण अधिकाश भारतीय ग्रन्थ आधुनिक परिभाषा के अन्तर्गत इतिहास ग्रन्थ नही है तथापि वे बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री से भरपूर है। अनेक इतिहास-सम्बन्धी ग्रन्थ सृष्टि के आरम्भ से प्रारम्भ होते है और उनमे लौकिक घटनाओं के साथ कुछ देवी-देवताओ की कल्पित कथाएँ इतनी अधिक मिल गई है कि ऐतिहासिक तथ्यो को गाथाओं से अलग करना कठिन है। यह सब होते हुए भी यह कहना उचित नही है कि भारतीयो मे ऐतिहासिक बुद्धि का प्राय अभाव था। पुराणो मे दिये हुए प्राचीन राजकुलो के इतिहास मे यह धारणा सर्वथा निर्मूल प्रतीत होती है।

प्राचीन भारतीय इतिहास की सामग्री का विवेचन हम तीन भागो मे करेंगे--साहित्यिक सामग्री, विदेशियो के वृत्तान्त और पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री।

साहित्यिक सामग्री

धार्मिक साहित्य—हिन्दूधर्म-ग्रंथ

साहित्यिक सामग्री को भी हम दो भागो मे विभक्त कर सकते है---धार्मिक तथा धर्मेतर। भारतीयों के जीवन मे धर्म का विशेष महत्त्व था। यहाँ की समस्त व्यवस्थाएँ---सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक---धर्म को ही केन्द्रबिन्दु मानकर आगे बढ़ी थी। इसलिए यहाँ के धर्म-ग्रन्थो मे जीवन के समस्त विषयो पर न्यूनाधिक मात्रा मे विचार किया गया है। यही कारण है कि वे धार्मिक इतिहास के साथ-साथ राजनीतिक, सामाजिक एव सास्कृतिक इतिहास पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते है। धार्मिक साहित्य मे सब से प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है जिसमे प्राचीन आर्यो के धार्मिक जीवन के साथ-साथ हमे उनके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन की भी बहुत जानकारी होती है। उदाहरणस्वरूप ऋग्वेद के दो सूक्तो मे राजा सुदास के विरुद्ध दस राजाओं के एक सगठन का वर्णन किया गया है। अथर्ववेद से घरेलू जीवन की बहुत-सी बाते मालूम होती है, जैसे रोगो को दूर करने वाले जादू-टोने के मन्त्र, कृषक, अजपाल और व्यापारी लोगो के लिए शुभाशीर्वादसूचक मन्त्र, विवाह और प्रेम के गीत तथा राजा आदि से सम्बन्धित मन्त्र। ब्राह्मणो और आरण्यको से आर्यों के धार्मिक विश्वासो का पता चलता है। ऐतरेय, शतपथ और पचविश ब्राह्मणो से महाभारत युद्ध के पीछे की कुछ घटनाओ का तथा उपनिषदो से राजसभाओं मे होने वाले आध्यात्मिक वाद-विवादो का पता चलता है। सूत्र ग्रन्थो मे उस समय के सामाजिक और पारिवारिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इन ग्रन्थों मे ही पाणिनि की व्याकरण की पुस्तक 'अष्टाध्यायी' है जिससे भी मूल्यवान् ऐतिहासिक तथ्य खोज निकाले गए है। स्मृति-ग्रन्थो मे तो आचार-विचार का पूर्ण विवेचन है। इन धार्मिक ग्रन्थो से तत्कालीन राजनीतिक घटनाओ का विशेष विवरण नही मिलता, किन्तु सामाजिक जीवन को समझने के वे अच्छे साधन है।

रामायण और महाभारत मे भी कुछ ऐतिहासिक और धार्मिक तथ्य मिले है। ये महाकाव्य सम्भवत ऐतिहासिक तथ्यो पर आधारित है परन्तु इनके रचने का काल निश्चित नही है। इसलिए इनसे किसी काल-विशेष का इतिहास नही जाना जा सकता। महाभारत के कौरव-पाण्डव युद्ध के समय के विषय म भी सब विद्वान् एकमत नही है। इस ग्रथ की रचना सम्भवतः

एक काल में नही हुई। समय की प्रगति के साथ इसका रूप बढता गया। तब भी हमे इन महाकाव्यो से उत्तर-वैदिक काल मे आर्यों के जीवन के विषय मे कुछ जानकारी अवश्य प्राप्त होती है।

मुख्य पुराण अठारह हैं। मत्स्य, वायु, विष्णु, ब्रह्माण्ड, भागवत आदि पुराणो में प्राचीन राजवंशो का वर्णन है। ये पुराण वर्तमान रूप मे सम्भवत ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी मे लिखे गये थे। इन पुराणो मे जो वशानुक्रम दिया है वह कही-कही एक-दूसरे से भिन्न है और कही-कही अन्य साधनो से प्राप्त वर्णन से मेल नही खाता। तब भी महाभारत युद्ध के पश्चात् जिन राजवशो ने ईसा की छठी शताब्दी तक राज्य किया, उनके विषय मे जानकारी प्राप्त करने का पुराण एक-मात्र साधन है। प्रत्येक इतिहासकार को उनका उपयोग करने के लिए नीर-क्षीर-विवेक करना आवश्यक है, जिससे इस प्राचीन अनुश्रुति का ठीक-ठीक उपयोग हो सके। सास्कृतिक इतिहास के लिए पुराण अत्यन्त उपयोगी हैं।

बौद्ध साहित्य

हिन्दुओ के उपर्युक्त धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों से भी तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक स्थिति का पता चलता है। बौद्ध धर्म के तीन प्रमुख ग्रन्थ 'विनयपिटक', 'सुत्तपिटक' और 'अभिधम्मपिटक' है। 'विनयपिटक' मे भिक्षु-भिक्षुणियो के संघ और दैनिक जीवन सम्बन्धी आचार-विचार और नियमो का सग्रह है। 'सुत्तपिटक' मे बौद्ध धर्म के उपदेशो का सग्रह है। इसमे पाच निकाय है—दीर्घनिकाय, मज्झिमनिकाय, सयुक्त-निकाय, अगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय। 'अभिधम्मपिटक' मे बौद्ध दर्शन का विवेचन है। इनमे ईसा-पूर्व की शताब्दियो के बौद्ध समाज मे प्रचलित नियमों के अतिरिक्त हिन्दू समाज मे प्रचलित रीति-रिवाजो का भी पता चलता है। जातको मे बुद्ध के पूर्व-जन्मो की काल्पनिक कथाएँ हैं। ईसा-पूर्व प्रथम शती तक जातको का निर्माण हो चुका था, यह बात भारहुत और साची के स्तूपों से स्पष्ट है क्योंकि उन पर अनेक जातकों के दृश्य अकित है। किन्तु जातको मे भी पद्याश गद्याशो की अपेक्षा अधिक प्राचीन है क्योकि गद्याशो मे परिवर्तन करना सरल था। दीपवश की रचना लगभग चौथी या पाँचवी शता मे हुई थी। महावश की रचना सभवत पाँचवी शती मे की गई। महावश का वर्णन दीपवश की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। प्राचीन काल मे लका और भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसलिए इन इतिहास ग्रथो से भारत के इतिहास पर भी पर्याप्त प्रकाश पडता है। परन्तु इन दोनो ही ग्रथो मे कपोल-कल्पित और अतिरजित सामग्री भी बडी मात्रा मे विद्यमान है। 'दिव्यावदान' नाम का बौद्ध ग्रथ सस्कृत मे है। भाषा, विषय और शैली की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक लेखक या एक काल की रचना नही है। इसमे बहुत से राजाओं की कथाये है तथा अनेक अश ईसा की चौथी शती तक जोडे गए। 'ललितविस्तर' और 'मजुश्रीमूलकल्प' नाम के बौद्ध ग्रन्थ भी इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। 'ललितविस्तर' मे महायान सम्प्रदाय के अनुसार बुद्ध के जीवन की कथा का वर्णन है। यह भी किसी एक लेखक या काल की रचना प्रतीत नही होती। 'मिलिन्दपञ्ह' नामक पुस्तक से हमे मिनाण्डर नाम के यूनानी शासक के विषय मे कुछ जानकारी मिलती है।

जैन साहित्य

जैन साहित्य से भी भारतीय इतिहास की घटनाओ का ज्ञान होता है। इसमे जैन आगम सर्वोपरि है जिनमे १२ अग, १२ उपाग, १० प्रकीर्ण, ६ छेदसूत्र, नन्दिसूत्र, अनुयोग-द्वार और मूल सूत्र सम्मिलित हैं। इन ग्रन्थो का वर्तमान रूप एक सभा मे निश्चित किया गया जो ५१३ या ५२६ ई० मे वलभी मे हुई थी। इस प्रकार हम देखते है कि जैन धर्मग्रन्थ किसी एक काल की रचना नही है। 'आचारागसूत्र' मे जैन भिक्षु के आचार नियमो का वर्णन है। 'भगवती सूत्र' मे छठी शताब्दी पूर्व के उत्तर भारत के महाजनपद का वर्णन है। इससे महावीर स्वामी के जीवन और कार्यकलाप पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। 'औपपातिकसूत्र' और 'आवश्यक-सूत्र' से अजातशत्रु के धार्मिक विचार ज्ञात होते है। इस प्रकार ये जैन धर्मग्रन्थ पाँचवी व छठी शताब्दी ई० पू० के भारत के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालते है यद्यपि ये ग्रन्थ पीछे से ईसा की छठी शती मे लिखे गए। ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ हेमचन्द्र लिखित 'परिशिष्ट पर्व' है। इसकी रचना ईसा की बारहवी शती मे हुई थी।

धर्मेतर साहित्य

धर्मेतर साहित्य मे सस्कृत व्याकरण की दो पुस्तके प्राचीनतम हैं। एक पाणिनि लिखित 'अष्टाध्यायी' और दूसरी पतजलि-कृत 'महाभाष्य', जो पाणिनि की पुस्तक पर टीका है। इनसे दोनो लेखको के समय के समाज और राजनीतिक घटनाओ पर कुछ प्रकाश पडता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से हमे चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन-प्रबन्ध ज्ञात होता है। पतञ्जलि के 'महाभाष्य' मे हमे पुष्यमित्र शुग के राज्यकाल की कुछ घटनाओ का पता चलता है। 'गार्गी सहिता' मे यूनानियो के आक्रमण का उल्लेख है। इसकी रचना सम्भवत प्रथम शती ई० के लगभग हुई। सस्कृत साहित्य के कुछ ग्रन्थो—जैसे विशाखदत्त कृत 'मुद्राराक्षस' नाटक, और हर्षवर्धन-रचित 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली' और 'नागानन्द' नामक नाटको से भी कुछ ऐतिहासिक घटनाओ का पता चलता है। कालिदास-कृत 'मालविकाग्निमित्र' से कुछ ऐतिहासिक घटनाओ पर प्रकाश पडता है। इस नाटक मे पुष्यमित्र और यूनानियो के युद्ध का वर्णन है।

सस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक ग्रन्थो मे सबसे प्रसिद्ध बाणभट्ट-कृत 'हर्षचरित' है जिसमे हर्षवर्धन का वर्णन है। वाक्पति ने अपनी पुस्तक 'गौडवहो' मे कन्नौज के राजा यशोवर्मन् का वर्णन किया है। 'विक्रमाकदेवचरित' मे बिल्हण ने कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ के समय की प्रमुख घटनाओ का वर्णन किया है। इसी प्रकार के अन्य जीवन चरित, पद्म गुप्त-कृत 'नवसाहसाक चरित', सध्याकर नन्दी-कृत 'रामचरित', बल्लाल-रचित 'भोज प्रबन्ध', जयसिंह और हमचन्द्र-रचित 'कुमारपालचरित', नयचन्द्र-रचित 'हम्मीरकाव्य', जयानक का 'पृथ्वीराजविजय' और सोमेश्वर की 'कीर्तिकौमुदी' है। प्राचीन भारतीय साहित्य मे शुद्ध इतिहास की केवल एक पुस्तक है 'राजतरगिणी'। यह पुस्तक कल्हण ने ईसा की बारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे लिखी थी। उसने कश्मीर के इतिहास के सम्बन्ध मे उपलब्ध सामग्री का उचित उपयोग किया। परन्तु कल्हण के समय से पहले का इतिहास 'राजतरगिणी' मे पूर्णतया विश्वसनीय नही है। गुजरात, सिंध और नेपाल के इतिहास का परिचय हमे वहाँ के कुछ इतिवृत्तो से मिलता है।

तमिल भाषा मे लिखे ग्रंथ हमे दक्षिण भारत के इतिहास की बहुत-सी घटनाओ का परिचय देते हैं। सगम-काल का साहित्य ईसा की पहली सदियो के राज्यो और समाज पर पर्याप्त प्रकाश

डालता है। एक राजकवि ने अपनी पुस्तक 'नन्दिक्कलम्बकम्' मे पल्लव राजा नन्दिवर्मन् तृतीय का वर्णन किया है। 'कलिंगतुप्परणि' मे राजा कुलोत्तुग द्वारा कलिग देश पर किये आक्रमण का वर्णन है। ओट्टकूत्तन नामक लेखक ने तीन चोल राजाओ विक्रम चोल, कुलोत्तुग द्वितीय और राजराज द्वितीय पर तीन ग्रन्थ लिखे।

उपर्युक्त साहित्यिक ग्रन्थो मे भारत के प्राचीन इतिहास तथा विशेष रूप से प्राचीन भारतीय सस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश पडता है, परन्तु वे राजनीतिक और सामाजिक इतिहास पर बहुत कम प्रकाश डालते हैं। ऐतिहासिक साधन के रूप मे भारतीय साहित्यिक ग्रन्थो की सबसे बडी त्रुटि यह है कि उनकी रचना की निश्चित तिथि ज्ञात नही है और उनमे समय-समय पर अनेक परिवर्तन किए गए है। इसीलिए भारतीय इतिहासकार के लिए साहित्यिक ग्रन्थो की अपेक्षा अभिलेखो और स्मारको का अधिक महत्व है। राजनीतिक घटनाओ और सामाजिक इतिहास के लिए हम विदेशी इतिहासकारो और यात्रियो के बहुत ऋणी हैं।

विदेशियों के वृत्तान्त

विदेशी लेखको की धर्मेतर घटनाओ मे विशेष रुचि थी अत उनके वर्णनो से तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक दशा पर अधिक प्रकाश पडता है। इन लेखको का समय भी प्राय. निश्चित है इसीलिए उनके वर्णन भारतीय लेखको की अपेक्षा अधिक उपयोगी हैं। परन्तु ये विदेशी लेखक भारतीय परिस्थितियो तथा भाषा से अनभिज्ञ थे अत उनके सभी वर्णन इतिहास नही हैं। मेगस्थनीज ने सात जातियो का चित्रण किया है। उसने लिखा है कि भारतीय लिखना नही जानते। भारत मे दास प्रथा नही है आदि। ऐसी बाते लिखने का मुख्य कारण यही है कि वह भारतीय सामाजिक सस्थाओ से सर्वथा अपरिचित था। हमे यह नही समझना चाहिए कि यूनानी लेखको के वर्णन पूर्णतया ठीक हैं; अन्य साधनो से मिलान करके ही उनकी सत्यता पर विश्वास किया जाना चाहिए।

यूनानी लेखक

ईरान के राजाओ को जब भारत की समृद्धि का पता लगा तो उन्होने ५०१ ई० पू० मे स्काइलेक्स नामक विद्वान को भारत की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन करने के लिए यहाँ भेजा। एक यूनानी इतिहासकार हिरोडोटस ने पाँचवी शताब्दी पूर्व के अन्त मे एक इतिहास लिखा। उससे भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त की राजनीतिक स्थिति का पता चलता है। ईरान के एक राजवैद्य क्टेशियस ने भी भारत का हाल लिखा है, परन्तु उसमे बहुत सी कल्पित गाथाएँ है, अत वह ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष उपयोगी नहीं है।

जो विद्वान सिकन्दर महान के साथ भारत आए थे उनके वर्णन अधिक विश्वसनीय हैं, इनमे निआर्कस (Nearchus) नामक जलसेनापति ने अपनी जल-यात्रा का विस्तृत वर्णन लिखा था। उसके एक अन्य सह-नाविक एरिस्टोबुलस (Aristobulus) ने वृद्धावस्था मे अपनी यात्रा का वर्णन लिखा। इनको लिखी पुस्तके अब उपलब्ध नही हैं। उनके आधार पर यूनान और रोम के अनेक लेखको ने सिकन्दर के भारतीय आक्रमण का वृत्तान्त लिखा।

इनमे सबसे प्रमुख कर्टियस (Curtius), डायोडोरस (Diodorus), स्ट्रेबो (Strabo), एरियन (Arrian) और प्लूटार्क (Plutarch) है। सिकन्दर (Alexander) के भारतीय आक्रमण का हाल हमें किसी भारतीय लेखक से नही मिलता। टॉल्मी (Ptolemy)

नामक विद्वान भी सिकन्दर के साथ आया था। उसने अपनी पुस्तक मे पूर्वी देशो का भूगोल लिखा। सिकन्दर की मृत्यु के बाद सेल्यूकस (Seleucus) सिकन्दर के पूर्वी साम्राज्य का शासक बना। चन्द्रगुप्त मौर्य से पराजित हो जाने पर उसने चन्द्रगुप्त से सन्धि कर ली और मेगस्थनीज (Megasthenes) नामक राजदूत उसके यहाँ भेजा। मेगस्थनीज काफी समय तक भारत मे रहा और उसने 'इण्डिका' नामक अपनी पुस्तक मे यहाँ के रीति-रिवाज, शासन-प्रबन्ध आदि का वर्णन लिखा। यह पुस्तक अब उपलब्ध नही है, किन्तु एरियन, अप्पियन (Appian), स्ट्रेबो (Strabo), जस्टिन (Justin) आदि की पुस्तको मे बहुत-से उद्धरण मेगस्थनीज की पुस्तक से लिए गए हैं। इन लेखको ने चन्द्रगुप्त को 'सेन्ड्रोकोट्स' कहा है। इस बात का पता विलियम जोन्स नामक अग्रेज विद्वान ने लगाया। ८० ई० के लगभग किसी यूनानी विद्वान ने 'पेरिप्लस ऑफ दि एरिथ्रियन सी' (Periplus of the Erythrean Sea) नामक पुस्तक मे भारतीय समुद्रो का हाल लिखा। इस पुस्तक से हमे ईसा की पहली शताब्दी मे भारत के व्यापार का पता लगता है।

चीनी यात्री

अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए बहुत-से प्रचारक मध्य एशिया भेजे थे। वहाँ से भारतीय सस्कृति चीन पहुँची। इसके पश्चात् चौथी शताब्दी ई० मे बहुत से चीनी यात्री बौद्ध धर्म की पुस्तके लेने और बौद्ध स्थानो की यात्रा करने भारत आए। ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे पहला महत्त्वपूर्ण चीनी यात्री फाहियान (Fa-hien) था। वह पाँचवी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत आया और १४ वर्ष यहाँ रहा। परन्तु उसने विशेष रूप से भारत मे बौद्ध धर्म की स्थिति के बारे मे लिखा है। उसे भारत की राजनीतिक स्थिति से कोई सरोकार न था। युवानच्वाग हर्ष के समय मे भारत आया। उसने १६ वर्ष भारत मे बिताए। युवानच्वाग के भारतीय विवरण धार्मिक अवस्था के साथ-साथ तत्कालीन राजनीतिक घटनाओ पर भी कुछ प्रकाश डालते हैं। सातवी शताब्दी ई० के अन्त मे इत्सिग (I-tsing) नामक चीनी यात्री भारत आया। वह बहुत समय तक विक्रमशील और नालन्दा के विश्वविद्यालयो मे रहा। उसने भारत की सामाजिक स्थिति के विषय मे भी लिखा है।

यह हमारा दुर्भाग्य है कि सभी चीनी यात्री बौद्ध भिक्षु थे, इसलिए उनका दृष्टिकोण पूर्णतया धार्मिक था। फाहियान और इत्सिग ने धर्मेतर दशा का बहुत कम वर्णन किया है। उन्होने उन राजाओ के नाम भी नहीं लिखे है जो उस समय भारत मे राज्य कर रहे थे। किन्तु युवानच्वाग ने हर्ष तथा तत्कालीन राजाओ के विषय मे पर्याप्त वर्णन किया है। बौद्ध धर्म मे अटूट श्रद्धा होने के कारण ये चीनी यात्री निष्पक्ष रूप से भारत की दशा का वर्णन करने मे असमर्थ रहे। युवानच्वाग ने लिखा है कि हर्ष महायान बौद्ध धर्म का अनुयायी था और अन्य धर्मों का आदर नही करता था। परन्तु अन्य साधनो से ज्ञात होता है कि हर्ष हिन्दू देवी-देवताओ का भी सम्मान करता था। इस प्रकार की भूल का मुख्य कारण यही था कि चीनी यात्री प्रत्येक बात को बौद्ध दृष्टिकोण से देखते थे।

मुसलमान यात्री

सुलैमान नाम का अरब यात्री नवी शती ई० के मध्य मे भारत आया। उसने पाल और प्रतीहार राज्य के विषय मे लिखा है। मसूदी ९४१ से ९४३ ई० तक भारत मे रहा तथा उसने

राष्ट्रकूट राजाओ की महत्ता के विषय में लिखा। अबुजइद ने भारत और पूर्वी देशो के व्यापार के विषय मे लिखा है किन्तु मुसलमान यात्रियो मे सबसे प्रसिद्ध अलबेरूनी (Alberuni) है। वह महमूद गजनवी के साथ भारत आया था। वह अरबी और सस्कृत का अच्छा विद्वान था। उसका वर्णन निष्पक्ष है, किन्तु उसमे दो कमिया है। प्रथम, उसने अपने अनुभव के आधार पर बहुत कम तथा सस्कृत साहित्य के आधार पर अधिक लिखा है और द्वितीय, तत्कालीन राजनीतिक इतिहास का उसके वर्णनो मे प्राय अभाव है। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'तहकीक ए हिन्द' १०३० ई० मे लिखी। यह हिन्दू धार्मिक विश्वासो, साहित्य और ज्ञान का भण्डार है।

वेनिस का एक यात्री मार्कोपोलो (Marco Polo) तेरहवी शताब्दी के अन्त मे चीन से भारत होकर ईरान गया था। उसने दक्षिण भारत के समाज व रीति-रिवाज का बडा सुन्दर वर्णन लिखा है।

पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री

अभिलेख

पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री मे प्राचीन अभिलेख, सिक्के और इमारते सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से अभिलेखो का विशेष महत्त्व है क्योकि वे साहित्य की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय हैं। वे पत्थर या धातु की चादरो पर खुदे हुए हैं इसलिए साहित्य के विपरीत, उनमे मनमाने परिवर्तन करना सम्भव न था। इनसे हमे बहुत से राजाओ के नाम तथा उनके समय की कुछ प्रमुख घटनाओ का पता चलता है। सबसे प्राचीन अभिलेख राजा अशोक के समय के है। ये अभिलेख अशोक ने चट्टानो और खम्भो पर खुदवाए थे। इनकी भाषा एक पालि विशेष है और ये ब्राह्मी लिपि मे है जिस लिपि से उत्तर भारत की भाषाओ—गुजराती, मराठी, पजाबी, हिन्दी, बगला आदि की लिपियाँ निकली हैं। उत्तर पश्चिम प्रदेश मे अशोक ने एक दूसरी लिपि का प्रयोग किया जिसे खरोष्ठी कहते हैं। यह फारसी लिपि की भाँति दाहिनी ओर से प्रारम्भ करके बाईं ओर को लिखी जाती थी। इनमे अशोक की आज्ञाएँ खुदी है। इन अभिलेखो को सबसे पहले प्रिंसेप नाम के विद्वान ने पढा था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अशोक के चार अभिलेख गुज्जरा (मध्य प्रदेश), राजुलमण्डगिरि (आन्ध्र प्रदेश), सोपारा (महाराष्ट्र) और अहरौरा (उत्तर प्रदेश) तथा पाँचवां अफगानिस्तान मे कन्दहार मे मिले हैं। गुज्जरा के अभिलेख मे अशोक के नाम का उल्लेख है। पहले केवल रायचूर जिले के मास्की के अभिलेख मे ही अशोक के नाम का उल्लेख मिला था। कन्दहार का अभिलेख जो १९५८ मे मिला था, यूनानी व आर्मिक भाषा मे है। गन्धार क्षेत्र मे एक ऐसा कटोरा भी मिला है जिस पर अशोक का अभिलेख उत्कीर्ण है। यह कटोरा अब बम्बई के प्रिंस आफ वेल्स सग्रहालय मे है। इसका लेख खरोष्ठी लिपि मे है और शाहबाजगढी मे प्राप्त सातवें शिलालेख की नकल है।

कौशाम्बी मे एक छोटा अभिलेख मिला है जिसमे एक भवन का नाम घोषिताराम बताया गया है। यह वही स्थान है जहाँ राजा उदयन के निमन्त्रण पर जब गौतम बुद्ध कौशाम्बी गए थे, ठहरे थे। सम्भवत. भारत मे यह सबसे प्राचीन भवन है जिसकी तिथि हमे ज्ञात है। यहाँ एक

महल भी मिला है जो सम्भवतः राजा उदयन का निवास-स्थान था। इस महल के चारो ओर नगर का परकोटा है जिसकी १३ मीटर ऊँची पक्की ईंटो की दीवारे अभी तक विद्यमान है। वहाँ कुछ पक्की ईंटो से ढकी नालियाँ भी मिली हैं जो हमे मोहनजोदडो के बडे स्नानागार की याद दिलाती हैं।

राजघाट, श्रावस्ती, राजगिर और वैशाली की खुदाइयो से भी ऐतिहासिक काल के नगरो की समृद्धि का कुछ आभास मिलता है। वैशाली मे कुछ स्तूप भी मिले हैं जिन्हे सम्भवत लिच्छवियो ने बुद्ध के अवशेषो के ऊपर बनवाया हो।

राजाओ के अभिलेखो मे प्रशस्तियाँ और राजाज्ञाएँ मुख्य हैं। प्रशस्तियो मे सबसे प्रसिद्ध निम्नलिखित हैं :—

(१) कलिंगराज खारवेल का **हाथी-गुम्फा** अभिलेख।

(२) गौतमी बलश्री का **नासिक** अभिलेख जिसमे गौतमी-पुत्र शातकर्णी का वर्णन है।

(३) रुद्रदामा का **गिरनार** शिलालेख।

(४) समुद्रगुप्त का **प्रयाग** स्तम्भ लेख जिसमे उसके राजकवि हरिषेण ने उसकी विजयो का वर्णन किया है।

(५) स्कन्दगुप्त का भितरी स्तम्भ लेख और **जूनागढ़** अभिलेख।

(६) भोज की **ग्वालियर प्रशस्ति**।

(७) बगाल के राजा विजय-सेन का **देवपाड़ा** प्रस्तर लेख।

राजाज्ञाओ मे भूमि की बिक्री या दान का वर्णन है। ये राजाज्ञाएँ अधिकतर ताम्रपत्रो पर खुदी है।

महाराष्ट्र मे भाजा मे दूसरी शती ई० पू० का एक अभिलेख छत के एक लकडी के तख्ते पर उत्कीर्ण मिला है। इलाहाबाद के सग्रहालय मे जो अभिलेख सुरक्षित हैं उनमे कौशाम्बी के मित्रवश के दो अन्य राजाओ वरुणमित्र और राजमित्र के नाम मिले हैं। वरुणमित्र का राज्यकाल पहली शती ई० पू० और राजमित्र का पहली शती ईसवी है।

राजस्थान से उपलब्ध यूप अभिलेख और देहरादून जिले मे जगतग्राम मे राजा शीलवर्मा के अभिलेख से यह बात स्पष्ट हो गई है कि तीसरी चौथी शती तक भारतीय राजा अश्वमेध यज्ञ कराते थे। यूप अभिलेखो पर जो तिथियाँ है वे कृत सवत् मे है। चौथी शती मे इसी सवत् का नाम मालव सवत् और ग्यारहवी मे विक्रम सवत् हो गया।

गुजरात मे खवदा शिलालेख से रुद्रदामा प्रथम की वशावली पर पर्याप्त प्रकाश पडा है। नागार्जुनकोण्ड (आन्ध्र प्रदेश) मे गौतमी पुत्र श्री विजय शातकर्णि का एक अभिलेख मिला है। इस राजा का नाम पहले ज्ञात नही था न ही नागार्जुनकोण्ड मे किसी अन्य सातवाहन राजा का अभिलेख मिला था।

मद्रास राज्य मे अरच्चलूर नामक स्थान मे एक गुफा मे तीसरी शती ई० का एक अभिलेख तमिल भाषा और ब्राह्मी लिपि मे है। पुरालिपि शास्त्र की दृष्टि से इस अभिलेख का विशेष महत्त्व है क्योकि इस क्षेत्र के प्राचीन गुफा लेखो और परवर्ती अभिलेखो के बीच मे यह एक कडी के समान है।

गुजरात मे मोडसा मे जो ताम्रलेख मिला है उससे परमार नरेश भोज की एक निश्चित तिथि १०११ ई० ज्ञात हुई है।

कुछ ताम्रलेख मिले हैं जिनसे यह पता लगा है कि गोआ और उत्तरी कनारा क्षेत्र मे छठी

व सातवी शती ई० मे भोज वश के राजा राज्य करते थे ।

पल्लव राजकुमार सिंहविष्णु ने अपने पिता के राज्य के छठे वर्ष मे पल्लनकोविल नामक स्थान पर एक ताम्रलेख द्वारा अधिकार दिया था । यह तमिल अक्षरो मे सबसे प्राचीन अधिकारपत्र है । सिंहवर्मन् का काञ्चीपुर का जलालपुरम् अधिकारपत्र इस राजा का एकमात्र अधिकारपत्र है ।

मद्रास राज्य मे करण्डइ मे चोल नरेश राजराज प्रथम का ताम्रलेख अधिकारपत्र इतना बडा है कि उसमे ५७ पन्ने है और उसका भार १०० किलोग्राम से अधिक है ।

पाण्ड्य वश के राजाओ का सबसे प्राचीन अभिलेख एक गुफा मन्दिर मे मलियदिक्कुरिच्चि मे प्राप्त हुआ है । यह राजादेश मरनमेन्दन के राज्यकाल के सत्तरहवें वर्ष का है ।

दक्षिण भारत के इतिहास को जानने के लिए पल्लव, चालुक्य, राष्ट्रकूट, पाण्ड्य और चोल राजाओं के अभिलेख बहुत उपयोगी सिद्ध हुए है ।

कुछ विदेशी अभिलेखों से भी भारत के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है । **बोगजकोई** अभिलेख से भारत और ईरान के आर्यो के सम्बन्ध और **ईरान के सम्राटो के अभिलेखो** से उनके उत्तर-पश्चिमी भारत पर शासन करने का पता चलता है ।

अभिलेखो की सामग्री का उपयोग इतिहासकार दो रूप मे करता है--नए तथ्यो का प्रतिपादन करने और पहले से ज्ञात तथ्यो का समर्थन करने के लिए । उदाहरणत प्रयाग स्तम्भ लेख से समुद्रगुप्त की और हाथ गुम्फा अभिलेख मे खारवेल की सफलताओ का पता चलता है । ये दोनो अभिलेख न होते तो हम इन दो नरेशो का कुछ भी पता न लगता । समर्थन के रूप मे हम अयोध्या अभिलेख का प्रयोग करते है । पतञ्जलि के महाभाष्य से हमे ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया और अयोध्या अभिलेख से उसकी पुष्टि होती है ।

सिक्के

सिक्के प्राचीन भारत का इतिहास लिखने मे बहुत उपयोगी सिद्ध हुए है । यह बात इस तथ्य से स्पष्ट होती है कि २०६ ई० पू० से ३०० ई० तक का इतिहास अधिकतर सिक्को के आधार पर ही लिखा गया है । इस समय के सिक्को के बिना यह काल पूर्णतया अन्धकार युग बना रहता ।

भारतीय सिक्को पर पहले केवल देवताओ के चित्र ही अकित रहते थे । उनके नाम या तिथि उत्कीर्ण नही की जाती थी । जब से उत्तर-पश्चिमी भारत पर बैक्ट्रिया के यूनानी राजाओ का शासन प्रारम्भ हुआ सिक्को पर राजाओ के नाम और तिथियाँ उत्कीर्ण की जाने लगी । शक, पह्लव और कुषाण राजाओ ने भी यूनानी राजाओ के अनुरूप ही अपने सिक्के चलाए । भारतीय शक राजाओ और मालव, यौधेय आदि गणराज्यो के इतिहास पर अनेक सिक्के पर्याप्त प्रकाश डालते है । सिक्को के पाये जाने के स्थानो से राजाओ के राज्य विस्तार का भी अनुमान होता है । कभी-कभी उन पर अकित चित्र-विशेष घटनाओ पर प्रकाश डालते है, जैसे कि समुद्रगुप्त के कुछ सिक्को पर यूप बने है और 'अश्वमेध पराक्रम' शब्द उत्कीर्ण है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उसने अश्वमेध यज्ञ किया था । सिक्को पर उत्कीर्ण देवताओ की आकृतियो से तत्कालीन राजाओ के धार्मिक विश्वासो की जानकारी होती है । गुप्तकालीन सिक्को से गुप्त राजाओ के बारे मे बहुत-सी बाते मालूम होती हैं ।

सिक्के प्राय सोने, चाँदी और ताँबे के होते थे । सोने के सिक्को मे ताँबे आदि की मिलावट

की मात्रा से तत्कालीन आर्थिक अवस्था का भी बहुत कुछ अनुमान लगाया जाता है। समृद्धि के समय मे सोने का भाग अधिक होता था और आर्थिक संकट के समय मिलावट की मात्रा अधिक होती थी।

पिछले बीस वर्षों मे आहत सिक्को के दो प्रमुख सचय निकले है। मध्य प्रदेश के सागर जिले मे एरण से प्राप्त एक संचय मे ३२६८ सिक्के और आन्ध्र प्रदेश के गुण्टूर जिले मे अमरावती से प्राप्त दूसरे सचय मे लगभग ८००० सिक्के मिले है।

ईसा से पूर्व के तीन पचाल राजाओ, रुद्रघोष, अश्वमित्र और योगसेन के समय के ताँबे के सिक्के मिले हैं।

उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले मे बिन्दवाल मे कुषाणो के ११० ताँबे के सिक्के मिले हैं।

आन्ध्र प्रदेश के गुण्टूर जिले के ओंगोल तालुके मे नागार्जुनकोण्ड के इक्ष्वाकु राजाओ के २७७ सिक्के मिले है। इनमे वासिष्ठिपुत्र चातमूल के एक सिक्के मे एक घोडे को यूप के सामने खडा दिखाया गया है। इस प्रकार नागार्जुन कोण्ड के उस अभिलेख की पुष्टि होती है जिसमे लिखा है कि इस राजा ने अश्वमेध यज्ञ किया था।

१९४६ मे बयाना मे गुप्त राजाओ के १८२१ सोने के सिक्को का सचय मिला था। इसमे चन्द्रगुप्त द्वितीय का एक सिक्का मिला जिस पर 'चक्रविक्रम' शब्द उत्कीर्ण है। कला भवन के अधिकारियो ने बुधगुप्त के दो सोने के सिक्के प्राप्त किए है। गुजरात के अहमदाबाद के जिले मे कुमारखा नामक स्थान पर समुद्रगुप्त और कुछ अन्य गुप्त राजाओ के सिक्के मिले हैं।

मध्य प्रदेश मे जगदेव नाम के एक परमार राजा के कुछ सिक्के प्राप्त हुए हैं। दिल्ली मे कुतुब के निकट कन्नौज के गोविन्दचन्द्र के कुछ सिक्के मिले है।

स्मारक व भग्नावशेष

प्रारम्भिक पुरातत्ववेत्ताओ का उद्देश्य ऐसी प्राचीन वस्तुओ का सग्रह करना था जिससे किसी भी कला मे रुचि रखने वाले व्यक्ति को वास्तविक आनन्द की प्राप्ति हो सके। किन्तु इतिहासवेत्ता तो किसी भी वस्तु के विकास का अध्ययन करता है चाहे वह कोई व्यक्ति हो, अथवा फूल, पौधा या कलाकृति। इसीलिए व्हीलर ने इस बात पर बल दिया कि खनन करते समय कालक्रम का ध्यान रखना परम आवश्यक है। इस कालक्रम को किसी ज्ञात वस्तु के आधार पर निश्चित किया जाता है। उदाहरणस्वरूप रोम के विशेष प्रकार के मृद्भाण्डो, जिनका काल ज्ञात था, के आधार पर पाण्डेचेरी के निकट एरिकामेडु से प्राप्त उसी प्रकार के मृद्भाण्डो का समय निश्चित किया गया।

विश्व की सभी प्राचीन सभ्यताओ मे यह तथ्य मिलता है कि एक सभ्यता के लोग बहुत काल तक एक ही प्रकार के मृद्भाण्ड प्रयोग मे लाते थे। भारत मे भी मृद्भाण्डो के अध्ययन से अनेक सभ्यताओ के विस्तार और उनके कालक्रम को निर्धारित करने मे बहुत सहायता मिली है। भारत मे प्राप्त अनेक प्रकार के मृद्भाण्डो का विवेचन हम आगे करेगे।

कार्बन १४ के आधार पर जो वैज्ञानिक परीक्षण किए गए हैं उनसे भी प्राचीन सभ्यताओ के काल निर्धारण मे बहुत सहायता मिली है। इस परीक्षण का आधार वह महत्वपूर्ण खोज है जिससे यह ज्ञात हुआ कि जीवित अवस्था मे प्रत्येक प्राणी और पौधा अपने शरीर से एक निश्चित गति से कुछ **रेडियो एक्टिव कार्बन** को—जिसे **कार्बन** १४ कहते हैं—निकालता रहता है। इस तत्व के परमाणुओ की गति को **गीगर काउन्टर** नाम के यन्त्र से नापा जा सकता है। जब प्राणी या पौधे

जीवित होते है तो वे वातावरण से उतनी ही मात्रा मे और उसी गति से इस तत्व को लेते रहते हैं जिस मात्रा मे और जिस गति से वे इसे अपने शरीर से बाहर निकालते है। किन्तु जब प्राणी या पौधा मर जाता है तो उसमे वातावरण से कार्बन १४ को लेने की शक्ति नही रहती और उसकी कार्बन १४ निकालने की गति भी कम होती चली जाती है। वैज्ञानिको ने पता लगाया है कि ५५६८ वर्ष बीतने पर यह गति जीवित अवस्था से आधी रह जाती है। इस आधार पर भारत मे अनेक स्थानो मे जो हड्डियाँ या लकडियो के टुकडे मिले है उनका समय निश्चित किया गया है। इस आधार पर अनेक प्राग् ऐतिहासिक सभ्यताओ का काल निर्धारण किया गया है।

(१) बिलोचिस्तान (कोलीगुल मुहम्मद)	३६९०±८५ ई० पू०
(२) सिन्ध, राजस्थान, गुजरात (सिंधु सभ्यता—इसके सबसे प्रारम्भिक रूप कोटदीजी सहित)	२६०५±१४५ ई० पू०
(३) दक्षिणी राजस्थान (अहाड, बनस)	१७२५±१४० ई० पू०
(४) मध्य भारत (एरण, नवदाटोली)	२०३५±७५ ई० पू०
	१६४५±१३० ई० पू०
(५) महाराष्ट्र (नेवासा और चण्डोली)	१३३०±७० ई० पू०
	१२५५±११५ ई० पू०
(६) आध्र मैसूर (उटनूर)	२२९५±१५५ ई० पू०
(७) छोटा नागपुर का पठार और पश्चिमी बगाल (पाण्डु, राजरधीबी)	१०१२±१२० ई० पू०
(८) गगा यमुना की घाटी—चित्रित भूरे मृद्भाण्ड (अतरजीखेडा)	९४०±१०५ ई० पू०
	१०२०±११० ई० पू०
(८) (क) हस्तिनापुर	५०५±१३० ई० पू०
(९) कश्मीर (बुर्जहोम)	१८५०±१३० ई० पू०

प्राचीन इमारते, मूर्तिया, मिट्टी के खिलौने, और टूटे-फूटे बर्तन भी इतिहास जानने का अच्छा साधन है। इनसे भारतीय कला के विकास पर भी पर्याप्त प्रकाश पडता है। सबसे प्राचीन भग्नावशेष ऐतिहासिक युग की सभ्यताओ पर प्रकाश डालते है।

मृद्भाण्डों तथा वैज्ञानिक परीक्षण से प्रागैतिहासिक, आद्यऐतिहासिक और ऐतिहासिक काल पर प्रकाश

यद्यपि भारत मे पुरावशेषो की खोज का कार्य लगभग सौ वर्ष से अधिक से हो रहा है तथापि मृद्भाण्डो का व्यवस्थित अध्ययन पिछले दो दशको मे ही हुआ है। प्रत्येक काल मे विशेष प्रकार के मृद्भाण्डो का चलन रहता है। परम्परानुराग के कारण उनके प्रकारो मे शीघ्र आमूल परिवर्तन नही होता। अत पुरातत्त्व के अध्ययन मे उनका उपयोग बहुत सहायक हुआ है। पुरातत्त्ववेत्ताओ ने मृद्भाण्डो का वर्गीकरण पाच वर्गों मे किया है।

१. काले और लाल मृद्भाण्ड (Black and Red Ware)

ये भाण्ड अन्दर से और बाहर के ऊपरी भाग मे काले रग के होते हैं। बाहर का निचला भाग लाल होता है। इस प्रकार के भाण्ड लोथल, रगपुर (गुजरात) और ताम्रपाषाणयुग की सभ्यताओ की सतह से पश्चिमी और मध्य भारत के अनेक स्थानो—जैसे नागदा, महेश्वर,

नवदाटोली, बहल आदि से मिले हैं। कार्बन १४ की वैज्ञानिक परीक्षा से नवदाटोली की उस सतह का समय जहाँ से ऐसे भाण्ड मिले है, १४५७±१२७ ई० पू० माना गया है। गया जिले मे सोनपुर नामक स्थान पर इस प्रकार के भाण्ड बहुत निचली सतह मे मिले हैं और लौह युग की सतह तक मिलते है। इस प्रकार पुरातत्ववेत्ता इस निष्कर्ष पर पहुचे है कि इस प्रकार के भाण्डो का चलन पश्चिमी भारत से मगध तक था और उनका मुख्य केन्द्र मध्यभारत था। ये हड़प्पा के समय से उत्तर क्षेत्रीय काली पालिश वाले भाण्डो के समय तक पाये जाते है। विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिन्हा के अनुसार सम्भवत. वह जाति जो इस प्रकार के भाण्डो का प्रयोग करती थी, उन आर्यों की ही एक शाखा थी जो ऋग्वैदिक आर्यों से बहुत पहले भारत मे आये थे। ये सम्भवत यदु और तुर्वशु थे जो समुद्र के द्वारा भारत आये थे।[1] उपर्युक्त आधार पर इन भाण्डो का समय २००० ई० पू० मे ईसा के जन्म के समय तक माना गया है।[2]

२. गेरुए रंग के मृद्भाण्ड (Ochre Coloured Ware)

इन भाण्डो का रग नारगी या गहरा लाल होता है। ये बहुत ही जर्जर अवस्था मे मिले हैं यहाँ तक कि हाथ लगाते ही रग अगुलियो मे लग जाता है। ये अधिकतर गगा की घाटी मे मिले हैं। हस्तिनापुर मे इन भाण्डो के ठीकरे चित्रित भूरे रग के मृदभाण्डो से निचली सतहों मे मिले है। बिजनौर जिले मे राजपुर पर्मू और बदायू जिले मे बिसौली मे भी इस प्रकार के भाण्ड मिले है। हरिद्वार से ८ मील पश्चिम की ओर बहादराबाद मे भी इस प्रकार के ठीकरे मिले है। इन भाण्डो के आकार और बनाने के ढग के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है क्योकि कही भी पूरे भाण्ड नही, केवल ठीकरे मिले है। इनका समय १२०० ई० पू० से पूर्व निश्चित किया गया है।[3]

३. चित्रित भूरे रंग के मृद्भाण्ड (Painted Grey Ware)

यह कासे के युग का भाण्ड समझा जाता है। ये पतले भाण्ड चाक पर बनाकर आवे मे पकाये जाते थे। इनका रग भूरा या कत्थई होता है। उन पर रेखा या बिन्दुओ मे वृत्त आदि के नमूने बने होते है। ये काले रग की चित्रकारी है। इस प्रकार के बहुत से प्याले व तश्तिया पजाब, उत्तर प्रदेश और उत्तरी राजस्थान मे मिले है। अहिच्छत्र (उत्तर प्रदेश) मे ये भाण्ड काली पालिश वाले भाण्डो के नीचे मिले है। कौशाम्बी मे भी ऐसा ही है। उत्तरक्षेत्रीय काली पालिश वाले भाण्डो का उपयोग लोहे का प्रयोग करने वाले और चित्रित भूरे रग के भाण्ड ताँबा या कांसे का प्रयोग करने वाले व्यक्ति करते थे। चित्रित भूरे रग के भाण्डो का समय लगभग ११०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक माना गया है।[4] इन भाण्डो को अधिकतर विद्वान उन आर्यों से जोडते है जो पहले सिन्धु घाटी मे रहकर पीछे मध्य प्रदेश (उत्तर प्रदेश) मे आकर बसे।[5]

१. Proceedings of the Indian History Congress, Twenty-third Session, Aligarh, 1960, pp. 58-62.
२. B. B Lal, *Indian Archaeology since Independence*, p 74.
३ *Ibid*, p. 81
४. *Ibid*, p. 81.
५. Wheeler, *Early India and Pakistan*, p. 28; B. B. Lal, *Ancient India*, No. 9, pp 80 ff.

४. उत्तरक्षेत्रीय काली पालिश वाले मृद्भाण्ड (Northern Black Polished Ware)

ये भाण्ड लोहे के युग से सम्बद्ध है। इन भाण्डो का रग साधारणत चमकदार गहरा काला होता है। अच्छी कोटि के भाण्डो पर सुनहली झलक दिखलाई देती है। इन्हें बनाने के लिए अत्यन्त महीन मिट्टी काम मे लाई जाती थी। इस प्रकार के भाण्ड उत्तर मे पेशावर के पास चारसद्दा, उदयग्राम तथा तक्षशिला से लेकर दक्षिण मे अमरावती तक,पूर्व मे बानगढ तथा शिशुपालगढ से पश्चिम मे नासिक तक अनेक स्थानो मे प्राप्त हुए है। अधिकतर प्याले व तश्तरिया है। कही-कही हडिया भी मिली है। इनका समय हस्तिनापुर की खुदाई के आधार पर ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० समझा जाता है। उज्जैन, नागदा, महेश्वर और त्रिपुरी के उत्खनन से भी इस काल की पुष्टि होती है।[1] ये भाण्ड उस ऐतिहासिक काल के समझे जाते है जो बुद्ध के जन्म से प्रारम्भ होता है।

५. दाँतेदार पहिये से चित्रित भाण्ड (Rouletted Ware)

इन भाण्डो पर एक दाँतेदार पहिये से एक ही केन्द्र वाले अनेक वृत्त बनाये जाते थे। अधिकतर तश्तरियो के किनारे मुडे हुए है और उनके बीच मे एक केन्द्र वाले अनेक वृत्त खुदे है। ये भाण्ड भी चाक पर बनाए जाते और आवे मे पकाये जाते थे। इनका रग भूरा या काला होता है। इस प्रकार के भाण्ड अधिकतर दक्षिण भारत मे मिले है।[2] सम्भव है इस प्रकार के भाण्ड रूमसागरीय प्रदेशो के भाण्डो को देखकर बनाये गए हो। इस प्रकार के कुछ भाण्ड समुद्र के किनारे पश्चिमी बगाल मे भी मिले है। इनका समय ईसा के जन्म से २०० ई० तक निर्धारित किया गया है।[3]

मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाई मे मिली इमारतो, मूर्तियो, खिलौनो और मिट्टी के बर्तनो से तत्कालीन सभ्यता का ज्ञान होता है। तक्षशिला और सारनाथ के भग्नावशेष भी उत्तर क्षेत्रीय काली पालिश वाले भाण्डो के नीचे मिले हैं। कही-कहीं ये दोनो प्रकार के भाण्ड मिले हुए है। परन्तु हस्तिनापुर मे चित्रित भूरे रग के मृद्भाण्ड निश्चय ही उत्तरक्षेत्रीय तत्कालीन सामाजिक व धार्मिक जीवन का चित्र प्रस्तुत करते है। हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, कौशाम्बी के खण्डहरो से आर्य राजाओ के जीवन पर प्रकाश पडता है। गुप्तकाल के मन्दिरो, विहारो और चैत्यो से उस समय की वास्तुकला का ही नही, अपितु मनुष्यो के धार्मिक विश्वासो का भी ज्ञान होता है। इसी प्रकार गुप्तकाल की हिन्दू देवताओ और बौद्ध एव जैन मूर्तियो से हमे उस काल की मूर्ति कला की उत्कृष्टता के साथ-साथ धार्मिक सहिष्णुता का पता चलता है।

विदेशो मे जो भग्नावशेष मिले है उनसे भारत के सास्कृतिक विस्तार का ज्ञान होता है। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, हिन्दचीन, मलाया, ब्रह्मा, मध्य एशिया मे मिली इमारतो और मूर्तियो से यह भली प्रकार विदित होता है कि इन प्रदेशो मे भारतीय सस्कृति पूर्णतया फैली हुई थी।

१. विशेष विवरण के लिए देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६६, अंक १ व २, पृष्ठ ३५-३६
२ Wheeler, *Early India and Pakistan*, pp 31-33
३ B B Lal, *Indian Archaeology since Independence*, p 82

निष्कर्ष

उपर्युक्त सब साधनों का उपयोग करके विद्वानो ने ईसा से ३००० वर्ष पूर्व से भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करने का एक सफल प्रयास किया है। प्राचीन भारत का इतिहास प्रमुख रूप से राजनीतिक न होकर सास्कृतिक है। जहा तक भारतीय धर्म, चिन्तन और सस्कृति की विचारधारा का प्रश्न है, वह सामग्री हमे दूसरे देशो की अपेक्षा कही अधिक उपलब्ध है। हाँ राजनीतिक सामग्री इतनी पूर्ण नही है। अब भी प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास मे कई चित्र बहुत धुधले है, जैसे कनिष्क की तिथि के विषय मे विद्वान एकमत नही हैं।

समय की प्रगति के साथ-साथ इतिहास-लेखक को अपने साधनो को भी बदलना पडता है। आदि मानव की सभ्यता के विकास का अध्ययन करने के लिए हमे उसके रहने के स्थान, शव गाढने के स्थान और औजारो पर ही निर्भर रहना पडता है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के लिए भी हमे विशेषकर पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री का ही आश्रय लेना होता है। वैदिक आर्यों के जीवन के विषय मे हमे वैदिक साहित्य से बहुत पता चलता है। १२०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक के भारत के इतिहास पर भी पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री से कुछ प्रकाश पडता है। इसके पहले के इतिहास के लिए हमे सिक्कों, अभिलेखो और इमारतो से सहायता मिलती है। वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि, सभी तत्कालीन समाज का चित्र प्रस्तुत करने मे सहायक होते है। विदेशियो के वृत्तान्तो से हमे उनके भारत-निवासियो से सम्बन्धित विचारो का पता लगता है। एक कुशल इतिहास लेखक अपनी आलोचनात्मक बुद्धि से इन सभी साधनो का उचित मूल्याकन करके हमारे सामने एक सही चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

सहायक ग्रन्थ

राजबली पाण्डेय — **प्राचीन भारत**, अध्याय २.

R. C. Majumdar and A D Pusalkar — *History and Culture of the Indian People*, Vol I, Chapter 2

E J Rapson — *The Cambridge History of India*, Vol I, Chapter 2.

अध्याय ३

प्रागैतिहासिक काल की सभ्यताएँ व उनकी देन

(Pre-historic Civilizations and the Contribution of Old Races to Indian Culture)

किसी देश का इतिहास मनुष्य की वातावरण को अपने अनुकूल बनाने मे प्राप्त सफलताओ का इतिहास होता है। आदि-मानव का इतिहास संसार के प्रत्येक देश मे साधारणतया एक-सा ही है। विद्वानो का मत है कि करोडो वर्ष पूर्व हिमालय आदि पर्वतो का निर्माण हुआ। अनेक हिम-युगो से गुजरने के बाद अब से लगभग ५ लाख वर्ष पूर्व आदि-मानव इस पृथ्वी पर विचरने लगा। इस आदि-मानव और पशुओं मे बहुत कम अन्तर था। वह भोजन की खोज मे इधर-उधर घूमा करता, परन्तु उसका मस्तिष्क अन्य पशुओ के मस्तिष्क से अधिक सचेत था। वह पशुओं को मार कर और कद-मूल खाकर अपना जीवन बिताता था। कुछ विद्वानो का मत है कि आदि-मानव का मूल निवास-स्थान दक्षिण भारत था और पहले हिमयुग की समाप्ति पर वह पजाब की ओर चला आया। शिवालिक की पहाडियो और उत्तर-पश्चिम पजाब मे इसके कुछ चिन्ह मिले है। पाषाण-युग से पूर्व भारत मे मनुष्य रहते थे, इसे अभी तक मान्यता तो प्राप्त थी, लेकिन इसका विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध न था। पश्चिम जर्मनी की तरुण महिला अनुसधानकर्त्ता डॉ० गडरुन कार्विनस ने १९६२ से १९६९ तक कई बार भारत की यात्रा की और इस दिशा मे अनुसधान किये। उन्होने बम्बई के पास नेवासा नामक स्थान पर ८० वर्ग मीटर क्षेत्र की खुदाई करवाई। वहाँ उन्हे ७०० पाषाणयुगीन पात्र, बोरर्स, स्क्रेपर्स आदि अश्म उपकरण, तीर तथा पशुओ के दातो सहित जबडे मिले है। उनका मत है कि यह बस्ती हमारे समय से १,००,००० से १,५०,००० वर्ष पूर्व रही होगी। इसी आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुची है कि पाषाणयुग से पूर्व भारत मे मनुष्यो का वास था। डॉ० हँसमुख की माकलिया ने भी इसी मत की पुष्टि की है कि नेवासा मे एक लाख साल पहले मानव रहता था।

आधुनिक इतिहासकार किसी घटना, स्थान, देश, व्यक्ति या राष्ट्र के लिखित वर्णन को इतिहास कहते हैं। किन्तु जब किसी देश के निवासी उस काल के वर्णन को लिखना नही जानते, तब वह प्राग् इतिहास कहलाता है। लेखन कला को वर्तमान काल के इतिहासकार सभ्यता की प्रमुख विशेषता समझते है, यद्यपि यह बात भारत के विषय मे ठीक नही सिद्ध होती। अभी तक हडप्पा निवासियो की लिपि नही पढी जा सकी है। सभवत. वैदिककाल के आर्य लेखनकला नही जानते थे। परन्तु क्या हम सिन्धु घाटी की सभ्यता या वैदिक सभ्यता को असभ्य लोगो की सभ्यता कह सकते है? इसी कारण इतिहासकार भारतीय इतिहास को तीन भागो मे बाँटते है। सृष्टि के आरम्भ से सिन्धु घाटी की सभ्यता से पूर्व के समय को वे प्राग् इतिहास, सिन्धु घाटी की सभ्यता से छठी शती ई० पू० तक के समय को आद्य इतिहास, छठी शती ई० पू० से वर्तमानकाल तक के इतिहास को वे इतिहास कहते है।

अब तक जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनके आधार पर ५००० ई० पू० से २५०० ई० पू० तक का

काल भारत के अधिकांश भाग के लिए प्राग् इतिहास का युग था। किन्तु सिन्ध, पजाब, पश्चिमी उत्तरप्रदेश, सौराष्ट्र और गुजरात के पश्चिमी तट के निवासियो ने नगरीय सभ्यता के विकास मे बहुत उन्नति कर ली थी, अत इन प्रदेशो मे यह काल आद्य इतिहास का युग था। पीछे इन सभ्यताओ का पतन हो गया।

इस अध्याय मे हम प्रागैतिहासिक काल का विवेचन करेगे। इसमे पाषाण युग की सभी सभ्यताएँ सम्मिलित है। यह काल भारत मे लगभग १,५०,००० ई० पू० से प्रारम्भ होकर ५००० ई० पू० मे समाप्त हो जाता है।

भूगर्भवेत्ता राबर्ट ब्रूसफुट ने १८८० ई० के बाद पुराप्राषाण युग की दो सभ्यताओ का पता लगाया था—पहली मद्रास के निकट और दूसरी उत्तरी गुजरात मे। उसके बाद लगभग ५० वर्ष तक इस दिशा मे कोई उल्लेखनीय प्रगति नही हुई। इसके बाद येल-केम्ब्रिज अभियान दल ने कश्मीर की घाटी और दक्षिण पश्चिमी हिमालय मे खोज का कार्य प्रारम्भ किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुचे कि कश्मीर की घाटी और हिमालय के दक्षिण पश्चिमी भाग मे भी उसी प्रकार के चार हिमयुग और तीन अन्तर्हिम युग हुए जैसे कि ससार के अन्य भागो मे पाए गए थे।

पुरापाषाण युग (१,५०,००० ई० पू० से ५०,००० ई० पू०)

इस युग मे शीत अधिक था। तूफानी हवाए चलती थी और वर्षा अधिक होती थी। मनुष्य के लिए जीवनयापन बहुत कठिन था। उसे अनेक जगली पशुओ से भी अपनी रक्षा करनी होती थी।

इस युग का मानव नदियो के कगारो और झीलो के किनारो पर रहता था। वह पशुओ और मछलियो को मारकर और कन्दमूल खाकर अपना निर्वाह करता था। सभवत पत्तो और वृक्षो की छालो से वह अपना शरीर ढकता था।

वह क्वार्टज़ाइट (Quartzite) नामक सख्त पत्थर के भद्दे औज़ार बनाता था। ये औज़ार दो प्रकार के थे—आन्तरक (Core) और पृथुक (Flake)। आन्तरक औज़ार बनाने के लिए एक पत्थर का टुकडा लेकर उसमे से पत्थर की परत इस प्रकार उतारी जाती थी कि शेष पत्थर का टुकडा एक उपयोगी औज़ार बन सके। पृथुक औज़ार बडे पत्थर मे से एक बडी परत उतार कर उस परत को गढकर बनाया जाता था। दक्षिण भारत मे आन्तरक औज़ार बडी सख्या मे मिले है। सोहन नदी की घाटी मे पृथुक औज़ार बहुतायत से मिले हैं और मद्रास के निकट हस्त कुदाली (Hand Axes) बहुत मिली है। अन्य औज़ार गडासे (Choppers) थे और कुछ छीलने (Scrapers), चीरने (Cleavers) आदि के काम आते थे।

इस काल के अवशेष पजाब मे झेलम, सोहन और चिनाब नदियो की घाटियों मे, उत्तर प्रदेश के बाँदा ज़िले मे, मध्य भारत मे नर्मदा और साबरमती नदियो की घाटियो मे और दक्षिण भारत मे कुर्नूल और कडप्पा ज़िलो मे मिले है। सिन्ध, सौराष्ट्र, केरल, तिनेवली, आसाम, नेपाल और पश्चिमी राजस्थान मे इस प्रकार के उपकरण नही मिले हैं।

प्रागैतिहासिक सभ्यताओ का इतिहास जानने का सर्वश्रेष्ठ साधन यही पाषाण उपकरण हैं। उनसे इन सभ्यताओ के काल का भी पता चलता है।

मानव के कुछ प्राचीनतम उपकरण सिन्ध, सोहन और पश्चिमी पजाब की अन्य नदियों के तट पर मिले हैं। ये दूसरे हिमयुग के थे, इसके ऊपर के धरातलो मे दूसरे अन्तर्हिम युग, तीसरे हिमयुग आदि के उपकरण भी मिले हैं। सबसे प्राचीन उपकरण बड़े आकार के और भद्दे हैं। पीछे के उपकरण कुछ विकसित—छोटे और अधिक बारीक—हैं। इन उपकरणों को हम दो वर्गों

मे बाँट सकते है ।*

(१) सोहन काल से पूर्व के उपकरण--ये भारत मे सबसे प्राचीन पत्थर के उपकरण है।

(२) सोहन काल के उपकरण विश्व के अन्य भागो मे प्राप्त हाथ की कुल्हाडियो से भिन्न है। इनमे से कुछ गडासे के आकार के है और कुछ छीलने के काम आते थे। ये पेबल उपकरण कहलाते है। इस प्रकार के उपकरण भारत के अन्य भागो मे नही पाये जाते। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस सभ्यता के निर्माता किसी भिन्न प्रजाति (नस्ल) के थे ।

डेकन कॉलिज पूना के स्नातकोत्तर शोध सस्थान ने १९४१ से आन्ध्र, कर्णाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, मालवा, मध्य भारत, दक्षिणी राजस्थान और उडीसा मे खुदाई का कार्य प्रारम्भ किया। भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने भी अपनी खोजो के वर्णन प्रकाशित किए है। इन सब खोजो के फलस्वरूप पुरातत्ववेत्ता इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि पुरापाषाण युग का मानव भारत मे अपनी इच्छानुसार सभी नदी घाटियो मे घूमता रहता था। किन्तु अभी तक आसाम, केरल, सिन्ध, पश्चिमी राजस्थान और सभवत गगा की घाटी के मध्य भाग मे उसके अवशेष नही मिले है। डिटेरा को सोहन काल के औजारो के साथ-साथ पजाब मे हाथ की कुल्हाडियो भी मिली थी और महाराष्ट्र, उत्तरी गुजरात, दक्षिणी राजस्थान और पूर्वी मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और उडीसा मे भी सोहन काल के उपकरणो जैसे उपकरण मिले हैं। उन स्थानो मे जहा सोहन नदी की सभ्यता जैसे उपकरण प्राप्त हुए है, बिलासपुर, दौलतपुर, डेहरा, गुलेर और नालागढ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गुलेर मे पाँच सतह निकली हैं जिनमे ऊपर की चार सतहो मे एकपहल के गडामे, पत्थर की हाथ की कुल्हाडियाँ, दोपहल गडासे और अनेक प्रकार के आन्तरक उपकरण मिले है।

मद्रास की सभ्यता मे दोपहल हाथ की कुल्हाडी और चीरने के उपकरण अनेक स्थानो से प्राप्त हुए हैं।

गोदावरी नदी के तट पर नन्दूर मधमेश्वर मे १९४३ ई० मे एक अन्य पाषाणयुग का पता लगा है। इसमे पत्थर के अनेक प्रकार के खुरचने तथा छेद करने के उपकरण मिले है। ये उपकरण चर्ट, जैस्पर, काल्सिडोनी, अगेट आदि पत्थरो के बने है। यह सभ्यता पूर्वपाषाणयुग की सभ्यता से भिन्न थी। इस काल के उपकरणो से ज्ञात होता है कि यह मानव पुरापाषाण युग के मानव से भिन्न था। यद्यपि दोनो काल के मानव शिकारी थे और भोजन का सग्रह करते थे, तथापि इस काल का मानव भाले, बरछी या धनुषबाण से भी शिकार करता था। यह मानव नदियो के तट पर रहता था। सभवत इस काल मे भी जगलो की बहुतायत थी किन्तु पुरापाषाण युग की अपेक्षा अब जगल कम घने थे। इस सभ्यता को पुरापाषाण युग की मध्यकालीन सभ्यता कहा जाता है। इस प्रकार के उपकरण नेवासा मे मिले थे अत इसे नेवासा सभ्यता कहा जाता है।

भारत मे अभी पुरापाषाण युग की उत्तरकालीन सभ्यता के अवशेष नही मिले है।

इस युग के मानव का जीवन प्राय पशुओ जैसा था। वह खेती करना नही जानता था। परन्तु अनेक पशुओ से परिचित था। वह मकान बनाना और मृद्भाण्ड बनाना भी नही जानता था। उसका प्रमुख उद्यम शिकार करना था।

*विशेष विवरण के लिए देखिए :-
H D Sankalia : *Indian Archaeology Today*, Chap II, Bombay 1962

पुरापाषाणकालीन मानव के हृदय मे किसी प्रकार की धार्मिक भावना का उदय नही हुआ था। वह शवो को दफनाता नही वरन् इधर-उधर फेंक देता था। परन्तु सभवतः हिंसक पशुओ से अपनी रक्षा करने के लिए उसमे सामूहिक कार्य करने की भावना उत्पन्न हो गई थी।

कुछ विद्वानों का मत है कि आदि-मानव का जन्म दक्षिण भारत मे हुआ था और प्रथम हिमयुग के अन्त मे वह पजाब मे आकर बसा। यह घटना सभवत लगभग १,५०,००० ई० पू० में हुई।

मध्यपाषाण युग (२५,००० ई० पू० से ५,००० ई० पू०)

पुरापाषाण युग और नवपाषाण युग के बीच का काल मध्यपाषाण युग कहलाता है। इस काल मे जलवायु पहले से अपेक्षाकृत अधिक उष्ण और शुष्क हो गई और एक नवीन मानव जाति का उदय हुआ। यह परिवर्तन का युग था।

नवीन मानव और नवीन जलवायु के साथ नए प्रकार के औजार बनाये जाने लगे। ये औजार कल्सिडोनी (Chalcedony), जैस्पर (Jasper), चर्ट (Chert) और ब्लडस्टोन (Bloodstone) नामक पत्थरो के बनाए जाते थे और लघुपाषाण कहलाते हैं। इनकी लम्बाई $\frac{3}{4}''$ से $1\frac{1}{2}''$ तक है। ये औजार किसी लकडी के हत्थे मे लगाकर काम में लाये जाते थे। ये औजार अनेक प्रकार के हैं जैसे फलक (Blades), पाइट (Points), खुरचने में काम आने वाले (Scrapers), उत्कीर्णक (Engravers), त्रिकोण (Triangles), अर्द्धचन्द्राकार (Crescents), समलम्बाकार (Trapezes), छेद करने के (Borer) और सूआ (Awl) आदि।

भारत मे ऐसे औजार पेशावर जिले से लेकर तिनेवली जिले तक और कराची से बिहार तक सब जगह मिले हैं। पजाब मे उचाली मे, गुजरात मे लघनज मे, मध्य भारत मे प्रवर नदी की घाटी मे, मैसूर मे ब्रह्मगिरि नामक स्थान पर और कुर्नूल मे इस प्रकार के औजार बहुतायत से मिले हैं।

ऐसे उपकरण महेश्वर और होशंगाबाद मे पुरापाषाण युग की सतहों के ऊपर मिले हैं। महाराष्ट्र मे नेवासा और कालेगाँव मे ये उपकरण जिन सतहो पर मिले हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि ये प्लीस्टोमीन (नवतम या मानव युग) के है। ये कम-से-कम ६००० वर्ष पुराने हैं।

गुजरात मे जो अवशेष इस युग के मिले हैं उनसे प्रतीत होता है कि इस काल मे जलवायु पहले की अपेक्षा शुष्क थी और बडे जंगलो के स्थान पर अब झाडिया थी। ये सभवत रेत के टीलो के ऊपर रहते थे। उनके समीप पानी भरने से कुछ झीले बन जाती थी। ये पशुओ का शिकार करके और मछली मारकर अपना जीवन निर्वाह करते थे। गाय, बैल, नीलगाय, हिरन, गैंडा, नेवला, गिलहरी, चूहे, कछुए और मछली को मारकर खाते थे। इनके लघु अश्म बाणों के शीर्ष, मोची के तकुए, अनेक प्रकार के खुरचने के उपकरण, फलक और नक्काशी करने के उपकरण जैसे थे। संभवत वे मृद्भाण्डो से परिचित थे। वे मनको के आभूषण पहनते थे। उन्हे मृत्यु के बाद के जीवन का भी कुछ ज्ञान था। वे अपने शवो को उत्तरदक्षिण दिशा मे दफनाते थे।

ये कद मे काफ़ी ऊँचे, लम्बे सिर वाले थे और उनका निचला होठ कुछ निकला होता था।

इस प्रकार के लघु अश्म पश्चिमी बगाल मे बीरभानपुर और दक्षिण भारत मे भी मिले हैं। इनका काल गुजरात के मध्यपाषाण युग से कुछ प्राचीन है। पश्चिमी राजस्थान मे लूनी नदी की घाटी में भी ऐसे कुछ लघु अश्म मिले हैं।

इस युग मे मानव सभवतः छोटी-छोटी पहाडियो पर रहता था। वह भी पुरापाषाण युग की भाँति पेट भरने के लिए गाय, भैंस, घोड़े, बैल, भेड़, बकरी, चूहा, मछली, मगर आदि का शिकार

करता था । मांसमछली, कन्दमूल ही उसका भोजन थे । सभवत. इस युग के अन्त मे मानव मिट्टी के बर्तन बनाना सीख गया था । वह सभवत कुत्तो को भी पालता था ।

इस युग मे मानव ने अपने शवो को सानुष्ठान दफनाना प्रारम्भ कर दिया था । इन शवो के सिर के पास अनेक प्रकार के पत्थर के औजार आदि मिले हैं ।

नवपाषाण युग (३५०० ई० पू० से १००० ई० पू०)

नवपाषाण युग की जलवायु पूर्वकालीन जलवायु की अपेक्षा मानव जीवन के लिए अधिक उपयुक्त थी । न उसमे अत्यधिक ठण्ड थी और न अत्यधिक नमी, ऐसी जलवायु मे जनसख्या भी बढी और मनुष्य की बुद्धि का भी विकास हुआ ।

इस काल मे मानव ने अपने रहने के लिए घर बनाना सीख लिया । सभवत ये घर पशुओ की खाल के तम्बू थे । पीछे मानव नरकुल, घासफूस और मिट्टी की सहायता से झोपडियाँ बनाने लगा । इस प्रकार की झोपडियो के चिन्ह महाराष्ट्र मे नासिक, नेवासा आदि स्थानो पर मिले हैं जिनका समय ईसा से लगभग १,५०० पूर्व माना गया है ।

इस काल मे मानव खेती करके अन्न उपजाने लगा अत अब उसे उदरपूर्ति के लिए कन्दमूल और पशुओ के मास पर ही निर्भर नही रहना पडा । वह गेहूँ, जौ, बाजरा, मक्का, शाक, फल सभी का उपयोग भोजन के लिये करने लगा । अग्नि की सहायता से वह अपना भोजन पकाने लगा । खुदाई मे भोजन पकाने के अनेक बर्तन मिले है ।

इस युग से पूर्व मानव वृक्षो के पत्तो, छालो और पशुओ की खाल से अपने शरीर को ढकता था । इस युग मे सभवत वह कपास भी उगाने लगा और कताई, बुनाई और रगाई करके वस्त्र बनाने लगा ।

इस युग के उपकरण प्राय गहरे हरे ट्रप नाम के पत्थर से बने है और अधिक सुगढ और चिकने हैं । उन्हे रगड-रगड कर चिकना, चमकदार और तेज बनाया गया है । इनमे सेल्ट, कुल्हाडी, एड्ज, स्लिक स्टोन, फैब्रिकेटर, पालिशर और हेमरस्टोन विशेष उल्लेखनीय है । हड्डी और लकडी के भी कुछ औजार मिले हैं ।

इस युग के अवशेष कश्मीर, सिन्ध, उत्तर प्रदेश, बिहार, बगाल, आसाम, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, ब्रह्मगिरि, लघनज और बेलारी जिले मे बहुतायत से मिले है । उदाहरण के लिए दक्षिण भारत मे तेवकल कोटा मे नवपाषाण युग के मानव के कुछ अवशेष मिले है । वह कृत्रिम तालाबो के पास बडे पत्थरो के चौकोर मकान बनाता था । यहाँ के मार्ग भी पत्थरो से बनाये जाते थे । सिचाई के लिए तालाब बनाये गये थे । शिकार और खेती उसके मुख्य व्यवसाय थे । किन्तु यह सब बिना सगठन के सम्भव न था । उसके मिट्टी के बर्तनो पर सुन्दर चित्रकारी है जिसमे उसकी कलात्मक रुचि का पता लगता है । इन बर्तनो के देखने से ज्ञात होता है कि उसका ईरान के मानव से सम्बन्ध रहा होगा क्योकि वहाँ भी इसी प्रकार के मृद्भाण्ड मिले है । वह अपने शवो को सानुष्ठान दफनाता था । डा० साकलिया ने इस नवपाषाण युगीन सभ्यता का समय २५०० से ९०० ई० पू० निर्धारित किया है ।

मस्की, पिक्लीहल, उतनूर, नागार्जुनकोण्ड, सगनकल्लू और टी० नरसीपुर आदि दक्षिण भारत के स्थानो मे जो खुदाइयाँ हुई है उनसे यह बात निर्विवाद सिद्ध हो गई है कि ये नवपाषाण युग की सभ्यताएँ थी जिनका समय लगभग हडप्पा की सभ्यता के समान ही था । उतनूर मे जो राख के टीले मिले है वे सभवत. पशुओ के रहने के स्थान थे क्योकि उनमे खुरो के भी चिन्ह प्राप्त हुए हैं ।

इस युग के मनुष्य काले रंग के मृद्भाण्डो का प्रयोग करते थे जिनमे कुछ मे टोंटी भी होती थी। ये कुम्भकार पशुओं को पालते थे। उथले गड्ढो मे रहते थे जिन पर वे सरकण्डे की छत डालते थे। कार्बन-१४ वैज्ञानिक परीक्षण के आधार पर उतनूर मे प्राप्त अवशेषो का काल लगभग २००० ई० पू० निश्चित किया गया है।

जब दक्षिण भारत की नवपाषाण युग की सभ्यता कर्नाटक और महाराष्ट्र की ताम्रयुग की सभ्यता से मिली तो एक नई सभ्यता का विकास हुआ जिसमे दोनों की विशेषताओं का सम्मिश्रण था। इसमे चिकने पत्थर के उपकरण, फलक उपकरण, थोड़े से बढ़िया पके चित्रित मृद्भाण्ड मिले है। ये लोग अपने शवो को मृद्भाण्डों मे दफनाते थे। इस प्रकार की सभ्यता के अवशेष कर्णाटक, पश्चिमी आन्ध्र और सारे महाराष्ट्र मे मिले है।

यह युग आविष्कारो की दृष्टि से एक महान क्रान्ति का युग था। पुरापाषाण युग तथा मध्यपाषाण युग के मानव का मुख्य व्यवसाय शिकार करना था। इस युग मे मनुष्य ने खेती करना सीख लिया, वह पशुओं को पालने लगा, मिट्टी के बर्तन आग मे पकाने लगा, अपने रहने के लिए मकान बनाने लगा। ऊन व कपास से अपने पहनने के लिए कपड़े बनाने लगा। इस युग का महत्वपूर्ण आविष्कार अग्नि का प्रयोग था। इसकी सहायता से वह अपने को शीत से बचाता, वन्य पशुओं से अपनी रक्षा करता, मिट्टी के बर्तनो तथा अपने भोजन को पकाता। पहिये के आविष्कार से वह सुडौल मिट्टी के बर्तन बना सका। वह चित्रकारी भी करता था। महादेव पहाडियो मे पशु चित्रो की प्रचुरता है। इन पशुओं मे हाथी, सिंह, तेंदुआ, चीता, सूअर, हिरन, घोड़ा, बैल, कुत्ता, बकरी आदि प्रमुख है। रायगढ़ मे मनुष्य लाठियों और डण्डो से एक विशालकाय पशु पर आक्रमण करते दिखाये गए हैं। माल ढोने के लिए वह गाडियाँ बनाता था। इस युग मे प्राय वे सभी आविष्कार हो चुके थे जिनके आधार पर भविष्य मे मनुष्य ने आशातीत सफलता प्राप्त की। सभवत समाज मे कार्य विभाजन का प्रारम्भ भी इसी युग मे हुआ। हाँ, इस युग मे लेख, धातु और राज्य का आविष्कार नही हुआ था।

इस युग मे सभवत मानव ने दानवी और दैवी शक्तियो की कल्पना कर ली थी। वह उन्हे प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार के अनुष्ठान करता था। इस प्रकार अन्ध-विश्वास और धर्म की भावनाओं का जन्म इस युग मे हो गया था। उत्खनन से यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि इस समय मानव अपने शवो को दफनाता और जलाता भी था। मिर्जापुर और कोलार मे इस प्रकार की अनेक कब्रे मिली हैं। कही-कही शव को काटकर मिट्टी के बर्तनों मे भरकर गाढने की प्रथा भी थी। तिनेवली ज़िले मे आदिचनल्लूर नाम के स्थान पर ऐसे मिट्टी के बर्तन, जिनमे शव रख कर गाढे गए थे, बड़ी सख्या मे मिले है। अनेक शवो के ऊपर समाधियाँ मिली हैं। कुछ समाधियो मे शव-भस्म-पात्र भी मिले है।

ताम्रपाषाण युग (Chalcolithic Age)

कालान्तर मे मनुष्य ने ताँबे की खोज की। औजार बनाने के लिए यह अधिक मज़बूत और उपयोगी था अत इससे सुडौल और सुन्दर औजार बनाये जा सकते थे। टूट जाने पर इन औज़ारो को पिघला कर फिर नए औज़ार बनाए जा सकते थे। परन्तु इस युग मे मनुष्य ताँबे के औज़ारो के साथ-साथ पत्थर के औज़ारो का भी बडी मात्रा मे प्रयोग करता रहा। इसीलिए इस युग को ताम्रपाषाण युग कहते है।

ताँबे के औज़ार उत्तर प्रदेश मे कई स्थानो और मध्य भारत मे गुंगेरिया नाम के गाँवो मे मिले

हैं। इनमे कुल्हाड़ियाँ, तलवारें, कटारे, हार्पून और रिंग प्रमुख हैं। ये औज़ार सिन्धु घाटी की सभ्यता मे मिले उपकरणो से भिन्न हैं। सिन्धु घाटी मे तलवारो और हार्पूनो का सर्वथा अभाव है।

डॉ० हँसमुख साकलिया ने महाराष्ट्र मे नेवासा नामक स्थान पर एक ताम्रपाषाण युगीन सभ्यता के अवशेष खोज निकाले है। उनके अनुसार ईसा से लगभग १५०० वर्ष पूर्व यहाँ मानव घास-फूस और बाँसो की सहायता से झोपडी बनाकर रहता था, वह चाक पर मिट्टी के सुन्दर बर्तन भी बनाता था। वह अधिकतर माँसाहारी था किन्तु गेहूँ की भी खेती करता था। वह पत्थर और ताँबे के पतले और छोटे चाकुओ का प्रयोग करता था और अपने शवो को मटकों मे दफनाता था। इस युग का श्रेष्ठ उदाहरण हडप्पा की सभ्यता थी। ताम्रपाषाण युग के पश्चात् आर्य उत्तर भारत मे आए और उन्होने लोहे के युग का प्रारम्भ किया।

कुछ अन्य देशो मे ताँबे के पश्चात् मनुष्य ने काँसे का आविष्कार किया जिसमे नौ हिस्से ताँबा और एक हिस्सा टीन का मिश्रण होता है। इस धातु मे ताँबे से अधिक कठोर और दृढ औजार बनाये जा सकते थे। भारत मे काँसे के औजार बहुत कम मिले हैं। दक्षिण भारत मे पाषाण युग के पश्चात् सीधे लौह युग का प्रारम्भ होता है। वहाँ ताँबे और काँसे के औज़ार बहुत कम मिले है।

डॉ० साकलिया ने पजाब की सोहन नदी की पुरापाषाणयुगीन सभ्यता का समय लगभग १,५०,००० ई० पू०, आसाम, नेपाल और धुर दक्षिण प्रायद्वीप को छोडकर पजाब व दक्षिण भारत की मध्यपाषाणयुगीन सभ्यता का समय लगभग २५,००० ई० पू०, लघनज, मैसूर, तिनेवली और बीरभानपुर (पश्चिमी बगाल) की मध्यपाषाणयुगीन सभ्यता का समय लगभग ५००० ई० पू० निर्धारित किया है। इसी प्रकार उनके अनुसार बिलोचिस्तान की नवपाषाण युगीन सभ्यता का समय लगभग ३५०० ई० पू० और आन्ध्र, कर्णाटक और कश्मीर की नवपाषाणयुगीन सभ्यता का समय लगभग २००० ई० पू० है। राजस्थान, मध्यभारत, सौराष्ट्र और दक्षिणपथ की ताम्रपाषाणयुगीन सभ्यताओं का समय लगभग १८०० से १००० ई० पू०, तथा सिन्ध, पजाब, राजस्थान और सौराष्ट्र की कास्य सभ्यताओ का काल लगभग २५०० से २००० ई० पू० है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत के प्रत्येक भाग मे सभ्यता का विकास एक ही समय नही हुआ।

महापाषाण युग (Megalithic Age)

ताम्रपाषाण युग और लौह युग के बीच महापाषाण युग हुआ। इस युग मे अनगढे बडे पत्थर के टुकडो से दक्षिण भारत मे अनेक समाधियाँ बनाई गईं। इस काल मे पाषाण, ताम्र और काँस्य के उपकरणो के साथ लोहे के भी कुछ औज़ार मिले हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह सक्रान्ति का युग था। महापाषाण समाधियाँ ई० पू० तीसरी शती से लेकर ईसा की पहली शती तक बनाई गईं। ये महापाषाण समाधियाँ अनेक प्रकार की हैं।

ब्रह्मगिरि मे सिस्ट समाधियाँ (Cist Graves) मिली है। इनमे पृथ्वी में आयताकार खाई खोद कर पत्थर की शिलाओ से एक सन्दूक बनाया जाता था। बन्द सन्दूक की पूर्वी दीवार मे वृत्ताकार छेद कर दिया जाता था। इसे पोर्टहोल कहते है। इस सन्दूक के अन्दर पहले हथियार, औजार, मिट्टी के बर्तन, आभूषण आदि रखे जाते थे और उनके ऊपर मृतक व्यक्ति के शव के अवशिष्ट अश। ऐसा प्रतीत होता है कि दफ़नाने से पहले शव को अस्थिमात्र करने के लिए कही अन्यत्र रखा जाता था। जब शव माँसहीन होकर सूख जाता

तब उसे दफनाया जाता था। अवशेषो को वृत्ताकार छेद से होकर सन्दूक में डाला जाता था।

ब्रह्मगिरि में ही एक दूसरे प्रकार की समाधियाँ प्राप्त हुई हैं जिन्हे पिट सर्किल (Pit Circle) कहते हैं। इनमे पहले पाषाण-खण्डो की सहायता से ६ से ९ मीटर व्याम का एक वृत्त बनाया जाता था। इसके बीच मे एक दूसरी खाई होती जिसका व्यास २.४ से ३.७ मीटर होता था और गहराई १.८ से २.४ मीटर। खाई में पत्थर के चार पाये होते थे जिन पर संभवत लकडी की अर्थी रखी जाती थी। जब अर्थी मे रखे शव का माँस सूख जाता तो उसे सिस्ट समाधि मे दफना दिया जाता था। इस प्रकार पिट सर्किल विशेष रूप से माँस गलाने और सुखाने के काम मे ही आता था।

मद्रास के पास चिंगलपुट मे दो प्रकार की शव समाधियाँ कैर्न सर्किल (Cairn Circle) और डोल्मेन (Dolmen) मिली है। कैर्न सर्किल बनाने के लिए बडे-बडे पत्थर के टुकडो से एक वृत्त बनाया जाता था। उसके बीच मे शव-भस्म-पात्र या शव-अस्थिपात्र दफनाए जाते थे। डोल्मेन सिस्ट-समाधि के ही आकार का होता है किन्तु इसमे पत्थर का सन्दूक पृथ्वी के अन्दर न होकर पृथ्वी के ऊपर होता है।

कोचीन राज्य मे चार अन्य प्रकार की समाधियाँ—अम्ब्रेला स्टोन (Umbrella Stone), हुड स्टोन (Hood S one), कन्दरा व मेहिर मिली हैं। अम्ब्रेला स्टोन में वर्गाकार भूखण्ड पर चार पत्थर के पाये खडे कर दिये जाते थे। इसके ऊपर एक कोन (Cone) के आकार का पत्थर रख दिया जाता था जो एक छाते के समान लगता था। इसीलिए इसे अम्ब्रेला स्टोन कहते है। हुड स्टोन मे पत्थर के पाये नही होते। इसमे छत्राकार महापाषाण पृथ्वी पर ही रखा होता है। कन्दरा मे पृथ्वी मे आयताकार खाई खोदी जाती थी। कभी-कभी इन कन्दराओ के भीतर एक बेच भी रखी जाती थी। मेहिर मे केवल पत्थर का स्तम्भ होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि तीसरी शती ई० पू० से पहली शती ई० तक दक्षिण भारत के निवासी पूर्वजो की पूजा मे पूर्ण विश्वास रखते थे क्योकि इस प्रकार के स्मारक दक्षिण भारत के प्रायद्वीप मे सर्वत्र पाये जाते है। जिन मानवो ने इन स्मारको का निर्माण किया उनमे से कुछ सभ्यता के विकास मे पर्याप्त प्रगति कर चुके थे। उनके अधिकतर उपकरण पत्थर के थे क्योकि ताँबा बहुत कम मिलता था किन्तु उनमे से कुछ लोहे का प्रयोग भी जानते थे। इनका समय दक्षिण भारत मे ताम्रपाषाण सभ्यताओ के बाद मे है। इनके मुख्य व्यवसाय आखेट, पशुपालन और कृषि थे। वे नदियो के किनारे छोटे-छोटे गाँवो मे रहते थे। उनके जीवन का कुछ आभास प्राचीन तमिल साहित्य से, जिसे 'सगम साहित्य' कहते हैं, मिल सकता है। संभवत उनका मुख्य भोजन चावल था। वे कुशल कृषक थे और सिंचाई के लिए तालाब बनाते थे। उनके मिट्टी के बर्तन दक्षिण भारत, मैसूर और आन्ध्र के ताम्र पाषाण युगीन सभ्यताओ के मृद्भाण्डो से भिन्न थे। इनके पश्चात् दक्षिण भारत मे उत्तर व दक्षिण से कुछ ऐसी प्रजातियाँ आई जो कृषि-कार्य और नगर-निर्माण मे बहुत कुशल थी और लोहे का प्रयोग जानती थी। उनके आगमन के पश्चात् दक्षिणापथ के निवासियो के जीवन मे कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

डॉ० साकलिया महेश्वर और नावदा टोली की खुदाई के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि नर्मदा की घाटी मे अब से दो लाख वर्ष पहले आदि-मानव रहता था। वह पत्थर की नुकीली हस्तकुदाली और चौकोर गडासे बनाता था।

अब से सात से दस हजार वर्ष पूर्व इसी घाटी मे मानव लघुपाषाण उपकरणो का प्रयोग करता था। इस प्रकार के कुछ तीखी धार वाले और कुछ छीलने के उपकरण होशगाबाद और नरसिंहपुर मे मिले है। इस काल मे पुरापाषाण युग की अपेक्षा वर्षा कम होती थी। यहाँ लाल रग मे पुरानी चित्रकारी भी मिली है। इस युग के लघुपाषाण उपकरण कुछ अर्धचन्द्राकार और कुछ त्रिकोण की आकृति के है। इनको हड्डी या लकडी के हत्थो मे लगाकर काम मे लाया जाता था।

नावदा टोली मे बडे और छोटे दोनो प्रकार के उपकरण और चित्रित मृद्भाण्डो के टुकडे मिले है। यहाँ मानव अब से लगभग ४००० वर्ष पूर्व सुन्दर मृद्भाण्ड बनाता और गेहूँ, चावल, तिल, उडद, मूग आदि की खेती करता था। वह बाँसो और लकडी के खम्भो पर मिट्टी थोपकर झोपडियाँ बनाता था।

१७०० से १३०० ई० पू० यहाँ अनेक प्रकार के मृद्भाण्ड बनाए जाते थे। ये बर्तन लाल रग के है और उन पर काले रग की चित्रकारी है। यहाँ इस प्रकार के मृदभाण्ड १५०० ई० पू० तक बनते रहे।

पहले प्रमुख भोजन गेहूँ था। बाद मे यहाँ का मानव चावल, मसूर, मूग, मटर, तिवडा खाने लगा। अलसी की खेती भी की जाने लगी। परन्तु हल जैसा औजार नही मिलता है। अनाज को हसिया जैसे औज़ार से काटा जाता था तथा गड्ढो या मिट्टी के बर्तनो मे रखा जाता था।

इस काल मे मानव दैनिक कार्य के लिए प्राय पत्थर के औज़ारो का प्रयोग करता था किन्तु साथ ही वह ताँबे का उपयोग भी करने लगा था। चूडियाँ और अगूठियाँ मिट्टी या ताँबे की बनाई जाती थी। आभूषणो मे मनके बहुत प्रचलित थे। यह मानव ७०० ई० पू० तक यहाँ रहता था।

सभवत लोहे का प्रयोग करने वाला मानव यहाँ उज्जैन से भी उत्तर से आया। मध्य-प्रदेश मे ही कायथा की सभ्यता सिन्धु सभ्यता की समकालीन प्रतीत होती है। यहाँ के पहले मकान बनाने वाले मानव सभवत ईरान से आए थे क्योंकि उनके बर्तन ईरान मे मिले मृद्भाण्डो के ही अनुरूप है। यदि यह अनुमान ठीक है तो यह मानना पडेगा कि वे आर्यों की ही एक शाखा थे।

लौह युग

कुछ विद्वानो का मत है कि सबसे पहले हिटाइट लोगो ने १३०० ई० पू० के लगभग लोहे का प्रयोग किया। भारत मे सभवत आर्यों के आगमन के साथ ही लौह युग का प्रारम्भ हुआ। जैसा हम ऊपर कह चुके है दक्षिण भारत मे ताँबे व काँसे के औज़ार बहुत ही कम मिले है। वहा पाषाण युग के तुरन्त बाद लौह युग का प्रारम्भ हुआ। लोहे के प्रयोग से मानव सभ्यता के विकास की गति बहुत तीव्र हो गई।

इस प्रकार प्राचीन स्थानो के उत्खनन से पुरापाषाण युग से लौह युग तक मानव ने किस प्रकार प्रागैतिहासिक सभ्यताओं का विकास किया, इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पडा है।

ह्वीलर के अनुसार गगा की घाटी मे कालक्रम से मृद्भाण्डो का क्रम इस प्रकार है। सबसे निचली सतह मे गेरुए रग के मृद्भाण्ड, उससे ऊपर की सतह पर चित्रित भूरे रग के मृद्भाण्ड और उससे भी ऊपर की सतह पर उत्तर क्षेत्रीय काली पालिश वाले मृद्भाण्ड।

पुरावशेषो की सी-१४ वैज्ञानिक परीक्षण द्वारा जो तिथियाँ निर्धारित की गई है उनसे

प्राचीन भारत के अन्धकार-युग के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। हस्तिनापुर आदि के उत्खनन से, जैसा हम ऊपर कह आये है, दो सभ्यताओ का पता लगता है—पहली (१२०० ई० पू० से पूर्व) जिसमे गेरुए रंग के मृद्भाण्डों का प्रयोग किया जाता था और दूसरी (११००—६०० ई० पू०) जिसमे चित्रित भूरे रंग के मृद्भाण्डो का प्रयोग होता था। अतरजी खेडा मे जो चित्रित भूरे रंग के मृद्भाण्ड मिले हैं उनका समय वैज्ञानिक परीक्षण से ९५० ई० पू० के लगभग निश्चित किया गया है।[1] डॉ० साकलिया के अनुसार यह पुरु, भरत और कुरु के वशजो का राज्यकाल था।[2] सभवत राजस्थान मे बनास नदी की घाटी की सभ्यता भी यादवो की थी, क्योंकि पुराणो के अनुसार मथुरा छोडने के पश्चात् यादव इस प्रदेश मे जाकर बसे थे।[3]

वैज्ञानिक परीक्षण के परिणामो का वैदिक और पौराणिक प्रमाणो से सम्बन्ध स्थापित करके डाक्टर साकलिया इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि गगा नदी की घाटी मे एक प्राचीन आर्य सस्कृति थी, जिसमे गेरुए रंग के भाण्डो का प्रयोग होता था और दूसरी वह जिसमे चित्रित भूरे रंग के भाण्डो का उपयोग किया जाता था। मध्य भारत और दक्षिण मे, अर्थात् महाराष्ट्र, आन्ध्र, मैसूर प्रदेशो मे या तो उपर्युक्त आर्यो मे प्राचीन आर्यों की कोई सभ्यता थी या पुलिन्द, शबर और नाग आदि कुछ आदिम जातियों की सभ्यता थी। दूसरा मत भाषा-विज्ञान और मानव-शरीर-विज्ञानवेत्ताओ के उस कथन के अनुकूल प्रतीत होता है, जिसके अनुसार भारत के सब से प्राचीन निवासी नीग्रिटो थे जो अफ्रीका से अरब होकर भारत आये थे। उसके पश्चात् आदिम आग्नेय जाति के लोग पूर्वी रूम सागरीय प्रदेशो से आकर भारत मे बसे। इनके लक्षण शबर, पुलिन्द, भील और कोल आदि आदिम जातियों मे पाए जाते हैं। उसके पश्चात् द्रविड जातियों के लोग ईरान होकर रूम सागरीय प्रदेशो से भारत आये और अन्त मे आर्यों का भारत आगमन हुआ।[4]

भारत को प्राचीन प्रजातियों की देन

हम पहले कह आए है कि मानवशास्त्रवेत्ताओ के अनुसार सबसे पहले भारत मे आकर बसने वाली प्रजाति नीग्रिटो थी। ये लोग सभवत पूर्वपाषाण युग मे थे। इनके बाद आदिम आग्नेय प्रजाति भारत मे आई। इस प्रजाति की भाषा के अध्ययन से पता चलता है कि इन लोगो ने हमारी सभ्यता के विकास मे बहुत योग दिया। उन्होने चावल की खेती, शाक उपजाना, गन्ने से शक्कर बनाना, कपडा बुनना, पान का प्रयोग आदि बहुत-से नये काम प्रारम्भ किये जो पूर्व-प्रस्तर युग के लोग नही जानते थे। साधारण जीवन और धार्मिक कृत्यो मे हल्दी और सिन्दूर का प्रयोग भी सभवत सबसे पहले इन्ही ने प्रारम्भ किया। वे बीस-बीस करके कौडियो मे वस्तुओ को गिनते थे। सभवत हाथी पालना भी हमने इन्ही से सीखा। विद्वानो का कहना है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी इन्ही ने प्रतिपादित किया और बहुत-सी धार्मिक कथाएँ, जो हिन्दू समाज मे प्रचलित है वे भी हमारे पास इन्ही से आई हैं।

भूमध्य सागरीय प्रजाति के लोग द्रविड कहलाते है। ये आजकल दक्षिण भारत मे रहते है।

१ Ancient India, Nos. 18 & 19, 1962-63 p 208
२ Journal of Indian History, Vol. 42, Part III, December 1964, p 640
३. *Ibid.*, p. 643.
४. *Ibid.*, p. 647.

उनकी सभ्यता बहुत विकसित थी । वे शहरों में रहते थे तथा उनके छोटे-छोटे राज्य थे । उनके राजा मजबूत मकानो मे रहते थे । वे दूसरे देशो से व्यापार करते, ईश्वर में विश्वास करते, और देव-मन्दिर बनाते थे । उनके समाज में विवाह-प्रथा प्रचलित थी और अपने नियम भी थे । वे मिट्टी के बर्तनो के अतिरिक्त लकडी से नावे और जहाज बनाना, खेती करना, कातना, बुनना, रगना आदि भली प्रकार जानते थे । वे धातुओ का प्रयोग करते और धनुष बाण, भालो और तलवारो से लडते थे । सभवत फूल, फल, पत्तो और जल से देवताओ की पूजा भी उनमें प्रचलित थी । कुछ देवी-देवता, जो आजकल हिन्दुओ द्वारा पूजे जाते है, उन्ही मे पूजे जाते थे । ऐसे देवी-देवताओं मे हम शिव, पार्वती, हनुमान, गणेश, शीतला आदि का उल्लेख कर सकते है । इन लोगो की सभ्यता का वैदिक आर्यों की सस्कृति पर बहुत प्रभाव पडा । आदिम आग्नेय प्रजाति के लोगो से भी हमने बहुत-सी बाते सीखी । यदि आर्य लोगो ने आध्यात्मिक क्षेत्र मे बहुत उन्नति की तो द्रविड लोगो ने भारत की भौतिक उन्नति मे प्रशसनीय योग दिया । हमारी सस्कृति मे विविध प्रजातियो की सस्कृतियो का समन्वय हुआ है । यही इसकी विशेषता है और इसी कारण यह आज तक जीवित है ।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी — **प्राचीन भारत**, अध्याय २
अनुवादक—बुद्ध प्रकाश

राजबली पाण्डेय — **प्राचीन भारत**, अध्याय ३

R C. Majumdar — *History and Culture of the Indian People*, Vol. I, Chapters 7, 8

B. B. Lal — *Indian Archaeology Since Independence*

H. D. Sankalia — *Indian Archaeology Today*, Bombay, 1962

अध्याय ४

आद्य इतिहास (१)

Proto-history (1)

सिन्धु घाटी की सभ्यता

(The Harappan Civilization)

सन् १९२२ से पूर्व प्राचीन भारत का इतिहास वैदिक आर्यों के इतिहास से प्रारम्भ किया जाता था, क्योकि सबसे प्राचीन भारतीय ग्रन्थ ऋग्वेद है। परन्तु १९२२-२३ मे कुछ पुरातत्त्व-वेत्ताओ ने खुदाई मे सिन्ध मे एक प्राचीन नगर का पता लगाया जिसे मोहेजोदडो कहते हैं। इसके थोडे दिन बाद पाकिस्तान-स्थित पजाब मे मॉटगोमरी जिले मे हडप्पा मे भी उसी प्रकार की सस्कृति के अवशेष मिले जैसी मोहेजोदडो मे थी। सर मार्टिमर ह्वीलर ने हडप्पा सभ्यता का काल ईसा से लगभग २५०० वर्ष पूर्व से १५०० वर्ष पूर्व माना था। अब वैज्ञानिक तरीको से परीक्षण करके इस सभ्यता के विकसित रूप की तिथि लगभग २२५० ई० पू० से १७५० ई० पू० निर्धारित की गई है।

सिन्धु सभ्यता का मूल

सिन्धु सभ्यता का पूर्व रूप हमे बोलन के दर्रे, सिन्ध और बिलोचिस्तान के कुछ भागो मे मिलता है।

(१) **क्वेटा** मे जो सभ्यता के अवशेष मिले है वे सबसे प्राचीन प्रतीत होते है। यहाँ मकान मिट्टी के बने थे। यहाँ के मृद्‌भाण्डो पर कुछ गुलाबी सा भूरा रग है, किसी दूसरे रग का उपयोग नही किया गया है। इन पर कुछ रेखागणित की सी आकृतियाँ हैं, पशुओ या पौधो के चित्र नही बने हैं। यहाँ गिलास, कटोरे और तश्तरियाँ मिली हैं। ये मृद्‌भाण्ड सूसा प्रथम, गियन पञ्चम और सियल्क तृतीय के अनुरूप है, इसलिए इनका समय भी उतना ही प्राचीन हो सकता है।

(२) (क) **अमरी नाल सभ्यता**--सिन्ध मे अमरी नाम के स्थान पर और उत्तरी बिलोचिस्तान मे नाल नाम के स्थान पर अनेक ऐसे मकान मिले है जिनमे दीवारो की नीव मे पत्थर लगाया गया है। इसके ऊपर कच्ची ईंटे लगी है जो ५३ से० मी० लम्बी और १० से० मी० चौडी हैं। यहाँ के मृद्‌भाण्ड पाण्डु और गुलाबी से है। अमरी के मृद्‌भाण्डो पर चौके व सिग्मा (σ) के चिन्ह हैं। उन पर पशुओ या पौधो की आकृतियाँ नही है किन्तु नाल के मृद्‌भाण्डो पर बहुधा पशुओ और पौधों की आकृतियाँ बनी है। एक मुहर पर गिद्ध की आकृति और कुछ मृद्‌भाण्डो पर रेखागणित की आकृतियाँ बनी है। नाल मे कुछ ताँबे के भी औजार मिले है जैसे कुल्हाडी, छेनी, भाले या आरी।

(ख) **कुल्लाका**--यहाँ ऐसे मकान मिले हैं जिनमे अनेक कमरे हैं जिनकी लम्बाई २.४ मीटर से ४.६ मीटर और चौडाई १.५ मीटर से ४.६ मीटर तक है। एक खिड़की १.४ मीटर

चौडी थी। कोई महल या मन्दिर यहाँ नही मिला है। नन्दारा के मृद्भाण्डो पर सिंह, मछली, चिडिया, बैल और पीपल के वृक्ष की आकृतियां काले रग मे बनी है। यहाँ के बर्तन अधिक सुन्दर नही हैं। इनमे लाल रग के साथ पीला, नीला या हरा रग भी प्रयोग मे लाया गया है।

(३) **कुल्ली की सभ्यता**--दक्षिणी बिलोचिस्तान मे कुल्ली मे स्त्रियो और पशुओ जैसे कुब्भदार बैल आदि की अनेक मूर्तियाँ मिली है। ये स्त्रियो की मूर्तियाँ किसी देवी की प्रतीत होती है। सभवत इन्ही का विकसित रूप हडप्पा से प्राप्त कांसे की नर्तकी की मूर्ति है। यहाँ से प्राप्त मृद्भाण्डो पर अनेक पशुओ और पौधो की आकृतियाँ तथा कुछ पर विभिन्न रेखागणित की आकृतियाँ भी बनी है। इसी प्रकार के नमूने मेसोपोटामिया मे सूसा मे मिले है। यहाँ ताँबे का एक दर्पण मिला है जिसका व्यास १२ सेंटीमीटर है। इसका हत्था स्त्री के धड के आकार का है जिसमे स्तन व बाहु बनी है किन्तु सिर स्त्री के प्रतिबिम्ब से बनता था।

उपर्युक्त सब सभ्यताएँ पाण्डु रग के मृद्भाण्डो की सभ्यताएं कहलाती है। अब हम लाल रग के मृद्भाण्डो की सभ्यता का वर्णन करेगे।

(४) **जोब सभ्यता**--उत्तरी बिलोचिस्तान मे जोब नदी की घाटी मे राना गुण्डाइ नामक स्थान पर चाक पर बने लाल रग के मृद्भाण्ड प्रयोग मे लाने वाले मानवो की एक सभ्यता मिली है। यहाँ मातृदेवी की सुन्दर मूर्तियाँ तथा पत्थर का एक लिग भी मिला है। मृद्भाण्डो पर चिडिया और पशुओ की आकृतियाँ बनी है। यहाँ कुब्भदार बैल, भेड और गधे की अस्थियो के अतिरिक्त घोडे की हड्डियाँ भी मिली हैं। सभवत जोब नदी की सभ्यता का सम्बन्ध ईरान की सभ्यता से था क्योकि वहाँ भी इसी प्रकार के मृद्भाण्ड मिले है।

(५) **कोटदीजी**--खैरपुर से १५ मील दक्षिण की ओर और मोहेंजोदडो से २५ मील पूर्व की ओर कोटदीजी नामक स्थान पर १९५५-५७ मे एक नगर के अवशेष मिले थे। यह सिन्धु सभ्यता से पहले की सभ्यता प्रतीत होती है। यहाँ एक गढ के अवशेष मिले है जिसकी दीवारे बहुत मजबूत थी। इसमे पत्थर या कच्ची ईंटो की आयताकार मीनारे भी है। लगभग २४०० ई० पू० की सतह पर यहाँ जली हुई भस्म के अवशेष मिले जिसके ऊपर सिन्धु सभ्यता के अनुरूप मृद्भाण्ड प्रयोग मे लाने वाले मानव रहते थे। यहाँ के मृद्भाण्डो पर साधारणतया पीला रग है और उनमे से कुछ पर लाल रग की पट्टी भी है। कोटदीजी का यदि ठीक प्रकार से खनन किया जाय तो सिन्धु सभ्यता के मूल पर कुछ प्रकाश पड सकता है।

(६) **कीली-गुल मुहम्मद की सभ्यता**--कीली गुल मुहम्मद (पाकिस्तान) मे चार सतह निकली है। सबसे नीचे की सतह पर कच्ची ईंटो के मकान थे। इनके उपकरण चर्ट पत्थर या हड्डी के बने है। ये लोग पशु पालते और खेती करते थे। दूसरी सतह पर मृद्भाण्ड और तीसरी सतह पर धातु भी मिली हैं। राजस्थान मे कालीबगान के अवशेष कीली गुल मुहम्मद की तीसरी सतह के ही अनुरूप है। इसमे अच्छे मकान, कालिसडोनी के लघु-अश्म, ताँबे की कुल्हाडियाँ और लाल रग के मृद्भाण्ड निकले है जिनके ऊपर लाल और सफेद रग की चित्रकारी है। कीली गुल मुहम्मद का समय लगभग ३५०० ई० पू० निश्चित किया गया है।

उपर्युक्त सभी सभ्यताएँ सिन्धु घाटी की सभ्यता का मूल रूप प्रदर्शित करती है। इन सभ्यताओ के लोग कबीलो मे गाँवो मे रहते थे। ये ३००० ई० पू० के लगभग चाक पर सुन्दर चित्रित मृद्भाण्ड बनाते थे जिन पर रेखागणित व पशुओ, पौधो आदि की आकृतियाँ बनी होती थी। उनके अधिकतर उपकरण चर्ट पत्थर के बने होते थे किन्तु वे अपने आभूषणो और औजारो के लिए ताँबे

और कांसे का भी प्रयोग करने लगे थे। ये बाढ़ के पानी को रोककर अपने खेतो की सिचाई करते थे और अन्न उपजाते थे। इनके बालक समीप के ढालो पर पशुओ को चराते थे। भौगोलिक कठिनाइयो के कारण इन सभ्यताओ का राजनीतिक और सास्कृतिक क्षेत्र मे अधिक विकास न हो सका।

सिन्धु सभ्यता का विकसित रूप हमे मोहेजोदडो और हडप्पा के नगरो मे मिलता है। इन नगरो की समृद्धि से यह निश्चित हो जाता है कि पश्चिमी पजाब तथा सिन्ध मे अब से लगभग ४५०० वर्ष पूर्व पर्याप्त वर्षा होती थी। पिगट के अनुसार ये दोनो नगर जो एक दूसरे से ५६० किलोमीटर की दूरी पर स्थित थे, एक बडे साम्राज्य की दो राजधानियाँ थी जो एक दूसरे से नदियो द्वारा जुडी हुई थी। ईटो और जगली पशुओ की हड्डियो की प्राप्ति से भी यह पता चलता है कि यहाँ पर्याप्त वर्षा होती थी जिससे ईटो को पकाने के लिए लकड़ी प्राप्त होती थी। जगली पशुओं के रहने के लिये जगल भी थे।

नगरों की रचना और भवन निर्माण

इन दोनो शहरो की रचना एक ही प्रकार की थी। इनके बीच मे एक गढ़ रहा होगा जो ३६६ मीटर लम्बे और १८३ मीटर चौडे एक चबूतरे पर बना था। यह चबूतरा लगभग ९१ मीटर ऊँचा है। मोहेजोदडो के गढ मे एक ६९ मीटर लम्बी और २४ मीटर चौड़ी इमारत के अवशेष मिले हैं। यह एक कालिज-सा लगता है। इसी गढ मे एक बडा कमरा २७ ४ मीटर लम्बा और २७ ४ मीटर चौडा मिला है जिसमे बहुत-से खम्भे थे। इसे कुछ विद्वान् नगरपालिका का कार्यालय मानते है। इस गढ की तीसरी प्रसिद्ध इमारत एक स्नानागार है। यह ३२ ५ मीटर लम्बा और इतना ही चौडा है। इसके बीच मे नहाने के लिए एक हौज है जो १२ १ मीटर लम्बा, ७ ३ मीटर चौडा और २ ४ मीटर गहरा है। इसमे सम्भवत कुओ से पानी भरा जाता था और साफ करने के लिए पानी निकालने की व्यवस्था भी थी। इसके तीन ओर कपडे बदलने के लिए कोठरियाँ थी। कुछ इमारते दो मजिल की थी जिनमे दूसरी मजिल लकडी की बनी थी।

इस गढ के चारो आर शहर की सडके थी जो २ ७ मीटर से १०.३ मीटर तक चौडी थी। ये एक-दूसरे को इस प्रकार काटती थी कि एक सडक दूसरी पर लम्ब बनाती थी। इनके साथ-साथ दूकाने और रहने के मकान बने थे। सोलह ऐसे मकान मिले है जिनमे हर एक मे मज़दूरो के रहने के लिए दो कोठरियाँ थी। इनके पास मे एक कारखाना था जिसमे लकडी की ओखलियो मे मूसलो से कूटकर अनाज से आटा तैयार किया जाता था। ये लोग चक्की से आटा पीसना नही जानते थे। अनाज रखने के लिए एक ६० ८ मीटर लम्बा और ४५ ७ मीटर चौडा गोदाम था। ये सब इमारते भट्टे मे पक्की ईटो की बनी थी।

हडप्पा मे भी नगर-निर्माण की व्यवस्था इसी प्रकार की थी। यहाँ की सबसे बडी इमारत ५१ ५ मीटर लम्बी और ४१ ३ मीटर चौडी है। इसमे १२ कमरे है।

इन शहरो मे गन्दे पानी के शहर से बाहर निकलने की बडी अच्छी व्यवस्था थी। मकानो की नालियाँ सड़क की बड़ी नाली मे जाकर मिलतीं जो गलियो के नीचे बहती। हर गली मे कुएँ और लालटैनो के लिए खम्भे थे।

भोजन

यहाँ गेहूँ और जौ की खेती की जाती थी जो कि सिन्धु घाटी के लोगो का मुख्य आहार था।

इन्हे ओखलियों मे कूटकर आटा तैयार किया जाता। सभवत: चावल भी उगाया जाता था। खजूर भी खाने मे काम आता था, क्योंकि इसकी गुठलियाँ मिली हैं। कुछ अन्य फल, शाक, दूध के अतिरिक्त मछली, गौ, भेडों, मुर्गों, सूअर, घडियाल और कछुओं का मास भी खाया जाता था।

वेशभूषा

मूर्तियो से पता लगता है कि साधारणतया स्त्री और पुरुष दोनो ही बिना सिले दो कपडे पहनते थे। एक धोती और दूसरा चादर की तरह होता था। मनुष्य लम्बे बाल रखते। स्त्रियाँ पखे के आकार की सिर की टोपी पहनती थी। स्त्री और पुरुष दोनो ही सोना, चाँदी, ताँबा आदि के बने आभूषण जैसे हार, अगूठियाँ और बाजूबन्द पहनते। मूल्यवान् मणियाँ भी आभूषणों मे लगाई जाती। स्त्रियाँ कर्णफूल, चूडी, दस्तबन्द, तगडी और पाजेब भी पहनती तथा सुर्मा और शृंगार के अन्य साधन भी काम में लाती थी। उस समय काँसे के दर्पण और हाथीदाँत की कघियाँ बनाई जाती थी।

बर्तन व सामान

यहाँ के मृद्‌भाण्ड चाक पर बनाकर आग मे पकाए जाते थे तथा उन पर सुन्दर चित्रकारी की जाती थी। इस चित्रकारी मे सरल रेखाओ व बिन्दुओ के द्वारा हिरन, बकरी, खरगोश, मछली व कुछ पक्षियों की आकृतियाँ बनी है। इनमे तश्तरियाँ, कटोरे, घडे और अनेक प्रकार की सुराहियाँ हैं। हाथीदात का एक सुन्दर फूलदान भी मिला है। हाथीदाँत से सुइयाँ और काँसे या ताँबे के हुक बनाए जाते। लकडी की कुर्सियाँ और तख्त, बैत के बने हुए पीढे तथा ताँबे और मिट्टी के लैम्प भी काम मे लाए जाते। बालको के खेलने के लिए मिट्टी की गाड़ियाँ, सीटियाँ, मनुष्य, स्त्री, चिडियो और पशुओ के आकार के मिट्टी के खिलौने बनाए जाते। लोग गोलियो से और शतरज भी खेलते थे।

आर्थिक जीवन

सिन्धु घाटी के लोग खेती के अतिरिक्त बहुत-से उद्योग जानते थे। ये लोग कपास उगाना और कातना भली प्रकार जानते थे। अनेक प्रकार के मिट्टी के बर्तन बनाते और कपडो को रगते थे। काँसे के दो खिलौने इक्के की शक्ल के है। इनमे चार खम्भो पर ऊपरी छत्री लगी है। कुछ मुहरो पर जहाज और नाव की आकृति बनी है जिससे पता लगता है कि ये लोग व्यापार के लिए इनका भी प्रयोग करते थे। ये लोग संभवत सुमेर से भी व्यापार करते थे। पाँच भारतीय मुहरे एलम और मैसोपोटामिया मे मिली है जिन पर सिन्धु घाटी के कुब्भदार साँड और सिन्धु घाटी की लिपि खुदी है। सर जॉन मार्शल के अनुसार इन मुहरो का समय ईसा के पूर्व लगभग २७०० वर्ष है। ये मुहरे ऊपर से तीसरी सतह पर मिली है। इससे नीचे कई सतह हैं, इसीलिए सिन्धु घाटी की सभ्यता का प्रारम्भ ३५०० वर्ष ईसा से पूर्व माना जाता है। सभवत भारत से फारस की खाडी को सोने, चाँदी, ताँबा, लाजवर्द, पत्थर के मनको, हाथीदाँत के कघो, आभूषणो, आँख के लेपो, कई प्रकार की लकडियो, मोती, बन्दर और मोरो का निर्यात किया जाता था।

ये लोग ताँबे के हथियार और औजार बनाते थे। मुख्य हथियार तीर, कुल्हाड़ी, गदा और कटार थे। वे तलवार और कवच का प्रयोग नही जानते थे। ताँबे या काँसे की हसिया, दराँती, आरी, छेनी और उस्तरे भी बनाए जाते थे। सम्भवत ताँबा राजपूताना की खानो से तथा काँसे की वस्तुएँ बनाने के लिए टीन बम्बई, बिहार और उडीसा के राज्यो से लाया जाता था। पत्थर भी

राजपूताने से लाया जाता था। एक प्रकार का हरा पत्थर नीलगिरि के पास से और सोना सम्भवत: कोलार की खानो से लाया जाता था।

ये लोग बाटो का भी प्रयोग जानते थे। कुछ बाट घन के आकार के और कुछ गोल-नुकीले हैं। उनकी तोल मे १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४ का अनुपात है। सबसे अधिक १६ इकाई का बाट प्रयोग मे आता था।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में एक प्रकार के पत्थर और पकी हुई मिट्टी की लगभग ५०० मुहरे निकली हैं। उन पर कुछ अक्षर खुदे हुए हैं जो अभी तक पढे नही जा सके हैं। इनमे ३३९ चिह्न हैं। यह लिखाई दाहिने हाथ से बाईं ओर को लिखी जाती थी। इन मुहरो पर कुछ वास्तविक जैसे नीलगाय, बैल, भैंस और हाथी और कुछ कल्पित पशुओ की आकृतियाँ भी बनी हैं। सम्भवत ये मुहरें व्यापार मे काम मे लाई जाती थीं। इनसे सिन्धु घाटी की व्यापारिक उन्नति और आर्थिक जीवन का अनुमान लगाया जा सकता है।

कला

कला के क्षेत्र मे सिन्धु घाटी के लोगो ने बहुत उन्नति की थी। वे बर्तनो पर सुन्दर चित्र बनाते थे। मनुष्यो और पशुओ के चित्र एक बडी सख्या मे मिलते हैं। मुहरो पर जो पशुओ के चित्र बने है उनसे इन लोगों की कलात्मक अभिरुचि प्रकट होती है। ये चित्र बैल, हाथी, चीता, बारहसिंगा, घड़ियाल, गैंडा आदि पशुओ के है। इनमे साँड की आकृति बहुत सुन्दर बनी है।

हड़प्पा मे दो मनुष्यों की मूर्तियां मिली हैं जिनसे प्रकट होता है कि ये लोग मनुष्यो की मूर्ति बनाने मे भी बहुत कुशल थे। ध्यान-मुद्रा मे योगी की पत्थर की मूर्ति और काँसे की नर्तकी की मूर्ति सिन्धु घाटी की कला के सुन्दर नमूने है। दाहिने पाँव पर खडी बाई टाँग को सामने बढ़ाए इस नर्तकी की मूर्ति से सजीवता स्पष्ट प्रकट होती है।

धर्म

सिन्धु घाटी मे ऐसी कोई इमारते नही निकली है जिन्हे देव-मन्दिर कहा जा सके। यहाँ के निवासियो के धार्मिक विचारो का अनुमान हमे कुछ मूर्तियो और मुहरों पर बनी आकृतियो से करना पडता है।

पक्की मिट्टी की कई मूर्तियाँ मिली है। इनमे एक अर्धनग्न स्त्री दिखाई गई है। वह तगडी, सिर की टोपी और एक हार पहने है। कुछ मूर्तियाँ धुएँ के रग मे रगी है। सम्भवत इनके आगे धूप आदि जलाई जाती थी। विद्वानो का मत है कि ये प्रकृति देवी या मातृदेवी की मूर्तियाँ है। यह मातृदेवी आज तक हिन्दू समाज मे माता, अम्बा, अम्मा, काली, कराली के नाम से भारत के प्रत्येक कोने मे पूजी जाती है। हड़प्पा मे एक ऐसी मुहर मिली है जिस पर एक नग्न स्त्री सिर के बल टाँग ऊपर किए है। उसके गर्भ से एक पौधा निकलता हुआ दिखाया गया है। इस मुहर के दूसरी ओर एक मनुष्य एक हसिया हाथ मे लिये और एक स्त्री हाथ जोडे उसके सामने बैठी दिखाई गई है। इससे यह प्रकट होता है कि पृथ्वी देवी को प्रसन्न करने के लिए ये मनुष्यो का बलिदान भी करते थे। यह मातृदेवी ही सिन्धु घाटी की सबसे पूज्य देवी थी।

देवो मे सबसे प्रमुख देव एक त्रिमुख आकृति का देव है। यह सीगो की एक टोपी पहने, पद्मासन मे बैठा है और हाथी, चीते, भैंसे, गेंडे, हिरन आदि पशु इस देव को घेरे हुए है। इस मूर्ति मे शिव के तीन लक्षण पाए जाते हैं। यह त्रिमुख है, पशुपति है और महायोगी है। इसीलिए कुछ

विद्वानो का मत है कि सिन्धु घाटी के लोग शिव जैसे एक देव की पूजा करते थे। मुहर की इस आकृति के अतिरिक्त दो अन्य मुहरे भी मिली है जिन पर शिव की आकृति बनी है। इनमे यह देव केवल लगोट बाँधे है और सिर पर सीगो की टोपी पहने है। इन आकृतियो से यह अनुमान होता है कि ये लोग शिव के उपासक थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे शिवलिंग की भी पूजा करते थे, क्योंकि बहुत-से लिंगाकार पत्थर मिले है सम्भवत ऋग्वेद मे जिन लिंग-पूजक अनार्यो का वर्णन है वे सिन्धु घाटी के ही निवासी थे। योनि की पूजा भी सम्भवत कुछ लोग करते थे।

यहा की लिपि मे एक चार भुजा वाला देव भी दिखाया गया है जो ब्रह्मा, विष्णु या शिव की मूर्ति के समान है। छ मुहरो पर खडे हुए एक योगी की आकृति भी है जो जैन योगियो की कायोत्सर्ग मुद्रा मे मिलती हे।

मोहेजोदडो से प्राप्त एक मुहर पर एक पेड की दो शाखाओं के बीच मे खडा हुआ एक देव दिखाया गया है जिसकी मान स्त्रियाँ पूजा कर रही है। सम्भवत यह पेड पीपल का है। इससे प्रकट होता है कि ये लोग पेडो की भी पूजा करते थे।

मुहरो पर जिन पशुओं की आकृतियाँ बनी हैं उनमे कुछ वास्तविक है और कुछ कल्पित। एक मुहर मे एक बकरी की मुखाकृति का मनुष्य है। कुछ आकृतियाँ आधी बैल और आधी हाथी की आकृति मे मिलती है। कुछ पशु पूजा के फूल-फल खाते हुए और पूजा की वस्तुओं से अलकृत दिखाये गए है। इससे ज्ञात होता है कि ये पशुओं की पूजा भी करते थे। सैन्धव-निवासी योग का भी अभ्यास करते थे और और स्नान को भी विशेष महत्त्व देते थे।

ऊपर लिखे गए वर्णन से यह स्पष्ट है कि वर्तमान हिन्दू धर्म मे बहुत-सी बाते वही है जो बीज रूप मे सिन्धु घाटी के निवासियों मे प्रचलित थी।

समाज

मानवशास्त्रवेत्ताओ का अनुमान है कि मोहेजोदडो और हडप्पा मे बहुत-सी प्रजातियो के लोग रहते थे। समाज को चार मुख्य श्रेणियों—विद्वान्, योद्धा, व्यापारी और कारीगर—मे बाँटा जा सकता है। समाज सम्पन्न था। मनुष्य खेती करते, पशु पालने और व्यापार करते थे। समाज मे धनी और मजदूर दोनो थे।

राजनीतिक अवस्था

पिगट और ह्वीलर आदि विद्वानो का मत है कि सुमेर और अक्कद की भाँति मोहजोदडो और हडप्पा मे भी पुरोहित लोग शासन करते थे। ये शासक प्रजा के हित का पूरा ध्यान रखते थे। सभवत मोहेजोदडो और हडप्पा उनके राज्य की दो राजधानियाँ थी जो सिन्धु घाटी के द्वारा एक-दूसरे से सम्बद्ध थी। इतने बडे नगरो के लिए अन्न की व्यवस्था सरकार ही करती होगी। शहरो का एक सुव्यवस्थित प्रकार से बनाया जाना भी इस बात को प्रकट करता है कि कोई ऐसी व्यवस्था अवश्य थी जिसके आदेशो का सब नागरिक पालन करते थे। ह्वीलर के अनुसार यह साम्राज्य, जो रोपड से सुतकाजेडोर तक फैला हुआ था, एक अच्छे प्रकार से शासित साम्राज्य था। रोम के साम्राज्य से पहले इतना विस्तृत और सुव्यवस्थित कोई साम्राज्य ससार के किसी भाग मे विद्यमान न था।

निर्माता

सिन्धु सभ्यता के निर्माता कौन थे, इस विषय मे एकमत नही है। ह्वीलर आदि विद्वानो का मत है कि वे अनार्य थे। परन्तु मानव शास्त्रवेत्ताओ का अनुमान है कि इस सभ्यता के प्रधान नगरो की आबादी मिश्रित थी। व्यापार के कारण इन शहरो मे अनेक प्रजातियो के लोग आकर बस जाते थे। अभी जिन अल्पसख्यक अस्थिपजरो का परीक्षण किया गया है उनसे पता चलता है कि वे लोग आदिमआग्नेय, भूमध्यसागरीय, मगोलियन और अल्पाइन नस्लो के थे। निश्चित रूप से अभी यह नही कहा जा सकता कि सिन्धु सभ्यता के निर्माता कौन थे।

पिगट के अनुसार सिन्धु सभ्यता का मूल पूर्णतया भारतीय था किन्तु विदेशो से व्यापार के कारण घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित होने के कारण उसमे कुछ विदेशी सम्पर्क का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। सभवत सुमेर के साथ व्यापारिक सम्बन्ध दक्षिण बिलोचिस्तान की कुल्ली सभ्यता के व्यापारियो ने स्थापित किए। इन्हीं व्यापारियो ने सुमेर के नगरो मे अपनी अलग बस्तियाँ बनाईं जिनमे वे भारतीय परम्पराओ के अनुसार अपने देवताओ की पूजा करते थे।

सिन्धु सभ्यता का विस्तार

ऊपर जिन दोनो स्थानो, मोहेंजोदडो और हडप्पा, के आधार पर सिन्धु घाटी की सभ्यता का चित्र प्रस्तुत किया गया है, वे अब पाकिस्तान मे है, किन्तु यह सभ्यता एक बडे भाग मे फैली हुई थी। इसके अवशेष सिन्ध, बिलोचिस्तान, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और नर्मदा नदी की घाटी तक मे मिले हैं। १९५३ मे अम्बाला जिले मे रोपड़ मे, १९५८ मे हिण्डन नदी के तट पर दिल्ली से ४५ किलोमीटर दूर आलमगीरपुर मे और १९६३ मे उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले मे अम्बाखेडी मे सिन्धु सभ्यता के अनुरूप वस्तुएँ खुदाई से मिली है।

दक्षिण मे काठियावाड मे रगपुर, लोथल, सोमनाथपुर और हालार जिले मे सिन्धु सभ्यता के अवशेष मिले है। १९५७ मे कैम्बे की खाडी मे नर्मदा और ताप्ती के मुहाने के निकट मेहगाँव, तेलोड और भगतराव मे सिन्धु घाटी की सभ्यता के अनुरूप मिट्टी के बर्तनो के टुकडे मिले है। रगपुर और लोथल मे सिन्धु सभ्यता मोहेजोदडो के नष्ट होने के बहुत दिन पीछे तक चलती रही। वहाँ पहुँचकर यह सभ्यता अन्य सभ्यताओ के सम्पर्क मे आकर कुछ बदल गई।

रोपड एक सामरिक महत्त्व के स्थान पर स्थित था। यहाँ सतलुज नदी हिमालय पहाड की तलहटी से निकल कर पजाब के मैदान मे प्रवेश करती है। यह आक्रमणकारियो के मार्ग पर स्थित था। इसी कारण इसका कई बार विनाश हुआ और कई बार इसे बसाया गया। इसमे छ सतह मिली हैं। पहली सतह हडप्पा सभ्यता के विकसित काल की है। दूसरी सतह मे कुछ नए प्रकार के मृद्भाण्ड मिले है। यहाँ के निवासी मकान बनाने मे ककड, पत्थर और मिट्टी का प्रयोग करते थे। इनके आभूषण हडप्पा के आभूषणो के अनुरूप हैं। मृद्भाण्डो मे कुछ तो हडप्पा के सदृश है और कुछ भिन्न। रोपड का कब्रिस्तान रहने के स्थान से कुछ दूरी पर था। ऐसा प्रतीत होता है कि चित्रित भूरे मृद्भाण्डो का प्रयोग करने वाले व्यक्तियो ने इस कब्रिस्तान को हानि पहुँचायी थी। इस प्रकार रोपड की खुदाइयो ने हडप्पा की सभ्यता से लेकर मध्यकाल तक के इतिहास पर प्रकाश डाला है।

रोपड की खुदाई से यह बात स्पष्ट हो गई है कि सबसे प्राचीन सभ्यता हडप्पा की थी क्योकि उस सभ्यता की दो सतहो के ऊपर चित्रित भूरे रग के भाण्ड मिले है।

पूर्वी पजाब मे ही बाडा मे जो मृद्भाण्ड मिले हैं वे हडप्पा के मृद्भाण्डो से भिन्न हैं किन्तु बीकानेर में मिले मृद्भाण्डो के समान है। इसका यह अर्थ है कि हडप्पा के निवासी रोपड छोडने के बाद भी बाडा मे रहते रहे। इस प्रकार पूर्वी पजाब की खुदाइयो के आधार पर पुरातत्ववेत्ताओ ने ताम्र पाषाण युग की सभ्यताओ का क्रम इस प्रकार निश्चित किया है—(१) हडप्पा, (२) परवर्ती हडप्पा, (३) पतनोन्मुख हडप्पा, (४) व्यवधान, (५) चित्रित भूरे मृद्भाण्ड और (६) उत्तर क्षेत्रीय काली पालिश वाले मृद्भाण्ड।

आलमगीरपुर के अवशेषो से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हडप्पा की सभ्यता पूर्व मे उत्तर प्रदेश की ओर भी फैली। इसमे चार सतह निकली है। पहली सतह से हडप्पा की सभ्यता के अनुरूप अवशेष और दूसरी से चित्रित भूरे मृद्भाण्ड मिले है। मकान बनाने मे दो प्रकार की पक्की ईंटे काम मे लाई जाती थी। बडी ईंटे लगभग ३० सेंटीमीटर और छोटी लगभग १५ सेंटीमीटर लम्बी होती थी। यहाँ के मृद्भाण्ड और आभूषण हडप्पा के ही अनुरूप है। तीन पायो वाली परातें भी मिली है जो सभवत रोटी बनाने के काम मे लाई जाती थी। एक नाद पर जो चिन्ह अकित है उनसे यह बात प्रतीत होती है कि ये लोग बारीक कपडा बुनना जानते थे।

सभवत हडप्पा निवासी अपने व्यापार का विस्तार करने के लिए ही सौराष्ट्र पहुँचे।

लोथल एक महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह था, इसलिए भोगवोर और साबरमती नदियो मे बाढे आने पर भी इसे छोडा नही गया। इसके छ बार बसने के चिन्ह मिले हैं। नदियो की बाढ से बचाने के लिए शहर कच्ची ईंटो के बने एक ऊँचे चबूतरे पर बसाया गया। नगर का निर्माण पहले से पूर्ण योजना बनाकर किया गया। पक्की ईंटो का बना एक ४६ ६ मीटर लम्बा नाला मिला है जिसमे ८ छोटी नालियाँ आकर मिलती थी। एक ३ ७ मीटर चौडी सडक भी मिली है। अधिकतर मकान कच्ची ईंटो के थे, कही-कही पक्की ईंटो के भी मकान मिले हैं। एक मकान ४ ८ मीटर लम्बा और ३ ७ मीटर चौडा था। उसमे रसोईघर और स्नानागार भी था। पानी निकलने के लिए दोनो मे नालियाँ थी। दो बडे मकान और एक ७ ३ मीटर गहरा कुआँ भी मिला है। बारह मकान ऐसे थे जिनमे स्नानागार भी थे और पानी निकलने के लिए नालियाँ भी। इस नगर का व्यास, जब यह पूर्णतया समृद्ध था, ३ किलोमीटर से अधिक था।

लोथल की सबसे प्रसिद्ध कृति पक्की ईंटो का बना जहाजो का घाट था जो त्रिभुजाकार था। इसकी दो भुजाएँ प्रत्येक ४० मीटर, और तीसरी भुजा २१६ मीटर थी। इसकी ऊँचाई लगभग ४ मीटर थी। इस घाट मे भोगवोर नदी से पानी आने-जाने के लिए ७ मीटर चौडा द्वार था। इससे प्रतीत होता है कि यह हडप्पा सभ्यता वालो का एक बडा बन्दरगाह था।

यहाँ लाल और काले रंग के मिट्टी के पक्के बर्तन जैसे गिलास, प्याले, नाँद, तश्तरी, लैम्प आदि, मिले हैं जिन पर लाल रग पर काली चित्रकारी है। इनमे कुछ पर रेखागणित की आकृतियाँ और कुछ पर ताड, पीपल आदि के पेड, शाखाएँ, फूलो के नमूने, चिडियाँ और मछलियाँ चित्रित हैं। एक बर्तन पर साँप और कुछ पर हिरन चित्रित हैं।

यहाँ सिन्धु घाटी के अनुरूप मुहरे भी मिली हैं, जिन पर सिन्धु घाटी की लिपि और कुछ पशुओ-जैसे एकश्रृग नाम के कल्पित पशु, हाथी और साँप की आकृतियाँ बनी हैं। एक मुहर पर मुख ऊँट का, सीग हिरन के, दाढी बकरी की और शरीर साँड का बनाया गया है। एक पर एक चिडिया की आकृति है जिसके मुँह मे एक मछली है।

सबसे महत्त्वपूर्ण मुहरे वे हैं जो ईरान की खाड़ी मे मिली मुहरो के अनुरूप हैं, जिनसे लोथल

और ईरान के व्यापारिक सम्बन्धों का पता चलता है।

यहाँ अनेक प्रकार के औजार और हथियार भी मिले हैं, जैसे फन्ने, बाणो के अग्रभाग, सुइयाँ, चाकू, पिन, मछली मारने के कांटे, भालं. के अग्रभाग और कुल्हाड़े। ये सब तांबे या कांसे के बने थे। यहाँ गेहू, चावल के दाने और घोडे की हड्डियाँ भी मिली है।

इसके अतिरिक्त यहाँ सिया पत्थर (Steatite) की चूडियाँ, कर्णफूल, और सोने, अकीक (Carnelian), यशब (Agate) के मोती मिले है। ये सब वस्तुएँ और यहाँ के बाट हड़प्पा मे मिले बाटो के अनुरूप है। सभवत यह सबसे पुराना स्थान है जहाँ ये वस्तुएँ मिली है।

यहाँ के अस्थिपजरो के देखने से ज्ञात होता है कि लोथल मे पुरुष और स्त्री को साथ-साथ दफनाया जाता था। इससे यहाँ सती-जैसी प्रथा होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

झालावाड जिले मे रगपुर मे अवशेषो की तीन सतहे मिली हैं। पहली सतह पर रहने वाले व्यक्ति लघु अश्मो का प्रयोग करते थे। इसके ऊपर की सतह के रहने वालो की सभ्यता हड़प्पा की सभ्यता के अनुरूप थी। इनके ईंटो के भवन, नालियाँ, कच्ची ईंटो की दीवार, मृद्भाण्ड, मिट्टी के बर्तनो पर चित्रित आकृतियाँ, आभूषण, उपकरण, हथियार और बटहरे सब हड़प्पा निवासियो जैसे थे। दूसरी सतह मे कुछ नए प्रकार के मृद्भाण्ड मिले है। तीसरी सतह के मृद्भाण्ड इनसे भी भिन्न है। इनमे कुछ की सतह चमकदार लाल है और कुछ काले और लाल है जिन पर सफेद रग मे चित्रकारी है।

सोमनाथ मे छ सतह मिली है। पहली सतह के (क) भाग मे लाल पट्टी वाली और नक्काशी वाली चित्रकारी के मृद्भाण्ड मिले है। इसके (ख) भाग मे पिछली हड़प्पा की सभ्यता के अनुरूप मृद्भाण्ड बडी मात्रा मे मिले है। इसके ऊपर सोमनाथ या प्रभास का विशिष्ट प्याला मिला है जिसकी किनारी अन्दर की ओर मुडी है और जिस पर अनेक नमूने हैं, दूसरी सतह पर रगपुर के अनुरूप चमकदार लाल मृद्भाण्ड, इनके ऊपर काले और लाल मृद्भाण्ड और उनके ऊपर उत्तरी काली पालिश वाले मृद्भाण्ड मिले है। भगतराव सभवत हड़प्पा की सभ्यता का दक्षिण मे सबसे दूर का केन्द्र था। यह एक बन्दरगाह था और इसका सौराष्ट्र के नगरो से सम्बन्ध था। भड़ोच के निकट मेहगाँव मे, जो नर्मदा नदी के मुहाने पर है, लाल जमीन पर काले रग की चित्रकारी वाले अनेक मिट्टी के बर्तन मिले हैं।

सौराष्ट्र की खुदाइयो से कुछ स्पष्ट तथ्य हमारे सामने आते हैं। सभवत हड़प्पा निवासी समुद्र के द्वारा सौराष्ट्र पहुँचे थे। समुद्र तट से वे अन्दर की ओर बढे। जहाँ भी वे गए, विशेष प्रकार के मृद्भाण्ड बनाने की कला को अपने साथ ले गए। किन्तु कुछ समय बाद वहाँ तीन अन्य प्रकार के मृद्भाण्ड अर्थात् चमकदार लाल मृद्भाण्ड, काले और लाल मृद्भाण्ड जिन पर सफेद चित्रकारी थी और सोमनाथ के अनुरूप मृद्भाण्ड बनने लगे। इन सभ्यताओ मे से कोई भी पक्की ईंट बनाना नही जानते थे। अन्य कलाओ मे भी वे निपुण न थे। इसलिए सौराष्ट्र मे फिर एक बार पशु-पालन और कृषि पर आधारित सभ्यता स्थापित हो गई।

हड़प्पा के अनुरूप मुहरो के ईरान की खाडी मे बेहरीन के टापू पर प्राप्त होने से यह बात पूर्णतया सिद्ध हो गई है कि भारत और पश्चिमी एशिया के बीच इस काल मे व्यापारिक सम्बन्ध थे। लोथल के अवशेषो से यह अनुमान किया जा सकता है कि हड़प्पा की सभ्यता समुद्र पर आधारित सभ्यता थी।

डॉ० गोडबोले के अनुसार हड़प्पा की सभ्यता के समय राजस्थान एक समुद्र था। यदि यह

निश्चित रूप से सिद्ध हो जाए तो सभवत हडप्पा की सभ्यता इसी समुद्र के द्वारा सौराष्ट्र पहुँची होगी, सौराष्ट्र के पश्चिमी तट के सहारे अरब सागर मे होकर नही।

सन् १९६० से राजस्थान मे कालीबगान नाम के एक स्थान पर खुदाई हो रही है। यह घग्गर नदी के बायें किनारे पर स्थित था। घग्गर नदी को प्राचीन काल मे सरस्वती कहते थे। यहाँ दो टीले निकले हैं। पूर्वी टीले पर रहने वाले लोग लाल रग के पतले मिट्टी के बर्तन, जिन पर काले रग मे रेखागणित-जैसी आकृतियाँ बनी थी, प्रयोग मे लाते थे। वहाँ पत्थर के फलें, कुछ मूल्यवान पत्थर और घिया-पत्थर के मोती, सीपी और पकाई हुई मिट्टी की चूडियाँ है। उनके मकान कच्ची ईंटो के बने थे। पुरातत्त्ववेत्ताओ ने इसे हडप्पा की सभ्यता से पहले की सभ्यता कहा है।

दूसरा टीला इससे लगभग दो सौ वर्ष पीछे का है। इसमे जो वस्तुएँ मिली है वे पूर्णतया हडप्पा की सभ्यता के अनुरूप है। इस पश्चिमी टीले मे कुछ अग्निकुण्ड मिले है। ये कच्ची ईंटो के एक चबूतरे पर एक पक्ति मे बने थे। इनके निकट ही एक कुआँ और एक स्नानागार था। वहाँ मातृ-देवी और पशुपति की आकृतियो वाली कोई मुहर नही मिली है। इन अग्निकुण्डो से इन लोगो के धार्मिक विश्वासो का पता चलता है।

कालीबगान मे कुछ मिट्टी के बर्तनो के ऐसे टुकडे मिले है जिनसे यह पूर्णतया निश्चय हो गया है कि सिन्धु सभ्यता की लिपि दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी, क्योकि इन पर जो लिखाई है उसमे अक्षरो की बनावट इसी प्रकार की है।

सिन्धु सभ्यता का विनाश

कुछ विद्वानो का मत है कि सिन्धु सभ्यता का विनाश किसी विदेशी असभ्य जाति के आक्रमण के कारण हुआ, जिसके अवशेष सिन्ध मे चन्हूदडो नामक स्थान म मिले है। कुछ विद्वानो का मत है कि आर्य लोगो ने इस सभ्यता का विनाश किया और वे यहा के निवासियो को दस्यु या दास कहते थे। परन्तु इस मत के पक्ष मे कोई ठोस प्रमाण नही है। ए० एस० अल्तेकर तथा सुधाकर चट्टोपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुचे है कि एक लम्बे समय तक आर्य और सिन्धु सभ्यता के बनाने वाले अनार्य साथ-साथ रहे। रगपुर, लोथल, रोपड और आलमगीरपुर के सबसे ऊपर की सतह पर मिले अवशेषो से यह बात स्पष्ट हो गई है कि इस सभ्यता का सहसा नाश नही हुआ। राज-स्थान, गुजरात, मालवा और दक्षिण की अन्य सभ्यताओ के प्रभाव मे आकर यह सभ्यता धीरे-धीरे लुप्तप्राय हो गई।

सिन्धु घाटी की सभ्यता का समय ऋग्वैदिक सभ्यता से पूर्व है। वह नगरीय सभ्यता थी जिसमे सुनियोजित नगर थे। पक्की ईंटो के मकान के अतिरिक्त सडको पर प्रकाश का प्रबन्ध था। गन्दे पानी के निकलने के लिए सडको के नीचे नालियाँ थी। सभवत नगरपालिका या शासको ने सुरक्षा की भी पूर्ण व्यवस्था कर रखी थी। सक्षेप मे हम कह सकते है कि वहाँ नागरिको को सभ्य जीवन की सभी सुविधाएँ प्राप्त थी। ऋग्वैदिक आर्य छप्पर वाले कच्चे मकानो मे गाँवो मे रहते थे। उन्हे नगरीय जीवन की सभी सुविधाएँ प्राप्त न थी।

सिन्धु घाटी के निवासियो के मुख्य आहार गेहूँ और मछली थे जबकि आर्यो के मुख्य खाद्यान्न जौ और चावल थे। सिन्धु घाटी के लोग कृषि के अतिरिक्त शिल्प उद्योग और देशी व विदेशी व्यापार से जीवन निर्वाह करते थे। आर्यों के मुख्य व्यवसाय कृषि तथा पशु-पालन थे। उनके जीवन मे व्यापार का इतना महत्त्व न था। आर्य सभवत लोहे का प्रयोग जानते थे जबकि सिन्धु सभ्यता ताम्रपाषाण कालीन सभ्यता थी।

धर्म मे भी दोनो सभ्यताओ मे बहुत अन्तर था। सिन्धु सभ्यता के लोग मातृदेवी और शिव जैसे एक देवता की पूजा करते थे। मूर्ति पूजा, लिंग पूजा, योनि पूजा, पशु पूजा, वृक्ष पूजा आदि के प्रमाण सिन्धु सभ्यता मे मिले है। आर्य प्रकृति के भव्य रूपो सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि की पूजा करते थे। आर्य गौ को पूज्य समझते थे। सिन्धु घाटी के निवासी सभवत बैल को पूज्य समझते थे। आर्य घोडे का प्रयोग करते थे। सिन्धु सभ्यता मे घोडे का अस्तित्व सन्दिग्ध है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि ये दोनो सभ्यताएँ एक दूसरे से भिन्न थी।

सिन्धु सभ्यता का भारत की सस्कृति पर बहुत प्रभाव पडा है। हिन्दू धर्म के बहुत-से विश्वास इन लोगो के धार्मिक विश्वासो पर आधारित है। भौतिक सभ्यता के क्षेत्र मे तो आर्य लोगो ने इन लोगो से बहुत-सी बाते सीखी। भारत की वर्तमान सभ्यता मे सिन्धु घाटी के लोगो की देन कुछ कम नही है। यदि आर्य लोगो ने आध्यात्मिक क्षेत्र मे अपना योग दिया तो सिन्धु घाटी के लोगो ने हमारे शहरो की सभ्यता के विकास मे योग दिया। हमारे शहरो के मकान, सडके, खान-पान, वेश-भूषा आदि पर सिन्धु सभ्यता का बहुत प्रभाव पडा है। हमारी वर्तमान सस्कृति मे आर्य और सिन्धु दोनो सभ्यताओ का सुन्दर समन्वय है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पुरातत्व विभाग ने जो खुदाइयाँ कराई है उनसे प्रागैतिहासिक तथा आद्य ऐतिहासिक युग की अनेक सभ्यताओ का पता लगता है। कश्मीर की घाटी मे बुर्जहोम मे एक नवपाषाण युग की सभ्यता का पता लगा है जिसका समय सभवत उन्नीसवी शती ई० पू० है। ये लोग गड्ढो मे रहते थे और इन गड्ढो को छप्परो से ढकते थे। ये भूरे रग के मृद्भाण्डो का प्रयोग करते थे। इनके पत्थर के औजार, चिकनी कुल्हाडियाँ, मूसल आदि और हड्डी के सूए, सुइयाँ, मत्स्य भाले और घोटे होते थे।

नवपाषाण युग की सभ्यताओ के पश्चात् लौह युग से पूर्व दक्षिण भारत की कुछ महापाषाण कालीन सभ्यताओ का समय आता है। ये लोग बडे अनगढे पत्थरो से अपने मृत व्यक्तियो के शव पर समाधियाँ बनाते थे। ये पहले शव को खुले मे छोड देते थे और जब वह अस्थि-मात्र रह जाते तो उन्हे इन समाधियो मे दफना देते थे। इन समाधियो का वर्णन हम अध्याय ३ मे कर चुके है।

गगा की घाटी मे अनेक स्थानो पर ताँबे के उपकरण और मूर्तियाँ मिली है। पिछले बीस वर्षों मे जो खुदाइयाँ हुई है उनसे यह निश्चय हो गया है कि ये उपकरण उसी काल के है जिनके लाल मृद्भाण्ड है। …ल थल की चौथी सतह पर ताँबे की एक मूर्ति का टुकडा मिला है जिससे यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि इस प्रकार के उपकरण हडप्पा सभ्यता के पिछले काल मे विद्यमान थे। कार्बन-१४ के वैज्ञानिक परीक्षण के आधार पर इसका समय उन्नीसवी शती ई० पू० निश्चित किया गया है।

चित्रित भूरे रग के मृद्भाण्डो का प्रयोग करने वाले व्यक्ति मिट्टी मे लिपे मकानो मे रहते थे और टट्टर बाध कर उन पर छत डालते थे। प्रारम्भ मे वे ताँबे का प्रयोग करते थे फिर वे लोहे का भी प्रयोग करने लगे। हस्तिनापुर मे चित्रित भूरे रग के मृद्भाण्ड गगा नदी मे बाढ आने के कारण समाप्त हो गए। इसके पश्चात् हस्तिनापुर के राजाओ ने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया।

पश्चिमी बगाल मे पाण्डु-रजर-धीबी नामक स्थान पर नीचे की सतहो पर ऐसी सस्कृतियो के अवशेष मिले है जो काले और लाल मृद्भाण्डो पर सफेद चित्रकारी करते थे या केवल लाल और काले मृद्भाण्डो का प्रयोग करते थे। इस प्रकार के मृद्भाण्ड राजस्थान और मध्य भारत मे भी मिले हैं। कार्बन-१४ के परीक्षण के आधार पर इस सस्कृति का समय १००० ई० पू० से पहले निर्धारित किया गया है।

पिछले बीस वर्षों मे जो खुदाइयाँ हुई है उनसे उत्तर भारत की गगा की घाटी और दक्षिण भारत के आद्य इतिहास पर बहुत प्रकाश पडा है। गगा की घाटी की प्रमुख विशेषता चित्रित भूरे रंग के मृद्भाण्ड है। इस प्रकार के मृद्भाण्ड पहले बरेली जिले मे अहिच्छत्र मे, तथा इसके बाद हस्तिनापुर, रोपड और दिल्ली के पुरान किले, उज्जैन, मथुरा, श्रावस्ती और कौशाम्बी मे भी मिले। दूसरे शब्दो मे, इस रग के मृद्भाण्ड सबसे अधिक मध्य देश या उत्तर प्रदेश मे मिले हैं। इस प्रकार के मृद्भाण्डो का विशेष महत्त्व यह है कि ये हडप्पा और उत्तरी पालिश वाले मृद्भाण्डो के बीच मे मिले है और हस्तिनापुर, तिलपट आदि ऐसे स्थान है जिनका वर्णन महाभारत मे मिलता है।

इस सभ्यता के लोग कच्ची मिट्टी व सरकडों से बने मकानों में रहते थे। गो, भेड और हिरन का माँस व चावल खाते थे। वे घोडे और ताँबे से परिचित थे। इस सभ्यता के अन्तिम दिनों मे लोहे का प्रयोग होने लगा था। महाभारत काल के भारतीयो के भौतिक जीवन का यह चित्र बहुत धुधला है। जब तक अन्य खुदाइयाँ न हो यह चित्र अस्पष्ट ही रहेगा।

उत्तरी और दक्षिणी राजस्थान मे सभवत चित्रित भूरे रग के भाण्डो की सभ्यता मे पूर्व अनेक जातियाँ रहती थी। सरस्वती नदी की घाटी मे, जिसे अब घग्गर कहते है, अभी तक चित्रित भूरे मृद्भाण्डो के २० स्थान मिले है। किन्तु जब तक अन्य खुदाइया न हो, राजस्थान की इन सभ्यताओ के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता।

अहार संस्कृति

दक्षिण पूर्वी राजस्थान मे काले और लाल रग के मृद्भाण्ड मिले है जिनके ऊपर सफेद चित्रकारी है। ये उदयपुर के निकट अहार नाम क स्थान पर मिले है, अत यह सस्कृति अहार या बनस सस्कृति कहलाती है। चित्तौडगढ, भीलवाडा और मन्दसौर मे भी इस प्रकार के भाण्ड मिले है। इनसे मिलते-जुलते मृद्भाण्ड नर्मदा के तट पर न वदाटोली, तापी नदी के तट पर प्रकाश और गिरण नदी पर बहल मे भी मिले है। इस सभ्यता मे मकान कच्ची मिट्टी या पत्थरो के बनाये जाते थे। छत बाँस के ऊपर मिट्टी डाल कर बनाई जाती थी। यहाँ चूल्हे भी मिले है।

उदयपुर से ४५ मील की दूरी पर गिलन्द नामक स्थान म दो टीले है। पश्चिमी टील के लोग ताम्रपाषाण युग मे इसे छोडकर चले गए। पूर्वी टीले के लोग ऐतिहासिक युग मे भी रहते रहे। यहाँ पक्की ईटो की एक दीवार भी मिली है। परन्तु अधिकतर मकान कच्ची ईटो के थे। यहाँ अनेक प्रकार के मृद्भाण्ड मिले है। इस सभ्यता का समय १७०० ई० पू० से १३०० ई० पू० निर्धारित किया गया है।

मालवा संस्कृति

यहाँ के मृद्भाण्डों पर लाल सतह पर काले रग की चित्रकारी है। यहाँ पर पत्थर के छोटे फलक भी बडी सख्या मे मिले है।

चम्बल की घाटी मे नागदा की खुदाई १९५६-५७ मे की गई थी। नर्मदा की घाटी मे महेश्वर और नावदा टोली की खुदाई १९५२-५३ और १९५७-५९ मे की गई थी। नावद टोली इदौर से दक्षिण की ओर ६० मील की दूरी पर है। यहाँ के निवासी गोल, वर्गाकार या आयताकार झोपडियाँ बनाते थे। इनकी दीवारे बाँस की टट्टियो पर मिट्टी लेस कर बनाई जाती थी। इन झोपडियो मे नाज रखने के लिए बडे मटके भी मिले है। (१) अधिकतर मृद्भाण्डो मे कुछ पीले रग पर

लाल सतह है और उनपर काले रंग की चित्रकारी है। इस प्रकार के मृद्भाण्डो को मालवा के मृद्भाण्ड कहते है। (२) कुछ मृद्भाण्ड काले और लाल रंग के हैं (३) और कुछ पर सफेद पट्टियाँ हैं। चौथे प्रकार के मृद्भाण्डो की किनारी बहुत पकी है और वे लाल रंग के हैं। इन पर काले रंग की चित्रकारी है। इस प्रकार के मृद्भाण्ड जौर्वे मृद्भाण्ड कहलाते हैं।

यहाँ के निवासी पहले २०० वर्षों मे मुख्य रूप से गेहूँ खाते थे। पीछे वे चावल, मसूर, मूग मटर और खेसरी खाने लगे। नावदाटोली मे भारत मे सबसे प्राचीन चावल मिला है जिसका समय सोलहवीं शती ई० पू० निर्धारित किया गया है। सभवत ये लोग नाज को पत्थर की हंसिया से काटते थे। शायद नाज को गीला करके पत्थर की ओखलियो मे पीसा जाता था। गाय, बैल, सूअर, भेड, बकरी आदि का मांस भी खाया जाता था। घोडे का कोई अवशेष इस सस्कृति मे नहीं मिला है।

ये लोग लोहे मे अनभिज्ञ थे। वे तांबे का भी प्रयोग कम ही करते थे। तांबे की कुल्हाडी, मछली मारने के हुक, पिन और छल्ले बनाये जाते थे। परन्तु अधिकतर औजार पत्थर के लघु-अश्म थे जिनमे वे लकडी या हड्डी के दस्ते लगाते थे। आभूषणो मे मुख्य रूप से पक्की मिट्टी या तांबे की चूडियाँ, मनको की मालाएँ और अगूठियाँ पहनी जाती थी। ये लोग चिकनी पत्थर की कुल्हाडियो का भी प्रयोग करते और अपने शवो को मृद्भाण्डो मे रखकर दफनाते थे। सभवत ये दोनों प्रथाएँ उन्होंने दक्षिण भारत की उत्तर प्रस्तर युग की सस्कृति के व्यक्तियो से सीखी थी। कार्बन-१४ की वैज्ञानिक विधि के आधार पर इनका काल लगभग २००० ई० पू० निश्चित किया गया है। तीन बार आग से नष्ट होने पर भी ये लोग यहाँ लगभग ७०० ई० पू० तक रहते रहे जबकि लोहे का प्रयोग जानने वाली किसी अन्य जाति ने, जो उज्जैन से यहाँ आई थी, इन्हे नष्ट कर दिया। उनके मृद्भाण्डो के आधार पर विद्वानो का मत है कि नावदाटोली के आदि निवासी ईरान से आकर यहाँ बसे थे। यदि यह ठीक है तो हम उन्हे आर्यों की ही एक शाखा मान सकते है। परन्तु यहाँ घोडे के कोई अवशेष नही मिले है।

दक्षिणापथ की ताम्रपाषाणयुगीन सभ्यताओं की मुख्य विशेषताएँ

लगभग २००० ई० पू०

निवास स्थान

सभवत जब ताम्रपाषाण युग के निवासी इस प्रदेश मे आये तब यहाँ घने जगल थे। इन्हे साफ करने के लिए इन्होंने अपने पत्थर और तांबे के उपकरणो का प्रयोग किया। हर बस्ती मे लगभग ५०से १०० झोंपडियाँ होती जिनकी भुजाएँ लगभग ३ × २ ७ मीटर होती थी। मिट्टी की दीवारो और लकडी के खम्भो से बनी ये झोपडियाँ वर्गाकार, आयताकार या वृत्ताकार होती थी। छत को बाँस व पत्तो से बना कर ऊपर से मिट्टी डाल दी जाती थी। फर्श को पक्का करने के लिए बजरी, रेता आदि डाला जाता था। इनमे मिट्टी के बडे माट व अन्य मृद्भाण्ड काम मे लाये जाते थे। चूल्हा और ओखली सब घरो से मिले है।

घर के बर्तन व फर्नीचर

यहाँ से यद्यपि थालियाँ नही मिली हैं तथापि कटोरे और लोटे बहुत मात्रा मे मिले है। लाल

सतह पर काले रग की अनेक प्रकार की चित्रकारी मृद्भाण्डो पर चित्रित मिली है। कुछ मे ज्यामिताकार नमूने हैं और कुछ पर हिरन व कुत्तो की आकृतियाँ।

वेशभूषा

ये लोग सभवत रुई और रेशम कातना जानते थे तथा सूती और रेशमी कपडों का प्रयोग करते थे। कभी-कभी ताँबा और सोना भी काम मे लाया जाता था परन्तु चाँदी का प्रयोग ये नही जानते थे। बहुमूल्य मणियों के मनको के आभूषण और ताँबे, पक्की मिट्टी, हड्डी या हाथी दाँत की चूडियाँ बनाई जाती थी; अगूठियाँ भी पहनी जाती थी।

उपकरण, अस्त्र-शस्त्र

काल्सिडोनी के फलक बाणो के आगे लगाये जाते थे। ताँबे की कुल्हाडियाँ भी हथियार के रूप मे प्रयोग की जाती थी। क्वार्टजाइट (सख्त पत्थर) की गोल गेदे शायद गुलेल से फेंकने के काम मे लाई जाती थी। नावदाटोली की तीसरी सतह से एक तलवार का टुकडा भी मिला था। सम्भवत जौर्वे मे पूरी तलवारे मिली थी किन्तु वे पिघल गई।

काल्सिडोनी के फलक एक धार वाले या दुधारे चाकुओ के रूप मे प्रयोग मे लाये जाते थे। इसके अतिरिक्त हसिया, तकुए और खुरपे भी इसी पत्थर के बनते थे।

भारी उपकरण डोलेराइट (dolerite) या ताँबे के बनाए जाते थे। पत्थर के पहिये सभवत भूमि को खोदने वाली लकडी के पीछे बाँधे जाते थे।

नाज को ओखलियो मे कूटा जाता था। सभवत गाय, भेड, बकरी, भैंस और घोघो का माँस खाया जाता था।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी — **हिन्दू सभ्यता**, अध्याय २
अनुवादक—वासुदेवशरण अग्रवाल

राधाकुमुद मुकर्जी — **प्राचीन भारत**, अध्याय २
अनुवादक—बुद्ध प्रकाश

राजबली पाण्डेय — **प्राचीन भारत**, अध्याय ३

Mortimer Wheeler — *The Indus Civilization*

Mortimer Wheeler — *Early India and Pakistan*

E J M Mackay — *The Indus Civilization*

John Marshall — *Mohenjodaro and the Indus Civilization*—3 Volumes

Stuart Piggot — *Prehistoric India*

B.B. Lal — *Indian Archaeology since Independence.*

R C. Majumdar — *History and Culture of the Indian People*, Vol. 1, Chapter 9

अध्याय ४

आद्य इतिहास (२)

Proto-history (2)

आर्यों का आदि देश और ऋग्वैदिक सभ्यता

(Original Home of the Aryans and the Rigvedic Civilization)

कुछ विद्वानो का मत है कि लगभग २००० वर्ष ईसा से पूर्व आर्य लोग भारत मे आये। उस समय कुछ अनार्य जातियां उत्तर-पश्चिमी भारत मे रहती थी। आर्यों ने उन अनार्य जातियो को हराकर इस प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। इन पराजित लोगो मे से कुछ को उन्होंने अपना दास बना लिया और कुछ अनार्य लोग इस प्रदेश को छोडकर दक्षिण भारत की ओर चले गये। यह भी सम्भव है कि कुछ आर्यो ने अनार्यो से मिलकर दूसरे अनार्यो को हराया हो। कुछ अनार्य जातियाँ, जो पहले उत्तर भारत मे रहती थी, पहाडों और जगलो मे जाकर रहने लगी। उनके वशज कोल, भील, गोंड आदि जातियो मे अब भी मिलते है।

यूरोप के आर्यों और भारत के आर्यों के पूर्वज पहले कही एक स्थान पर रहते और एक ही भाषा बोलते थे। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि यूरोप की प्राचीन भाषाओ और सस्कृत म बहुत-सी वस्तुओ के नाम प्राय एक से है। यह बात निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाएगी—

सस्कृत	लैटिन	ग्रीक	अग्रेजी	जर्मन	लिथूनियन
पितर	पेटर	पेटर	फादर	वटर	
मातर	मेटर	मेटर	मदर	मटर	
सूनु			सन	सुनु	सूनू

आर्यों का आदि देश

अब प्रश्न यह उठता है कि आर्य लोगो का आदि देश कहाँ था। विद्वान इस विषय मे एकमत नही हैं। यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है और विद्वानो ने इसे हल करने के लिए निम्नलिखित पाच साधनो का प्रयोग किया है—

१ इतिहास
२ भाषाविज्ञान
३. प्रजाति सम्बन्धी मानवशास्त्र (Racial Anthropology)
४. पुरातत्त्व
५. अर्थविज्ञान (Semasiology)

इन सब साधनो का प्रयोग करने पर भी निर्विवाद रूप से यह नही कहा जा सकता कि आर्यो का आदि देश कौन सा था।

बाल गगाधर तिलक ने वैदिक सहिताओ का अध्ययन करके यह मत निश्चय किया कि आर्यो के पूर्वज उत्तरी ध्रुव के निकट रहते थे, क्योंकि ऋग्वेद के सूक्तो मे छ महीने के दिन और छ.

महीने की रात का वर्णन आता है। जेन्द–अवस्ता के कुछ वर्णनो से भी इस मत की पुष्टि होती है। परन्तु अधिकतर विद्वान इस मत से सहमत नही हैं। उनका कहना है कि ऋग्वेद मे उत्तरी ध्रुव का वर्णन है, ऐसा निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। भारतीय साहित्य मे भी उत्तरी ध्रुव को कही आर्यों का आदि देश नही कहा गया है। यदि ऐसा होता तो वे सप्तसिन्धु प्रदेश को 'देवकृत-योनि' क्यो कहते ?

कुछ अन्य भारतीय विद्वानो का मन है कि आर्यों का आदि देश 'सप्त सिन्धु' का ही प्रदेश था। श्री अविनाशचन्द्र दास का मत था कि आर्य लोग इसी प्रदेश से ईरान और यूरोप के देशो मे फैले। उन्होंने अपने मत की पुष्टि मे निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए। ऋग्वेद मे सप्त-सिन्धु प्रदेश का ही वर्णन है और उसी को 'देवकृतयोनि' कहा गया है। वैदिक संस्कृत के शब्द भारतीय भाषाओ मे ही अधिक सख्या में मिलते है। ऋग्वेद मे बाघ का उल्लेख न होना तथा हाथी को 'मृग हस्तिन्' कहना इस बात के द्योतक नही है कि वे इन पशुओ से परिचित ही न थे। यदि उनका आदि देश भारत से बाहर कही अन्यत्र होता तो कहीं न कही भारतीय साहित्य मे उसका उल्लेख अवश्य होता। इस मत को साधारणतया पाश्चात्य विद्वानो ने स्वीकार नही किया। परन्तु श्री पार्जिटर ने इस मत का समर्थन किया है। पुराणों के अनुसार आर्य भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश के निवासी थे और ईसा से लगभग १५०० वर्ष पूर्व वे यहाँ से ईरान गये। इस मत की पुष्टि बोगजकोई नामक स्थान पर प्राप्त अभिलेखा से की जाती है जिनका समय ईसा से १८०० वर्ष पूर्व निश्चित किया गया है। इसमे ऋग्वैदिक आर्यो के कई देवताओ, जैसे मित्र, इन्द्र, नासत्य आदि का वर्णन है। कुछ मितानी राजाओं के नाम भी संस्कृत भाषा के शब्दो मे मिलते है। इसी कारण ऋग्वेद का समय ३००० से १५०० वर्ष ईसा से पूर्व माना जाता है।

डॉ० राजबली पाण्डेय का मत है कि आर्यो का आदि देश 'मध्यदेश' अर्थात् उत्तर प्रदेश था क्योकि आर्य संस्कृति के मुख्य केन्द्र अयोध्या, प्रतिष्ठान (प्रयाग के समीप) और गया थे। यहाँ से आर्य सप्त-सिन्धु प्रदेश मे गए जिसका वर्णन हमे ऋग्वेद मे मिलता है। सप्त-सिन्धु प्रदेश आर्यो का आदि देश नहा था यह तो आर्यो द्वारा विजित नया प्रदेश था।

भारत को आर्यों का आदि देश मानने मे निम्नलिखित आपत्तियाँ उठाई गई है। आर्य भाषाएँ अधिकतर यूरोप मे बोली जाती है। लिथूनिया की प्राचीन भाषा का रूप प्राचीन संस्कृत से अधिक मिलता है जबकि भारतीय भाषाओं का रूप संस्कृत के इतने निकट नही है। यदि भारत आर्यो का आदि देश होता तो समस्त भारत मे आर्य भाषाएँ बोली जाती किन्तु दक्षिण भारत और बिलो-चिस्तान मे (ब्राहुई) अब भी अनार्य भाषाएँ बोली जाती हैं। उपर्युक्त तर्कों के आधार पर अधिकतर पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि भारत आर्यों का आदि देश नही हो सकता। सिन्धु सभ्यता अनार्य सभ्यता थी और आर्य सभ्यता से अधिक प्राचीन थी। आर्य लोग भारत की उर्वर भूमि को छोडकर क्यो विदेश जाते। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विदेशियों ने भारत पर आक्रमण किए परन्तु साधारणतया भारतीय भारत छोडकर विदेशो को नही गए।

डा० गाइल्स भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत आर्यों का आदि देश नहीं हो सकता क्योंकि जिन पशु-पक्षियों और वनस्पतियों के नाम आर्य भाषाओ मे मिलते है वे सब भारत मे नही पाये जाते। उनके अनुसार आर्यो का आदि देश यूरोप मे हगरी, आस्ट्रिया और बोहेमिया वाला प्रदेश या डैन्यूब नदी की घाटी थी। उनका यह निष्कर्ष इस बात पर आधारित था कि आर्य भाषाओ मे समुद्र के लिए कोई शब्द नही है। ये लोग शीतोष्ण कटिबन्ध के पेड-पौधों से परिचित थे और वह

ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ कृषि और पशुपालन ही मुख्य व्यवसाय हों । उनके अनुसार आर्य लोग डैन्यूब की घाटी से चलकर एशिया माइनर के पठार को पार कर ईरान पहुँचे और वहाँ से भारत आये । परन्तु गाइल्स का मत असन्दिग्ध नहीं है क्योंकि हम यह नहीं कह सकते कि डैन्यूब नदी की घाटी ही ऐसा प्रदेश है जहाँ इस प्रकार के पशु-पक्षी और वनस्पति मिलते हैं। फिर निश्चित रूप से यह भी नहीं कहा जा सकता कि हंगरी आदि देशों की जलवायु अब से ४००० वर्ष पूर्व ऐसी ही थी जैसी आज है। भाषा-विज्ञान के आधार पर ही इस प्रश्न का हल निकालना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता ।

पेन्का नाम के विद्वान् का मत था कि प्राचीनतम आर्यों की सभी शारीरिक विशेषताएँ जर्मन प्रदेश के निवासी स्कैण्डिनेवियनों में पाई जाती हैं। हर्ट महोदय ने भी इसी मत की पुष्टि की। उनका कहना है कि स्कैण्डिनेविया पर किसी विदेशी जाति का आधिपत्य नहीं रहा और तब भी वहाँ के निवासी इण्डो-यूरोपीय भाषा बोलते है, अतः यही प्रदेश आर्यों का आदि देश हो सकता है। परन्तु केवल भाषा के आधार पर स्कैण्डिनेविया को आर्यों का आदि देश मानना उचित नहीं है। पेन्का के मत के वर्तमान समर्थक प्रागैतिहासिक पुरातत्व का सहारा लेते है। उनका कहना है कि सबसे सरल और प्राचीन शिल्प उपकरण बाल्टिक सागर के पश्चिमी तट पर मिले हैं। यह मत इसलिए ग्राह्य नहीं है क्योंकि इसी प्रकार के शिल्प उपकरण और मृद्भाण्ड दक्षिणी रूस, पोलैण्ड और यूक्रेन में भी मिले है और उनका समय जर्मनी के उपकरणों से अधिक प्राचीन है। फिर दीर्घ-कालीन अन्तर्जातीय रक्त सम्मिश्रण के पश्चात् किसी भी मानव-वर्ग मे शारीरिक विशेषताओं का, बिना किसी परिवर्तन हुए प्राप्त करना, प्राय असम्भव है। अतः शरीर रचना के आधार पर जर्मनी को आर्यों का आदि देश मानना तर्कसंगत नहीं है।

प्रोफेसर मैक्समूलर का मत था कि आर्य लोग पहले मध्य एशिया मे निवास करते थे। उनकी एक शाखा पूर्व की तरफ चली आई। इनमें से कुछ ईरान मे बस गए और कुछ भारत मे आकर रहने लगे। वेद और ईरानियों की धर्म-पुस्तक जेनद-आवस्ता के अनुशीलन से भी पता चलता है कि पहले भारत के आर्य और ईरान के आर्य बहुत दिनों तक एक ही स्थान पर रहा करते थे। ऋग्वेद के बहुत-से मन्त्रों को बिना अधिक परिवर्तन किए अवस्ता की भाषा में बदला जा सकता है। इन्द्र, वायु, मित्र, नासत्य, वृत्रघ्न आदि नाम थोड़े हेर-फेर के साथ अवस्ता में मिलते है। वेद और अवस्ता के पढ़ने से पता लगता है कि आर्यों के पूर्वज ऐसे स्थान मे रहते थे जहाँ शीत बहुत न पडता हो, घोडे और गौ रह सकती हों और नाव भी चल सकती हो। ऐसा प्रदेश मध्य एशिया ही हो सकता है। यह मैक्समूलर का मत था।

ब्रैण्डेस्टीन के अनुसार भारतीय-ईरानी भाषाओं के शब्दों का रूप भारतीय-यूरोपीय भाषाओं के शब्दों से अधिक प्राचीन है। उनके अनुसार पूर्वकालीन भारतीय यूरोपीय भाषाओं के शब्द इस बात के द्योतक है कि ये लोग पहाडो के ढालो पर घास के मैदान के निवासी थे जो यूराल पर्वत के दक्षिण मे उत्तर-पश्चिमी किरगिज का घास का मैदान हो सकता है । उत्तरकालीन भारतीय-यूरोपीय भाषाओ के शब्दो से प्रतीत होता है कि अब ये लोग कार्पेथियन पहाड के पूर्व मे आकर रहने लगे थे। इन दोनो बातो से ब्रैण्डेस्टीन इस निष्कर्ष पर पहुचे कि वे अलग-अलग बँटने से पूर्व किरगिज के घास के मैदानो मे रहते थे। वहाँ से भारत और ईरान के आर्य पूर्व की ओर बढे और शेष आर्य कुछ पीछे पश्चिम की ओर।

पुरातत्व सम्बन्धी साक्ष्य पर गार्डन चाइल्ड (Gordon Childe) इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आर्य सभ्यता के अवशेष राइन नदी, स्विट्ज़रलैण्ड, उत्तरी आस्ट्रिया, इटली, हंगरी और

दक्षिणी रूस के घास के मैदान तथा एशिया माइनर सभी प्रदेशो मे पाए जाते है। वहाँ से वे ईरान आए और ईरान से भारत। इस प्रकार उनका आदि देश स्केण्डिनेविया या दक्षिणी रूस होने की अधिक सम्भावना है। निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि इन दोनो मे से कौन-सा आर्यों का आदि देश था।

निष्कर्ष

ऐसा प्रतीत होता है कि ईरान और भारत के आर्य पहले दोनो एक ही स्थान मे रहते थे और उनके देवता भी एक थे। परस्पर झगडा होने पर एक शाखा ईरान मे रहने लगी और दूसरी सप्तसिन्धु के प्रदेश मे आकर बस गई। सम्भवत इन आर्यो के पूर्वज मध्य-एशिया से दक्षिणी रूस तक फैले हुए थे। वही से कुछ पश्चिम की ओर यूरोप के देशो मे जाकर बस गए और कुछ पूर्व मे ईरान और भारत मे।[1]

भारतीय आर्यों की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद है। इससे पता लगता है कि जिस समय ऋग्वेद की रचना हुई, आर्य लोग अफगानिस्तान की काबुल, कुर्रम, गोमल और स्वात नदियो के प्रदेश तक फैले हुए थे। पजाब की भूमि मे वे मुख्यत रहते थे और पूर्व मे उनकी सीमा गगा, यमुना और सरयू नदी तक थी। इस प्रदेश को ऋग्वैदिक आर्य सप्तसैन्धव कहते थे। ऋग्वेद मे पजाब के प्राकृतिक दृश्यो का भी वर्णन है।

अनार्यों से संघर्ष

इस समय आर्य लोग बहुत-से जनो मे बँटे हुए थे। इनमे मे प्रमुख जन गाधारि, मूजवन्त, अनु, द्रुह्यु, तुर्वशु, पूरू और भरत थे। ये जन दो दलो मे बटे हुए थे। एक दल मे, जो सिन्धु नदी के पश्चिम मे था, पाँच जन मुख्य थे। ये अलिन, पक्थ, भलान, शिव और विषाणिन् थे। इनका नेता भरत जन का राजा सुदास था। दूसरे दल मे यदु, तुर्वशु, द्रुह्यु, अनु और पूरू थे। दूसरे दल ने भारत के आदि-निवासियों की सहायता की। इन आदि-निवासियो को ऋग्वेद मे वृचीवन्त कहा है। इन आदि-निवासियों और भरत के दल का युद्ध हरियूपीया नामक स्थान पर हुआ। कुछ विद्वानो का मत है कि हरियूपीया वही स्थान है जहाँ अब हडप्पा के अवशेष मिले है। इस युद्ध मे पहले भरत के दल की हार हुई परन्तु पीछे भरत के दल ने ऋषि वसिष्ठ को अपना नेता चुना और दस राजाओ के युद्ध मे वृचीवन्त लोगो के दल का सर्वनाश कर दिया। इस प्रकार सुदास ने उत्तर भारत मे राजनीतिक एकता स्थापित की।

ऋग्वेद मे लिखा है कि इन्द्र ने दासो के १०० नगरो का घेरा डाला और उनकी सेनाओ को नष्ट किया। उसने उनके बहुत-से किलो का भी तोड डाला। इन दासो को ऋग्वेद मे आर्यों ने कृष्णत्वक्--काले रग वाला, अनास--चपटी नाक वाला, कृष्णगर्भा--काले बालको वाला, मृध्रवाच्--अस्पष्ट भाषा बोलने वाला, अकर्मन्--सस्कार न करने वाला, अयज्वन्--यज्ञ न करने वाला, अदेवयु--आर्य देवो को न पूजने वाला, अब्रह्मन्--प्रार्थना न करने वाला, अव्रत--नियमो का पालन न करने वाला, अन्यव्रत--अनार्य नियमो का पालन करने वाला, देवपीयु--देवताओ का निरादर करने वाला, शिश्नदेवा--अर्थात् लिगपूजक आदि कहा है। ये अनार्य सैकडो खम्भो वाले किलो मे रहते थे। उनकी सभ्यता बहुत विकसित थी। इसलिए

१. Indian History Congress Proceedings, 1964

आर्य लोग बड़ी कठिनाई से इनको हरा सके।

ए० एस० अल्तेकर[1] और सुधाकर चट्टोपाध्याय[2] का मत है कि रावी नदी के पश्चिम मे कुछ आर्य और कुछ अनार्य जातियां साथ-साथ रही थी। चट्टोपाध्याय का कहना है कि ऋग्वेद मे आर्यों ने जो विशेषण अनार्यों के लिए प्रयुक्त किये हैं वे सब द्रविड जातियो के लिए नही, कुछ आदिम आग्नेय जातियो के लिए भी है। आर्यों ने कुछ आर्य और अनार्य जातियो के एक सगठन को रावी नदी के किनारे और आदिम आग्नेय जातियो को सरस्वती नदी के किनारे हराया।

आर्यों का राजनीतिक संगठन

राज्य की सबसे छोटी इकाई परिवार था, जिसे 'कुल' कहते थे। कुल का नेता 'कुलप' कहलाता। एक गाँव मे अनेक कुल रहते और गाँव के मुखिया को 'ग्रामणी' कहते थे। अनेक गाँवो को मिलाकर एक जिला होता था जिसे 'विश्' कहते थे। जिले के स्वामी को 'विश्पति' कहते थे। अनेक जिलो मे एक ही जाति के लोग रहते थे। ये सारे लोग अपने को एक 'जन' कहते थे। जन के रक्षक को 'गोप्ता या 'रक्षक' कहा जाता था। कुल देश को राष्ट्र और राष्ट्र के स्वामी को राजा कहा जाता था।

राजा का पद साधारणतया पैतृक होता, परन्तु कभी-कभी उसका चुनाव भी होता था। कुछ राज्यो मे राज्यसत्ता कई व्यक्तियो के हाथ मे रहती थी। कुछ राज्य गणराज्य थे, जिनमे जनता के प्रतिनिधि अपने शासक स्वय चुनते थे। ये शासक 'गणपति' या 'ज्येष्ठ' कहलाते थे।

इस समय राज्य बहुत बडे नही थे। एक राज्य के लोग अपने को पूर्वपुरुष की सन्तान समझते थे। साधारणतया एक राज्य का स्वामी राजा कहलाता परन्तु कुछ राजा ऐसे भी थे जिनका आधिपत्य दूसरे राजा मानते थे। वे अपने को सम्राट् कहते थे। राजा जनता के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करता और शत्रुओं से युद्ध करता था। प्रजा राजा की आज्ञा का पालन करती और उसे कर देती थी जिसे बलि कहते थे। राजा अपराधियो को दण्ड देता। उसका अभिषेक किया जाता था। वह सुन्दर वस्त्र पहनता और शानदार महलो मे रहता। उसके अनेक सेवक होते थे।

इस समय 'सभा' और 'समिति' नाम की दो सस्थाएँ थी। सभा सम्भवत गाँव की सभा थी। राज्य की केन्द्रीय सभा को समिति कहते थे।[3] इन दोनो सस्थाओ के हाथ मे बहुत शक्ति थी। इनमे राजनीतिक विषयो पर खूब बहस होती परन्तु अन्त मे सब एक निश्चय पर पहुच मिलकर काम करते थे। ये सस्थाएँ राजा के कार्यों की देखभाल करती और उसे मनमानी करने से रोकती थी।

राजा के अधिकारियो मे सबसे प्रमुख पुरोहित था। वसिष्ठ और विश्वामित्र जैसे पुरोहित हर बात मे राजा को परामर्श देते थे। वे राजा की रक्षा करने और विजय की प्रार्थना करने के लिए युद्ध-भूमि मे भी राजा के साथ रहते। सेनापति को 'सेनानी' कहा जाता और गाँव मे सैनिक, असैनिक सभी कार्यों मे राजा की सहायता करने वाले अधिकारी को 'ग्रामणी' कहते थे। दूत और गुप्तचर भी हुआ करते थे।

१. Indian History Congress Proceedings, 1959
२. Indian History Congress Procedings, 1964
३ Altekar, *State and Government in Ancient India*, p 142.

न्याय-व्यवस्था अच्छी थी। साधारणतया जुर्माने वसूल किए जाते थे। मूल्यांकन गायों से किया जाता था, जैसे कि एक अपराधी को १०० गायों का मूल्य देना पड़ा। पंच भी होते थे जो मध्यस्थ बनकर फैसला करते थे। चोरी, डकैती और पशु चुराना मुख्य अपराध थे। अपराधी को दण्ड देने के लिए सूली से भी बाँध दिया जाता था।

सेना मे पैदल सिपाहियो के अतिरिक्त कुछ योद्धा रथो मे बैठकर भी लडते थे। पैदल सिपाही साधारणतया धनुष-बाण से लडते थे। ये धातु के बने कवच और सिर पर लोहे या ताबे की टोपी पहनते थे। ये तलवारो और भालो से भी लडते थे। रथ मे एक सारथी होता और दो, तीन या चार घोडे जोते जाते थे।

सामाजिक सगठन

परिवार मे पत्नी का स्थान बहुत ऊचा था। साधारणतया एक पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता। वर कन्या के घर जाकर विवाह करके उसे अपने साथ लाता था। विवाह एक ऐसा सस्कार था जिसमे परित्याग के लिए स्थान न था। पत्नी अपने पति के साथ सब धार्मिक कृत्यो मे भाग लेती। वह घर के नौकरो और दासो पर पूर्ण अधिकार रखती। पर्दे का रिवाज न था। स्त्रियाँ पुरुषो से नि सकोच बातचीत करती और प्रीतिभोज मे भाग लेती। स्त्रियाँ पूर्णतया शिक्षित होती और उनका विवाह बडी अवस्था मे होता था। लडकियो को अपना पति चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। परिवार मे पिता की आज्ञा को सब बालक मानते। पिता के छोटे भाई बहनें व माता-पिता भी परिवार मे साथ ही रहते। साधारणतया परिवार के सभी सदस्य प्रेमपूर्वक रहते। पिता के मरने के बाद बडे भाई, बहनो की देखभाल करते।

पिता की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सम्पत्ति का स्वामी होता। पुत्री को उसी दशा मे पिता की सम्पत्ति मिलती जब उसका कोई भाई न होता। विवाह के समय पिता दहेज मे कुछ धन अवश्य देता। मनुष्यो को अपनी निजी सम्पत्ति मे गाय, बैल, घोडे, कपडे, आभूषण, दास व भूमि-भाग सभी रखने का अधिकार था।

वेशभूषा

पोशाक मे साधारणतया तीन कपडे होते थे। कटि प्रदेश मे पहने जाने वाले वस्त्र को 'नीवी' कहते थे और चादर की भाँति ओढे जाने वाले वस्त्र को 'वास' या 'परिधान' और ऊपर से ढकने वाले वस्त्र को 'अधिवास' कहते थे। सूती और ऊनी दोनो प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। वस्त्रो को काढा व रगा भी जाता था। सोने के कर्णफूल, दस्तबन्द, हार व पाजेब भी पहने जाते थे। मणियाँ भी आभूषणो के रूप मे पहनी जाती थी।

स्त्रियाँ चोटी करती। कुछ पुरुष दाढी बनाते थे और कुछ रखते थे। नाइयो और उस्तरो का वर्णन भी ऋग्वेद मे आता है। बालो मे लोग तेल लगाते और कघियो से बाल काढते थे।

खाद्य और पेय

आर्य लोगो का मुख्य आहार जौ और चावल थे। ये लोग अनाज के दलिये को दूध मे पकाकर और आटे की रोटी बनाकर खाते थे। घी व आटे से मीठे पूए भी बनाए जाते। सत्तू के अतिरिक्त जौ को भूनकर भी खाया जाता। दूध, दही, घी, मक्खन, खूब खाए जाते। सम्भवतः पनीर का भी प्रयोग होता था।

आर्य लोग, गाय, बैल, भेड-बकरियो का मांस भी खाते थे, किन्तु दूध देने वाली गाय को अवध्य समझते थे।

मद्य पीना बुरा समझा जाता था। यह जौ या चावल से बनाई जाती थी। सोम रस एक प्रकार की पत्तों का रस था जो पहाडो से लाई जाती थी। इसे दही, घी और दूध के साथ मिलाकर पिया जाता। आर्य लोग सोमरस पीने के बहुत शौकीन थे।

मनोविनोद

आर्यो का जीवन सादा तथा आचरण अच्छा था। वे गावो मे कच्चे मकान बनाकर रहते। अतिथियो की सेवा-सुश्रूषा करने पर बहुत बल दिया जाता था। चोरी करना व झूठ बोलना बुरा समझा जाता था। परन्तु कुछ लोग जुआ खेलते थे। आमोद-प्रमोद के लिए आर्य लोग रथो और घोडो की दौडो मे भाग लेते। स्त्री और पुरुष दोनो नाचते थे। वीणा व मजीरे के अतिरिक्त ढोल भी बजाए जाते थे।

आर्थिक जीवन

कृषि आर्यों का मुख्य व्यवसाय था। छ, आठ या बारह बैल हल मे जोते जाते। हसिया से अनाज काटा जाता तथा कूटने के बाद चलनी और छाज की सहायता से उसे भूसे से अलग किया जाता। कुओ से चरस के द्वारा पानी निकालकर खेतो की सिचाई की जाती थी। पानी जाने के लिए नालियाँ बनाई जाती तथा झीलो और नहरो के पानी से भी सिचाई होती थी। खाद भी काम मे लाया जाता था।

पशुपालन भी किया जाता था। गाय, बैल, चरागाहो मे ग्वालो की देखभाल में घास चरते थे। कभी-कभी चोर गायो को चुरा ले जाते थे। भेड-बकरी, गधे भी पाले जाते थे। कुत्ते शिकार के अतिरिक्त पशुओ और मकानो की रखवाली भी करते थे। घोडे रथो मे जोते जाते और दौडो मे भी काम आते थे।

शिकार करना भी आर्यों का एक प्रमुख व्यवसाय था। चिडीमार तीर और जाल काम मे लाते। शेरो और हिरनो को पकडने के लिए गढे खोदे जाते। हाथी भी पकडकर पाले जाते थे।

बढई रथ व माल ढोने के लिए गाडियाँ बनाते थे। लुहार लोहे के बर्तन, सुनार सोने के आभूषण और चमार चमडे का समान बनाते थे। जुलाहे करघे से सूती व ऊनी दोनो प्रकार के कपडे बुनते थे। वैद्य रोगो की चिकित्सा करते थे। पुरोहित सूक्त रचते, बालको को पढ़ाते और यज्ञ कराते थे।

वर्ण-व्यवस्था

जन्म से वर्ण-व्यवस्था नही मानी जाती थी। इस समय व्यवसाय चुनने मे कोई प्रतिबन्ध नही था। ऋग्वेद के नवें मण्डल की ११२वी ऋचा से यह बात स्पष्ट है कि कोई भी मनुष्य किसी भी व्यवसाय को कर सकता था। उसमे एक व्यक्ति कहता है, "मै एक कवि हूँ। मेरे पिता एक वैद्य थे। मेरी माता आटा पीसती थी। हम सभी धन और पशु की कामना करते हैं।" हाँ व्यवसाय के आधार पर समाज का विभाजन प्रारम्भ हो गया था। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मे ब्राह्मण, राजन्य, विश् और शूद्र का वर्णन है। ब्राह्मणो और क्षत्रियो का विश् लोगो की अपेक्षा समाज मे अधिक मान था परन्तु ब्राह्मणो और क्षत्रियो के व्यवसाय भी पैतृक न थे।

अनार्य लोग आर्यों की सेवा करते या शिल्पो मे लगे रहते थे। उनको साधारणतया शूद्र या दास कहा जाता।

व्यापार

व्यापार मे अधिकतर वस्तुओं का विनिमय किया जाता। एक इन्द्र की मूर्ति का मूल्य दस गाय लिखा है। कभी-कभी धातु के सिक्को का भी प्रयोग किया जाता। एक स्थान पर १०० निष्को के दान का भी वर्णन आता है। धन पर ब्याज भी लिया जाता। व्यापार सम्भवत भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग तक ही सीमित न था। ऋग्वेद के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि विदेशों से भी व्यापार होता था। समुद्र का और १०० पतवार वाले जहाज का भी वर्णन है। सम्भवत बेबीलोन और पश्चिमी एशिया व अन्य देशो तक से भारत का व्यापार था।

शिक्षा

शिक्षा का अन्तिम ध्येय सासारिक प्रलोभनो से मुक्त होकर वास्तविक सत्य की खोज करना था, जिससे मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सके। ऋग्वेद मे प्राचीन ऋषियो के सूक्तों का सग्रह है। गायत्री मन्त्र मे मनुष्य ईश्वर से प्रार्थना करता है कि ईश्वर उसकी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे।

गुरु के घर आकर अनेक शिष्य शिक्षा प्राप्त करते। गुरु वेदो के दिव्य ज्ञान को अपने शिष्यो को पढ़ाता, जो उसको कण्ठस्थ करते। मनन के द्वारा ही वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, ऐसा इन विद्वानो का मत था।

ऋग्वेद मे १०२८ सूक्त हैं। जो दस मण्डलो मे बँटे हुए हैं। इन सूक्तो की रचना मे सैकडो वर्ष लगे होंगे। विद्वानो का मत है कि पहला व दसवा मण्डल पीछे की रचनाएँ हैं। इसमे ईश्वर के अनेक रूपो की स्तुति है। सबसे अधिक रचनाएँ छ ऋषियो—गृत्स्मद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ की है। इन्द्र, अग्नि, उषा, सूर्य, वरुण आदि देवताओ के रूप मे ईश्वर की स्तुति की गई है। सृष्टि का वर्णन और दान की महिमा भी ऋग्वेद के सूक्तो मे की गई है।

धर्म

वैदिक आर्यों के कुछ देवताओ को हम प्रकृति के विभिन्न रूपो मे देख सकते है। द्यौ—आकाश का देव, पृथ्वी—भूमि की देवी, वरुण—व्यापक आकाश, इन्द्र—वर्षा का देव, सूर्य, सविता, मित्र, पूषन् या विष्णु के रूप मे, मरुत—वायु का देवता, दो अश्विन् सायकाल के दो तारे और उषा भोर की देवी—ये सब प्रकृति के भिन्न रूप थे। परन्तु इन मे से कुछ जैसे इन्द्र और वरुण दूसरे देवताओ की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हो गए। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति मे जो भी वस्तु सुन्दर या उपकारी प्रतीत हुई आर्य लोग उसे ही ईश्वरीय समझने लगे। यास्क ऋषि ने पृथ्वी, अग्नि, बृहस्पति और सोम को पृथ्वी के, इन्द्र, रुद्र, मरुत, वायु और पर्जन्य को अन्तरिक्ष के, और द्यौ, वरुण, उषा, अश्विन्, सूर्य, मित्र, सवितृ और विष्णु को आकाश के देवता कहा है। सोमरस को भी एक देवता मानकर उमकी बहुत-से सूक्तो मे स्तुति की गई है। श्रद्धा, क्रोध, सत्य आदि गुणो को भी देव-स्वरूप दिया गया है।

आर्य यज्ञ द्वारा इन देवताओ को प्रसन्न करते। यज्ञो मे खाने-पीने की चीजे, जैसे, दूध, घी, अनाज, मास व सोमरस सभी वस्तुएँ अग्नि मे हव्य रूप से अर्पित की जाती, क्योकि इन लोगो का

यह विश्वास था कि अग्नि देवताओं का मुख है। यज्ञों का आर्यों के जीवन में अत्यन्त महत्त्व था। सारा जीवन ही उनके विचार में एक यज्ञ था, जिसमें मनुष्य को सदा त्याग की भावना से प्रेरित होकर प्राणिमात्र की सेवा करनी चाहिए।

ऋग्वेद के अन्तिम काल में आर्य लोग एक ईश्वर की पूर्ण रूप से कल्पना कर चुके थे। उन्होंने उसी ईश्वर को अग्नि, मित्र, वरुण, इन्द्र, यम और मातरिश्वा आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया। इस प्रकार ऋग्वेद के दसवें मण्डल में बहुदेवतावाद को खुले तौर पर चुनौती दी गई और विश्व को एक अद्वितीय ब्रह्म की रचना कहा गया।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी	**हिन्दू सभ्यता**, अध्याय ४ अनुवादक—वासुदेवशरण अग्रवाल
राधाकुमुद मुकर्जी	**प्राचीन भारत**, अध्याय ३ अनुवादक—बुद्ध प्रकाश
राजबली पाण्डेय	**प्राचीन भारत**, अध्याय ५
सम्पूर्णानन्द	**आर्यों का आदि देश**
B G Tilak	*The Arctic Home in the Vedas*
Pargiter	*Ancient Indian Historical Tradition*
A. C Das	*Rigvedic India.*
R C Majumdar	*History and Culture of the Indian People*, Vol I, Chapters 10, 11, 12, 13, 16, 17, 18, 19
E J. Rapson	*The Cambridge History of India*, Vol. I, Chapter 4
V. Gordon Childe	*The Aryans*, London 1926

सिन्धु-सभ्यता के केन्द्र व वैदिक भारत

अध्याय ५

आद्य इतिहास (३)

Proto-history (3)

उत्तरवैदिक काल की सभ्यता

(Later Vedic Civilization)

उत्तरवैदिक काल की सभ्यता का ज्ञान हमे इस काल मे रचे गये ग्रन्थो से चलता है। ये ग्रन्थ सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद नाम की तीन सहिताएँ, ब्राह्मण ग्रन्थ,आरण्यक और उपनिषद् हैं। सामवेद के सूक्तो को उद्गातृ नाम के पुरोहित गाते थे। यह वेद भारतीय सगीत का प्रथम ग्रन्थ है, परन्तु इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नही है, क्योकि इसके सूक्त ऋग्वेद से ही लिये गए हैं। यजुर्वेद मे बहुत-से सूक्त ऋग्वेद और सामवेद से लिये गए हैं। इन सूक्तो का पाठ यज्ञो मे अध्वर्यु पुरोहित करते थे।

इतिहास की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण अथर्ववेद है जिसमे बीस खण्ड हैं। इसमे सात सौ इकत्तीस सूक्त और लगभग छ हजार मन्त्र है, जिनमे कुछ तो ऋग्वेद से भी पहले के हैं और कुछ मे बहुत-सी घरेलू जीवन की बाते है, जैसे रोगो को दूर करने वाले जादू-टोने के मन्त्र, कृषक, अजपाल और व्यापारियो के लिये शुभाशीर्वादसूचक मन्त्र, स्वामी, समिति के साथ और न्यायालय मे मेलजोल के लिए मन्त्र, विवाह और प्रेम के गीत और राजा आदि से सम्बन्धित मन्त्र इत्यादि। इस वेद मे हमे आर्यों की सास्कृतिक प्रगति के इतिहास के विविध रूपो को जानने मे बहुत सहायता मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वेद मे अनार्य जातियो के बहुत-से धार्मिक विश्वासो का भी समावेश है।

प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मण है। ये गद्य मे लिखे गए हैं। इनमे यज्ञो की विधि वर्णन की की गई है। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ऐतरेय और कौषीतकी है। सामवेद के प्रसिद्ध ब्राह्मण ताण्डय, षड्विंश और जैमिनीय हैं। यजुर्वेद के दो ब्राह्मण तैत्तिरीय और शतपथ हैं। शतपथ ब्राह्मण मे वेद प्रतिपादित मुख्य विषयो का विशद विवेचन है। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है, परन्तु यह कुछ पीछे रचा गया। इन सब ब्राह्मणो की रचना कर्मकाण्ड के लिए हुई। प्रत्येक वेद के आरण्यक और उपनिषद् भी अलग-अलग हैं। आरण्यको मे ऐसे रहस्यमय सत्यो का विवेचन है जिनको जगलो के एकांत वातावरण मे ही समझा जा सकता है। उपनिषदो मे आध्यात्मिक विषयो का विवेचन है, जैसे आत्मा क्या है, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस सृष्टि का कर्त्ता कौन है आदि। आरण्यको व उपनिषदो की रचना वैदिक सहिताओ के बाद मे हुई प्रतीत होती है, क्योकि उनकी भाषा व शैली संहिताओ की शैली व भाषा से भिन्न है।

राजनीतिक दशा

विद्वानो का मत है कि उपर्युक्त सब ग्रन्थ ईसा से १५०० वर्ष पूर्व से ६०० वर्ष पूर्व के बीच रचे गए। हम पहले कह आए हैं कि ऋग्वेद की रचना के समय आर्यों का मुख्य निवास-स्थान 'सप्त-

सैन्धव' देश। हाँ, उनके कुछ उपनिवेश सरयू नदी तक फैले हुए थे। ऐतरेय ब्राह्मण से पता चलता है कि इस काल मे आर्य सस्कृति का मुख्य केन्द्र कुरुक्षेत्र के आसपास का प्रदेश था। कुरु पचाल की सस्कृति श्रेष्ठ समझी जाती थी।

पूर्व मे मगध और अग मे वैदिक सस्कृति का प्रचार अभी पूर्ण रूप से नही हुआ था। पश्चिम मे गन्धार, बाह्लीक और मूजवन्त वैदिक सस्कृति के क्षेत्र से बाहर समझे जाते थे।

महाभारत युद्ध के बाद कुरु प्रदेश मे परीक्षित पहला राजा हुआ। उसके राज्य-काल मे यह देश बहुत समृद्ध था और प्रजा पूर्णतया सुखी थी। अथर्ववेद मे परीक्षित को 'विश्वजनीन' अर्थात् सार्वभौम राजा कहा है। यह राज्य सरस्वती नदी से गगा नदी तक फैला हुआ था। इस राज्य की राजधानी सम्भवत मेरठ के निकट हस्तिनापुर थी। परीक्षित के बाद उसका बेटा जनमेजय राजा बना, जिसने एक अश्वमेध[1] यज्ञ किया। गगा नदी मे बाढ और टिड्डियो या ओलो से खेती नष्ट होने पर इन राजाओ को सम्भवत अपनी राजधानी हस्तिनापुर छोडकर कौशाम्बी (इलाहाबाद के निकट) जाना पडा। इन आपत्तियो के बाद कुरु देश के राजा राजनीतिक हलचलो मे प्रमुख भाग ले सके।

इसके बाद उत्तर भारत मे राजा जनक ने विदेह मे एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। इसकी राजधानी मिथिला थी। शतपथ ब्राह्मण मे जनक को एक सम्राट् बताया गया है।

चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने का आदर्श इन सब महान राजाओ के सामने था और इन राजाओ ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अश्वमेध और राजसूय नामक यज्ञ किये। ये महत्वाकाक्षी राजा अपने को राजाधिराज, सम्राट् या एकराट्[2] कहते थे।

ब्राह्मणो और उपनिषदो से इस काल के उत्तर भारत के कुछ अन्य राज्यो का भी पता चलता है जो निम्नलिखित थे--

१ **गन्धार** : यह राज्य पश्चिमी पजाब के रावलपिण्डी और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश के पेशावर जिलो मे स्थित था। इसके दो प्रसिद्ध नगर तक्षशिला और पुष्कलावती थे।

२ **केकय** : गन्धार राज्य के पूर्व मे व्यास नदी तक केकय राज्य फैला हुआ था। जनक के समय मे इस राज्य का राजा अश्वपति था।

३ **मद्र** इस राज्य के तीन भाग थे। उत्तर मद्र सम्भवत कश्मीर मे, पूर्वी मद्र कागडा के निकट और दक्षिण मद्र अमृतसर तक फैला हुआ था।

४ **उशीनर** ये सम्भवत उत्तर प्रदेश के उत्तरी भाग मे था।

५ **मत्स्य** इसमे अलवर, जयपुर और भरतपुर के आसपास का प्रदेश सम्मिलित था।

६. **पञ्चाल** . इसमे उत्तर प्रदेश के बरेली, बदायू, फर्रुखाबाद के जिले सम्मिलित थे। जनक के समय मे पञ्चाल का प्रसिद्ध राजा प्रवाहणजैवलि था।

१ शतपथ ब्राह्मण मे लिखा है—कोसल के राजा पर, इक्ष्वाकु वश के राजा पुरुकुत्स, आयोगव, राजा मरुत्त आविक्षित, पाञ्चाल राजा कैव्य और भोण मात्रसाह, मत्स्य के राजा द्वैतवन, और श्विक्न जाति के राजा ऋषभ याज्ञतुर ने अश्वमेध यज्ञ किया। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में बारह ऐसे राजाओं के नाम दिये हैं जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया।

२. ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि जिस राजा का राज्य समुद्रपर्यन्त फैला हुआ हो ऐसे राजा को एकराष्ट्र कहते हैं।

७. काशि : इस राज्य की राजधानी वाराणसी थी। जनक के समय मे यहाँ अजातशत्रु नाम का राजा राज्य करता था।

८ कोसल : यह राज्य अवध में स्थित था। इसके पूर्व मे विदेह का राज्य था। सम्भवत: अयोध्या इसकी राजधानी थी।

इस काल के अन्तिम दिनो तक आर्य लोग विन्ध्याचल को पार करके नर्मदा नदी के दक्षिण मे गोदावरी तक फैल गए थे। यहाँ आर्यों और अनार्यों के कई राज्य थे।

१. विदर्भ का राज्य आधुनिक बरार के आसपास का प्रदेश था। यहाँ के राजा 'भोज' कहलाते थे। उपनिषदो मे विदर्भ के कई ऋषियो के नाम आते हैं।

२. बौद्ध और जैन ग्रन्थो से पता चलता है कि कलिंग का भी स्वतन्त्र राज्य था।

३. अश्मक राज्य गोदावरी के तट पर था और उसकी राजधानी पोतन थी।

४ दण्डक नाम के राज्य में भोज राजा राज्य करते थे। इनकी प्रजा सत्वत् कहलाती थी।

इन संगठित राज्यों के अतिरिक्त दक्षिण भारत मे आंध्र, शवर, पुलिंद और सभवत. मूतिब नाम की अनार्य जातियाँ रहती थी।

शासन-पद्धति

इस समय के राज्य मुख्य रूप से राजाओ[1] द्वारा प्रचालित थे। प्रजा की रक्षा करना उनका मुख्य धर्म था और नियमपूर्वक अभिषिक्त राजा अदण्ड्य समझा जाता था। राजा न्याय और राज्य की व्यवस्था करता, किन्तु धर्म या धार्मिक नियमो मे किसी प्रकार का परिवर्तन करने का उसे अधिकार न था। अथर्ववेद के कुछ सूक्तों से प्रतीत होता है कि प्रजा धर्म-विरुद्ध आचरण करने वाले राजा को सिहासन से उतार सकती थी तथा उचित समझने पर उसे फिर सिहासन पर बिठा सकती थी। अभिषेक के समय राजा को शपथ लेनी पडती कि वह पुरोहित को किसी प्रकार की हानि नही पहुचायेगा, क्योकि पुरोहित राजा की सुरक्षा और समृद्धि के लिए देवताओ की सहायता प्राप्त करता था। राज्यारोहण के समय ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियों के प्रतिनिधि राजा को पवित्र नदियो और समुद्र के जल से अभिषिक्त करते। इससे स्पष्ट है कि राजा प्रजा के सभी वर्गों का अनुमोदन प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। अभिषिक्त होने पर सभा और समिति राजा को मनमाना करने से रोकतीं। उनके सहयोग के बिना वह राज्य नहीं कर सकता था। राजा के लिए सबसे बडा शाप यही था कि उसे अपनी समिति का सहयोग प्राप्त न हो।[2]

१ ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि देवताओं ने यह अनुभव किया कि बिना राजा के वे असुरों के विरुद्ध नहीं जीत सकते। इसलिए उन्होंने अपना एक राजा चुना और उसकी सहायता से असुरों पर विजय पाई। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रजा ने राजा को इसलिए चुना कि वह उनकी रक्षा करें और इसके बदले में प्रजा ने उसकी आज्ञा पालने का वचन दिया। तैत्तिरीयब्राह्मण में लिखा है कि प्रजापति ने स्वयं इन्द्र को राजा चुना। इस प्रकार इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ कि राजा दैवी अधिकार रखता है। इस प्रकार इस युग में भी विचारकों ने राजा के पद की उत्पत्ति के विषय में अपने-अपने विचार व्यक्त किए जो यूरोप के अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिकों के विचारों से मिलते हैं।

२. नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्। अथर्ववेद ५, १९, १५।

राजा के प्रमुख अधिकारी

राजा की शक्ति पर मन्त्रियों का भी नियन्त्रण था। हमे अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि अभिषेक मे पूर्व राजा मूत, रथकार, ग्रामणी और सामन्तो का अनुमोदन प्राप्त करता। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे राज्याभिषेक के अनुमोदकों[1] की मख्या बारह बताई गई है।

सभा और समिति

अथर्ववेद मे सभा और समिति को प्रजापति की दो पुत्रियां कहा गया है। राजा का कर्त्तव्य था कि वह सभा मे उपस्थित हो। सभा मे वाद-विवाद के पश्चात् प्रत्येक बात का सर्वसम्मति से निर्णय होता। साधारणतया इस निर्णय को बहुमत माना जाता। यह सभा न्याय भी करती।

समिति राजा का चुनाव करती और राजा अपनी स्थिति दृढ रखने के लिए समिति का समर्थन चाहता। इस प्रकार अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रन्थों के वर्णनो मे स्पष्ट है कि इस काल मे सभा व समिति की सम्मति के बिना राजा साधारणतया कुछ नही करता था।

सामाजिक अवस्था

ऋग्वैदिक काल मे आर्यों मे आपस मे कोई अन्तर न था। सब आर्य बराबर थे। वे केवल अपने को शूद्रो की अपेक्षा श्रेष्ठ समझते। परन्तु उत्तरवैदिक काल मे ब्राह्मण अपने धार्मिक ज्ञान के कारण और क्षत्रिय अपने बाहुबल के कारण वैश्यों की अपेक्षा समाज मे अच्छे समझे जाने लगे। इस काल मे ब्राह्मण और क्षत्रियो का समान आदर था। दोनों ही वैदिक साहित्य का अध्ययन करते। कई क्षत्रिय राजा, जैसे विदेह का जनक, काशी का अजातशत्रु, केकय का अश्वपति और पाञ्चाल का प्रवाहण अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। वे ब्राह्मणों तक को शिक्षा देते थे। परन्तु यज्ञ कराना और दान लेना विशेष रूप से ब्राह्मण का ही कार्य समझा जाता था। ब्राह्मणों और क्षत्रियो के अतिरिक्त सब आर्य वैश्य कहलाते। उनका समाज म अब पूर्ववत् आदर न था। ब्राह्मण और क्षत्रिय उन पर अपना प्रभुत्व रखते थे। परन्तु अभी जाति जन्म से नही मानी जाती थी। मनुष्य को कोई भी व्यवसाय करने की पूरी छूट थी। तीनों उच्च जातियों मे वैवाहिक सम्बन्ध बिना किसी सकोच के होते थे। भोजन करने मे किसी प्रकार का प्रतिबन्ध होने का तो प्रश्न ही नही था। हाँ शूद्रो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध अच्छा नही समझा जाता था। शूद्रो की अवस्था कुछ गिरने लगी। उन्हे अब धार्मिक पुस्तके पढने और यज्ञ करने से वंचित कर दिया गया किन्तु फिर भी उनके साथ शिष्टता का व्यवहार किया जाता था।

साधारणतया एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता, परन्तु कुछ मनुष्य एक से अधिक स्त्रियो से भी विवाह करते थे। कुछ स्त्रियो के भी एक से अधिक पति होते। शतपथ ब्राह्मण मे पत्नी को अर्धांगिनी कहा है और उसे बडा ऊँचा स्थान दिया गया है, परन्तु अब बहुत-से धार्मिक कृत्य, जो पहले पत्नी करती थी, पुरोहितो द्वारा किये जाने का विधान होने लगा। राजनीतिक सभाओ मे भी

१ ये बारह निम्नलिखित हैं : ब्राह्मण (पुरोहित), राजन्य (क्षत्रिय), महिषी (पटरानी), वावाता (प्रियतमा रानी), परिवृक्ती (परित्यक्ता रानी), सूत (सारथी), सेनानी (सेनाध्यक्ष), ग्रामणी (गाँव का मुखिया), क्षत्री (छत्र पकडने वाला), सग्रहीतृ (कोषाध्यक्ष), भागदुघ (कर वसूल करने वाला) और अक्षवाप (शतरंज का अधिकारी)। दूसरे ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इसो से मिलती-जुलती राजा के प्रमुख अधिकारियों की सूचियाँ हैं।

स्त्रियां अब पहले की भांति भाग नहीं ले सकती थीं। आर्य इस कार्य के लिए पुत्रों का ही जन्म चाहते थे, पुत्री का नहीं। परन्तु बहुत-सी स्त्रियां अब भी विदुषी होतीं। विद्वानों की एक सभा में गार्गी वाचक्नवी ने दार्शनिक विषयों पर वाद-विवाद किया। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने अमरता का रहस्य अपने पति से पूछा, उसने किसी भी सांसारिक वस्तु को लेना स्वीकार न किया। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि स्त्रियां भी बहुत विदुषी होती थीं और वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सदा उत्सुक रहती थीं। संसार के सारे प्रलोभन उनके लिए व्यर्थ थे।

आर्थिक जीवन

इस काल में कृषि का बहुत विकास हुआ। वर्ष में दो फसलें उगाई जाती थीं। जौ शीत ऋतु में बोया और ग्रीष्म ऋतु में काटा जाता, चावल वर्षा में बोया और पतझड़ में काटा जाता था। यजुर्वेद में उड़द, मूंग, तिल, गेहूँ और मसूर आदि का वर्णन आता है।

सोने से आभूषण बनाए जाते थे। सोने के दो सिक्कों अष्टाप्रुड और शतमान का भी वर्णन इस काल के ग्रन्थों में है। चांदी के भी आभूषण और सिक्के बनाए जाते थे। कांसा, तांबा, लोहा, सीसा और टीन भी काम में लाए जाते थे।

मछेरे, मांस बेचने वाले, धोबी, नाई, पत्र ले जाने वाले, जौहरी, टोकरी बनाने वाले, रंगरेज, बढ़ई आदि, सब अपना-अपना उद्योग करते थे। लुहार, सुनार और कुम्हारों का भी वर्णन है। भवन-निर्माण की कला भी पर्याप्त रूप से विकसित थी। यजुर्वेद में यज्ञ की ऐसी वेदी का वर्णन है जो देखने में पर फैलाए एक चिड़िया की आकृति से मिलती थी। साहूकार लोगों को रुपया उधार देते थे। स्त्रियाँ कपड़े रंगती, कसीदा काढ़ती और टोकरी बनाती थीं। समुद्र-यात्रा के लिए सौ पतवार वाले जहाज भी बनाए जाते थे।

शिक्षा व ज्ञान-प्राप्ति

अथर्ववेद में बालक के उपनयन-संस्कार का वर्णन है, जिसके द्वारा गुरु बालक को विद्या-प्राप्ति का अधिकारी बनाता। शिष्य गुरु के घर रहकर विद्या पढ़ता था। वह गुरु के लिए भिक्षा माँगकर लाता, जिससे उसके हृदय में नम्रता की भावना उत्पन्न होती। शिष्य ही गुरु के घर की सफाई करता, उसके लिए समिधा इकट्ठी करके लाता तथा गुरु की गायों की सेवा करता। साधारणतया एक विद्यार्थी १२ वर्ष में अपना विद्याध्ययन समाप्त करता। परन्तु विद्या-समाप्ति के पश्चात् भी गुरु शिष्यों से यह आशा करता कि वे जीवन-भर वैदिक स्वाध्याय करते रहेंगे। बहुत-से विद्वान् ज्ञान-प्राप्ति के लिए देश में घूमते रहते। ये अन्य विद्वानों से वाद-विवाद करके अपने ज्ञान की वृद्धि करते।[1] विद्वानों की कुछ सभाएँ भी थीं जिनमें राजा और विद्वान् भाग लेते थे। ऐसी एक सभा पञ्चाल-परिषद् थी। कभी-कभी विद्वानों के सम्मेलन भी होते थे। विदेह के राजा जनक ने एक सम्मेलन किया जिसमें कुरु पञ्चाल के विद्वानों को भी बुलाया। गार्गी वाचक्नवी ने भी इस सम्मेलन में भाग लिया। याज्ञवल्क्य इस काल के श्रेष्ठ विद्वान् थे। जनक ने उनकी विद्वत्ता का आदर करने के लिए एक हजार गाएं और पांच हजार सोने के सिक्के पुरस्कार में दिये थे। यदि इतनी गायें एक ऋषि के आश्रम में रहती होंगी तो उनके शिष्यों को गोपालन की पूरी शिक्षा मिल जाती होगी।

१. कुरु पंचाल देश में ऐसे विद्वान् उद्दालक आरुणि थे। वे कई विद्वानों के पास रहे और उनसे उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। ऐसे विद्वानों को 'चरक' कहते थे।

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ब्रह्म या आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना था। ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए विद्वान् त्याग का जीवन बिताते। वे सन्तान, धन-सम्पत्ति जैसी किसी सांसारिक वस्तु की इच्छा नहीं करते थे। गार्गी और मैत्रेयी जैसी विदुषी स्त्रियो ने ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए सारे सासारिक सुखो को छोड दिया था। इस काल के कुछ राजा भी आध्यात्मिक विद्या मे पारगत थे। जनक ने ऋषि याज्ञवल्क्य को शिक्षा दी। अजातशत्रु ने एक ब्राह्मण विद्वान् दृप्त बालकिगार्ग्य को शास्त्रार्थ मे पराजित किया। यह भी प्रसिद्ध है कि स्वय ऋषि नारद आत्म-विद्या सीखने के लिए राजा सनत्कुमार के पास गये। किन्तु अध्यात्मविद्या केवल उसके अधिकारी और उसके अत्यन्त इच्छुक *व्यक्ति को ही दी जाती थी। कठोपनिषद् के अनुसार यम ने अध्यात्म विद्या का नचिकेता को तभी* उपदेश दिया जब उसने ससार के सब भोगो को ठुकरा दिया। यह पराविद्या कहलाती थी। इसके अतिरिक्त वेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, गणित, तर्क, नीतिशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्विद्या आदि विषय भी पढाए जाते थे। परन्तु शिक्षा मे उन पर इतना बल नही था जितना पराविद्या पर।

धर्म

उत्तर-वैदिक काल मे धर्म की दो धाराए दिखाई पडती है--एक का बल कर्म पर था और दूसरी का ज्ञान पर। ब्राह्मणग्रन्थो से विदित होता है कि यज्ञ-सम्बन्धी क्रियाओं का इस काल मे बहुत विकास हुआ। इन ग्रन्थो मे एक दिन, बारह दिन, एक वर्ष और कई वर्षों तक चलने वाले यज्ञो का वर्णन है। ऋग्वैदिक काल मे यज्ञ कराने वाले पुरोहितो की सख्या सात थी किन्तु इस काल मे यह सख्या बढकर सत्रह हो गई। ब्राह्मण ग्रन्थो मे कुछ सस्कारो का प्रारम्भ हुआ, जैसे उपनयन और विवाह सस्कार। राजा लोग राजसूय और अश्वमेध जैसे बडे यज्ञ कराने लगे। इन सब यज्ञीय क्रियाओ को कर्मकाण्ड कहा जाता है।

उपनिषदो मे आत्मा, परमात्मा, और मृत्यु जैसे गूढ विषयों के रहस्य जानने का प्रयत्न किया *गया है। उनके अनुसार ब्रह्म या आत्मा ही अन्तिम तत्त्व है। जब प्रत्यगात्मा (एक प्राणी की आत्मा)* विश्वात्मा अर्थात् ब्रह्म मे लीन हो जाती है तो ससार से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसके लिए उपनिषदो के अनुसार यज्ञ करना व्यर्थ है। मुण्डक उपनिषद् के अनुसार केवल कर्मकाण्डी मूर्ख है। यज्ञ के द्वारा ससार सागर से पार होना अनिश्चित है। बृहदारण्यक उपनिषद् मे भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये गए हैं। अन्तिम तत्त्व की प्राप्ति सत्य ज्ञान मे हो सकती है। उपनिषदो का मुख्य सिद्धान्त विश्वात्मा और प्रत्यगात्मा की एकता है। यह भाव छान्दोग्य उपनिषद् मे 'तत्त्वमसि' जैसे वाक्यो मे व्यक्त किया गया है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले-पहल शतपथ ब्राह्मण मे *किया गया। उसमे लिखा है कि बार-बार जन्म और मृत्यु के रूप मे कर्म-फल प्राप्त होता है।* उपनिषदो मे कहा गया है कि सत्य ज्ञान से युक्त परिव्राजक देवयान द्वारा ब्रह्म मे लीन हो जाता है और पराविद्या से रहित सद्गृहस्थ पितृयान गति प्राप्त करके कर्मफल के अनुसार पृथ्वी पर बार-बार जन्म लेता है। मानवीय दर्शन के इतिहास मे सर्वप्रथम बृहदारण्यक उपनिषद् मे ही ब्रह्म का पूर्ण और निश्चित वर्णन मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल मे भारत के प्रमुख दार्शनिक मतो का प्रतिपादन हुआ।

धर्म की उत्तर-वैदिककालीन कर्मकाण्ड तथा ज्ञान पर बल देने वाली ये दो धाराए निरन्तर और अबाध गति से आगे बढ़ती रही।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुदमुकर्जी	*हिन्दू सभ्यता*, अध्याय ५ अनुवादक—वासुदेवशरण अग्रवाल
” ”	*प्राचीन भारत*, अध्याय ४ अनुवादक—बुद्ध प्रकाश
राजबली पाण्डेय	*प्राचीन भारत*, अध्याय ४-५
H C. Raychaudhuri	*Political History of Ancient India*, Chap. 2.
A A. Macdonell	*India's Past*, Chap. 3.
A. A Altekar	*State and Government in Ancient India*, pp. 310-315.
R C Majumdar and A D. Pusalkar	*History and Culture of the Indian People*, Vol. 1, Chapters 20-23 and 24-27.

अध्याय ६

आद्य इतिहास (४)

Proto-history (4)

वेदोत्तरकालीन साहित्य अर्थात् सूत्र, महाभारत रामायण और धर्मशास्त्रों में वर्णित सभ्यता

(Post-Vedic Literature and Civilization)

इस काल का इतिहास जानने के मुख्य साधन सूत्र साहित्य, रामायण, महाभारत और धर्मशास्त्र है। यह साहित्य लगभग ८०० ई० पू० से बनना प्रारम्भ हुआ। इनमे से अधिकतर ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप मे बाद मे लिखे गये किन्तु उनकी सामग्री प्राचीन है। हम उनका अध्ययन तीन भागो मे करेगे।

(क) सूत्र साहित्य

सूत्र साहित्य मे अधिक-से-अधिक सामग्री कम-से-कम शब्दो मे दी गई है। पहले सूत्र ग्रन्थो मे छ विषय थे, जो इस प्रकार है --कल्प[1], शिक्षा[2], व्याकरण, निरुक्त[3], छन्द और ज्योतिष। ये वेदाग कहलाते थे। इन सबका उद्देश्य धार्मिक ग्रन्थो की व्याख्या, रक्षा और उनका उचित उपयोग था। इनमे इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण यास्क ऋषि-रचित निरुक्त, पाणिनी की व्याकरण की पुस्तक अष्टाध्यायी और कल्पसूत्र है। कल्पसूत्र तीन प्रकार के है। श्रौत सूत्र जिनमे महायज्ञो का वर्णन है, गृह्यसूत्र जिनमे गृह यज्ञो और कर्मकाण्ड का वर्णन है और धर्मसूत्र जिनमे परम्परागत आचार-व्यवहार का प्रतिपादन है। पाणिनि का समय ५०० ई० पू० के लगभग है। कल्पसूत्रो का समय सातवी से दूसरी शती ई० पू० है।

राजनीतिक व्यवस्था

पाणिनि के समय मे आर्यो का विस्तार उत्तर मे तक्षशिला और स्वात नदी के प्रदेश तक, दक्षिण मे गोदावरी नदी तक, पूर्व मे कलिंग और पश्चिम मे सिन्ध और कच्छ तक था। देश जनपदो मे बँटा था जिनके क्षत्रिय शासक 'जनपदी' कहलाते। जनपद के अन्तर्गत 'विषय', 'नगर' और 'ग्राम' शासन के विभाग थे।

राजा की एक 'परिषद्' होती, उसके सदस्य 'पारिषद्य' कहलाते। सरकारी कर्मचारियो के

१. कर्मकाण्ड।
२ शिक्षाशास्त्र में शब्दों के उच्चारण का विवेचन है।
३. निरुक्त में शब्दों की व्युत्पत्ति बतलाई गई है।

लिए सामान्य नाम 'युक्त' था। विभाग के अधिपति को 'अध्यक्ष' और अनुशासन के अधिकारी को 'वैनयिक' कहते, आचार और कानून का अधिकारी 'व्यावहारिक' कहलाता था।

धर्मसूत्रो के अनुसार कानून तथा नियम वेद, धर्मशास्त्र आदि के अनुसार बनाए जाते थे। राजा स्वतन्त्र रूप से नही वरन् जनपद, जाति और कुल के धर्मों के अनुसार नियम बनाता था। स्थानीय श्रेणियो के नियम भी माने जाते थे।

राजा उपज का दसवे से छठा भाग तक कर के रूप मे लेता। कुछ वस्तुओ पर मूल्य का साठवा भाग भी लेता। पिता की सम्पत्ति मे अधिकतर पुत्रो को ही दाय-भाग मिलता। हत्या, चोरी और व्यभिचार मुख्य अपराध थे। जातियो की श्रेष्ठता के अनुसार अपराधो का दण्ड कम कर दिया जाता था, अर्थात् ब्राह्मणो को उसी अपराध के लिए सब से कम, क्षत्रियो और वैश्यो को क्रम से अधिक और शूद्रो को सब से अधिक दण्ड दिया जाता।

पाणिनि से कुछ गणराज्यो का वर्तमान होना भी निश्चित है जिनमे 'राजन्य' अर्थात् क्षत्रिय शासक शासन चलाते। कभी-कभी गण के अर्थ मे 'सघ' शब्द भी प्रयोग मे आता था। पाणिनि के अनुसार क्षुद्रक, मालव और यौधेय लोगो के सघो मे प्रत्येक व्यक्ति शस्त्रास्त्र चलाकर अपना निर्वाह करता। इन गणराज्यो के राजनीतिक दल 'वर्ग्य' कहलाते और नेता के नाम पर पुकारे जाते, जैसे वासुदेव वर्ग्य, अक्रूर वर्ग्य। कई गणराज्यो के समुदाय भी होते, जैसे त्रिगर्त देश मे छ सघो का समुदाय 'त्रिगर्तषष्ठ' था।

पारिवारिक जीवन

गृह्य-सूत्रो मे गृहस्थ-जीवन मे जन्म से मृत्यु-पर्यन्त मनुष्य के समस्त कर्त्तव्यो जैसे जन्म से पूर्व, जन्म के समय, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, मुडन, उपनयन, समावर्तन[1] और विवाह आदि सभी सस्कारो का वर्णन है। आठ प्रकार के विवाह कहे गए है--(१) ब्राह्म, (२) प्राजापत्य, (३) आर्ष, (४) देव, (५) गान्धर्व (पारस्परिक प्रेम से), (६) आसुर (जो धन देकर किया जाए), (७) राक्षस (बलपूर्वक) और (८) पैशाच। इनमे पहले चार अच्छे समझे जाते और पिछले चार बुरे। गृह्य-सूत्रो मे पाँच महायज्ञो का वर्णन है जो इस प्रकार है

१ ब्रह्मयज्ञ स्वाध्याय और अध्यापन करना।

२ पितृयज्ञ अन्न और पानी से पितरो का तर्पण।

३ देवयज्ञ अग्नि मे हवि देना।

४. भूतयज्ञ पशु-पक्षियो के लिए भोजन देना।

५ अतिथियज्ञ अतिथियो की सेवा-शुश्रूषा।

समाज चार वर्णों मे बँटा था--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। पहले तीन वर्णों के समान कर्म ये हैं :

(१) अध्ययन, (शिक्षा), (२) इज्या (यज्ञ) और (३) दान।

ब्राह्मण के विशेष कर्म अध्यापन, यज्ञ कराना और दान स्वीकार करना थे।[2] क्षत्रिय के विशेष कर्म सब प्राणियो की रक्षा, न्याय के अनुसार दण्ड देना, विद्वान् ब्राह्मणो और आपत्ति मे फँसे अन्य

१. वह संस्कार जो स्नातक के आचार्य कुल से घर आने पर किया जाता था।

२. गौतम धर्मसूत्र में ब्राह्मणों को अपने सेवकों द्वारा कृषि, व्यापार और साहूकारा करने की भी अनुमति दी गई है।

व्यक्तियो का पालन, भिक्षुओ का पालन, युद्ध के लिए तैयार रहना, सेना के साथ राष्ट्र में विचरना, युद्ध मे मृत्युपर्यन्त डटे रहना और राज्य की रक्षा के लिए कर इकट्ठा करना थे।

वैश्य के विशेष कर्म कृषि, वाणिज्य, पशु-पालन और सूद पर रुपया देना थे। शूद्र के विशेष कर्म सत्य, नम्रता और शुद्धता का पालन, स्नान, श्राद्ध करना, कुटुम्बियो का पालन-पोषण, अपनी पत्नी के साथ जीवन बिताना, उच्च वर्गों के व्यक्तियो की सेवा और शिल्प द्वारा निर्वाह करना थे।

गृह्यसूत्रो मे चार आश्रमो—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस या सन्यास—का भी वर्णन है।

ब्रह्मचारी दो प्रकार के थे—एक 'उपकुर्वाण' जो गुरुदक्षिणा देकर घर लौट आते थे और दूसरे 'नैष्ठिक' जो जीवन-भर विद्याध्ययन करते थे। गृहस्थो के यज्ञ, अध्ययन और दान मुख्य काम थे। वे यज्ञ द्वारा देव-ऋण से, सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण मे और पर्व के दिनो मे ब्रह्मचर्य व्रत से ऋषि-ऋण से मुक्त हो सकते थे।

भिक्षु वस्तुओ का सग्रह नही करते, ब्रह्मचारी के समान रहते, वर्षा मे एक स्थान पर रहते, केवल भिक्षा के लिए गाँव जाते, शरीर को ढकने के लिए कौपीन धारण करते, वृक्षो से तोडकर फल खाते, वर्षा ऋतु के बाद किसी गाँव मे दो दिन से अधिक नही रहते और हानि-लाभ से उदासीन-वृत्ति रखते थे। वैखानस वन मे रहते, तप करते और जगली कन्द-मूल-फल खाकर जीवन-निर्वाह करते थे। आपस्तम्ब मे लिखा है कि सन्यासी सत्य और झूठ, सुख और दुख, वेद, इस लोक और परलोक को छोडकर केवल आत्मा को जानने की इच्छा रखता है।

बौधायन ने लिखा है कि दक्षिण भारत के लोग ममेरी या फुफेरी बहन से विवाह कर लेते है और दक्षिण भारत के लोग उत्तर-भारत के लोगो मे जो शस्त्रास्त्र बेचने, ऊन का व्यापार करने और समुद्र-यात्रा की प्रथाएँ थी उन्हे बुरा समझते थे। बौधायन के अनुसार समुद्र-यात्रा करने से मनुष्य पतित हो जाता है।

आर्थिक जीवन

इस काल मे कृषि मुख्य व्यवसाय था। बुनाई और रगाई का भी वर्णन पाणिनि ने किया है। चर्मकार और चिडीमार भी थे। शिल्पियो की श्रेणियाँ थी। कुछ लोग नौकरी करके भी जीविका कमाते। व्यापार और दुकानदारी का भी उल्लेख है। दस प्रतिशत ब्याज पर रुपया उधार दिया जाता। पाणिनि के समय मे निम्नलिखित सिक्के चलते थे

कार्षापण, निष्क, पण, पाद, माषा और शाण। शाण चाँदी का सिक्का था जो तोल मे बारह रत्ती था।

साहित्य और शिक्षा

पाणिनि को ऋग्वेद, यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, कल्पसूत्र आदि वैदिक साहित्य का पता था। नाटक, कथा, महाभारत, नट सूत्र आदि लौकिक साहित्य भी उन्हे ज्ञात थे। विद्यार्थियो का उपनयन होता था। वे 'छात्र' कहलाते थे। छात्रो का नाम आचार्य के नाम के अनुसार होता, जैसे पाणिनि के छात्र 'पाणिनीय' कहलाते। साधारण पढाने वाले को अध्यापक और वेदपाठ कराने वाले को श्रोत्रिय कहते थे। वैदिक विद्यालयो को 'चरण' कहते थे, उनमे स्त्रियाँ भी पढती थी। उनके छात्रावास 'छात्रिशालाएँ' कहलाते। प्रत्येक चरण, मे 'परिषद' होती जिसके अन्तर्गत गुरु और उच्च छात्र होते जो सन्दिग्ध पाठ और अर्थों के विषय मे निर्णय करते थे।

सूत्रकारों को उपनिषद्, वेदाग, इतिहास, पुराण, धर्मसूत्र आदि ज्ञात थे। आपस्तम्ब में जैमिनिकृत पूर्व मीमासा का भी परिचय मिलता है। बौधायन गृह्य सूत्र मे विद्वानों की कोटियाँ बताई गई हैं, जैसे—

१. ब्राह्मण : जो उपनयन के बाद वेद का गूढ अध्ययन करता है।
२. श्रोत्रिय : जो वेद की एक शाखा का अध्ययन करे।
३. अनूचान : जिसने अगो का अध्ययन किया है।
४ ऋषिकल्प : जिसने कल्पग्रन्थो का अध्ययन किया है।
५ भ्रूण · जिसने सूत्र और प्रवचन. ग्रन्थो का अध्ययन किया है।
६ ऋषि : जिसने चारो वेदो का अध्ययन किया है।
७ देव · जिसने इनसे अधिक शिक्षा पाई है।

सूत्र ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणेतर जातियो के भी अध्यापक होते थे।

धर्म और दर्शन

इस काल मे सारे आर्य केवल यज्ञ करना ही अपना धर्म नही समझते थे। उनमे से कुछ यज्ञ को कम महत्त्व देते। उनके अनुसार यज्ञ-रूपी नौकाएँ अदृढ हैं, ससार-सागर से पार होने के लिए इनका भरोसा नही किया जा सकता। उन्होने स्वाध्याय, तप और सदाचार पर जोर दिया। वे सासारिक सुखो को हेय समझते थे। सन्तान, धन, यश प्राप्त करने की उनकी आकाक्षा न थी। वे सत्यज्ञान की प्राप्ति को ही जीवन का ध्येय और धर्म का ज्ञानमार्ग समझते। ये विचारक इस ज्ञान-मार्ग के द्वारा ही परम सुख प्राप्त करने की आशा करते। इन विचारो का सग्रह उपनिषदो और दर्शनो मे विद्यमान है।

सूत्र काल मे या इससे कुछ पूर्व ही आस्तिक दर्शनो का विकास हुआ। भारतीय ऋषियो ने दर्शनो द्वारा सृष्टि के मूलतत्त्वो को जानने का प्रयत्न किया। सम्भवत. भारत का सबसे प्राचीन दर्शन साख्य है जिसके प्रथम प्रतिपादक कपिल माने जाते है। साख्य-दर्शन दो मुख्य तत्त्व मानता है—प्रकृति और पुरुष। इन्ही के सयोग और वियोग से सारे विश्व की सृष्टि और विलय होता है। सब भौतिक वस्तुएँ त्रिगुणात्मक होने के कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न कही जा सकती हैं। ये तीन गुण सत्व, रज और तम है। जब पुरुष इनसे अपनी भिन्नता का अनुभव करता है तभी वह प्रकृति के पाश (बन्धन) से मुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति करता है।

योग और साख्य-दर्शनो मे सिद्धात-रूप से कोई भेद नही है। केवल दो भेद ईश्वर के अस्तित्व और योग की क्रियाओ के विषय मे हैं। साख्य-दर्शन मे इन दोनो का कोई स्थान नही है जबकि योग में नैतिकता के साथ इन दोनो का प्रमुख स्थान है। योगदर्शन की नैतिकता मे ईश्वर-भक्ति भी आवश्यक है।

योग का अर्थ चित्त को एकाग्र करके दैवी शक्ति पर केन्द्रित करना है। यह इन्द्रियो के दमन और तप द्वारा सम्भव है। सांख्य-दर्शन में प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व माने गए, किन्तु योग-दर्शन मे प्रकृति के और पुरुष के साथ ईश्वर का भी अस्तित्व माना गया। परन्तु योग-दर्शन मे ईश्वर को संसार का कर्त्ता या न्यायकारी नहीं माना गया। वह जीवो को उनके कर्मानुसार दण्ड या पुरस्कार नही देता। योग मे ईश्वर की कल्पना एक ऐसी आत्मा के रूप में की गई है जो प्रकृति के सूक्ष्म रूप से मिली रहती है। योग-दर्शन के अनुसार ईश्वर में शक्ति, श्रेष्ठता और विद्वत्ता के गुण विद्यमान हैं। यौगिक क्रियाओं के साथ इसका चिन्तन करने से पुरुष प्रकृति के पाश से मुक्त होकर मुक्ति प्राप्त

करता है। योग-दर्शन के प्रवर्तक पतञ्जलि माने जाते है।

वैशेषिक दर्शन ने सभी विश्व की वस्तुओ को सात पदार्थों मे विभक्त किया है। इनमे से पहला पदार्थ द्रव्य है जिसके नौ भेद हैं। इन नौ द्रव्यों मे से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन परमाणुओ से उत्पन्न है। दिक्, काल, आकाश और आत्मा सहत न होने के कारण परमाणु-रहित है। पृथ्वी, जल, वायु आदि के परमाणु अपनी-अपनी निजी विशेषता रखते है। इसी सिद्धान्त के कारण कणाद के मत को वैशेषिक सिद्धान्त कहते है। कणाद ने दु ख के अभाव को ही मोक्ष माना है। इसकी प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि साधक यम, नियम द्वारा आदि अपने चित्त को शुद्ध करे। और अपनी आत्मा को इच्छा, दु ख, राग, द्वेषादि से सर्वथा भिन्न ज्ञात करे।

न्याय सिद्धान्त बहुत-कुछ वैशेषिक सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। किन्तु न्याय-दर्शन मे तर्क के सिद्धान्तो पर विशेष बल दिया गया है। आगे जाकर वैशेषिक और न्याय सिद्धान्त प्राय एक हो गए। इन दोनो सिद्धान्तो के प्रतिपादक अधिकतर ईश्वर को मानने वाले शैव थे।

कर्म-मीमासा के प्रतिपादक जैमिनि थे। इस सिद्धान्त ने वेदो से प्रतिपादित कर्म-काण्ड को ही धर्म की सज्ञा दी है। इस कर्म द्वारा अपूर्व की उत्पत्ति होती है जिसके परिणामस्वरूप अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है।

वेदान्त-दर्शन के अनेक भेद है किन्तु उनमे मुख्य अद्वैत वेदान्त है जिसके अनुसार ब्रह्म से भिन्न विश्व मे कोई वस्तु ही नही है। विभिन्नता केवल आभासमात्र है। नाम और रूप के भिन्न होने पर कोई वस्तु वास्तव मे भिन्न नही हो जाती। सोना सोना ही रहता है चाहे वह कटक के रूप मे हो या केयूर के। इस सिद्धान्त का पाँचवी शताब्दी के बाद बहुत प्रचार हुआ। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र मे वेदान्त दर्शन का प्रतिपादन किया, किन्तु विद्वान् इस विषय मे एकमत नही है कि यह सिद्धान्त शकर सिद्धान्त से सर्वथा मिलता है या नही।

इस दर्शनशास्त्र का भारतीय सस्कृति और जीवन पर बहुत प्रभाव पडा है।

(ख) रामायण, महाभारत और पुराण

रामायण[१] और महाभारत[२] अपने वर्तमान रूप मे सूत्र युग के है, यद्यपि उनकी सामग्री अत्यधिक प्राचीन है। रामायण की भौगोलिक पृष्ठभूमि उसे महाभारत से पहले का सिद्ध करती है। महाभारत दूसरी शती ई० पू० मे अपने वर्तमान रूप मे था[३]।

१. कुछ विद्वानों का मत है कि रामायण के दूसरे से छठे तक काण्ड, जिनमें राम को एक महान पुरुष माना गया है, ५०० ई० पू० से पहले रचे जा चुके थे और पहला व सातवा काण्ड जिनमें राम को विष्णु का अवतार माना गया है, २०० ई० पू० के लगभग जोड़े गए।

२. प्रारम्भ में महाभारत का नाम 'जय' था। इसमें पाण्डवों की कौरवों के ऊपर विजय का वर्णन था। इसे महर्षि व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन को सुनाया। वैशम्पायन ने इस कथा को अर्जुन के पोते जनमेजय को सुनाया। तब इसका नाम 'भारत' पड़ा। उस समय इसमें २४,००० श्लोक थे। पीछे इसमें बहुत-सी शिक्षाप्रद कहानियां जोड़ दी गईं और इसका नाम 'महाभारत' हो गया। इस प्रकार यह धर्मग्रन्थ बन गया। आजकल इसमे एक लाख श्लोक हैं। शान्तिपर्व में राजधर्म का सुन्दर विवेचन है और भगवद्गीता इसी का एक भाग है।

३. विण्टरनित्स के अनुसार महाभारत का रचनाकाल ४०० ई० पू० से ४०० ई० है।

रामायण में राम[1] और रावण के युद्धका वर्णन है। इस प्रकार रामायण आर्य संस्कृति के दक्षिण की ओर लका तक प्रसार की सूचना देती है। राम आर्य सस्कृति के प्रतीक हैं। रामायण मे हमे आदर्श पिता, पुत्र, भाई, पत्नी, पति, मित्र और सेवक का वर्णन मिलता है। इसका हिन्दुओ के जीवन पर बडा गहरा प्रभाव पडा है इसीलिए यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय है।

महाभारत मे एक बडे युद्ध का वर्णन है जिसमे कौरवो या पाण्डवो की ओर से सारे भारत के आर्य राजा सम्मिलित हुए। पाण्डव और उनके मित्र मध्य देश (उत्तर प्रदेश के आसपास का प्रदेश) के थे, जैसे पचाल, काशी, कोसल, मगध, मत्स्य, चेदि और मथुरा के यदु। कौरवो के पक्ष मे उत्तर-पश्चिम के कम्बोज, यवन, शक, मद्र, केकय, सिन्धु और सौवीर, उत्तर-पूर्व मे प्राग-ज्योतिष का राजा, चीन और किरात, पश्चिम मे भोज, दक्षिण मे दक्षिणापथ के राजा, दक्षिण-पूर्व मे आन्ध्र और मध्य देश मे माहिष्मती और अवन्ति के राजा थे।

पुराणो की शैली और भाव उपर्युक्त दोनो वीर-काव्यो की शैली और भावो से बहुत मिलते हैं। उनमे सृष्टि, प्रलय के बाद फिर सृष्टि, देवो और ऋषियो की वशावली, काल के महायुग और चारो युगो मे राज्य करने वाले राजवशो का इतिहास है। इस समय पुराण उत्तरकालीन हिन्दू धर्म के धर्मग्रन्थ माने जाते है। आजकल मुख्य पुराण अठारह हैं।[2] उनमे विष्णुपुराण सर्वोत्तम रूप से सुरक्षित है।

शासन-व्यवस्था

इस समय शासन की इकाई गॉव था। दस, बीस और सौ गाँवो के अलग-अलग शासक थे। हज़ार गाँवो के शासक को 'अधिपति' कहते। ये अधिकारी ही कर इकट्ठा करते और जुर्माना वसूल कर अपने से ऊँचे अधिकारी के पास जमा कराते। राजा सबसे बडा अधिकारी था परन्तु वह निरकुश नही था। उसे धर्म और नीति के अनुसार शासन चलाना होता। दुष्ट राजा को सिंहासन छोडना पडता। राजा की निरकुशता पर रोकथाम करने वाली सस्थाएँ 'मन्त्रि-परिषद्' और 'सभा' थी। मन्त्रि-परिषद् मे चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र और एक सूत, कुल सैतीस मन्त्री होते। राजा अपने मन्त्रियो से अलग-अलग सलाह करता। 'सभा' एक न्याय करने वाली सस्था थी। इसमे वृद्ध शामिल होते। सभा के अध्यक्ष को 'सभाध्यक्ष' कहते। राजा के मित्र और बन्धु, अधीन राजा, सैनिक-नेता और पुरोहित राजा को सलाह देते, सभाओ का सचालन करते, सेना का नेतृत्व करते और राजा के प्रतिनिधि के रूप मे शासन चलाते। विभिन्न श्रेणियो के इन कुलीन पुरुषो के नाम इस प्रकार थे

१. मन्त्री —मन्त्रि-परिषद् के सदस्य।
२ अमात्य —सामान्य अधिकारी।
३. सचिव —सर्वोच्च सैनिक अधिकारी।
४ पारिषद् —परिषद् के सदस्य।
५. सहाय —राजा के सहायक।

१ साधारणतया भारतीय जनता राम को इक्ष्वाकुवंशीय अयोध्या के राजा दशरथ का पुत्र मानती है और रावण को लंका का राजा, जिसके पास भौतिक सामग्री प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी।

२. ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव या वायु, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड और ब्रह्माण्ड।

६. अर्थकारी —राजकार्यों के उत्तरदायी अधिकारी।
७. धार्मिक —न्यायाधिकारी।

इन ग्रन्थो मे अठारह मुख्य अधिकारियो का उल्लेख है जो 'तीर्थ' कहलाते थे। उनके नाम इस प्रकार हैं :

१.	मन्त्री	—परिषद् का प्रधान।
२.	पुरोहित	—मुख्य यज्ञादि कार्य कराने वाला।
३.	युवराज	
४.	द्वारपाल	
५.	चमूपति	—सेनापति।
६.	अन्तर्वंशिक	—अन्त पुर का अधिकारी।
७	कारागाराधिकारी	
८.	द्रव्यसचयकृत्	—मुख्य प्रबन्धक।
९.	अर्थविनियोजक	—धन का ठीक प्रकार व्यय करने वाला।
१०.	प्रदेष्टा	—मुख्य न्यायाधीश।
११	नगराध्यक्ष	
१२.	कार्यनिर्माणकृत्	—निर्माण विभाग का मुख्य अधिकारी।
१३	धर्माध्यक्ष	
१४	सभाध्यक्ष	—सभा का प्रमुख।
१५	दण्डपाल	—दण्डव्यवस्था का मुख्य अधिकारी।
१६	दुर्गपाल	—किलो का मुख्य अधिकारी।
१७	राष्ट्रान्तपालक	—सीमान्त प्रदेशो का मुख्य अधिकारी।
१८	अटवीपालक	—वन विभाग का मुख्य अधिकारी।

गणराज्य

महाभारत के समय मे राजतन्त्र राज्यो के साथ-साथ कुछ गणराज्य भी थे। गणराज्यो से अभिप्राय कुलीन क्षत्रियो से सचालित शासन वाले, लोकतन्त्रीय प्रणाली वाले और गणतन्त्र तीनो प्रकार के राज्यो से है। कई राज्य मिलकर सघ बना लेते थे।

महाभारत मे पाच गणो का उल्लेख है—अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर और भोज। इन्होने मिलकर अपना एक सघ बना रखा था। इसके सघ-मुख्य (नेता) कृष्ण थे। प्रत्येक गणराज्य के नेता को 'ईश्वर' कहते थे। इन गणराज्यो मे राजनीतिक दल थे जो वर्ग कहलाते। महाभारत मे लिखा है कि गण को आपसी फूट से बचना चाहिए, गणमुख्यो और ज्ञानवृद्धो की समिति द्वारा शासन चलाना चाहिए, शास्त्र और परम्परागत धर्मों का पालन करना चाहिए, पक्षपात-रहित होकर व्यक्ति के गुणो के आधार पर ही सार्वजनिक सेवा-कार्य मे किसी की नियुक्ति करनी चाहिए।

महाभारत युद्ध तक का इतिहास

पुराणो से ज्ञात होता है कि इक्ष्वाकु नाम के राजा ने अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया।

उन्हीं के वश मे ययाति नाम के राजा हुए। उनके पाँच पुत्र यदु, तुर्वसु, द्रुह्य[1], अनु और पुरु थे[1]। इन पांचों पुत्रों ने आपस मे गगा-यमुना के दोआब के दक्षिणी भाग को, जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान[2] थी, बाँट लिया। यदु के वशजो ने हैहय और यादव इन दो बड़ी शाखाओ में बँटकर विशेष उन्नति की। यादवो ने कौरवो और द्रुह्य के प्रदेश को जीत लिया। इस समय अयोध्या का राजा मान्धाता था। उसने कान्यकुब्ज, पौरवो के राज्य और द्रुह्य लोगों के प्रदेश जीत लिए। हैहय वश के राजा कार्तवीर्य ने नर्मदा के तट पर बसे भार्गव ब्राह्मणो को मार भगाया। इसका बदला लेने के लिए भार्गव वश के परशुराम ने हैहय राज्य को नष्ट कर दिया।

अयोध्या मे भगीरथ, दिलीप, रघु, अज और दशरथ आदि अनेक प्रसिद्ध राजा हुए। उनके समय मे अयोध्या के राज्य का नाम कोसल पड़ा। इसी वश मे राम हुए, जिनकी कथा हमे रामायण मे मिलती है। राम के बाद अयोध्या की स्थिति गौण हो गई।

इसके बाद पौरवो ने हस्तिनापुर[3] को अपनी राजधानी बनाया और उत्तरी पञ्चाल को जीत लिया। कुरु के राज्यकाल मे यह राज्य प्रयाग तक फैल गया। इसी वश मे धृतराष्ट्र और पाण्डु नाम के राजा हुए। धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि कौरव कहलाए और पाण्डु के पाच पुत्र युधिष्ठिर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव पाण्डव। इन्ही दोनो वशो के बीच वह महायुद्ध[4] हुआ जिसका वर्णन महाभारत मे है।

महाभारत युद्ध के बाद राजनीतिक इतिहास

कुरु देश

महाभारत के युद्ध के बाद पाण्डवो के हिमालय पर्वत को तप हेतु प्रस्थान करने के पश्चात् अर्जुन का पोता परिक्षित् राजा बना। उसके समय मे उत्तर-पश्चिमी भारत मे रहने वाले नाग लोगो ने कुरु देश पर आक्रमण किया और परिक्षित् उनके साथ लडता हुआ मारा गया। परिक्षित् की मृत्यु के बाद जनमेजय कुरु देश का राजा बना। सम्भवत: उसने नाग लोगो को हराकर फिर अपने वंश की शक्ति बढा ली। इसी वश मे एक राजा निचक्षु हुआ। उसके समय में गगा नदी मे बहुत बाढ आई और इस बाढ के कारण हस्तिनापुर नगर बह गया। तब राजा निचक्षु वत्स देश मे चला गया और प्रयाग के पास कौशाम्बी को उसने अपनी राजधानी बनाया। इसके पश्चात् कुरु वश का विशेष महत्व न रहा।

विदेह

कुरु राजाओ की अवनति के समय विदेह के राज्य ने बहुत उन्नति की। सम्भवत: जिस समय निचक्षु राज्य करता था उस समय विदेह का राजा जनक था। हेमचन्द्र रायचौधरी के अनुसार जनमेजय से जनक के बीच में पांच या छः पीढ़ियो का अन्तर था। इस आधार पर उनका अनुमान है

१. इन पांच वंशों का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है।
२. आधुनिक प्रयाग के पास झूंसी।
३. यह नगर मेरठ से २२ मील की दूरी पर उत्तर-पूर्व में स्थित है।
४. पार्जिटर के अनुसार यह महायुद्ध ९५० ई० पू० के लगभग हुआ, परन्त राधाकमुद मुकर्जी के अनुसार १४०० ई० पू० के लगभग।

कि जनक जनमेजय के लगभग २०० वर्ष बाद हुए। विदेह का राज्य उत्तर बिहार के तिरहुत जिले मे था और इसकी राजधानी मिथिला थी। यह आजकल जनकपुर कहलाता है और नेपाल राज्य मे है। ब्राह्मण ग्रन्थो, उपनिषदो और महाभारत मे जनक को सम्राट् कहा गया है। जनक की सभा मे कोसल, कुरु, पञ्चाल, और मद्र के श्रेष्ठ ब्राह्मण इकट्ठे होते और आपस मे शास्त्रार्थ करते। इनमे सबसे अधिक विद्वान् याज्ञवल्क्य थे।

ब्राह्मणो और उपनिषदो की समीक्षा से ज्ञात होता है कि विदेह के अतिरिक्त इस समय उत्तर भारत मे नौ अन्य महान् राज्य थे--गन्धार, केकय, मद्र, उशीनर, मत्स्य, कुरु, पञ्चाल, काशी और कोसल। गन्धार की राजधानी तक्षशिला थी। केकय का राज्य पश्चिमी पजाब मे था। मद्र लोग कश्मीर और मध्य पजाब मे तथा उशीनर लोग मध्यदेश मे रहते थे। मत्स्य लोग अलवर, जयपुर और भरतपुर प्रदेश मे रहते। कुरु प्रदेश कुरुक्षेत्र और हस्तिनापुर के बीच का प्रदेश था। यह वैदिक सस्कृति का केन्द्र था। पञ्चाल राज्य मे बरेली, बदायूं और फर्रुखाबाद के जिले शामिल थे। काशी राज्य की राजधानी वाराणसी थी। कोसल राज्य अवध का प्रदेश था, इसकी राजधानी अयोध्या थी। सम्भवत काशी के राजाओ ने विदेह राज्य के पतन मे प्रमुख भाग लिया।

दक्षिण भारत मे विदर्भ का स्वतन्त्र राज्य बरार के पास स्थित था। कलिग का राज्य इस काल मे पूर्ण रूप से वैदिक सस्कृति से प्रभावित नही हुआ था। अश्मक का राज्य गोदावरी नदी के निकट था। सत्वत् लोगो के राजा 'भोज' कहलाते थे। आन्ध्रो का राज्य कृष्णा नदी के दक्षिण मे था। शबर और पुलिन्द लोग भी दक्षिण भारत मे रहते थे।

हेमचन्द्र रायचौधरी ने ब्राह्मण और उपनिषदो की समीक्षा करके ६०० ईसवी मे पूर्व के भारत का जो उपर्युक्त चित्र प्रस्तुत किया है, उसमे यह स्पष्ट है कि महाभारत के महायुद्ध के बाद उत्तर भारत मे पहले विदेह का राज्य प्रमख हुआ और विदेह के पतन के बाद कई अन्य राज्य शक्तिशाली हो गए।

सामाजिक दशा

इस काल मे वर्ण जातियो मे बदलने लग। क्रमश बहुत-मी जातिया और उपजातिया बनने लगी। परन्तु समाज मे ब्राह्मणो और क्षत्रियो का स्थान वैश्य और शूद्रो से उच्च था। शूद्रो का कर्त्तव्य द्विजो अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना था। उनको कोई विशेष अधिकार प्राप्त न थे।

स्त्रियो की दशा उत्तर-वैदिक काल की अपेक्षा काफी गिर गई। धनी मनुष्य एक से अधिक पत्नियो से विवाह करते। राजघरानो मे विवाह के लिए स्वयवर रचे जाते। कही-कही सती-प्रथा भी प्रचलित थी।

क्षत्रियो मे मास व मदिरा का खूब प्रचार था, परन्तु अन्य जातियो मे धीरे-धीरे अहिसा का सिद्धान्त माना जाने लगा और इन जातियो के बहुत से लोगो ने मास खाना छोड दिया।

आर्थिक दशा

महाकाव्यो से ज्ञात होता है कि अधिकतर जनता गावो मे रहती और खेती और पशुपालन करके जीवन-निर्वाह करती थी। व्यापारी अधिकतर नगरो मे रहते। वे दूर-दूर से व्यापार के लिए वस्तुए लाते। चुगी सिक्को मे ली जाती। व्यापारियो और शिल्पियो की अपनी-अपनी श्रेणिया थी। इन श्रेणियो को अपने सदस्यो के झगड़े निबटाने का पूरा अधिकार था। राजा और

राज्य के अधिकारी इनके बनाए नियमों को लागू करते थे।

धार्मिक अवस्था

महाभारत और रामायण की समीक्षा से ज्ञात होता है कि इस काल मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश की पूजा बहुत लोकप्रिय हो गई तथा इन्ही की स्तुति-उपासना की जाने लगी। पुराणो ने भी इन्ही तीनो देवताओ की पूजा को प्रोत्साहन दिया। ब्रह्मा, विष्णु और महेश परमेश्वर के ही तीन स्वरूप माने गए। ब्रह्मा सृष्टि के रचयिता, विष्णु संरक्षक और शिव सृष्टि के नाशक माने गये। हम कह आए है कि उपनिषदो ने ज्ञान-मार्ग का प्रतिपादन किया था। उस पर चलने के लिए कठिन तप और त्याग की आवश्यकता थी। जनसाधारण मे जब इस मार्ग पर चलने की सामर्थ्य नही रही तो उन्होने भक्ति का मार्ग ढूंढ निकाला।

भक्ति-मार्ग का प्रारम्भ डॉ० आर जी० भण्डारकर के अनुसार कृष्ण से पहले वैदिक काल मे ही नारायण और नर के रूप मे हो चुका था, किन्तु इसका पूर्ण विकसित रूप हमे महाभारत मे मिलता है। उस काल मे कृष्ण के साथ उनके भाई, पुत्र और पोते की भी पूजा प्रचलित हो गई। इस पूजा का प्रारम्भ सत्वत् लोगो ने किया। वे कृष्ण को परमेश्वर समझकर उसकी पूजा करने लगे और उसकी भक्ति को ही मुक्ति का मार्ग समझने लगे। कृष्ण ने भगवद्गीता में अर्जुन को उपदेश दिया कि उस ईश्वर की शरण मे जाना चाहिए जो सब के हृदय मे निवास करता है। उसी की कृपा से सच्ची शक्ति और सुख मिलता है। कृष्ण ने इस भक्ति-मार्ग को ही सब पापो से छुटकारा पाने का साधन बतलाया।

इस काल मे कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा। कृष्ण ने स्वय कहा है कि जब धर्म की हानि होती है तो मैं धर्म की रक्षा के लिए संसार मे जन्म लेता हूं। गणेश, कार्तिकेय और लक्ष्मी की पूजा भी इस काल मे प्रचलित हो गई। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि महाभारत मे हम उस हिन्दू धर्म के सभी मूल तत्त्व पाते है जिनका विकसित रूप आजकल विद्यमान है।

(ग) धर्मशास्त्र

प्राचीन भारतीय सस्कृति पर धर्मशास्त्र भी पर्याप्त प्रकाश डालते है। मनु का धर्मशास्त्र सब से प्राचीन माना जाता है, किन्तु उसमे भी रामायण महाभारत की भाँति बहुत-से अश पीछे से जोडे गए हैं। मनुस्मृति का महाभारत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। महाभारत मे २७०० ऐसे श्लोक है जो मनुस्मृति मे भी पाए जाते है। इसी आधार पर बी० एस० सुक्थकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भृगुवश के जिन विद्वानो ने मनुस्मृति को वर्तमान रूप दिया उन्होने महाभारत मे सदाचार की शिक्षा का भाग जोडकर उसे शतसाहस्री सहिता बनाया। पाश्चात्य विद्वान् वर्तमान मनुस्मृति को २०० ई० पू० से २०० ई० के बीच की रचना मानते हैं।

राजनीतिक व्यवस्था

मनु ने हिमालय से विन्ध्याचल तक के उत्तरी भारत को आर्यावर्त कहा है। कुल राज्य को राष्ट्र कहते तथा राजा उसका स्वामी होता। उसे अब देवतुल्य माना जाने लगा। परन्तु राजा

१. Macdonell, A. A.—*A History of Sanskrit Literature*, 1929, p. 277.

निरंकुश न था। वह धर्म के अनुसार ही शासन करता। वेद, स्मृति, धार्मिक पुरुषो का आचरण और शिष्ट व्यक्तियो की आत्मतुष्टि से ही धर्म का निरूपण होता। धर्म का निरूपण राजा की इच्छा पर निर्भर न था।

मनु ने राजा को राष्ट्र मे सर्वोच्च स्थानीय और प्रजा का एकमात्र भोक्ता कहा है। वह सचिवो की सहायता से शासन चलाता था। राजा को परामर्श देने वाली परिषद् मे सात या आठ मन्त्री होते। राजा अपनी प्रजा से सभा मे मिलता था।

शासन-व्यवस्था मे निम्नलिखित चार प्रमुख विभाग थे--

१ **अर्थ** इसके अधीन कर इकट्ठा करना, कोषागारो, खानो और कोष्ठागारो की देख-भाल थी। राजा स्वय इसे अपनी देख-रेख मे रखता।

२ **चारकर्म** यह विभाग शासन के सर्व अधिकारियो के काम का निरीक्षण करता था।

३ **स्थानीय शासन** एक विशेष अमात्य ग्राम और उसके ऊपर दशम पद्धति के अन्तर्गत सब अधिकारियो की देख-भाल रखता था। नगर का शासन रक्षि पुरुष और गुप्तचरो के अधीन होता।

४ **सेना और रक्षा** ये दोनो विभाग मिलकर एक मन्त्री के अधीन होते थे।

न्याय विभाग न्याय करता। राजा जनपदो, जातियो, कुलो और श्रेणियो के नियमो को भी मानता। अग्नि और जल परीक्षा का भी प्रयोग न्याय करने मे किया जाता। दण्ड विधान अत्यन्त कठोर था, किन्तु कर असह्य न थे।

सामाजिक दशा

समाज मे पहला भेद आर्य और अनार्य का था। अनार्य लोग दस्यु और म्लेच्छ कहलाते। दस्यु शब्द उन जातियो के लिए भी प्रयुक्त होता जो शूद्रो से भी नीची थी जैसे चण्डाल, श्वपाक आदि। अनार्य गाँवो के बाहर बसते और शिकार करके जीविका चलाते थे। न्यायालय मे उनकी साक्षी न मानी जाती थी। आर्यों मे चार जातियाँ--- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थी। कुछ सकर जातियो के लोग भी शूद्रो मे रखे गए।

ब्राह्मणो का उनके गुणो के कारण समाज मे आदर था। वे ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करते, तप करते और सबसे मित्रता रखते थे। वे अध्यापक, यज्ञ कराने वाले, न्यायाधीश, मुख्यामात्य और सभासद् होते थे। क्षत्रिय सैनिकवृत्ति ग्रहण करते तथा वैश्य कृषि, दुकानदारी, व्यापार और पशु-पालन करते थे। उन्हे समुद्र-यात्रा की आज्ञा थी। शूद्रो को सस्कारो का अधिकार न था, किन्तु वे विवाह और श्राद्ध कर्म कर सकते थे। मनु ने शूद्र अध्यापको और शिष्यो का भी उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि शूद्र के लिए विद्याध्ययन का निषेध न था।

दासो के सात प्रकार थे---युद्ध मे बन्दी, अन्न-प्राप्ति के लिए बना, दासी माता से उत्पन्न, खरीदा हुआ, किसी से दिया हुआ, पैतृक सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त और ऋण चुकाने के लिए बना। वह सम्पत्ति का स्वामी न बन सकता था।

मनु के समय मे बाल-विवाह अच्छा माना जाने लगा। स्त्रियो को वेदाध्ययन का अधिकार न था। वे अपने पुरुष सम्बन्धियो ---कुमारावस्था मे पिता के, यौवन मे पति के और वृद्धावस्था मे पुत्रो के सरक्षण में रहती। स्त्री-धन के अतिरिक्त वह किसी सम्पत्ति की स्वामिनी नही हो सकती थी। इससे स्पष्ट है कि अब वैदिक काल की भाति समाज में स्त्रियो का उच्च स्थान न था।

आर्थिक जीवन

कृषकों और पशुपालकों के साथ समाज मे शिल्पी भी थे। शिल्पी मास में एक दिन की कमाई राजा को कर के रूप मे देते। मनु ने सुनार, लुहार, रग रेज, धोबी, तेली, दर्जी, जुलाहे, कुम्हार, कलाल, बढई, बेंत और बाँस का काम करने वाले, चमार आदि अनेक शिल्पियो का उल्लेख किया है।

नकद लेन-देन और वस्तुओं की अदला-बदली दोनो प्रकार से व्यापार होता था। वस्तुओ के मूल्य राज्य भी निर्धारित करता था। व्यापारियों के सामूहिक सगठन थे। मिलावट करने वालों और कम तोलने वालो को कठोर दण्ड दिया जाता था। व्यापार सडको और नदियो दोनो के द्वारा होता था। कुछ वस्तुओं के निर्यात पर राज्य प्रतिबन्ध लगा सकता था। वाणिज्य पर तट-कर, चुगी आदि कर लगते थे।

रुपया सूद पर देने की प्रथा थी, जिसके लिए प्रतिवर्ष ऋणपत्र लिखना पडता। ब्याज की साधारण दर १५ प्रतिशत थी।

सोने का सिक्का सुवर्ण कहलाता। चाँदी के निम्नलिखित तीन सिक्के थे—

२ रत्ती = १ रौप्यमाषक

१६ माषक = १ धरण

१० धरण = १ शतमान

ताँबे का सिक्का कार्षापण था जो तोल मे ८० रत्ती होता।

सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा, सीसा, राँगा, लोहा, टीन काम मे आते थे। खानो से पत्थर और हीरे आदि भी निकाले जाते थे। खनिज कर्म मे राज्य का लाभ आधा होता था।

शिक्षा

ब्रह्मचारी आचार्य के घर रहकर शिक्षा प्राप्त करते। सन्ध्या और अग्निहोत्र, अग्निपरिचर्या, आचार्य के लिए भिक्षा माँगकर लाना, ईंधन, जल, मिट्टी, फूल आदि लाना और अध्यापक के प्रवचन सुनना उनके नित्य कर्म थे।

अध्ययन के विषय वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाग, स्मृतियाँ और दर्शनशास्त्र थे। कुछ धर्मेतर विषय भी पढाये जाते थे, जैसे आन्वीक्षकी और दण्डनीति।

अध्यापक दो प्रकार के थे (१) उपाध्याय, जो जीविका के लिए अध्यापन करते और (२) आचार्य, जो नि शुल्क शिष्यो को कल्पसूत्रो और उपनिषदों-सहित वेद पढाते। शिक्षा समाप्त कर लेने पर शिष्य गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा देता था।

धर्म

मनु ने गृहस्थ के दैनिक कर्त्तव्यो मे पाँचो यज्ञो का उल्लेख किया है[1]। सोलह सस्कारो का भी पारिवारिक जीवन के विकास मे विशेष महत्त्व था। ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्य, नम्रता, अहिंसा, चोरी का त्याग, मधुर स्वभाव व इन्द्रिय-दमन आदि गुणो पर बल दिया जाता था। मनु ने लिखा है कि यज्ञ करके मनुष्य देव-ऋण चुका सकता है। साधारणतया वेद को ही धर्म मान लिया गया था, किन्तु मनु ने वेदज्ञो की स्मृति और शील को भी धर्म माना है।

१. कृपया पृष्ठ ७१ देखिए।

इसके अतिरिक्त जिस कार्य से शिष्ट व्यक्तियो को आत्मतुष्टि हो वह भी धर्म मान लिया गया। इस प्रकार स्मृतियो ने देश-काल के अनुसार धर्म मे परिवर्तन किया।

हम ऊपर कह चुके हैं कि सम्भवत भृगु वश के उन्ही विद्वानो ने, जिन्होने मनुस्मृति की रचना की, महाभारत मे सदाचार-विषयक प्रसग जोडे। इससे यह अनुमान होता है कि महाभारत मे वर्णित देवताओ अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश की ही पूजा इस काल मे होती थी। महाभारत और मनुस्मृति के वर्तमान रूप मे जनता के उन धार्मिक विश्वासो का चित्रण है जो बौद्ध और जैन धर्म की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिन्दू धर्म का अग बन चुके थे।

अन्य धर्मशास्त्र

याज्ञवल्क्य का धर्मशास्त्र मनु की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित और सक्षिप्त है। उसमें कुछ नये विषय भी सम्मिलित हैं, जैसे विनायक-पूजा और ग्रह-शान्ति। उसमे भी कुल-जाति, श्रेणी, गण और जनपद आदि स्वायत्त सस्थाओ का वर्णन किया गया है। नारद स्मृति मे इन दोनो स्मृतियो से भिन्न भी कुछ बाते मिलती है। उसमे काम सीखने वाले शिल्पियो और साझे सम्बन्धी नियमो का वर्णन है।

इस प्रकार स्मृतियो ने देश-कालानुसार वर्णाश्रम धर्म की स्थापना करके समाज की प्रगति मे योग दिया। वर्ण-धर्म का उद्देश्य था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन करके समाज के कार्यों मे सहयोग दे और आश्रम-धर्म द्वारा वह चारो आश्रमो मे रह कर अपने व्यक्तिगत लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त करे।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक कर्मकाण्ड उत्तर-वैदिक काल मे पूर्ण रूप से विकसित हो गया था। उपनिषदो और दर्शनो मे ज्ञान-काण्ड का प्रारम्भ हुआ और महाभारत युद्ध के कुछ पूर्व से ही मथुरा प्रदेश मे भागवत धर्म का प्रचार हुआ जो आगे चलकर हिन्दुओ मे जनसाधारण का धर्म बन गया। स्मृतियो ने देश-काल के अनुसार धर्म के स्वरूप मे परिवर्तन किया। इस प्रकार १५०० ई० पू० से ३०० ई० तक का समय हिन्दू धर्म के विकास मे एक विशेष महत्त्व रखता है। गुप्त राजाओ के समय मे हिन्दू धर्म की ये सब शाखाएँ साथ-साथ चलती रही।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी — **हिन्दू सभ्यता**, अध्याय ६
अनुवादक—वासुदेवशरण अग्रवाल

राधाकुमुद मुकर्जी — **प्राचीन भारत**, अध्याय ५
अनुवादक—बुद्धप्रकाश

H. C. Raychaudhuri — *Political History of Ancient India*, Part I, Chapter 2.

R. C. Majumdar — *History and Culture of the Indian People.* *Imperial Unity,* Chapters 18, 19, 21
A. A. Macdonell — *India's Past,* Chapters 5, 7
M. Hiriyanna — *Outlines of Indian Philosophy,* Chapters 4, 10, 11, 12, 13, 14.

अध्याय ७
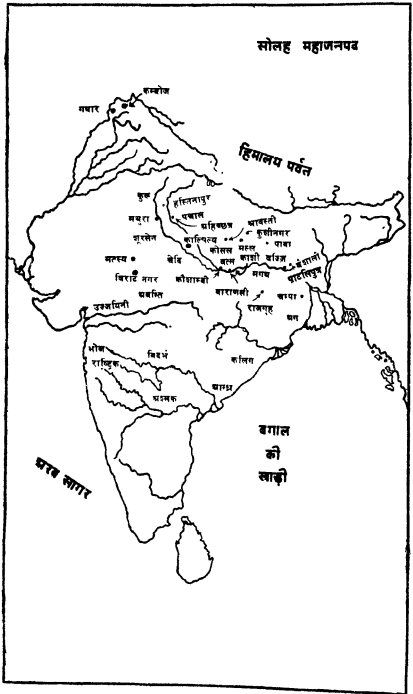
मौर्यकाल से पूर्व भारत की राजनीतिक अवस्था
(६५० ई० पू० से ३२५ ई० पू०)

(Political Condition of Pre-Mauryan India)

ईसा से पूर्व सातवी शताब्दी के भारतीय इतिहास के लिए हमारे साधन मुख्यत प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रन्थ है। ये मुख्यत धार्मिक ग्रन्थ है, किन्तु उनसे उस समय की राजनीतिक अवस्था का भी पता लगता है। 'अगुत्तर-निकाय' नामक एक बौद्ध धर्मग्रन्थ मे, जो पाली भाषा मे है, निम्नलिखित सोलह महाजनपदो के नाम है

१ **अग** यह जनपद मगध के पूर्व मे आधुनिक भागलपुर (बिहार) के समीप था। इसकी राजधानी चम्पा थी।

२ **मगध** इसमे दक्षिण बिहार के पटना और गया के आधुनिक जिले सम्मिलित थे।[1]

३ **वज्जि** . यह आठ जातियो का सघ था, जिसमे मुख्य लिच्छवि विदेह, और ज्ञातृक जातियाँ थी। लिच्छवियो की राजधानी वैशाली[2] ही वज्जि-सघ की राजधानी थी।

४ **काशी** इसकी राजधानी वाराणसी थी। ब्रह्मदत्त राजाओं के समय मे इसकी बहुत उन्नति हुई। सम्भवत काशी के राजाओ ने विदेह राज्य के पतन मे प्रमुख भाग लिया। इस समय विदेह एक गणराज्य था।

५. **कोसल** : यह राज्य लगभग आजकल के अवध राज्य के समान था। इस समय इसकी राजधानी श्रावस्ती थी। यह आजकल सहेतमहेत नाम का गाँव है जो उत्तर प्रदेश मे गोडा जिले मे है। कोसल के राजाओ की काशी के राजाओ से प्राय लडाई रहती थी।

६ **मल्ल** मल्लो की दो शाखाएँ थी। एक की राजधानी कुशीनगर[3] और दूसरे की पावा[4] थी। बुद्ध से पहले यहाँ राजतन्त्र शासन था।

७ **चेदि** : यह जनपद यमुना के समीप था और यमुना नदी से बुन्देलखण्ड तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी शुक्तिमती केन नदी पर स्थित थी।

८. **वत्स** इसकी राजधानी कौशाम्बी थी जो इलाहाबाद से तीस मील की दूरी पर स्थित है और अब कोसम कहलाती है। निचक्षु ने हस्तिनापुर के नष्ट होने के बाद इसको ही अपनी राजधानी बनाया।

१ बुद्ध मे पहले यहाँ के दो प्रसिद्ध राजा बृहद्रथ और उसका पुत्र जरासन्ध थे।

२. यह स्थान बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले में एक छोटा गाँव है और इसे बसाढ कहते है।

३ यह स्थान देवरिया जिले में उस स्थान पर स्थित था जहाँ आजकल कसया के पास अनरुधवा गाँव है।

४ इस स्थान के भग्नावशेष देवरिया जिले में कुशीनगर से दस बारह मील दूर सठियाँव (फाजिलनगर) गाँव में मिले हैं।

९. कुरु . इस जनपद मे आजकल के थानेसर, दिल्ली और मेरठ जिले शामिल थे। इसकी राजधानी हस्तिनापुर[1] थी। परन्तु यह राज्य इस समय विशेष शक्तिशाली न था।

१० पञ्चाल · इसमे उत्तर प्रदेश के बरेली, बदायूं, और फर्रुखाबाद जिले शामिल थे। इसके दो भाग थे—उत्तर पञ्चाल और दक्षिण पञ्चाल। उत्तर पञ्चाल की राजधानी अहिच्छत्र[2] थी जो बरेली के निकट है और दक्षिण पञ्चाल की काम्पिल्य[3]। यहाँ का एक प्रसिद्ध राजा दुर्मुख था।

११ मत्स्य यह जयपुर के आसपास का प्रदेश था। इसकी राजधानी विराटनगर थी।

१२ शूरसेन यह राज्य मथुरा के आसपास स्थित था। इस राज्य मे यादव कुल ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की।

१३ अश्मक यह राज्य गोदावरी नदी के तट पर था। इसकी राजधानी पोतन या पैठन थी।

१४ अवन्ति यह जनपद मालवा के पश्चिमी भाग मे स्थित था। इस जनपद को विन्ध्याचल दो भागो म बाँटता था। उत्तरी भाग की राजधानी उज्जयिनी और दक्षिणी भाग की माहिष्मती थी। प्राचीन काल मे यहा हैहय राजाओ ने राज्य किया। इस राज्य की वत्स राज्य के साथ अकसर लडाई होती थी।

१५ गान्धार · सम्भवत यह आधुनिक अफगानिस्तान का पूर्वी भाग था। सम्भवत कश्मीर और पश्चिमी पजाब का कुछ भाग भी इसमे शामिल थे। पेशावर और रावलपिण्डी जिले इसमे अवश्य शामिल थे।

१६ कम्बोज इसमे कश्मीर का दक्षिण-पश्चिमी भाग और काफिरिस्तान के कुछ भाग शामिल थे।

भगवती सूत्र नामक जैन धार्मिक ग्रन्थ मे भी सोलह महाजनपदो की सूची है। परन्तु यह सूची इसमे कुछ भिन्न है। उसमे मालव, कच्छ, पुण्ड्र, लाट और मोलि राज्यो का भी उल्लेख है। भगवती सूत्र की सूची अधिक विश्वसनीय नही है, क्योकि जैन ग्रन्थ ईसा की छठी शताब्दी से पूर्व नही लिखे गए थे।

बौधायन के धर्मसूत्र से ज्ञात होता है कि सौवीर (मुलतान के आसपास का प्रदेश), आरट्ट (पजाब), सुराष्ट्र, अवन्ति मगध, अग, पुण्ड्र (उत्तर बगाल) और वग (पूर्वी और दक्षिणी बगाल) मे वैदिक संस्कृति का इस समय पूर्ण प्रभाव न था।

बुद्ध के समय मे राजतन्त्र राज्यो मे चार राज्य बहुत प्रमुख हो गए। ये थे अवन्ति, वत्स, कोसल और मगध।

अवन्ति इस राज्य का राजा प्रद्योत महासेन था। उसका इतना आतक था कि जनता उसे 'चण्ड' कहती थी। मगध का राजा अजातशत्रु भी उससे डरता था। उसकी पुत्री का नाम वासवदत्ता था। चण्ड प्रद्योत ने वत्स के राजा उदयन को बन्दी बनाया था। पीछे अवन्ति से उदयन वासवदत्ता को कौशाम्बी ले

१. यह स्थान मेरठ के उत्तर-पूर्व में बाईस मील की दूरी पर स्थित है।
२. यह उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में अब रामनगर नामक स्थान है
३. यह उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में कम्पिल कहलाता है।

आया और उसने उसके साथ विवाह कर लिया।

वत्स : यहाँ के राजा उदयन ने मगध के राजा दर्शक की बहन पद्मावती से विवाह किया। हर्ष-रचित 'प्रियदर्शिका' के अनुसार उसने अग की एक राजकुमारी से विवाह किया। भास-रचित 'स्वप्न-वासवदत्ता' नाटक मे उसके अवन्ति की राजकुमारी वासवदत्ता से विवाह का वर्णन है। इस प्रकार वैवाहिक सम्बन्धो से उसने अपनी शक्ति बढा ली।

कोसल पहले काशी के राजा ब्रह्मदत्त ने कोसल राज्य को अपने राज्य मे मिला लिया। पीछे से कोसल के राजाओ ने काशी को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया। बुद्ध के समय मे कोसल का राजा प्रसेनजित् था। वह गोतम बुद्ध का भक्त था। यह बात भारहुत के एक अभिलेख से स्पष्ट है जिसमे प्रसेनजित् को बुद्ध के धर्मचक्र के साथ दिखाया गया है। प्रसेनजित् ने अपनी बहन कोसलदेवी का विवाह मगध के राजा बिम्बिसार से कि था। विवाह के समय प्रसेनजित् ने काशी का कुछ भाग दहेज के रूप मे बिम्बिसार को दिया था। जब अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार की हत्या कर दी तो प्रसेनजित् ने काशी का वह भाग वापस लेना चाहा। इस प्रकार मगध और कोसल मे युद्ध छिड गया। पीछे से विडूडभ ने अपने पिता प्रसेनजित् से कोसल का राज्य छीन लिया। विडूडभ ने शाक्यो पर बहुत अत्याचार किया, क्योकि उन्होने उसके पिता के साथ धोखे से एक दासीपुत्री का विवाह कर दिया था।

मगध . इन चारो राजतन्त्र राज्यो मे भी मगध का राज्य सबसे शक्तिशाली हुआ। उसके कई कारण थे। मगध की स्थिति इसमे बहुत सहायक सिद्ध हुई। यह प्रदेश गंगा नदी के मैदान के ऊपर और नीचे के भागो के बीच मे स्थित होने के कारण सामरिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था। यह एक उपजाऊ प्रदेश था और गगा नदी के व्यापार का केन्द्र बिन्दु था। यहाँ के राजाओ ने पहाडो के बीच मे एक सुरक्षित स्थान छाँटकर राजगृह को अपनी राजधानी बनाया। उन्होने अपनी दूसरी राजधानी पाटलिपुत्र को बनाया। यह बडी नदियो के सगम पर स्थित होने के कारण व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्त्व रखती थी। समृद्ध देश होने के कारण उन्हे हाथियो-सहित एक शक्तिशाली सेना रखना भी सुलभ हो गया। परन्तु केवल प्राकृतिक साधनो के सुलभ होने से ही किसी प्रदेश की उन्नति नही होती। किसी प्रदेश की उन्नति वहाँ के निवासियो की उच्चाकांक्षाओ और भावनाओ पर अवलम्बित होती है। मगध देश मे आर्य और अनार्य सस्कृतियो का सुन्दर समन्वय हुआ, जिसके कारण वर्ण-व्यवस्था इतनी जटिल न बन सकी जैसी की मध्य देश मे। मगध के राजाओ ने योग्य व्यक्तियो को अपना मन्त्री चुना और अच्छा प्रशासन स्थापित किया। मगध के चारणो ने भी जनता को प्रोत्साहित किया। इन सब कारणो का सामूहिक प्रभाव यह हुआ कि मगध सबसे शक्तिशाली राज्य बन गया।

बिम्बिसार (५४६-४९४ ई० पू०)

मगध का सबसे पहला शक्तिशाली राजा बिम्बिसार था। पालि ग्रन्थों के अनुसार वह हर्यंक कुल का था वह एक साधारण सामन्त का पुत्र था और 'श्रेणिक' नाम से भी प्रसिद्ध था। महावंश के अनुसार जब वह गद्दी पर बैठा उसकी अवस्था केवल १५ वर्ष की थी।

इस समय उसके सामने कई समस्याएँ थीं। उत्तर में वज्जिगणराज्य बहुत शक्तिशाली हो गया था। कोसल और अवन्ति के शक्तिशाली राजा सारे निर्बल राष्ट्रों को जीतकर अपने राज्य में मिलाना चाहते थे और अंग का राजा भी उसका शत्रु था।

बिम्बिसार ने बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया। उसने शक्तिशाली राजघरानों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके अपनी शक्ति बढ़ाई। उसकी प्रधान रानी कोसलदेवी थी जो कोसल के राजा प्रसेनजित् की बहन थी। इस विवाह से दहेज के रूप में बिम्बिसार को काशी राज्य का कुछ प्रदेश मिला था, जिससे एक लाख मुद्रा वार्षिक भूमि-कर प्राप्त होता था। उसकी दूसरी रानी चेल्लना थी, जो लिच्छवियों के राजा चेटक की बहन था। तीसरी रानी क्षेमा पंजाब के शक्तिशाली मद्र राज्य की राजकुमारी थी। कहते है कि उसकी चौथी रानी विदेह की राजकुमारी वासवी थी जो, उसके लिए, जब उसके पुत्र अजातशत्रु ने कारागार में डाल दिया था, भोजन ले जाती थी। ये वैवाहिक सम्बन्ध मगध के साम्राज्य-विस्तार में बड़े सहायक हुए। तक्षशिला के राजा पुष्करसारी ने प्रद्योत के विरुद्ध उससे सहायता मांगी, किन्तु उसने प्रद्योत से शत्रुता मोल न लेना ही उचित समझा। उसने पुष्करसारी के राजदूत का स्वागत किया, परन्तु प्रद्योत के विरुद्ध उसे सहायता न दी। इसके विपरीत जब प्रद्योत पाण्डुरोग से पीड़ित हुआ तो बिम्बिसार ने अपने राजवैद्य जीवक को उसकी चिकित्सा करने भेजा।

उसने अंग के राजा ब्रह्मदत्त को हराकर उसके राज्य को मगध के राज्य में मिला लिया और अंग की राजधानी चम्पा में अपने पुत्र अजातशत्रु को अपना प्रतिनिधि शासक बनाकर भेजा, जिससे अंग के राजा के वंशज फिर स्वतन्त्र होने का साहस न करें। इस प्रकार वैवाहिक सम्बन्धों और विजय द्वारा उसने मगध साम्राज्य के विस्तार में पहला चरण उठाया।

महावग्ग के अनुसार उसके राज्य में ८०,००० गांव थे। वह अपने कर्मचारियों पर कड़ी दृष्टि रखता। जो अधिकारी उसे अच्छा परामर्श देते उन्हें वह पुरस्कार देता था और जो ठीक परामर्श न देते उन्हें नौकरी से निकाल देता था। साधारण कार्यों की देखभाल करने वाले अधिकारी—सर्वार्थक महामात्र, सेनापति—सेनानायक महामात्र, न्यायाधीश—व्यावहारिक महामात्र और गाँव के मुखिया—ग्रामभोजक कहलाते थे। गाँवों और शहरों में अधिकारियों को शासन में पूर्ण स्वतन्त्रता थी। गाँवों का प्रबन्ध ग्राम-सभाएँ करती थीं। दण्ड में कारागार और अपराधी के हाथ-पैर काटना भी शामिल था। सड़कें भी बनाई जाती थीं। उसकी पहली राजधानी गिरिव्रज थी। उसने इसे छोड़कर राजगृह को अपनी नई राजधानी बनाया। चिकित्सा का भी उचित प्रबन्ध था। जीवक बिम्बिसार का राजवैद्य था।

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार बिम्बिसार बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसने वेणुवन बौद्ध संघ को दान में दिया था और अपने वैद्य जीवक को बुद्ध की चिकित्सा करने के लिए भेजा था। जैनों के धर्मग्रन्थ 'उत्तराध्ययन सूत्र' में लिखा है कि बिम्बिसार स्वयं महावीर के पास गया था और उनका अनुयायी हो गया।

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार बिम्बिसार की हत्या उसके पुत्र अजातशत्रु ने की, किन्तु जैन

ग्रन्थो मे लिखा है कि उसने अपने पिता को जेल मे डाल दिया । वहा चेल्लना ने उसकी सेवा की, किन्तु बिम्बिसार ने स्वय कारागार मे आत्महत्या कर ली ।

अजातशत्रु (४६४-४६२ ई० पू०)

अजातशत्रु या कुणिक पालि ग्रन्थो के अनुसार अपने पिता बिम्बिसार को मारकर मगध के सिंहासन पर बैठा । बिम्बिसार की मृत्यु के पश्चात् उसकी पहली रानी कोसलदेवी उसके शोक मे मर गई । तब कोसलदेवी के भाई प्रसेनजित् ने काशी का वह भाग, जो उसने कोसलदेवी के दहेज मे बिम्बिसार को दिया था, वापस लेने के लिए अजातशत्रु के विरुद्ध लडाई छेड दी । इस युद्ध मे पहले मगध के राजा को जीत हुई फिर कोसल का राजा विजयी हुआ । अन्त मे कोसल-नरेश ने अजातशत्रु से सन्धि कर ली और अपनी पुत्री वजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ कर दिया और काशी का वह भाग जो पहले बिम्बिसार को दिया था, फिर से अजातशत्रु को दे दिया ।

अजातशत्रु के समय की दूसरी प्रसिद्ध घटना लिच्छवियो के साथ युद्ध था । इस युद्ध के कई कारण थे । कहते हैं कि बिम्बिसार ने एक हाथी और एक बहुमूल्य हार अपने छोटे पुत्रो हल्ल और वेहल्ल को दिए थे । वे इन्हे लेकर वैशाली चले गए थे । अजातशत्रु इन्हे लेना चाहता था, इसलिए उसने वैशाली के विरुद्ध लडाई छेडी । कुछ लोग कहते है कि यह युद्ध मणियो की एक खान लेने के लिए हुआ जो मगध और लिच्छवि नरेश दोनो लेना चाहते थे । परन्तु वास्तविक बात यह प्रतीत होती है कि लिच्छवियो का स्वतन्त्र गणराज्य अजातशत्रु की महत्वाकाक्षा मे बाधक था, अत उसे हराना आवश्यक था ।

लिच्छवियो ने अजातशत्रु के विरुद्ध जो सगठन बनाया उसमे काशी-कोसल के राजतन्त्र राज्य और ३६ गणराज्य शामिल थे । इस सगठन को हराना आसान न था । लिच्छवियो को हराने मे अजातशत्रु को १६ वर्ष लगे । उसने अपने एक मन्त्री वस्सकार को लिच्छवियो मे फूट डालने के लिए भेजा । उसे इस काम मे तीन वर्ष लगे । उसके मन्त्रियो ने पाटलिपुत्र मे एक किला बनाया, जिससे लिच्छवियो से लडना सरल हो जाए । इस कार्य मे उन्हे दो वर्ष लगे । उसने महाशिलाकण्टक और रथमुसल नाम के अस्त्रो का प्रयोग भी इस युद्ध मे किया और अपनी सेना को सुसगठित किया, तब कही उसकी जीत हुई ।

अजातशत्रु के राज्यकाल मे गौतम बुद्ध और महावीर दोनो महापुरुषो की मृत्यु हुई । उसके समय मे पहली बौद्ध-सगीति भी राजगृह मे हुई । इसमे बौद्ध धर्म के सिद्धान्त स्वीकृत किये गए ।

बौद्ध और जैन दोनो ही अजातशत्रु को अपने-अपने मत का मानने वाला कहते है । एक जैन ग्रन्थ 'उत्तराध्ययनसूत्र' मे लिखा है कि कुणिक प्राय वैशाली और चम्पा मे महावीर से मिलने जाया करता था । अजातशत्रु के बौद्ध होने के भी कई प्रमाण है । पहली बौद्ध-सगीति अजातशत्रु के सरक्षण मे राजगृह के निकट हुई थी । भारहुत मे एक चित्र मे अजातशत्रु को बुद्ध को प्रणाम करता दिखाया गया है । उसने अपने वैद्य जीवक के साथ गौतम बुद्ध के दर्शन किये थे और बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उसकी अस्थियो का एक भाग लिया था । उसने कई चैत्य भी बनवाये थे ।

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी (४६२-४१४ ई० पू०)

पुराणो के अनुसार अजातशत्रु का उत्तराधिकारी दर्शक था, किन्तु पालि धर्म ग्रन्थो और जैन अनुश्रुति के अनुसार अजातशत्रु का पुत्र और उत्तराधिकारी उदायीभद्र था । 'आवश्यक सूत्र' मे लिखा है कि अपने पिता के राज्य-काल मे वह चम्पा मे राज्यपाल था । उसने पाटलिपुत्र का नगर

बसाया क्योंकि इस स्थान का व्यापारिक और सामरिक महत्त्व बहुत था। अवन्ति का राजा पालक उदायीभद्र का शत्रु था। कहते हैं कि उसने उदायीभद्र को मरवा दिया। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार उदायी के पश्चात् अनुरुद्ध, मुण्ड और नागदशक राजा हुए। प्रजा ने इस वंश के अन्तिम राजा को गद्दी से उतार कर उसके स्थान पर उसके मन्त्री शिशुनाग को राजा बनाया।

शिशुनाग और उसके उत्तराधिकारी (४१४--३४६ ई० पू०)

हर्यंक कुल के अन्तिम राजा के समय मे शिशुनाग बनारस का राज्यपाल था। उसकी दो राजधानियाँ थी--गिरिव्रज और वैशाली। इस समय अवन्ति का राजा अवन्तिवर्धन था। शिशुनाग ने प्रद्योत के इस वंश को बुरी तरह परास्त करके अवन्ति के राजाओ का मान-मर्दन किया। सभवत उसने कोसल, वत्स और अवन्ति के तीनो प्रमुख राज्यो को मगधराज्य मे मिलाकर मगध की सीमा बढाई। इस प्रकार शिशुनाग के राज्य मे मगध के अतिरिक्त मध्य-देश और मालवा भी सम्मिलित थे।

पुराणो के अनुसार शिशुनाग का उत्तराधिकारी काकवर्ण और लका की अनुश्रुति के अनुसार कालाशोक था। ये दोनो एक व्यक्ति के नाम हो सकते है। वह अपने पिता के समय मे बनारस और गया का राज्यपाल रह चुका था। उसके राज्य-काल मे बौद्धो की दूसरी महान् सभा वैशाली मे हुई। उसने फिर पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। 'हर्षचरित' के अनुसार एक हत्यारे ने शैशुनागी काकवर्ण के गले मे कटार भोककर उसका वध कर दिया। यूनानी पुस्तको मे लिखा है कि इस राजा की रानी का प्रेमी एक नाई था। उसने रानी से मिलकर राजा का वध कराया। महाबोधिवश के अनुसार कालाशोक के दस पुत्र थे। पुराणो के अनुसार इस वश के दो अन्तिम राजा नन्दिवर्धन और महानन्दी थे।

नन्द वंश (३४६--३२४ ई० पू०)

नन्दो के मूल के विषय मे अनुश्रुतियाँ एकमत नही हैं। पुराणो के अनुसार महापद्मनन्द शैशुनाग वश के अन्तिम राजा महानन्दी और उसकी एक शूद्र पत्नी का पुत्र था। यूनानी लेखको के अनुसार वह एक नाई, और अन्तिम शैशुनाग राजा की रानी का पुत्र था। जैन अनुश्रुति के अनुसार वह एक नाई और एक वेश्या का पुत्र था। महाबोधि वश मे उसका नाम उग्रसेन लिखा है। मत्स्यपुराण के अनुसार महापद्मनन्द ने ८८ वर्ष राज्य किया परन्तु वायुपुराण मे उसका राज्यकाल २८ वर्ष लिखा है। उसके पास अपार धन और एक बहुत बडी सेना थी। उसने उन सब राज्यों को जो शैशुनाग वश के समय मे स्वतन्त्र थे मगध मे मिला लिया और इस प्रकार एक राष्ट्र का निर्माण किया। ये राज्य इक्ष्वाकु, पचाल, हैहय, कलिग, अश्मक, कुरु, शूरसेन आदि थे। परिशिष्टपर्व और यूनानी लेखको ने नन्द साम्राज्य की विशालता का उल्लेख किया है। मैसूर के कुछ प्राचीन अभिलेखो से पता चलता है कि नन्दो ने मैसूर के उत्तर-पश्चिमी भाग अर्थात् कुन्तल पर भी राज्य किया था।

महापद्मनन्द के बाद उसके आठ लडको ने मगध पर राज्य किया। पुराणो ने इन नन्द राजाओ को अधार्मिक लिखा है। इसके कई कारण थे। एक तो उनका जनता के साथ व्यवहार अच्छा नही था, दूसरे वे प्रजा पर बहुत-से कर लगाते थे। खाल, गोद और पत्थरों पर भी मनुष्यों को कर देना पड़ता था। कहते हैं कि अन्तिम नन्द राजा धननन्द ने गगा की घाटी मे एक स्थान पर ८० करोड़ रुपये इकट्ठे कर रखे थे। उनकी बदनामी का तीसरा कारण यह भी था कि उनका

मूल उच्च जाति के व्यक्तियों से न था और संभवतः वे नीच जातियो के व्यक्तियो के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस परिस्थिति का लाभ उठाकर मगध के अन्तिम नन्द सम्राट् धननन्द[1] से उसका राज्य छीन लिया और स्वयं राजा बन बैठा।

कुछ भी हो, नन्द राजाओं ने छोटे-छोटे अनेक राज्यों को जीतकर एक बड़े साम्राज्य की स्थापना की तथा गगा की घाटी और प्राच्य प्रदेशो पर एक सुव्यवस्थित शासन स्थापित किया। उन्होने अपने राज्य को प्रान्तो मे विभाजित कर रखा था, जिनमे राज्यपाल नियुक्त किये थे। वे ऐसे व्यक्तियो को अपना परामर्शदाता नियुक्त करते जो अपने चरित्र और बुद्धिमत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। उनकी सेना का यूनानियो तक ने सिक्का माना है। उसमे २ लाख पैदल, २० हजार घुडसवार, २ हजार रथ और ३ हजार हाथी थे। उनके समय मे पाटलिपुत्र देवी सरस्वती और लक्ष्मी का निवास-स्थान बन गया।

गणतन्त्र राज्य

शाक्य

हम ऊपर कह आए है कि १६ महाजनपदो मे कई गणराज्य थे। इनमे सबसे प्रसिद्ध शाक्य गणराज्य था। गौतमबुद्ध का जन्म इसी गणतन्त्र राज्य मे हुआ था। शाक्यों की राजधानी कपिल-वस्तु थी, जो नेपाल की सीमा पर हिमालय की तराई मे स्थित थी। बौद्ध ग्रन्थो मे लिखा है कि शाक्य अपने को इक्ष्वाकु-वशीय मानते थे। शाक्य सघ का प्रधान राष्ट्रपति की भाँति चुना जाता यद्यपि वह राजा कहलाता था। पहले बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्य गणराज्य के राजा चुने गये थे, उनके पश्चात् भद्दिय और महानाम।

शाक्यो के अधिवेशन सथागार मे होते। सभा की बैठक मे शाक्य जाति के युवा और वृद्ध सभी भाग लेते। एक विशेष अधिकारी उपस्थित व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था करता। किसी विषय पर विचार होने से पहले सदस्यो की एक निश्चित सख्या का उपस्थित होना आवश्यक था। इस सख्या को पूरा करने का उत्तरदायित्व गणपूरक पर था। प्रस्तावो पर कभी-कभी तीन बार तक विचार होता था। कभी-कभी मतभेद होने पर शलाकाओ द्वारा मतदान लिया जाता था। निश्चय बहुमत से होते थे।[2] शाक्य गणराज्य मे ८० हजार परिवार थे और उनके राज्य मे बहुत-से नगर थे। कोसल के राजा विडूडभ ने शाक्य गणराज्य को समाप्त करके छठी शती ईसा पूर्व के अन्त मे उसे अपने राज्य मे मिला लिया।

लिच्छवि

दूसरा प्रसिद्ध गणराज्य लिच्छवियो का था। इसमे ९ गणराज्य मल्लो के और १८ काशी और कोसल के सम्मिलित थे। इस सघ का प्रमुख लिच्छवियों का नेता चेटक था। इस गणराज्य की

१. यूनानी लेखकों ने उसका नाम अग्रमस या जैण्ड्रमस लिखा है। संभवतः यह शब्द औग्रसैन्य का यूनानी रूप है।

२. शाक्य गणराज्य की परिषद् का उपर्युक्त विवरण बौद्ध संघ की कार्य-पद्धति के आधार पर लिखा गया है। गौतम बुद्ध ने संभवतः शाक्य गणराज्य की पद्धति ही बौद्ध संघ में अपनाई थी।

राजधानी वैशाली थी जिसमे ४२,००० परिवार रहते थे तथा अनेक शानदार इमारते थी। इस गणराज्य मे ७,७०७ राजा, इतने ही उपराजा और इतने ही भाण्डागरिक थे। इस गणराज्य की कार्यकारिणी मे ८ या ९ सदस्य थे। न्यायाधीश विनिश्चय-महामात्र, व्यावहारिक और सूत्रधर कहलाते थे। लिच्छवियो की साधारण सभा के सदस्य अपने अधिकारो के लिए बहुत सतर्क थे। वे ही कार्यकारिणी के सदस्य और सैनिक नेता चुनते थे। वे विदेश नीति का भी नियन्त्रण करते थे। 'ललितविस्तर' नामक पुस्तक मे लिखा है कि वैशाली मे प्रत्येक परिवार का नेता अपने को राजा समझता था। यहाँ के निवासी अत्यधिक सचेत थे तथा सदा शिकार करने और हाथी सधाने मे व्यस्त रहते। इसीलिए उनके गणराज्य ने इतनी उन्नति की थी। स्वय भगवान् बुद्ध ने कहा था कि जब तक लिच्छवियो मे फूट न पडेगी उन्हे कोई भी न हरा सकेगा।

मल्ल

इस गणराज्य की दो शाखाएँ थी। एक की राजधानी पावा और दूसरी की कुशीनारा (कसिया) थी। महावीर की मृत्यु पावा मे हुई थी और गौतम बुद्ध की कुशीनारा मे। पावा के मल्लो ने एक नया ससद-भवन बनाया था, जिसका उद्घाटन बुद्ध ने किया था। प्रसिद्ध बौद्ध उपदेशक आनन्द और अनुरुद्ध मल्लो मे से ही थे।

कोलिय

इनका राज्य शाक्य राज्य के पूर्व मे था। शाक्यो और कोलिय लोगो मे रोहिणी नदी के पानी के ऊपर झगडा होता रहता। यह नदी दोनो राज्यो की सीमा पर थी। इनकी राजधानी रामग्राम थी। कोलियो की सेना जबर्दस्ती धन वसूल करने और जनता पर अत्याचार करने के लिए बदनाम थी। इनका शाक्य राजाओ से रक्त-सम्बन्ध था।

भग्ग

यह राज्य मिर्जापुर के निकट था। इनकी राजधानी सुसुमगिरि थी। इनके और वत्स के घनिष्ठ सम्बन्ध थे। अन्त मे भग्गो को वत्सो का आधिपत्य मानना पडा।

मोरिय

इनकी राजधानी पिप्फलिवन थी। चन्द्रगुप्त मौर्य सम्भवत इसी गणराज्य मे से था।

कालाम

इनकी राजधानी सपुत्त थी। बुद्ध के गुरु आलार इसी जाति के थे। इस समय मिथिला (नेपाल की सीमा पर) मे **विदेहों** और वैशाली मे **ज्ञातृक** लोगो के गणराज्य थे। ज्ञातृक गणराज्य के नेता भगवान् महावीर के पिता थे। ज्ञातृको की राजधानी कोल्लाग थी।

प्रारम्भ मे इन सब राज्यो मे पैतृक राजा राज्य करते थे, फिर धीरे-धीरे सबमे गणराज्य स्थापित हो गये। सम्भवत राजाओ के कुशासन और अत्याचार के कारण जनता ने उन्हे गद्दी से उतारकर गणराज्यो की स्थापना की। इन्ही गणराज्यो ने वैदिक धर्म के विरुद्ध आवाज उठाई। जैन और बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक महावीर और बुद्ध इन्ही गणराज्यो मे पैदा हुए और इसी क्षेत्र मे उन्होने अपने स्वतन्त्र विचारो का प्रतिपादन किया। इससे यह बात स्वत सिद्ध हो जाती है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के वातावरण मे ही विचारो की स्वतन्त्रता पनप सकती है।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी	**हिन्दू सभ्यता**, अध्याय ७, अनुवादक—वासुदेवशरण अग्रवाल
राधाकुमुद मुकर्जी	**प्राचीन भारत**, अध्याय ६, अनुवादक—बुद्ध प्रकाश
राजबली पाण्डेय	**प्राचीन भारत**, अध्याय ७
H. C Raychaudhuri	*Polical History of Ancient India*, Chapter 2
K. A Nilakanta Sastri	*Age of the Nandas and Mauryas*, Chapter 1
R C. Majumdar	*The History and Culture of the Indian People, The Age of Imperial Unity*, Chapters 1 & 2.

अध्याय ८

मौर्यकाल से पूर्व भारत की धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक अवस्था

(Religious, Social and Economic Condition of Pre-Mauryan India)

धार्मिक अवस्था (६५० ई० पू० से ३२५ ई० पू०)

सातवी शताब्दी ई० पू० भारत के धार्मिक जीवन मे एक क्रान्ति का युग था। वैदिक-धर्म में कर्मकाण्ड की प्रधानता हो जाने के कारण अब उसमे वह स्वाभाविक आकर्षण न रह गया जो वैदिक काल मे था। वैदिक ज्ञान भी सर्वसाधारण की पहुँच से परे हो गया। मनुष्य को चारो ओर दुःख-ही-दुःख दिखाई देता। ब्राह्मण अब धर्म के ठेकेदार बन बैठे।

उपनिषदो में हम पहले-पहल कर्मकाण्ड के विरुद्ध विचारो की अभिव्यक्ति देखते हैं। वे ज्ञान की प्राप्ति और नैतिक जीवन पर अधिक जोर देते है। किन्तु उपनिषदो की विचारधारा ऊपरी श्रेणियों तक ही सीमित थी। सामान्य जनता के कुछ धार्मिक नेताओ ने त्याग और तप पर बहुत जोर दिया, कुछ ने इस जीवन का आनन्द लेना ही अपना लक्ष्य समझा। पूर्णकस्सप किसी भी कर्म मे पुण्य या पाप मानते ही न थे। अजितकेशकम्बली और गोसाल नियतिवादी थे। पकुधकच्चायन का विश्वास था कि केवल सात ऐसे तत्त्व हैं जो सदा रहते है, मिटाये नही जा सकते। शेष सब अनित्य हैं। संजय बेलुट्ठिपुत्त किसी बात का निश्चयात्मक उत्तर नही देते थे। इसी धार्मिक उथल-पुथल के काल मे कुछ ऐसे धर्मों का जन्म हुआ जिन्होने प्राचीन वैदिक धर्म का रूप ही बदल दिया। इनमे चार प्रमुख हैं—जैन, बौद्ध, वैष्णव और शैव धर्म। इनमे जैन और बौद्ध-धर्म एक प्रकार से वैदिक-धर्म के विरुद्ध थे।

जैन धर्म

जैनो के अनुसार ऋषभ पहले तीर्थंकर थे। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ सम्भवत. ई० पू० आठवी शती मे हुए। वे काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। उनका लालन-पालन बड़े भोग-विलास के वातावरण मे हुआ, किन्तु सत्यज्ञान की खोज के लिए उन्होने ३० वर्ष की अवस्था मे अपना घर छोड़ दिया। ८३ दिन का कठोर तप करने के पश्चात् उन्हे सत्यज्ञान या कैवल्य की प्राप्ति हुई। उन्होने शेष जीवन धर्मोपदेश देने मे व्यतीत किया। उनकी मृत्यु का स्थान आजकल पार्श्वनाथ पहाडी कहलाता है। उनकी मुख्य शिक्षाएँ थी—(१) अहिंसा, (२) [illegible]भाषण, (३) चोरी न करना, और (४) सम्पत्ति का त्याग। पार्श्वनाथ के २५० वर्ष बा[illegible]चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का जन्म हुआ। बर्धमान महावीर के पिता ज्ञातृक कुल के राजा थे। उनकी माता त्रिशला लिच्छवियो के राजा चेटक की बहन थी। ३० वर्ष की अवस्था तक विवाहित जीवन बिताने के पश्चात् महावीर ने घर छोड़ दिया। उन्होने १२ वर्ष कठोर तप किया। ४२ वर्ष की अवस्था मे बर्धमान को सत्यज्ञान की प्राप्ति हुई। वे सुख-दुःख

के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो गए। तब से वे 'जिन' कहलाने लगे और उनके अनुयायी जैन। महावीर ने अपने जीवन के शेष ३० वर्ष धर्मोपदेश देने में बिताए। उनकी मृत्यु ७२ वर्ष की अवस्था मे 'पावा' नामक स्थान पर हुई।

महावीर ने पार्श्वनाथ की शिक्षाओं को अपनाया किन्तु उनमे कुछ परिवर्तन भी किए। उन्होंने पार्श्व की चार शिक्षाओं के साथ ब्रह्मचर्य को भी जोड दिया। चम्पा, कौशाम्बी और अवन्ति के राजा जैन धर्म के साथ सहानुभूति रखते थे। गणराज्यो मे भी महावीर का बहुत मान था। कहा जाता है कि उनकी मृत्यु के बाद ३६ गणराज्यो ने मिलकर दीप-प्रकाश करने की व्यवस्था की।

जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त

जैनो का कर्म सिद्धान्त मे पूर्ण विश्वास है। आत्मा को वे नित्य मानते हैं। उनका विश्वास है कि आत्मा का बन्धन कर्मों के फलस्वरूप है। पूर्वजन्म के कर्मों का नाश और इस जन्म मे उनका न होना ही मोक्षदायक है। कर्मों की रोक सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचार के त्रिरत्नो के साधन से हो सकती है। कर्मों का नाश भगवान् महावीर की पाँचो शिक्षाओ के पालन करने से और रात मे भोजन न करने से, पाँच नियत अभ्यासो के करने और शरीर, मन और वाणी पर सयम रखने से हो सकता है। जैन लोग तप में बहुत विश्वास रखते हैं। वे विनय, नम्रता, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान (चिन्तन) और व्युत्सर्ग (शरीर को निश्चल रखना) पर बहुत जोर देते है। उपवास और योग को क्रियाओ और शरीर के शक्तिरहित होने पर ध्यान मे निरत होकर वे उसके त्याग मे भी विश्वास रखते हैं। उनका विचार है कि तप और सयम से आत्मा को शक्ति मिलती है तथा मनुष्य की निकृष्ट प्रवृत्तियाँ दबी रहती हैं।

जैन वेद की सत्ता और प्रमाण मे विश्वास नही करते। वे यज्ञो को व्यर्थ समझते हैं। उनका विश्वास है कि प्रत्येक वस्तु मे जीव है। वे छोटे-से-छोटे जीव की हिंसा करना महापाप समझते हैं। वे ईश्वर को ससार का स्रष्टा और पालनकर्ता नही मानते। उनके अनुसार ईश्वर उन शक्तियो की उच्चतम, शालीनतम और पूर्णतम अभिव्यक्ति है जो मनुष्य की आत्मा मे निहित है। जैनो का मत है कि ससार दुखमय है। जन्म-मृत्यु के बन्धन से छुटकारा पाकर ही मनुष्य को सुख मिल सकता है।

जैन धर्म का पहले बहुत प्रसार हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे राजाओ ने भी इसको प्रोत्साहन दिया। दक्षिण भारत के अनेक राजा भी जैन धर्मावलम्बी थे।

एक अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे एक बड़ा अकाल पड़ा। उस समय चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु नामक भिक्षु दक्षिण चले गए। मगध मे स्थूलभद्र नामक आचार्य रह गए। उनके अनुयायियो ने वस्त्र पहनने आरम्भ कर दिए और भद्रबाहु के अनुयायी नगे रहते थे। इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ। किन्तु अनेक विद्वानो के अनुसार श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायो की सत्ता चन्द्रगुप्त के समय से प्राचीन है और श्वेताम्बरो का उद्गम सम्भवत पार्श्वनाथ के अनुयायियो से हुआ। पार्श्वनाथ ने अपने अनुयायी भिक्षुओ को दो वस्त्र रखने की अनुमति दी थी। दिगम्बर लोग उन जैन धर्म-ग्रन्थो (१२ अंगो) को भी स्वीकार नही करते जो स्थूलभद्र के नेतृत्व मे पाटलिपुत्र की एक सभा मे निश्चित किए गए थे। इस समय ये १२ अंग भी प्राप्य नहीं हैं। जैनो के धर्मग्रन्थ आजकल इन १२ अगों मे से उन ११ अगो पर आधारित है जो पाँचवी शताब्दी ईसवी मे उपलब्ध थे, जबकि जैन धर्म-

ग्रन्थों को वलभी की बड़ी सभा मे वर्तमान रूप दिया गया। कैवल्य के अधिकार और महावीर के जीवन-वृत्त आदि के विषय मे भी उनमे कुछ मतभेद है।

बौद्ध धर्म

गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्यों के राजा थे। उनकी माता का नाम माया था। उनका जन्म कपिलवस्तु मे लुम्बिनि-वन नामक स्थान में हुआ। इस स्थान पर अशोक ने एक स्तम्भ बनवाया जो अब तक विद्यमान है। राजकुमारों की भाँति सब प्रकार के ऐश्वर्य और भोग-विलास के वातावरण मे उनका पालन-पोषण हुआ। १६ वर्ष की अवस्था मे उनका विवाह और २८ वर्ष की अवस्था मे उनके एक पुत्र हुआ। गौतम ससार मे जन्म, वृद्धावस्था, बीमारी, मृत्यु और शोक देखकर इतने अधिक प्रभावित हुए कि पुत्र-जन्म के पश्चात् ही वे घरबार छोड़कर तपस्वी हो गये। तपस्वी होने के पश्चात् उन्होंने आलार और उद्रक नाम के दो आचार्यों की शिक्षा के अनुसार योगाभ्यास किया परन्तु उन्हे शान्ति न मिली। फिर उन्होंने जैन तपस्वियों की भाँति कठोर तप किया और उनका शरीर सूख कर काटा हो गया। इस समय वे बहुत ही थोड़ा भोजन, दाल या फलों का रस लेते थे। जब उन्हे यह प्रयत्न भी निष्फल जान पड़ा तो वे पूरा भोजन करने लगे। इस बात को देखकर उनके पाँच शिष्य यह समझकर कि गौतम अपने तप से गिर गये है उन्हे छोड़कर चले गये। अन्त में बोध-गया मे एक बोधिवृक्ष के नीचे गौतम को सत्यज्ञान की प्राप्ति हुई। तभी से वे बुद्ध कहलाने लगे।

इसके पश्चात् बुद्ध बनारस आये जहाँ उन्होने उन पाँच शिष्यों को उपदेश दिया जो उन्हे छोड़कर चले आये थे। उनका यह उपदेश, जिसमे उन्होंने जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने का मार्ग बतलाया, 'धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन' कहलाता है। उसके पश्चात् बनारस, राजगृह आदि नगरों मे हजारों व्यक्ति, स्वय बुद्ध का पुत्र राहुल और उनका चचेरा भाई नन्द भी उनके अनुयायी हो गए। अनेक स्त्रियाँ भी बौद्ध सघ मे सम्मिलित हो गई। इस प्रकार राजगृह, कपिलवस्तु, श्रावस्ती और वैशाली बौद्ध-धर्म के मुख्य केन्द्र बन गए। अन्तिम समय तक बुद्ध अनेक स्थानों पर घूमकर अपना उपदेश देते रहे। अन्त मे ८० वर्ष की अवस्था मे कुशीनारा नामक स्थान पर उनकी मृत्यु हुई।[१] उन्होंने मरने से पूर्व अपने प्रिय शिष्य आनन्द को बुलाकर कहा, "आनन्द, तुम स्वय अपने लिए दीपक बनो। अपने मे ही शरण लो। किसी बाहरी आश्रय को मत ढूढो। सत्य की ही शरण लो, किसी दूसरे की शरण न लो। मेरी मृत्यु के पश्चात् सत्य, सघ के नियम और मेरे बनाये हुये नियम तुम्हारे लिए गुरु का कार्य करेंगे।"

बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्त

बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया। ये चार सत्य इस प्रकार है। ससार मे दुख ही दुख है। इस ससार में मनुष्य तृष्णा, इच्छा या वासना के कारण जन्म लेता है। यह जन्म-मृत्यु का बन्धन वासना का अन्त करके समाप्त किया जा सकता है। वासना का

१ गौतम बुद्ध की मृत्यु के विषय मे दो परम्पराएं हैं। लका की परम्परा के अनुसार उनकी मृत्यु ५४४ ई० पू० में हुई और केण्टन की परम्परा के अनुसार ४८६ ई० पू० में। इसलिए उनके जन्म की तिथि के विषय मे निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। तब भी केण्टन की परम्परा को ग्राह्य मानकर ४८६+८०=५६६ ई० पू० उनकी जन्म-तिथि मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

अन्त ठीक मार्ग का अनुसरण करके हो सकता है। यह मार्ग अष्टांगिक मार्ग है—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीवन, (६) सम्यक् व्यायाम (श्रम), (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि। बुद्ध के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना है। निर्वाण वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति को परम शान्ति और सुख की प्राप्ति हो जाती है। वह शोक, वासनाओं, रोग और जन्म-मृत्यु के झंझट से पूर्णतया छूट जाता है। उन्होंने सब सासारिक वस्तुओं की—जिनमे आत्मा भी सम्मिलित है—अनित्यता का प्रतिपादन कर उनके प्रति उदासीनता का उपदेश दिया। उनके प्रति राग ही जन्म-बन्धन का कारण है। किन्तु इस राग को दूर करने के लिए मन के वशीकरण की आवश्यकता है, कठोर तप या वैदिक कर्मकाण्ड की नहीं। उन्होंने कहा—हमे इस झगड़े मे नही पड़ना चाहिए कि परमात्मा है या नही। इससे हमारी प्रगति नहीं हो सकती।

महात्मा बुद्ध केवल धर्म-सुधारक ही नहीं एक समाज-सुधारक भी थे। उनकी शिक्षाएँ गढ़ आध्यात्मिक तत्वो तथा तर्क पर आधारित थी। इसीलिए उन्होंने चरम मार्ग को छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाया। वे कहते थे कि न तो मनुष्य को सुखों में इतना लिप्त होना चाहिए कि वह कर्तव्य को भूल जाए और न शरीर को इतना कष्ट देना चाहिए कि वह स्वस्थ शरीर से अपना कर्तव्य करने योग्य ही न रहे। उन्होंने कर्मफल पर बहुत जोर दिया। बुद्ध ने पूर्व-सचित कर्म को जाति का आधार नहीं माना।

वे जन्म से जाति प्रथा को नहीं मानते थे। उनके अनुसार सच्चा ब्राह्मण वह नहीं जिसने ब्राह्मण कुल मे जन्म लिया हो, अपितु वह है जो सासारिक सुखो मे लिप्त न होकर सदाचार का जीवन बिताता है। उन्होंने बौद्ध-संघ मे सब जातियों के व्यक्तियो को प्रविष्ट किया।

हिन्दू धर्म मे एक व्यक्ति को ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होने का अधिकार था, क्योंकि बिना इसमे प्रविष्ट हुए मनुष्य समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा नही कर सकता। किन्तु बुद्ध ने किसी भी अवस्था मे अपने अनुयायियो को चिन्तन-मनन और भिक्षु का जीवन बिताने की छूट दे दी। इसके साथ ही बुद्ध ने यह नियम बनाया कि बिना माता-पिता की अनुमति के बालक बौद्ध संघ मे प्रविष्ट न हो सकेगे।

बौद्ध धर्म की प्रगति

बुद्ध ने अपने जीवन-काल में अपने अनुयायियो का सघ बनाया। बौद्ध संघ की स्थापना से जन-साधारण मे शिक्षा का प्रचार हुआ। पहले बुद्ध ने स्त्रियों को सघ मे सम्मिलित नहीं होने दिया, किन्तु पीछे से अपने प्रिय शिष्य आनन्द के कहने से उन्हें भी भिक्षुणी बनकर रहने की अनुमति दे दी। समाज मे यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन था। संघ मे जो धर्म-चर्चा होती वह जन-साधारण की भाषा मे होती, न कि सस्कृत मे। इन सब कारणो से बुद्ध के जीवन मे ही बौद्ध-धर्म की बहुत प्रगति हुई।

सघ का सगठन भी लोकतान्त्रिक सिद्धान्तो पर किया गया था। सघ के अधिवेशन हर पन्द्रहवें दिन होते थे और उनमे प्रत्येक व्यक्ति अपने अपराधो को स्वीकार करता था। सघ के सदस्य ही प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपराध के अनुसार दण्ड देते थे। उसमें किसी के उच्च या नीच जाति में उत्पन्न होने के कारण दण्ड को कम या अधिक नहीं किया जाता था।

इस प्रकार बुद्ध के उपदेशों का समाज के सभी वर्गों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उन्होंने

अन्धविश्वास को छोडकर तर्क पर आधारित सदाचार का मार्ग ग्रहण किया। हिन्दू समाज में जो बुराइयाँ आ गई थीं उनमे से बहुतो का परिष्कार बुद्ध के उपदेशो के द्वारा हुआ। इसीलिए हम उन्हे एक समाज-सुधारक भी मानते हैं।

बुद्ध की मृत्यु के थोडे दिन बाद उनके अनुयाइयों ने राजगृह मे एक सभा की जिसमे बुद्ध के उपदेशों का सग्रह किया गया। लगभग २०० वर्ष पीछे बौद्ध धार्मिक साहित्य वर्तमान रूप में स्थिर हुआ। बौद्ध धर्म के प्रमुख ग्रन्थ 'त्रिपिटक' हैं। 'विनयपिटक' मे भिक्षुओं और सघ के नियमो तथा 'सुत्तपिटक' मे बुद्ध के उपदेशो का सग्रह है। 'अभिधम्मपिटक' मे बौद्ध-धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन है।

बुद्ध की मृत्यु के लगभग १०० वर्ष पश्चात् वैशाली और दूसरे स्थानो के भिक्षुओं मे कुछ बातो पर मतभेद हो गया। इसलिए एक दूसरी सभा बुलाई गई जिसमे उत्तर भारत के बहुत से बौद्ध-भिक्षु सम्मिलित हुए। इसमे सब भिक्षु एकमत न हो सके, इसलिए बौद्ध-धर्म की कई शाखाएँ हो गईं।

यह समझना एक भूल होगी कि जैन और बौद्ध धर्म सर्वथा वैदिक धर्म के विपरीत थे। यह सत्य है कि उन्होने वेदो को प्रमाण नहीं माना और कर्मकाण्ड का विरोध किया। यह दोनो वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध थे तथा ईश्वर के अस्तित्व को नही मानते थे। वैदिक यज्ञो मे पशुओ का बलिदान होता था जबकि इन दोनो धर्मों ने अहिंसा पर जोर दिया। दोनो ने ही जनसाधारण की भाषा मे उपदेश दिया तथा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो को अपनाया। किन्तु दोनों ने उपनिषदो की तरह सदाचार पर भी बल दिया। आर्य सत्यो का प्रतिपादन भी अधिकाश में बुद्ध से पूर्व हो चुका था।

यद्यपि बौद्ध और जैन धर्म कई बातो मे समान है, किन्तु दोनो मे कुछ विषमताएँ भी है। जैन, प्रत्येक वस्तु मे जीव है, ऐसा मानते है। बौद्ध अनात्मवादी हैं। जैन शरीर की यातना को बहुत महत्त्व देते हैं। बौद्ध मध्यम-मार्ग का अनुसरण करते हैं। वे अत्यधिक शारीरिक कष्ट और भोग-विलास दोनो के विरुद्ध है। जैन नगे रहते है, बौद्ध ऐसा करने के विरुद्ध हैं। बौद्ध भी अहिंसा के पक्षपाती है, किन्तु जैनो ने इस सिद्धान्त को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। बौद्धो ने वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण विरोध किया जबकि जैन लोग उससे पूर्णतया अलग न हुए। इसी कारण भारत मे बौद्ध-धर्म का अब इतना महत्त्व नही है जितना जैन धर्म का। परन्तु जैन धर्म भारत तक ही सीमित रहा जबकि बौद्ध धर्म ससार भर मे फैल गया।

वैष्णव धर्म

बौद्ध और जैन धर्मों ने ईश्वर के अस्तित्व को नही माना, किन्तु वैष्णव धर्म इनके सर्वथा विपरीत था। इस धर्म के अनुयाइयो का विश्वास था कि विष्णु की कृपा से ही मुक्ति मिल सकती है। विष्णु का कृपा-भाजन होने का मार्ग भक्ति है। जो व्यक्ति प्रेम और भक्ति मे लीन होकर अपने को पूर्णतया विष्णु को अर्पण कर देता है वही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। वैष्णव धर्म का प्रचार भी प्राय: उसी समय मथुरा के आसपास के प्रदेश मे हुआ जब बौद्ध और जैन धर्म मगध मे फैले।

यादवो की सात्वत नाम की एक शाखा थी जिसका विश्वास था कि वदिक साहित्य या कर्मकाण्ड का इतना महत्त्व नही है जितना विष्णु को अनन्य भक्ति द्वारा पूजने का। उन्होने यज्ञों के लिए पशु-हिंसा करना छोड़ दिया। उसी वंश के वासुदेव श्रीकृष्ण ने वैष्णव धर्म का

उपदेश भगवद्‌गीता में दिया। दान, पवित्रता, अहिंसा, सत्य और तप पर जोर देते हुए उन्होंने यज्ञों को नया अर्थ दिया। श्रीकृष्ण के अनुसार एक व्यक्ति समाज में रह कर अपना कर्तव्य पूरा करके भी अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए सन्यासी होना आवश्यक नहीं है। कृष्ण की शिक्षाओं की दूसरी विशेषता यह है कि वे आस्तिकता पर आधारित हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभावानुसार सरलता से उन पर आचरण कर अपनी मुक्ति का मार्ग खोज सकता है।

वैष्णव धर्म का मुख्य केन्द्र मथुरा था। यह बात मेगस्थनीज़ के वर्णन से भी ज्ञात होती है। दूसरी शती ई० पू० से पहले ही वैष्णव धर्म महाराष्ट्र, राजपूताना और मध्यभारत में फैल चुका था। महाभारत मे वासुदेव कृष्ण विष्णु और नारायण के अवतार-रूप मे हैं। इस प्रकार वैष्णव धर्म अब प्राचीन वैदिक धर्म के अभिन्न अंग के रूप मे है।

शैव धर्म

रुद्र के स्वरूप मे अनेक परिवर्तन हुए है। ऋग्वेद में उसकी रौद्रता पर तो यजुर्वेद मे उसके शिवत्व पर अधिक बल है। शिव की लिंग के रूप मे भी पूजा की जाने लगी। कुछ विद्वानो का मत है कि आर्यों ने लिंग-पूजा सिन्धु घाटी के निवासियो से सीखी। अथर्ववेद मे हम शिव के दोनो स्वरूपो का सुन्दर समन्वय पाते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो रुद्र को निराकार ब्रह्म कहा गया है जिसे श्रद्धा, प्रेम और पवित्र हृदय से प्राप्त किया जा सकता है। दूसरी शताब्दी ई० पू० तक शैवो की भी कई शाखाएँ हो गई थीं।

इस काल मे यद्यपि बौद्ध और जैन धर्मों का पर्याप्त प्रचार हुआ, उत्तर-पश्चिम भारत मे अब भी ब्राह्मण धर्म का पूरा ज़ोर था। सिकन्दर के अनुयायी यूनानी इतिहासकारो ने मन्दनिस (Mandanis) और कलानस (Kalanos) जैसे ब्राह्मण संन्यासियो की बहुत प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त बहुत-से श्रमण जगलो मे रहते, कन्द-मूल-फल खाते और वृक्षो की छाल पहनते थे। भारतीय सम्भवत. इन्द्र और बलराम की भी पूजा करते थे। गगा नदी और कुछ वृक्षो का भी पूजन होता था।

चार्वाक

इसी समय बौद्ध और जैन धर्म के अतिरिक्त कुछ अन्य नास्तिक सम्प्रदायो की स्थापना हुई। इसका मुख्य कारण यह था कि इस क्रान्ति के युग मे भारत में प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार प्रकट करने की पूरी छूट थी। ये व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व, आत्मा की नित्यता और पुनर्जन्म मे विश्वास नही करते थे। इनमे एक प्रसिद्ध सम्प्रदाय चार्वाक के अनुयायियो का था।

चार्वाक का जन्म कब हुआ यह हमे ज्ञात नही किन्तु उसकी शिक्षाएँ आंशिक रूप से कुछ ग्रन्थो मे मिलती हैं। चार्वाक के अनुसार वेदो की रचना धोखेबाज, झूठे और मांसभक्षी व्यक्तियो ने की और उनकी भाषा अण्डबण्ड है। वह ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता था और मृत्यु के उपरान्त मनुष्य के पुनर्जन्म मे उसकी आस्था न थी। वह यज्ञो को व्यर्थ समझता था और वेदों को प्रमाण नहीं मानता था।

वह प्रत्यक्ष को ही यथार्थ ज्ञान के लिए प्रमाण मानता था। उसका विश्वास था कि अनुमान भी यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं है क्योंकि अनुमान ठीक भी हो सकता है और गलत भी। उसके अनुसार जिस वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता उसका कोई अस्तित्व ही नहीं

है। ऐसी बात कोई बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं मान सकता। यह सिद्धान्त कितना गलत है यह बात निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी। जब चार्वाक किसी कार्यवश अपने घर से बाहर जाता तो उस समय उसकी पत्नी उसे नही देख सकती थी। क्या उस समय उसकी पत्नी विधवा हो जाती थी और उसके लिए शोक करने लगती थी? अत यह स्पष्ट है कि जो वस्तुएँ इन्द्रियों से न जानी जा सके उनका भी ज्ञान हमे होता है और उनका अस्तित्व हमे मानना पड़ता है जैसे कि चार्वाक के अस्तित्व को उसकी पत्नी मानती थी।

चार्वाक की सभी शिक्षाएँ भौतिकवाद पर आधारित थी। उसके अनुसार ससार मे चार भूत थे जिनके अपने अलग-अलग गुण थे। इस प्रकार वह यथार्थवादी और अनेकवादी था। इन भूतो से उसका अभिप्राय उन तत्त्वो से था जिन्हें हम इन्द्रियों से जान सकते हैं। हिन्दू पाँचतत्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश मानते हैं। चार्वाक आकाश के अस्तित्व को नहीं मानता था क्योंकि उसका अस्तित्व अनुमान पर आधारित है।

चार्वाक के अनुसार भावना या अनुभूति शरीर का लक्षण है। शरीर उसकी अभिव्यक्ति करता है। सुख-दुःख को शरीर का गुण इसलिए समझना चाहिए क्योंकि उनके अनुसार शरीर की दशा मे परिवर्तन होता है।

चार्वाक आत्मा के अस्तित्व को नही मानता था। उसकी अलौकिक या लोकोत्तर जीवन मे बिल्कुल आस्था न थी। इसीलिए यह धर्म या दर्शन मे भी विश्वास नही करता था। उसका जगत् का नियन्त्रण करने वाले ईश्वर या अन्त करण मे मनुष्य का सब कार्यों मे पथ-प्रदर्शन करने वाली शक्ति पर विश्वास न था। वह मृत्यु के उपरान्त के जीवन को नही मानता था। इस प्रकार चार्वाक की शिक्षाओ मे मनुष्य का क्रिया-कलाप इन्द्रियभोग्य जगत् तक ही सीमित था। इसमे उस महत्त्वपूर्ण सत्य की अनुभूति के लिए कोई स्थान न था जिसको आदर्श मानकर मनुष्य अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। जीवन मे सासारिक सुख प्राप्त करना ही चार्वाक के अनुसार जीवन का लक्ष्य था।

हिन्दूधर्म मे मनुष्य के लिए चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विधान है। चार्वाक इन चारो मे से धर्म और मोक्ष को नही मानता था। उसके अनुसार मनुष्य को सारे प्रयत्न इन्द्रियजन्य सुख की प्राप्ति के लिए करने चाहिए और उसी के लिए धन आदि साधनो को जुटाने का प्रयत्न करना चाहिए। उसके अनुसार किसी मनुष्य की मृत्यु होते ही उसका जीवन समाप्त हो जाता है। किन्तु चार्वाक की शिक्षाओ पर आचरण करने से मनुष्य और पशु के जीवन मे कोई अन्तर नही रहता। मनुष्य केवल इन्द्रियजन्य सुख की प्राप्ति ही इस जीवन मे नहीं चाहता वह जीवन के कुछ उच्च आदर्श अपने सामने रखना चाहता है। इसीलिए उसके सिद्धान्तो को बहुत लोगो ने भारत मे नही अपनाया।

भारत में धार्मिक विषयो मे सब मनुष्यो को अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता थी ऐसा चार्वाक जैसे भौतिकवादियो की विचारधारा से स्पष्ट हो जाता है।

आजीविक

इस नास्तिक सम्प्रदाय की स्थापना सम्भवत नन्दवच्छ ने की थी। उसके पश्चात् इस सम्प्रदाय का अध्यक्ष किससकिच्छ हुआ। उसके बाद तीसरे धर्माध्यक्ष गोसाल के समय मे यह सम्प्रदाय बहुत शक्तिशाली हो गया। इस समय इसके अनुयायी पश्चिम मे अवन्ति से लेकर पूर्व में अंग तक फैले हुए थे। यद्यपि बौद्धों और जैनो ने इस सम्प्रदाय की कटु आलोचना की

तथापि उन्होंने इस सम्प्रदाय के बहुत से सिद्धान्तों और आचारों का अपने सम्प्रदायों में समावेश कर लिया। आजीविकों को अशोक और उसके पोते दशरथ दोनों का संरक्षण प्राप्त हुआ। उन दोनों ने आजीविकों के लिए गुफाएँ बनवाईं। १५० ई० पू० मे पतञ्जलि द्वारा 'महाभाष्य' में और पहली शती ईसवी में 'मिलिन्दपन्ह' मे आजीविको का उल्लेख किया गया है। गोसाल का मत था कि यदि मनुष्य कर्म न भी करे तो भी भाग्यवश बहुत से कार्य स्वयं पूरे हो जाते हैं क्योंकि प्रकृति में स्वयं हर समय स्वाभाविक और आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया कार्य करती रहती है। क्रियावादियो का विश्वास था कि जन्म-मरण का बन्धन मनुष्य के लिए एक अभिशाप है। उनके अनुसार समाज मे पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए सदा नैतिक कार्य करना मनुष्य का अनिवार्य कर्त्तव्य है। वैदिक धर्म के अनुयायी आजीविकों का आदर नहीं करते थे। इसीलिए कौटिल्य ने लिखा है कि आजीविकों को यज्ञ तथा श्राद्धों में निमन्त्रित नहीं करना चाहिए।

आजीविकों की कोई धर्म पुस्तक उपलब्ध नहीं है किन्तु इस सम्प्रदाय के कुछ उद्धरण बौद्ध और जैन साहित्य मे मिलते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी घोर तप और एकान्तवास मे विश्वास करते थे और भोग-विलास के विरुद्ध थे। इस कारण इसके अनुयाइयो की सख्या धीरे-धीरे कम होती चली गई। किन्तु छठी शती ईसवी मे वराहमिहिर और सातवीं शती ईसवी मे वाण ने हर्षचरित मे आजीविको का उल्लेख किया है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी एक-दण्डी भी कहलाते थे क्योंकि वे हाथ मे एक लाठी रखते थे। चौदहवीं शती में यह सम्प्रदाय सम्भवत वैष्णव सम्प्रदाय मे मिल गया और इसका अलग अस्तित्व समाप्त हो गया।

सामाजिक दशा

इस काल से पूर्व ही धर्मशास्त्रो ने प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्य तथा विशेषाधिकार निर्धारित कर दिए थे। इनके अनुसार स्वधर्मपालन से उच्च वश मे जन्म होता है और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है। अपने वर्ण के कर्त्तव्यो का पालन न करने से मनुष्य अधोगति को प्राप्त होता है। राजा को धर्म की रक्षा करने वाला माना जाता था। उसका यह कर्त्तव्य था कि वह देखे कि सब व्यक्ति अपने कर्त्तव्यो का पालन कर रहे है। बौद्धो ने जन्म से जाति को कभी नही माना। उन्होने यह मत प्रकट किया कि समाज मे व्यक्ति का स्थान उसके गुणो के आधार पर निर्धारित होना चाहिए न कि जन्म के आधार पर। संघ मे प्रवेश करने पर हर व्यक्ति को अपना कुल त्याग कर केवल बुद्ध का अनुयायी बनना पडता था। परन्तु बौद्ध लोग जाति सम्बन्धी विचारों को पूर्णतया समाप्त करने मे समर्थ नही हुए।

बौद्ध धर्मग्रन्थो से ज्ञात होता है कि समाज मे चार जातियाँ—क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र थी। परन्तु जहाँ सूत्रग्रन्थ जातिप्रथा को पूर्ण मान्यता देते हैं तत्कालीन बौद्ध-साहित्य मे[1] इस प्रथा को इतना महत्त्व नही दिया गया है। स्वय भगवान् बुद्ध सब जातियो को बराबर मानते थे। परन्तु बौद्धो में भी उच्च और नीच की भावना विद्यमान थी। बुद्ध ने पाँच प्रकार के ब्राह्मणों का वर्णन किया है। 'ब्रह्म-सम' जो ब्रह्म मे ही लीन रहते थे। 'देवसम' जिनका चरित्र देवताओ के समान पवित्र था। 'मरियाद' जो ब्राह्मण जाति के नियमों का पालन करते। 'सभिन्न मरियाद' जो जाति के नियमों का पालन नहीं करते। पाँचवे वे जो चण्डालों के समान जीवन बिताते थे।

१. अम्बट्ठ सुत्त (दीघ निकाय) अस्सलायनसुत्त (मज्झिम निकाय)।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्राह्मणो मे कुछ सच्चरित्र भी थे परन्तु उनमें कुछ की दशा बहुत हीन थी। सच्चरित्र ब्राह्मण तीन वेद और अठारह विद्याओ का अध्ययन करते थे। वे नियम से ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमो के नियमो का पालन करके तीसरे आश्रम में वन मे रहते और चौथे आश्रम से सब कुछ छोडकर ईश्वर चिन्तन मे ही अपना जीवन बिताते थे। वे अपने शील और विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। ऐसे ब्राह्मणो का वर्णन ही सिकन्दर के साथ जो यूनानी विद्वान् भारत आए थे उन्होने किया है। पुरोहित तथा गुरु के रूप मे उनका सर्वत्र आदर किया जाता था। कुछ ब्राह्मण सरकारी नौकरी करते और कुछ आश्रमों मे तप करते। बौद्ध-ग्रन्थों मे क्षत्रियो को ब्राह्मणो से श्रेष्ठ कहा गया है। वे ब्राह्मणो की श्रेष्ठता को नही मानते थे।

इसका कारण यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मणो की दशा पहले की अपेक्षा अब हीन हो गई थी और क्षत्रियो की उच्च बौद्धिक और राजनीतिक शक्ति के कारण समाज मे उनका बहुत आदर था। इस वर्ग मे राजा, बडे सामन्त, उच्च राजकीय पदाधिकारी तथा सैनिक सभी शामिल थे। जातक कथाओ से ज्ञात होता है कि क्षत्रियो मे भी कुछ अन्य व्यवसायो मे लगे थे। उनमे से कुछ कुम्हार, माली, रसोइये आदि का काम करते थे और कुछ व्यापार।

बौद्ध ग्रन्थो मे वैश्यो के लिए अधिकतर 'गृहपति' शब्द का प्रयोग किया गया है। गृहपति वर्ण के लोग ही कोषाध्यक्ष होते थे। समस्त उद्योगो और व्यापार मे उनका पूर्ण प्रभुत्व था। 'गृहपतियो' का प्रतिनिधि 'सेट्ठी' कहलाता था। पर्याप्त धन होने के कारण कुछ गृहपति अपने बालको को उच्च वर्ण के बालको के साथ शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजते थे। जिन गृहपतियो की सम्पत्ति नष्ट हो जाती थी वे जीवन निर्वाह के लिए दूसरो की नौकरी करके या साग-सब्जी बेचकर अपना निर्वाह करते थे।

बौद्ध साहित्य मे शूद्र वर्ण के अस्तित्व का स्पष्ट रूप से उल्लेख नही है। किन्तु जातको के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनको समाज मे बहुत नीच समझा जाता था। यदि उनमे से कोई बैठने, बातचीत करने तथा चलने मे उच्च वर्ण के लोगो की बराबरी करे तो कठोर दण्ड दिया जाता था। शूद्र को वेद पढने तथा यज्ञ करने का अधिकार भी न था।

इन चार वर्णों के अतिरिक्त इस काल मे अनेक नई जातियाँ बन गई थी। धर्मशास्त्रो मे इनकी उत्पत्ति अन्तर्जातीय विवाहो से बतलाई गई है। किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि इन जातियो की उत्पत्ति अनेक कारणो से हुई। उदाहरणस्वरूप एक प्रजाति (नस्ल) के लोगो या एक व्यवसाय करने वाले लोगो का अपने-अपने वर्ग अलग बना लेना। कुछ अछूत जातियो को हीन कहा गया है। इनमे पाँच प्रमुख थी —चण्डाल, वेण, निषाद, रथकार और पुक्कुस। ये हीन जातियाँ समाज के चार वर्गों से बाहर समझी जाती थी।

ब्राह्मण व बौद्ध ग्रन्थो से पता लगता है कि साधारणतया अपनी जाति मे ही विवाह करने का नियम था। उच्च वर्ण के लोग, विशेषकर ब्राह्मण, शूद्रो के हाथ का भोजन नही करते थे। शूद्र द्वारा लाया पानी भी दूषित समझा जाता था।

ब्राह्मण ग्रन्थो मे चारों आश्रमो—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास का वर्णन मिलता है किन्तु तत्कालीन कथा साहित्य से ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवहार मे साधारणतया ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रमो का ही अनुसरण किया जाता था। इनमे भी गृहस्थ आश्रम को बहुत महत्त्व दिया जाता था क्योंकि इस आश्रम मे रह कर ही मनुष्य समाज के प्रति अपने सब कर्तव्यों को पूरा कर सकता था। बौद्ध ग्रन्थो मे बाल-विवाह का कोई उदाहरण नही मिलता।

जो मनुष्य युद्ध में बन्दी होते, वे दास बना लिए जाते। कभी-कभी मृत्युदण्ड को आजन्म दासता मे बदल दिया जाता। ऋण न चुकाने पर भी दास बना लिया जाता। स्वामी दास को पीट सकता, जेलखाने में डाल सकता और कम भोजन भी दे सकता था। ये दास प्रायः घरेलू कार्यों में लगाए जाते थे। वे खेतों में भी काम करते थे। उद्योगों मे दासो का कोई महत्त्व न था। साधारणतया उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था।

स्त्रियों की दशा अब वैदिक काल के समान अच्छी न थी। मनुष्यो को उनकी सच्चरित्रता पर पूरा विश्वास न था। इसी कारण गौतम बुद्ध ने पहले उन्हें भिक्षुणी बनने की आज्ञा नही दी थी। भिक्षुणियो को संघ के अन्दर भिक्षुओं का आदर करना पड़ता था। उनका स्थान सघ में भिक्षुओं से नीचा था। साधारणतया स्त्रियाँ घर के अन्दर ही रहतीं। वे घर के सब काम-काज मे कुशल होती और उनमे से अधिकतर सगीत जानती थीं। साधारणतया माता-पिता ही उनके लिए वर ढूंढते थे।

परन्तु यूनानी लेखकों ने जिन स्त्रियो का वर्णन किया है वे इतनी असहाय न थीं। वे हारे हुए कुटुम्बियों के हथियार उठाकर युद्ध मे लड़तीं। बौद्ध ग्रन्थो में भी ऐसी स्त्रियों का वर्णन है जो बहुत शिक्षित थी। उनकी रचनाएँ थेरी गाथा मे संकलित हैं।

इस काल मे समाज मे योग्य गणिकाओं का बहुत आदर किया जाता था। गौतम बुद्ध ने स्वयं आम्रपाली नाम की गणिका का निमन्त्रण स्वीकार किया और दान मे उससे एक बड़ा उद्यान प्राप्त किया था।

आर्थिक दशा

इस समय एक परिवार के मनुष्य एक मकान मे रहते और अनेक मकानों से मिलकर गाँव बनता। कुछ गाँवों मे तीस-चालीस परिवार ही रहते और कुछ मे एक हजार तक। बहुत से गाँवो के चारो ओर दीवार होती जिसमे फाटक लगे होते। गाँव के बाहर खेत और खेतों से परे चरागाह होते जिनमे ग्वाले पशुओं को चराते। इससे परे जगल होते।

राजा उपज का $\frac{1}{6}$ से $\frac{1}{12}$ तक भाग कर के रूप मे 'ग्राम भोजक' (गाँव के मुखिया) द्वारा लेता था। ग्रामवृद्ध ग्राम भोजक की सहायता करते। वे गाँव की सम्पत्ति की बिक्री, गाँव में शान्ति व सुव्यवस्था रखना, सड़क और धर्मशाला बनवाना, सिंचाई के लिए बरहे बनवाना, पानी के लिए तालाब खुदवाना और अनेक जन-कल्याण के कार्य कराते।

खेती के अतिरिक्त जातको मे अठारह शिल्पो का वर्णन आता है। गाँव मे बढ़ई, लुहार, चमार, सगतराश, हाथी दाँत का काम करने वाले, जुलाहे, हलवाई, सराफ, कुम्हार और चितेरे पाए जाते। बहुधा एक शिल्प वालो का अपना अलग गाँव होता, जैसे कुम्हारों, बढ़इयो और लुहारो के अलग-अलग गाँव होते थे।

इस काल मे उद्योगो और व्यापार का बहुत विकास होने के कारण नगरों की बहुत उन्नति हुई। बौद्ध ग्रन्थो मे चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी, वैशाली, मिथिला और अयोध्या जैसे समृद्ध नगरो का वर्णन मिलता है। ये नगर व्यापार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण राजमार्गों पर स्थित थे। इन शहरों मे एक-एक शिल्प का अलग-अलग मोहल्ला होता, जैसे हाथीदाँत का काम करने वालो की गली, रगरेजो की गली, जुलाहों का थान और वैश्यो की गली। अधिकतर शिल्पकार अपने बाप-दादो से शिल्प सीखते। परन्तु जाति के लोग व्यापार, धनुष चलाना, बढ़ईगीरी आदि व्यवसाय भी करते, क्षत्रिय खेती भी करते परन्तु अपनी जाति

के व्यवसाय को करना अच्छा समझा जाता। शिकारी, मछेरे, कसाई, चमार, सँपेरे. नट, गायक, नर्तक आदि का समाज मे हाथ दांत का काम करने वालो, जुलाहा, ठठेरों, कुम्हारों, मालियों, नाइयो और अन्य शिल्पकारो से कम सम्मान प्राप्त होता था।

शिल्पकारों ने अपनी अलग-अलग श्रेणियाँ बना ली थी। प्रत्येक श्रेणी का अध्यक्ष 'प्रमुख' कहलाता। व्यापारियो के अध्यक्ष को 'सेट्ठि' कहते थे। बुद्ध के समय मे अनाथपिण्डक एक महासेट्ठि था जिसके नीचे ५०० अनुसेट्ठि थे। किसानो के प्रतिनिधि को 'भोजक' कहते।

व्यापार (मौर्यकाल से पूर्व)

जातकों से पता चलता है कि बहुत-से व्यक्ति हिस्सेदार बनकर भी उद्योग-धन्धे व व्यापार चलाते थे। व्यापारी मिलकर किराये पर बडा जहाज ले लेते और अपने लाभ को अन्त मे बराबर-बराबर बाँट लेते। अधिकतर व्यापारी अपना एक नेता चुन लेते जिसे 'सार्थवाह' कहते थे। वह मार्ग मे रुकने, मार्ग दिखाने और पानी आदि की व्यवस्था करता। देश के अन्दर व्यापार अधिकतर गाडियो द्वारा होता। कुछ प्रसिद्ध मार्ग थे, जैसे श्रावस्ती से राजगृह, श्रावस्ती से गधार और श्रावस्ती से प्रतिष्ठान। सिन्ध को भी व्यापारियो के काफिले जाते थे। कुछ व्यापारी थल के रास्ते से मध्य और पश्चिम एशिया तक भी जाते थे। नदियों और समुद्र के द्वारा भी व्यापार होता था। पाटलिपुत्र से नावे चम्पा और वहाँ से लका पहुँचती थी। चम्पा से पूर्वी द्वीप समूह और बर्मा को भी व्यापारी जाते। भडौंच के भी व्यापारी पूर्वी देशो को जाते। दो अन्य मुख्य बन्दरगाह बगाल मे ताम्रलिप्ति और सिन्ध नदी के मुहाने पर पट्टल नगर थे। इनसे सुन्दर महीन कपडे, हाथीदाँत की वस्तुएँ, सुगन्धित पदार्थ तथा मसाले आदि पूर्व मे सुवर्णभूमि, बर्मा और दक्षिण पूर्वी एशिया तथा पश्चिम मे बेबिलोन को भेजे जाते थे।

श्रावस्ती और बनारस जैसे बडे नगरो मे खाने की वस्तुएँ, जैसे माँस-मछली, शाक-फल शहर के बाहर बिकती थी। शहर के अन्दर कपडा, तेल, अनाज, शाक-फल, इत्र, फूल, सोने की वस्तुएँ और शराब बिकती थी। वस्तुओ के मूल्य नियत न थे। दुकानदार मूल्य कमती-बढती भी करते। सट्टा भी होता था। व्यापार मे सिक्कों का भी प्रयोग होता। सोने के सिक्के 'निष्क' और 'सुवर्ण' कहलाते थे। चाँदी के सिक्का को 'कार्षापण' और काँसे एव ताँबे के सिक्को को काँस, पाद, मासक और कौडियो को काकणिका कहते थे। सबसे अधिक प्रयोग मे आने वाला सिक्का कार्षापण था जिसकी तोल १४६ ग्रेन होती थी। मुद्रा अर्थव्यवस्था के विकास के कारण भी व्यापार की बहुत उन्नति हुई। व्यापारियों ने बडी धनराशि इकट्ठी की। समृद्ध व्यापारी सेट्ठी कहलाते थे। ऐसे व्यापारियो का राजसभा मे बहुत आदर होता था।

यूनानी इतिहासकारो के वर्णन से पता चलता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत के लोग भी समृद्ध थे। उन्होने सिकन्दर को सूती कपड़े के थान, कछुए और बैल की खाल तथा सोने-चाँदी के सिक्के दिये। बहुतो ने बैल और भेडे दी। नाव और गाडी बनाना भी मुख्य काम थे, क्योकि इनके बिना व्यापार नही हो सकता था। इस भाग मे अनेक बडे-बडे नगर थे, जिनमे शत्रु से रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध था।

खाद्य तथा पेय

उत्तर पूर्वी भारत मे चावल आमतौर पर खाया जाता था। बौद्ध ग्रन्थो मे अनेक प्रकार

के चावलों का वर्णन मिलता है जैसे शालि, व्रीहि आदि। शालि अच्छे प्रकार का चावल था जिसका प्रयोग अधिकतर धनी लोग करते थे। उबाला हुआ चावल 'ओदन' कहलाता। इसे दाल या सब्जी के साथ खाया जाता था। खीर भी बहुत प्रिय भोजन था। गेहूँ की रोटी का भी वर्णन जातको मे मिलता है। शाको मे लौकी, कद्दू, बैंगन व सरसों का साग आदि तथा फलों मे आम, सेब, खजूर आदि खाये जाते थे। बहुत से लोग माँसाहारी थे। पर्वों के अवसर पर पशुओ की बलि दी जाती थी। वेदो के पढ़ने वाले विद्यार्थी माँस नही खाते थे। बौद्ध ग्रन्थो में माँस के बाजारों का कई स्थानों पर उल्लेख है इससे स्पष्ट है कि बहुत से लोग माँस खाते थे।

गरीब लोग सत्तू, बासी रोटी, तले हुए सेम के बीज खाकर और खट्टा माड पीकर ही पेट भरते थे। अमीर लोग बहुत से स्वादिष्ट माँस, भोजन तथा पकवान खाते थे।

बहुत से लोग शराब पीते तथा उत्सवो के समय अतिथियों को भी खूब शराब पिलाते थे। परन्तु ब्राह्मण तथा बौद्ध संन्यासी अधिकतर शराब से परहेज करते थे। अनेक प्रकार की शराबो जैसे कि मैरेय, वारुणी, मधूक, प्रसन्ना तथा सीधु आदि का वर्णन जातको में मिलता है। परन्तु मनुष्य शराब पीने के बुरे प्रभावो से भली-भाँति परिचित थे और बौद्ध तथा जैन भिक्षुओ के लिए शराब पीना निषिद्ध था। केवल औषधि के रूप मे वे इसका प्रयोग कर सकते थे।

इस काल मे पके आम, जामुन, केले, अगूर, फालसा और नारियल के रस अनेक प्रकार के शर्बत बनाए जाते थे। बुद्ध के अनुयायी शाम को भोजन के स्थान पर अधिकतर इसी प्रकार के शर्बत पीते थे।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी	**हिन्दू सभ्यता**, अध्याय ७ अनुवादक—वासुदेवशरण अग्रवाल
राधाकुमुद मुकर्जी	**प्राचीन भारत**, अध्याय ६ अनुवादक—बुद्धप्रकाश
राजबली पाण्डेय	**प्राचीन भारत**, अध्याय ९
R. C. Majumdar	*The Age of Imperial Unity*, Chapters 19, 21 & 23.
K. A. Nilakanta Sastri	*Age of the Nandas and Mauryas*, Chapter 3.

अध्याय ६

विदेशियों के आक्रमण

(Foreign Invasions)

वेद, अवस्ता और शिलालेखादि से हमे ज्ञात है कि भारत और ईरान के सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन थे। ई० पू० छठी शती मे उत्तर-पश्चिमी भारत मे राजनीतिक एकता का सर्वथा अभाव था। भारत के इस भाग मे अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थित थे जिनमे सदा झगडे होते रहते। ईरान में इस समय हखमनी राजकुल के राजा राज्य कर रहे थे। वे बडे महत्त्वाकांक्षी थे। उन्होंने भारत की इस राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठाने का निश्चय किया।

हखमनी साम्राज्य के संस्थापक कुरुष (Cyrus) ने ईरान मे ५५८ ई० पू० तक राज्य किया। उसने सिन्धु नदी के पश्चिम मे सारी काबुल नदी की घाटी पर अधिकार कर लिया।[1] परन्तु सिन्ध मे उसकी हार हुई और वह अपने सात साथियो सहित जान बचाकर भागा।[2] परन्तु दूसरी बार उसने कापिश नगरी को नष्ट किया[3] और अश्वकों और पक्थो से कर वसूल करके[4] उन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। नियार्कस के अनुसार कुरुष ने भारत पर कोई आक्रमण नही किया। इसका कारण यह था कि इस समय काबुल तक सारा प्रदेश भारत का भाग समझा जाता था। किन्तु यूनानी लेखक सिन्धु नदी को ही भारत की सीमा समझते थे।

कुरुष के उत्तराधिकारी प्रथम कम्बुज (Cambyses), कुरुष द्वितीय (Cyrus II) और द्वितीय कम्बुज मिस्र आदि की विजय मे उलझे रहे और उन्हे पूर्व के प्रदेशो को विजय करने का अवकाश ही न मिला। उनका उत्तराधिकारी दारा प्रथम (Darius) था, जिसने ५२२-४८६ ई० पू० तक राज्य किया। बेहिस्तून अभिलेख (५२०-५१८ ई० पू०) मे सिन्धु घाटी के निवासी उसका आधिपत्य मानने वाली प्रजा मे सम्मिलित नही किए गए है। किन्तु पर्सिपोलिस अभिलेख में हिन्दुओ को उसकी प्रजा कहा गया है। इसका अर्थ यही है कि दारा प्रथम ने ५१५ ई० पू० के लगभग इस भाग को जीतकर अपने राज्य मे मिलाया। हिरोडोटस (Herodotus) के अनुसार यह भाग ईरानी साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त था और यहाँ के लोग कुल ईरानी साम्राज्य की एक-तिहाई आय के बराबर सोना कर-रूप मे ईरानी सम्राट् को देते थे। हिरोडोटस ने यह भी लिखा है कि दारा प्रथम ने स्काइलैक्स (Scylax) नामक एक व्यक्ति को सिन्धु नदी के मार्ग को खोज निकालने के लिए भारत भेजा। उसकी खोज के फलस्वरूप ही यह प्रान्त ईरानी साम्राज्य का भाग बना। संभवत. ईरानी साम्राज्य मे सिन्ध के अतिरिक्त दक्षिणी पंजाब का प्रदेश भी सम्मिलित था।

दारा प्रथम का उत्तराधिकारी क्षह्यार्ष (Xerxes) था। उसने ४८६-४६५ ई० पू० तक

१. यूनानी लेखक जैनोफन (Xenophon) का वृत्तान्त।
२. नियार्कस (Nearchus) ने एरियन (Arrian) के आधार पर यह लिखा है।
३. प्लिनी (Pliny)।
४. जैनोफन।

राज्य किया। पर्सिपोलिस अभिलेख से हमे ज्ञात होता है कि उसने भारतीय देवताओं के मन्दिरों को नष्ट किया और यह आज्ञा निकाली कि कोई व्यक्ति देवताओं की पूजा नहीं करेगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ भारतीय प्रदेशों पर उसका अधिकार बना रहा। हिरोडोटस के अनुसार कुछ भारतीय सिपाही सूती कपडे पहने क्षह्यार्ष की ओर से ४८० ई० पू० में यूनानियों के विरुद्ध लड़े।

क्षह्यार्ष के निर्बल और अयोग्य उत्तराधिकारियों का अधिकतर समय भोग-विलास में बीता और उन्होंने साम्राज्य विस्तार की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया।

ईरानी सम्पर्क का परिणाम

ईरानी सम्राटो के भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग पर अधिकार कर लेने पर भारत का पश्चिम के देशों से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसी के फलस्वरूप ३२७ ई० पू० मे सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। भारत और पश्चिम के देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए और विचारो का आदान-प्रदान हुआ। ईरानी लेखकों ने भारत मे खरोष्ठी लिपि को चालू किया। सम्भवत ईरान के सगठित साम्राज्य को देखकर भारतीयों को भी एक साम्राज्य स्थापित करने का प्रोत्साहन मिला। मेगस्थनीज के वृत्तान्त से पता लगता है कि चन्द्रगुप्त के दैनिक जीवन मे कई ऐसी प्रथाएँ थी, जो सम्भवत. उसने ईरान की प्रथाओं को देखकर अपनाई थी। वह ईरान के सम्राटो की भाँति अपने केश धोने का उत्सव मनाता था उन्ही की भाँति सर्वसाधारण से अलग एकान्त मे रहता और स्त्रियो को अंगरक्षिका नियुक्त करता था। कुछ विद्वानो का मत है कि अशोक ने अपनी शिक्षाओ को चट्टानों पर ईरानी सम्राटों के अनुरूप ही खुदवाया। उसके अभिलेखो की प्रस्तावना भी ईरानी सम्राटो की प्रस्तावना के समान ही हैं।

डी० बी० स्पूनर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मौर्यकालीन प्रासाद दारा के प्रासादो को आदर्श मानकर ईरानी राजाओ द्वारा बनवाए गए। एच० जी० रॉलिन्सन का विचार है कि अशोक की कला पूर्ण रूप से ईरानी स्थापत्य-कला से प्रभावित थी। उनके अनुसार अशोक के स्तम्भों पर घटानुमा आकृतियाँ विशेष रूप से ईरानी कला का स्पष्ट चिन्ह हैं। ई० बी० हैवल इससे सहमत नही हैं। वे कहते हैं कि अशोक के स्तम्भ शीर्षों पर घंटानुमा आकृतियाँ वास्तव मे उल्टा हुआ कमल का फूल है, जो आत्मा के विकास का प्रतीक है और भारतीय कला का विशेष लक्षण है। उनके अनुसार भारतीय कला मे ईरानी कला से जो साम्य प्रतीत होता है उसका कारण ईरानी सम्राटो का उत्तर-पश्चिमी भारत पर अधिकार नहीं, अपितु ईरानी आर्यों और भारतीय आर्यों के पुरखो का साथ-साथ रहना है।

ईरान के सम्पर्क का भारतीय सिक्को पर भी प्रभाव पड़ा। दारा प्रथम के समय मे सोने के ईरानी सिक्के भारत लाए गए पर वे यहाँ प्रचलित न हुए। परन्तु चाँदी के ईरानी सिक्को का यहाँ प्रचलन हुआ। ये सिक्के भारतीय चाँदी के सिक्के कार्षापण से आकृति मे बहुत मिलते थे।

यूनानी आक्रमण

मकदूनिया (Macedonia) के राजा सिकन्दर (Alexander) ने ईरान के सम्राट् दारा तृतीय को ३३० ई० पू० मे अरबेला (Arbela) के युद्ध मे हराकर और पर्सिपोलिस नामक उनकी राजधानी को जलाकर ईरानी साम्राज्य को नष्ट कर दिया। इसके पश्चात् उसने भारत-विजय की योजना बनाई।

सिकन्दर ने पहले शकिस्तान (Seistan) पर अधिकार किया और फिर वह दक्षिणी अफगानिस्तान की ओर बढ़ा। इसके बाद उसने बाख्त्री (Bactria) और उसके समीपवर्ती प्रदेश पर अधिकार किया।

सिकन्दर के आक्रमण के समय उत्तर-पश्चिमी भारत की राजनीतिक अवस्था

इस समय उत्तर-पश्चिमी भारत पर ईरानी अधिकार प्राय लुप्त हो चुका था। उनके स्थान पर कुनार और रावी नदी के प्रदेश मे अनेक छोटे-छोटे राजा राज्य करते थे। रावी नदी से पूर्व के प्रदेश मे झेलम और चिनाब नदी के सगम तक कई गणराज्य थे। सिन्धु नदी की घाटी मे दक्षिण की ओर कई छोटे राज्य थे जिनमे ब्राह्मणो का बहुत प्रभाव था। इन्ही सब राज्यो के नेताओ से सिकन्दर को लडना पडा। उस समय के उत्तर-पश्चिमी भारत के प्रमुख राज्य निम्नलिखित थे :—

अश्वायन (Aspasioi)—यह राज्य कुनार और रावी नदियो के बीच के प्रदेश मे स्थित था।

गौरियों का राज्य (Gaureans)—यह गौरी नदी की घाटी मे था। इस नदी को अब पंजकोरा कहते हैं।

अश्वकायन (Assakenoi)—अश्वकायन का राज्य गौरियो के पूर्व मे था। इनकी राजधानी मस्सग थी। इनकी सेना मे बीस हज़ार घुडसवार, तीस हज़ार पैदल और तीस हाथी थे। सिकन्दर ने अश्वकायन लोगो को हराकर उनके चालीस हजार पुरुष बन्दी बना लिए और दो लाख तीस हज़ार बैल छीन लिए। अश्वकायन सेना मे स्त्रियाँ भी अपने देश की रक्षा के लिए लडीं परन्तु अन्त मे सफलता सिकन्दर की ही हुई। अश्वकायनो के राजा की एक बाण लगने से मृत्यु हो गई। उसकी पत्नी ने सिकन्दर के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। सिकन्दर ने मस्सक के राजा के भाड़ैत सिपाहियो को इस शर्त पर प्राणदान देने का वचन दिया था कि वे राजधानी से बाहर चले जाएँ, किन्तु जैसे ही वे किले से बाहर निकले यूनानी सेना उन पर टूट पडी और उन्हे मार डाला। यह घटना सिकन्दर के चरित्र पर एक भारी कलक है।

निसा (Nysa)—निसा का पहाडी राज्य काबुल और सिन्ध नदियो के बीच स्थित था। यह एक गणराज्य था। अनुश्रुति के अनुसार इसकी नीव उन यूनानियो ने डाली थी जो डायोनीसस (Dionysus) के साथ भारत आए थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय इस राज्य का प्रधान अकूफिस था और उसकी कार्यकारिणी मे तीन सौ सदस्य थे। निसा के लोगो ने सिकन्दर को तीन सौ घुड़सवार भेंट किए और आत्मसमर्पण कर दिया। सिकन्दर को यह जानकर बडी प्रसन्नता हुई कि यह एक यूनानी उपनिवेश था और उसने वहाँ कुछ समय के लिए अपनी सेना को विश्राम करने की आज्ञा दी।

पुष्करावती (Peukelaotis)—पुष्करावती का राज्य प्राचीन गन्धार राज्य का पश्चिमी भाग था। इनकी राजधानी पेशावर से १७ मील उत्तर-पूर्व मे स्थित थी। यहाँ का राजा हस्ती

था अष्टक (Astes) था। उसने तीस दिन तक यूनानियों का सामना किया। अन्त मे वह लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ।

ऊपर जिन पाँच राज्यो का वर्णन किया गया है वे सिन्धु नदी के पश्चिम मे स्थित थे। अब हम उन राज्यो का वर्णन करेंगे जो सिन्धु और रावी नदी के मध्य मे स्थित थे। इन राज्यो के राजा सदा आपस मे लडते रहते थे और अपने शत्रुओं से बदला लेने के लिए किसी विदेशी को निमन्त्रण देने से भी न हिचकिचाते थे।

तक्षशिला (जिला रावलपिण्डी)—तक्षशिला का राज्य गन्धार राज्य का पूर्वी भाग था। ३२६ ई० पू० में सिकन्दर ने ओहिन्द के समीप सिन्धु नदी को पार किया। तक्षशिला के राजा आम्भी ने सिकन्दर को जब वह काबुल नदी की घाटी मे था, भारत आने के लिए निमन्त्रण दिया था, इसलिए जब वह यहाँ आया, आम्भी ने बहुत चाँदी, भेड़ और बैल सिकन्दर को भेंट किए। सिकन्दर ने उन भेंटो को सोने और चाँदी के बर्तनों सहित आम्भी को लौटा दिया और ५००० सैनिक भी उसे देकर उससे मित्रता कर ली।

उरशा (Arsakes)—यह राज्य हजारा जिले में था। यहाँ के राजा ने सिकन्दर के विरुद्ध युद्ध करना व्यर्थ समझ आत्मसमर्पण करने का सन्देश सिकन्दर के पास भेज दिया।

अभिसार—इस राज्य मे झेलम और चिनाब नदियो के बीच का प्रदेश सम्मिलित था। आजकल के पूंच और हजारा जिले के कुछ भाग इसमे शामिल थे। यहाँ का शासक कूटनीतिज्ञ था। पहले तो उसने सिकन्दर के पास सन्देश भेजा कि वह सिकन्दर के अधीन होने को उद्यत है किन्तु फिर उसने पोरस से मिलकर सिकन्दर के विरुद्ध युद्ध किया।

बड़े पोरस का राज्य—यह राज्य पजाब के झेलम, गुजरात और शाहपुर जिलो मे स्थित था। जब सिकन्दर झेलम नदी के तट पर पहुँचा तब उसने पोरस को नदी के उस पार लड़ने के लिए तैयार खड़ा पाया। खुले मैदान मे पोरस को हराना कठिन जान सिकन्दर एक रात को जब मूसलाधार वर्षा हो रही थी और तूफ़ान चल रहा था, ११,००० चुने हुए योद्धाओ को लेकर नदी के ऊपर की ओर चल दिया और शेष सेना को नाच-रग करने का आदेश दिया जिससे पोरस भुलावे मे रहे। नदी के ऊपर की ओर एक मोड़ पर उसने झेलम नदी को पार किया और सहसा पोरस की सेना पर आक्रमण कर दिया। पोरस ने जो सेना अपने पुत्र के नेतृत्व मे सिकन्दर के रोकने को लिए भेजी थी उसे सिकन्दर ने पीछे हटा दिया।

पोरस की सेना मे ५०,००० पैदल, ३,००० घुड़सवार, १,००० रथ और १३० हाथी थे। इस बड़ी सेना को देखकर स्वय सिकन्दर भी घबरा गया। सिकन्दर के घुड़सवारों ने पोरस की सेना पर कई आक्रमण किये किन्तु वे पोरस की सेना को एक इन्च भी पीछे न हटा सके। परन्तु रात-भर वर्षा होने के कारण जमीन रपटने वाली हो गई थी, इसलिए पोरस के घोड़े आगे न बढ सके और उसके रथ कीचड़ मे फँस गए। भारतीय धनुर्धर भी अपने बाणो को ठीक से न चला सके। यूनानी सेना के घुड़सवारो ने बड़ी फुर्ती से बार-बार हमले किए और उन्होने भारतीय सेना को चारो ओर से घेर लिया। जब यूनानियो ने भारतीय सेना के हाथियों के पैरों और सूड़ों पर कुल्हाड़े चलाये तो हाथी बिगड़ उठे और अपनी ही सेना को कुचलने लगे। पोरस के शरीर मे नौ गहरे घाव लगे परन्तु वह युद्धभूमि से पीछे नहीं हटा। यूनानी सैनिक उसे बन्दी बनाकर सिकन्दर के सामने ले गये। सिकन्दर के यह पूछने पर कि उसके साथ कैसा बर्ताव किया जाय, पोरस ने उत्तर दिया कि 'मेरे साथ वैसा ही व्यवहार होना चाहिए जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है।' सिकन्दर ने पोरस की वीरता से

प्रभावित होकर उसे उसका राज्य लौटा दिया। उसने ऐसे वीर राजा से मित्रता करना ही श्रेयस्कर समझा। उसने सोचा कि पोरस की सहायता से वह अन्य भारतीय राजाओं को आसानी से दबा सकेगा। उसने १५ गणराज्यो का प्रदेश भी, जिसमे ५,००० नगर व गाँव थे पोरस को दिया।

ग्लौचुकायनक (Glauganikai)—यह गणराज्य चिनाब नदी के पश्चिम मे पोरस के राज्य की सीमा से सटा हुआ था। इसमें ३७ बडे नगर थे जिनमे प्रत्येक मे कम-से-कम ५,००० नागरिक रहते थे। सिकन्दर ने इस गणराज्य को पोरस को दे दिया।

चिनाब और रावी नदी के बीच का प्रदेश—इसमे छोटा पोरस राज्य करता था। उसे हराकर इस राज्य को भी सिकन्दर ने पोरस महान् को दे दिया।

इस प्रकार ये छ राज्य सिन्धु और रावी नदी के बीच मे स्थित थे। अब हम उन राज्यो का वर्णन करेगे जो रावी नदी के पूर्व के प्रदेशो मे झेलम और चिनाब नदी के सगम तक फैले हुए थे।

अद्रुष्ट (Adraistio)—यह राज्य रावी नदी के पूर्व मे था और इसकी राजधानी पिंप्रामा थी। यह एक गणराज्य था। सिकन्दर ने ३२६ ई० पू० के अन्त मे रावी को पार किया और पिंप्रामा के क़िले पर अधिकार कर लिया।

कठ (Kathoi)—यह भी एक गणराज्य था। इसकी राजधानी सगल थी। ये लोग अपने साहस और रणकौशल के लिए प्रसिद्ध थे। ये सबसे सुन्दर पुरुष को राजा चुनते थे। इस जाति मे पति के मरने के बाद पत्नियाँ सती हो जाती थी। कठ इतनी वीरता से लडे कि सिकन्दर को अपनी सहायता के लिए ६,००० सिपाहियो की सेना-सहित पोरस को बुलाना पडा। कठो के इस कठिन मोर्चे से सिकन्दर इतना क्रुद्ध हो गया कि उसने उनकी राजधानी सगल के किले को मिट्टी मे मिला दिया। इस युद्ध मे कठो के १७,००० वीर काम आये और ७०,००० बन्दी बना लिये गए।

इन दोनो गणराज्यो का प्रदेश भी सिकन्दर ने पोरस को दे दिया।

सौभूति (Sophytes)[1]—यह राज्य झेलम नदी के पूर्व मे स्थित था। यहाँ के निवासी सुन्दरता का बहुत ध्यान रखते थे और कुरूप बालको को मार डालते थे। विवाह के समय भी वे सुन्दरता पर ही बल देते थे। यहाँ के निवासियो ने बिना लडे ही सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली।

भगल (Phegelas)**का राज्य**—यह बारी दोआब अर्थात् रावी और चिनाब नदियो के बीच के प्रदेश मे स्थित था।

व्यास नदी से सिकन्दर का वापस लौटना

जब सिकन्दर व्यास नदी के तट पर पहुँचा तो उसकी सेना ने आगे बढने से इन्कार कर दिया। इसके कई कारण थे। व्यास नदी के तट पर भगल नामक व्यक्ति ने सिकन्दर को बतलाया था कि नन्द साम्राज्य बहुत विस्तृत और शक्तिशाली था और पोरस ने भगल के इस वक्तव्य

१. डा० अवध किशोर नारायण के अनुसार Sophytes, जिसके सिक्के मिले हैं, भारतीय राजा नहीं था। देखिए, Journal of the Numismatic Society of India, Vol. XI, pp. 93-99.

की सम्पुष्टि की थी। यह सुनकर महत्त्वाकांक्षी सिकन्दर तो आगे बढ़ने के लिए बहुत उत्सुक हो उठा, किन्तु उसकी सेना पोरस के विरुद्ध लड़ने में जिन सकटों का सामना कर चुकी थी उन्हें देखकर नन्द राजाओ की महान् सेना से भिड़ने को तैयार न हुई। सिकन्दर के योद्धा थक गए थे, घर जाने के लिए उत्सुक थे। उनमें बहुत-से बीमार थे और उनके पास पहनने को कपड़े भी न थे। सिकन्दर ने अपने सिपाहियों से अपील की कि वे भारत-विजय को अधूरा न छोड़ें, किन्तु सेना अपने निश्चय से टस-से-मस न हुई। ब्यास के इस पार रहने वाली जातियों की सैन्य-शक्ति के समाचारों से यूनानी सेना इतनी भयभीत हो चुकी थी कि सिकन्दर की सारी अनुनय-विनय व्यर्थ हुई। लाचार होकर उसने सेना को घर लौटने की आज्ञा दे दी।

लौटने से पूर्व सिकन्दर ने अपनी विजय के उपलक्ष मे बारह विशाल वेदिका-स्तम्भ बनवाये। ब्यास नदी से सिकन्दर उसी मार्ग से लौटा जिससे वह आया था। झेलम नदी पर पहुँचकर उसने जीते हुए भारतीय प्रदेशों के शासन की व्यवस्था की। उसने झेलम और ब्यास के बीच का प्रदेश पोरस को और सिन्धु और झेलम के बीच का प्रदेश आम्भी को दिया। कश्मीर का शासन-प्रबन्ध उसने अभिसार के राजा को दिया और अर्सेकिज या उरशा का प्रदेश भी उसे सौंपा। परन्तु इन सब प्रदेशो पर अपना अधिकार रखने के लिए उसने पर्याप्त यूनानी सेना यहाँ छोड़ी।

नवम्बर ३२६ ई० पू० में सिकन्दर झेलम नदी के मार्ग से वापिस चला। उसकी सेनाएँ नदी के दोनो किनारो पर उसके बेड़े की रक्षा कर रही थी और पीछे से उसका राज्यपाल फिलिप उसकी रक्षा कर रहा था। वह बेड़ा दस दिन झेलम नदी मे चलकर उस स्थान पर पहुँचा जहाँ चिनाब नदी उसमे मिलती थी।

झेलम और चिनाब नदी के सगम से दक्षिण की ओर निम्नलिखित गणराज्य थे—

शिबि (Siboi)—ये शोरकोट प्रदेश में रहते थे। वे जगली पशुओ की खाल पहनते थे और गदा से लड़ते थे। **अग्रश्रेणी** (Agalassoi)—ये शिबि लोगों के पड़ोसी थे। **क्षुद्रक** (Oxydrakai)—ये भी शिबि लोगो के पड़ोसी थे। ये अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। **मालव** (Malloi)—ये रावी नदी के पूर्वी तट पर रहते थे। **अम्बष्ठ** (Abastanoi)—ये चिनाब नदी के दक्षिणी भाग के प्रदेश मे मालवो के पड़ोस मे रहते थे। **क्षत्रिय** (Xathroi) **और वसाति** (Ossadioi)—ये सिन्धु नदी के निचले काँठे मे रहते थे। **शूद्र और मूषिक** (Sodrai and Massanoi)—ये सिन्ध के उत्तरी भाग और पजाब के दक्षिण-पश्चिमी भाग मे रहते थे। **मुचुकर्ण** (Mausikanos)—यह राज्य सिन्ध मे था। इस राज्य मे ब्राह्मणो का आधिपत्य था जो सिंहासन के नियन्ता और वहाँ की राजनीति के सूत्र का संचालन करते थे। इस राज्य की राजधानी सक्खर जिले में अलोर थी। **आक्सिकानुस** (Oxykanos) और **शम्भु** (Sambos)—ये राज्य सिन्ध नदी के पश्चिम में थे। **पत्तल** (Patalene) यह सिन्ध नदी के डेल्टे मे था। इसमे दो राजा राज्य करते थे। शासन-व्यवस्था वृद्धों की एक सभा के हाथ मे थी।

इन राज्यों मे सगठन नहीं था किन्तु गणराज्यो ने अलग-अलग सिकन्दर का मकाबला किया।

गणराज्यों का प्रतिरोध

शिबि (Siboi) और **अग्रश्रेणी** (Agalassoi) अपनी सेना लिये हुए सिकन्दर

का मुकाबला करने के लिए तैयार खड़े थे। शिबि लोगों की सेना मे ४०,००० पैदल और अग्रश्रेण की सेना में ४०,००० पैदल और ३,००० घुड़सवार थे। शिवि लोग तो सिकन्दर के पह हमले मे ही हार गए किन्तु अग्रश्रेणियो ने वीरता के साथ अपनी राजधानी की रक्षा की जब उन्होंने अपनी जीत असम्भव देखी तो वे स्त्री-बालको सहित आग मे जलकर मर गए।

क्षुद्रक गणराज्य के लोग अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। उन्होंने सिकन्दर को आ देख अपने शत्रु मालवो से सन्धि कर ली। इन दोनो गणराज्यो की सम्मिलित सेना मे ९०,०० पैदल, १०,००० घुड़सवार और ९,००० रथ थे। एक बार यूनानी सेना इस सेना को देख विचलित हो उठी, किन्तु सिकन्दर के प्रोत्साहन देने पर यूनानी सेना इस वीरता से लडी अन्त मे उसी की जीत हुई। परन्तु मालव लोग अपने दुर्ग की रक्षा के लिए इतनी वीरता से ल कि स्वयं सिकन्दर को गहरी चोट लगी। इस पर कुछ यूनानियो ने मालवो के मर्द, और बच्चे किसी को जीता न छोडा। इस प्रकार मालवो की पराजय देखकर क्षुद्रको ने सिकन्द से सन्धि कर ली। सिकन्दर ने फिलिप्स को क्षुद्रक और मालव लोगो के ऊपर अपना क्षत्र नियुक्त किया।

सिकन्दर के एक सेनापति पर्डिकस ने अम्बष्ठ लोगों को पराजित किया। इनकी से मे ६०,००० पैदल, ६,००० घुड़सवार और ५०० रथ थे। यह भी एक गणराज्य था।

सिन्धु नदी के मुहाने के पास क्षत्रिय, वसाति और शूद्र जातियो ने सिकन्दर का सामना किया इनके अतिरिक्त सिकन्दर ने मुचुकर्ण, आक्सिकानुस और शम्भु जातियो को हराया। ब्राह्म ने मुचुकर्ण और आक्सिकानुस जातियो को यूनानियो के विरुद्ध लडने के लिए प्रोत्साहि किया था। यूनानियो ने इस कारण अनेक ब्राह्मणो का भी वध किया। निचले सिन्धुक के राजाओं को हराकर सिकन्दर पत्तल पहुँचा।

सितम्बर ३२५ ई० पू० के प्रारम्भ मे सिकन्दर ने भारत छोडा। उसने अपनी सेना क कुछ भाग नियर्कस के नेतृत्व मे समुद्र के मार्ग से भेजा। शेष भाग सिकन्दर के नेतृत्व बिलोचिस्तान के दक्षिणी तट पर थल-मार्ग से चला। यह मार्ग बहुत रेतीला और दुर्गम था बडी कठिनाई से सिकन्दर बेबीलोन पहुँचा। वही जून ३२३ ई० पू० मे उसकी मृत्यु ह गई।

सिकन्दर केवल उन्नीस महीने भारत मे रहा। इस बीच वह निरन्तर लड़ने मे व्यस रहा। परन्तु जिन प्रदेशो को उसने जीता उन्हे वह स्थायी रूप से अपने साम्राज्य में मिला चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने इन प्रान्तों मे अपने क्षत्रप और यूनानी सेनाएँ भी रखी परन्तु उसकी मृत्यु हो जाने के कारण उसके मनोरथ पूर्ण न हो सके। कुछ ही वर्षों के बा यूनानी विजय के सारे चिन्ह भारत से मिट गए।

कुछ विदेशी लेखको ने सिकन्दर की भारत-विजय की अत्यधिक प्रशंसा की है, कि एक निष्पक्ष इतिहासकार उनसे सहमत नहीं हो सकता। नि सन्देह यह एक प्रशसनीय सफल थी, परन्तु इस बात का हमे ध्यान रखना चाहिए कि सिकन्दर को किसी महान् राजा से न लड़ना पड़ा। उत्तर-पश्चिमी भारत के छोटे-छोटे राजा सदा आपस मे लडते रहते थे। तक्षशिल का राजा आम्भी, पोरस और अभिसारो से शत्रुता रखता था। पोरस और अभिसारो क समीपवर्ती मालव और क्षुद्रक गणतन्त्र राज्यो से भी शत्रुता थी। पोरस महान् और छोटे पोर में भी वैर-भाव था। शम्भु और म्रौसिकेनस जातियों मे भी शत्रुता थी। इन आपसी झग के कारण सिकन्दर को किसी सगठित व शक्तिशाली शत्रु का मुकाबला नही करना पड़ा

आम्भी ने तो पोरस से शत्रुता होने के कारण सिकन्दर का स्वागत किया था। पुष्करावती के संजय, काबुल प्रदेश के कोफियस, अश्वजित् और शशिगुप्त आदि राजाओ ने भारत-विजय मे सिकन्दर की सहायता की। केवल पोरस, मालव और क्षुद्रको ने डटकर उसका सामना किया। इन लोगो ने यूनानी सेना के छक्के छुडा दिये। परन्तु ये सब सिकन्दर के विरुद्ध असफल हुए, क्योकि भारतीय राजाओ मे सगठन का अभाव था। उनके पास योग्य नेताओं, पर्याप्त धन-राशि और प्रशिक्षित सेनापतियों का भी अभाव था। सिकन्दर की सफलता का एक प्रमुख कारण कुछ भारतीय राजाओ की देशद्रोहिता थी।

सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव

सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर कोई स्थायी प्रभाव न पडा। वह आँधी की भाँति भारत मे आया और यहाँ से चला गया। किसी भारतीय लेखक ने उसके आक्रमण का जिक्र तक नही किया है। हाँ, उसके आक्रमण के फलस्वरूप पजाब और सिन्ध के राज्य पहले की अपेक्षा निर्बल हो गये। इस कारण चन्द्रगुप्त मौर्य को उन्हे एक सुसगठित राज्य मे परिवर्तित करने मे अधिक कठिनाई न हुई। इस कार्य का प्रारम्भ तो सिकन्दर ने छोटे राज्यो को पोरस, अभिसार और तक्षशिला के राजाओं के अधीन करके ही कर दिया था। चन्द्रगुप्त ने उसे पूरा किया।

सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप यूनान और भारत का सम्पर्क स्थायी हो गया। परन्तु उसका भारतीय साहित्य, जीवन या शासन पर कोई स्थायी प्रभाव नही पडा। भारतीयो ने कला, मुद्रा और ज्योतिष के विषय मे कुछ बाते यूनानियो से अवश्य सीखी। ये भी उन यूनानी राजाओ के उत्तर-पश्चिमी भारत पर राज्य करने के कारण, जिन्होंने सिकन्दर के उत्तराधिकारी यूनानी शासको के विरुद्ध विद्रोह करके बाख्त्री (Bactria) मे अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था[1] न कि सिकन्दर के आक्रमण के कारण। यूनानियो को भारतीय साहित्य और विज्ञान के विषय मे बहुत जानकारी हुई। दोनों देशो मे व्यापार को प्रोत्साहन मिला और मार्गों की जानकारी हुई। सिकन्दर के आक्रमण का एक अप्रत्यक्ष परिणाम यह भी हुआ कि भारतीय इतिहास को उसके आक्रमण की तिथि ३२६ ई० पू० पहली निश्चित तिथि मिली जिस पर मौर्यकालीन राजनीतिक इतिहास की तिथियाँ आधारित है।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी	**हिन्दू सभ्यता**, अध्याय ७
	अनुवादक—वासुदेवशरण अग्रवाल
राधाकुमुद मुकर्जी	**प्राचीन भारत**, अध्याय ६
	अनुवादक—बुद्धप्रकाश
राजबली पाण्डेय	**प्राचीन भारत** अध्याय ११

१. देखिये अध्याय १२.

H C. Raychaudhuri	*Political History of Ancient India*, Part II, Chapter 3.
E J Rapson	*The Cambridge History of India*, Vol 1, Chapter 15.
V A Smith	*The Early History of India*, Chapter 4
K. A Nilakanta Sastri	*Age of the Nandas and Maryas*, Chapter 2
R C Majumdar and A. D Pusalkar	*History and Culture of the Indian People*, Vol I, Chapter 11

परिशिष्ट १

मौर्यकाल से पूर्व का तिथिक्रम

(Chronology of Pre-Mauryan India)

सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व का तिथि-क्रम निश्चित करने के लिए हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नही है। परम्परा के अनुसार गौतम बुद्ध की मृत्यु अजातशत्रु के सिंहासन पर बैठने की तिथि से आठवे वर्ष मे हुई। परन्तु गौतम बुद्ध की मृत्यु के विषय मे भी दो परम्पराएँ हैं। लका मे प्रचलित परम्परा के अनुसार यह घटना ५४४ ई० पू० मे हुई, परन्तु केण्टन (चीन) की परम्परा के अनुसार यह घटना ४८६ ई० पू० मे हुई। लका की परम्परा अशोक की राज्याभिषेक की तिथि से ठीक नही बैठती, क्योकि लका की अनुश्रुति के अनुसार यह घटना बुद्ध की मृत्यु २१८ वर्ष बाद हुई, जिसका अर्थ हुआ ५४४—२१८=३२६ ई० पू०। परन्तु ३२६ ई० पू० मे अशोक का राजा होना असम्भव है, क्योकि उस समय तो चन्द्रगुप्त मौर्य भी राजा नहीं बना था। उस समय सिकन्दर भारत मे ही था, इसलिए हमने केण्टन की तिथि को सही मानकर ही तिथि-क्रम निश्चित किया है। सिकन्दर के आक्रमण की तिथि से हम चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण की तिथि ३२४ ई० पू० निश्चित करते हैं। केण्टन की तिथि से अनुसार गौतम बुद्ध की मृत्यु ४८६ ई० पू० हुई। उस समय अजातशत्रु का आठवाँ वर्ष था, अत उसका राज्य-काल ४९४ ई० पू० मे प्रारम्भ हुआ। बिम्बिसार ने पाली ग्रन्थो के अनुसार ५२ वर्ष राज्य किया अत उसका राज्य-काल ५४६ ई० पू० मे प्रारम्भ हुआ। दूसरी बौद्ध महासगीति बुद्ध की मृत्य के १०० वर्ष बाद हुई और यह कालाशोक के राज्य-काल का दसवाँ वर्ष था। इसलिए उसका राज्य-काल लगभग ४८६—९०=लगभग ३९६ ई० पू० प्रारम्भ हुआ। कालाशोक और उसके पुत्रो ने ५० वर्ष राज्य किया इसलिए इस वश का राज्य ३९६—५०=३४६ ई० पू० मे समाप्त हुआ होगा। महापद्मनन्द और उसके आठ पुत्रों ने २२ वर्ष राज्य किया। इस प्रकार मौर्यकाल के प्रारम्भ होने की तिथि लगभग ३२४ ई० पू० बैठती है। इन सब घटनाओ को ध्यान मे रखने हुए तिथि-क्रम इस प्रकार बैठता है

१ बिम्बिसार	५४६—४९४ ई० पू०
२ अजातशत्रु	४९४—४६२ ई० पू०
३ उदायी	४६२—४४६ ई० पू०
४ अनुरुद्ध ५ मुण्ड	४४६—४३८ ई० पू०
६ नागदशक	४३८—४१४ ई० पू०
७ शिशुनाग	४१४—३९६ ई० पू०
८. कालाशोक	३९६—३६८ ई० पू०
९ कालाशोक के पुत्र	३६८—३४६ ई० पू०
१०. महापद्मनन्द और उसके आठ पुत्र	३४६—३२४ ई० पू०

अध्याय १०

मौर्य साम्राज्य

(The Mauryan Empire)

चन्द्रगुप्त मौर्य (३२४ ई० पू० से ३०० ई० पू०)

मौर्य साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य था। उसके जीवन की घटनाओ को जानने और उसकी सफलताओ का मूल्यांकन करने के लिए हमारे पास अनेक साधन हैं। इन साधनो को हम दो भागो मे बाँट सकते हैं---विदेशियो के वृत्तान्त और भारतीय साहित्य।

इन विदेशियो मे तीन व्यक्ति ऐसे थे जिनका सिकन्दर से सम्बन्ध था और चौथा विदेशी मेगस्थनीज था जिसे सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार मे अपना राजदूत बनाकर भेजा। नियार्कस को सिकन्दर ने भारत और फारस की खाडी के बीच का मार्ग ढूँढने के लिए भेजा था। आनेसिक्रिटस (Onesicritus) ने नियार्कस (Nearchus) की समुद्र-यात्रा मे भाग लिया। अरिस्टोबुलस (Aristobulus) को सिकन्दर ने भारत में कई कार्य सौंपे। परन्तु सबसे महत्त्व-पूर्ण वृत्तान्त मेगस्थनीज का है। उसकी लिखी पुस्तक इण्डिका अब उपलब्ध नहीं है, किन्तु बहुत-से लेखको ने उसकी पुस्तक से उद्धरण दिये हैं। इनमे प्रमुख लेखक स्ट्रैबो (Strabo), डायोडोरस (Diodorus), प्लिनी (Pliny), एरियन (Arrian), प्लूटार्क (Plutarch) और जस्टिन (Justin) हैं। ये उद्धरण चन्द्रगुप्त के समय की राजनीतिक घटनाओ पर कम और मनुष्यों के रीति-रिवाजो और शासन-प्रबन्ध पर अधिक प्रकाश डालते हैं। हाँ डायोडोरस, प्लूटार्क, जस्टिन, अप्पियन (Appian), स्ट्रैबो और प्लिनी की पुस्तको से सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् भारत मे घटी राजनीतिक घटनाओ पर कुछ प्रकाश पडता है।

चन्द्रगुप्त-सम्बन्धी भारतीय साहित्य तीन प्रकार का है पहली श्रेणी मे ब्राह्मण लेखको द्वारा लिखी हुई पुस्तके, जैसे पुराण, कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', सोमदेव का 'कथासरित्सागर' और क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथा-मजरी'। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से हमे मुख्य रूप से शासन के आदर्श और पद्धति का पता चलता है। कहीं-कहीं सामाजिक जीवन की भी झलक मिलती है। अन्य ब्राह्मण साहित्य से तत्कालीन राजनीतिक घटनाओ का कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अन्य दो प्रकार के ग्रन्थ बौद्ध तथा जैन हैं। बौद्ध साहित्य मे मुख्य लका के ऐतिहासिक ग्रन्थ, 'दीपवश', 'महावश', 'महावश टीका', 'महाबोधि-वश', और उत्तर भारतीय ग्रन्थ 'मिलिन्द पञ्ह' से भी चन्द्रगुप्त के जीवन की घटनाओं पर प्रकाश पडता है। जैन साहित्य मे दो पुस्तके, भद्रबाहु का 'कल्प-सूत्र' और हेमचन्द्र का 'परिशिष्ट-पर्व' विशेष उपयोगी हैं।

यह भारतीय साहित्य अधिकतर कथा रूप मे है। इसलिए इतिहासकार उसमे दिए हुए वर्णन को पूर्णतया ऐतिहासिक तथ्य नही मान सकता। उसे विदेशियो के वृत्तान्त, पुराणो और लका के ऐतिहासिक ग्रन्थो मे दी हुई वशावलियो और अभिलेखो मे दी हुई सामग्री का उपयोग करके चन्द्रगुप्त के जीवन का चित्र प्रस्तुत करना होता है। अभिलेखो मे सबसे प्रमुख

रुद्रदामा का जूनागढ़ अभिलेख है जिसमें चन्द्रगुप्त मौर्य का नाम स्पष्ट रूप से दिया है।

चन्द्रगुप्त का नाम यूनानी लेखकों ने सैंड्रोकोप्टोस, एण्ड्रोकोट्टोस या सैण्ड्रोकोट्टस लिखा है।[1] पुराणों में महापद्मनन्द के पश्चात् होने वाले राजाओं को शूद्र, असुर, सुरद्विष् अर्थात् देवताओं का विरोधी कहा है। मुद्राराक्षस और बृहत्कथा मे चन्द्रगुप्त को नन्दवश मे उत्पन्न बतलाया गया है। किन्तु उनसे कही अधिक प्राचीन 'महापरिनिर्वाण सूत्र' मे प्राप्त बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त का जन्म शाक्यों की एक शाखा मोरिय जाति मे हुआ था। जस्टिन ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त का जन्म एक साधारण कुल मे हुआ जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त जन्म से एक साधारण क्षत्रिय था। कौटिल्य ने क्षत्रियेतर किसी व्यक्ति को राजा बनाया हो यह प्राय विश्वास नही किया जा सकता। इसलिए चन्द्रगुप्त का मोरियवश मे उत्पन्न एक साधारण क्षत्रिय होना अधिक सम्भव प्रतीत होता है।

प्रारम्भिक जीवन

'महावश टीका' और 'महाबोधिवश' में लिखा है कि चन्द्रगुप्त की माता जब गर्भवती थी, अपना घर छोडकर पाटलिपुत्र चली गई। वही चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ। एक ग्वाले ने उसका पालन-पोषण किया। एक बार चन्द्रगुप्त अपने साथी ग्वालो के बीच राजा बनकर नाटक खेल रहा था। तक्षशिला का निवासी चाणक्य उसी समय पाटलिपुत्र आया। वहाँ के विद्वानों ने उसके पाडित्य के कारण उसे दानशाला का अध्यक्ष चुन लिया, किन्तु नन्द राजा ने उसकी कुरूपता के कारण उसका निरादर किया। इसी समय चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को खेलते हुए देखा। चन्द्रगुप्त की प्रतिभा से प्रभावित होकर उसने उसे १,००० कार्षापण देकर खरीद लिया और इस मेधावी बालक के द्वारा नन्द राजा से बदला लेने का निश्चय किया। वह चन्द्रगुप्त को तक्षशिला ले गया और वहाँ उसे सात या आठ वर्ष तक शिक्षा दिलाई। हम नही कह सकते कि 'महावश टीका' मे जो उपर्युक्त कथा चन्द्रगुप्त के विषय मे दी गई है उसमे ऐतिहासिक तथ्य कितना है, क्योकि इस ग्रन्थ की रचना चन्द्रगुप्त के समय से लगभग १३०० वर्ष पीछे हुई।

जस्टिन के वर्णन से हमे ज्ञात होता है कि सिकन्दर के भारत आगमन पर चन्द्रगुप्त उससे मिला था। चन्द्रगुप्त की स्पष्टवादिता से रुष्ट होकर सिकन्दर ने उसका वध करने की आज्ञा दे दी, किन्तु चन्द्रगुप्त किसी प्रकार वहाँ से बचकर निकल आया।

पंजाब की विदेशियों से मुक्ति

अनेक पारम्परिक और यूनानियो के वर्णनो से प्रतीत होता है कि सिकन्दर के डेरे से लौटने के पश्चात् उसने पजाब की गणतंत्रीय लडाकू जातियों मे से कुछ योद्धा चुने। उनकी सहायता से उसने एक अच्छी सेना तैयार की। फिर उसने एक पहाड़ी राजा पर्वतक से सन्धि की। जस्टिन ने लिखा है कि सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके गवर्नरो को मार कर भारत को

१ सबसे पहले विलियम जोन्स ने यह पहेली हल की और कहा कि ये सब चन्द्रगुप्त के नाम के यूनानी रूप हैं। तभी से हम भारतीय इतिहास की घटनाओं के लिए यूनानी और रोमन ग्रन्थों का उपयोग करने लगे और हमें पता लगा कि चन्द्रगुप्त सिकन्दर के आक्रमण की तिथि अर्थात् ३२७ ई० पू० के कुछ दिन पश्चात् मगध के सिंहासन पर बैठा। 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त को 'चन्द्रश्री', 'प्रियदर्शन' और 'वृषल' कहा गया है।

विदेशियों की दासता से मुक्त करने का श्रेय चन्द्रगुप्त को है। चन्द्रगुप्त की सफलता के दो मुख्य कारण थे एक तो भारतीय गणराज्यों मे विद्रोह की भावना अब भी विद्यमान थी, इसलिए उन्होंने सिकन्दर के मरते ही उसके गवर्नरों को मार डाला। दूसरे सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उत्तर-पश्चिमी भारत मे जो गडबड मची चन्द्रगुप्त को उससे अपनी शक्ति बढाने का उपयुक्त अवसर मिल गया।

मगध की विजय

इस प्रकार पजाब पर अपना अधिकार जमाकर चन्द्रगुप्त ने नन्द राजाओं से लोहा लेने की ठानी। 'मिलिन्द पञ्ह' मे नन्दो और मौर्यों के युद्ध का वर्णन है। जस्टिन का वर्णन और 'परिशिष्ट' पर्व भी इसकी ओर सकेत करते है। पुराण, कौटिलीय अर्थशास्त्र और कामन्दक नीतिशास्त्र में भी कौटिल्य द्वारा नन्दों के उन्मूलन का वर्णन है। नन्द राजा को हराना कोई आसान काम न था। उसके पास प्रचुर मात्रा में धन और एक शक्तिशाली सेना थी। फिर भी अन्त में चन्द्रगुप्त को सफलता[1] मिली। इसके कई कारण थे। वह स्वय एक वीर योद्धा था और उसके पास कौटिल्य-जैसे कूटनीतिज्ञ की मत्रणा प्राप्त थी। नन्द राजा को उसकी प्रजा कई कारणों से नही चाहती थी। एक नीच कुल मे उत्पन्न होने के अतिरिक्त वह प्रजा पर अत्याचार करता था। उसके राज्य मे प्रजा का असह्य कर भी देने पडते थे। इन कारणों से प्रजा ने अवश्य ही इस नये नेता का साथ दिया होगा।

सौराष्ट्र और दक्षिण भारत की विजय

चन्द्रगुप्त पजाब और मगध को जीतकर ही सन्तुष्ट न हुआ। उसका सौराष्ट्र पर अधिकार था ऐसा हमे रुद्रदामा के जूनागढ वाले अभिलेख से पता चलता है। उसमें लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने अपने राष्ट्रीय पुरगुप्त द्वारा वहाँ सिंचाई के लिए सुदर्शन नाम की बडी झील का प्रबन्ध किया। बीच का प्रदेश अर्थात् अवन्ति और मालवा भी चन्द्रगुप्त के राज्य मे सम्मिलित रहा ही होगा। कुछ अनुश्रुतियों से चन्द्रगुप्त की दक्षिण भारत की विजय की भी सम्भावना प्रतीत होती है। एक दूसरे प्रमाण से भी दक्षिण भारत का चन्द्रगुप्त के राज्य मे सम्मिलित होना सम्भव प्रतीत होता है। अशोक का राज्य दक्षिण मे मस्की, इरागुडी तथा मैसूर के चीतलदुर्ग जिले तक फैला हुआ था। उसने कलिंग के अतिरिक्त कोई अन्य प्रदेश नही जीता बिन्दुसार भी एक आनन्दप्रिय शासक था, इसलिए सम्भवत उसने भी दक्षिण विजय नही की होगी। इसका अर्थ यही है कि दक्षिण भारत की विजय चन्द्रगुप्त ने ही की होगी।

सैल्यूकस से युद्ध

सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके सेनापति सैल्यूकस ने पश्चिमी एशिया में अपना अधिकार जमा लिया और फिर से भारत विजय करने का निश्चय किया।[2] सिन्धु नदी को पार कर उसने चन्द्रगुप्त से ई० पू० ३०९ मे युद्ध किया। युद्ध का फल सैल्यूकस के प्रतिकूल ही रहा होगा,

१ 'मिलिन्द पञ्ह' में लिखा है कि चन्द्रगुप्त और नन्द राजा का युद्ध एक भयानक युद्ध था। इसमें १०० करोड़ योद्धा, दस हजार हाथी की सेना और ५००० रथो की सेना मारी गई।

२ अप्पियन का वृत्तान्त।

क्योकि स्ट्रैबो से हमे पता चलता है कि सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से वैवाहिक सन्धि की और उसे सिन्धु नदी के पश्चिम के कुछ प्रदेश दे दिये, जिनमें आधुनिक कन्दहार, काबुल, हिरात और बिलोचिस्तान अन्तर्गत हैं। इस प्रकार चन्द्रगुप्त की पश्चिमी सीमा हिरात तक पहुँच गई। चन्द्रगुप्त ने भी सैल्यूकस को ५०० हाथी दिये, जो उसके लिए भावी युद्धो मे बहुत उपयोगी सिद्ध हुए होंगे।

रमेशचन्द्र मजूमदार के शब्दो मे, सैल्यूकस के ऊपर चन्द्रगुप्त की इस विजय ने यह प्रदर्शित कर दिया कि बडी-से-बडी यूनानी सेनाएँ, जब उन्हे कुशल और अनुशासित भारतीय सेनाओ का सामना करना पडा, निर्बल सिद्ध हुई। इस प्रकार चन्द्रगुप्त ने भारत की पश्चिमी सीमा हिन्दूकुश तक पहुँचाकर उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त कर लिया जिसको प्राप्त करने के लिए अंग्रेज इतने वर्षों तक प्रयत्न करते रहे।

चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था

चन्द्रगुप्त ने अपने साम्राज्य का बहुत अच्छा प्रबन्ध भी किया। सैल्यूकस के राजदूत मेगस्थनीज के वृत्तान्त और कौटिल्य के अर्थशास्त्र से हमे इसका पर्याप्त ज्ञान होता है। मेगस्थनीज और चन्द्रगुप्त की सम-सामयिकता निश्चित है। यद्यपि इतिहासकार इस विषय मे एकमत नही है कि अर्थशास्त्र किस काल की रचना है, किन्तु अधिकतर भारतीय और कुछ विदेशी इतिहासकार भी अब यह मानने लगे हैं कि चन्द्रगुप्त के मन्त्री कौटिल्य, चाणक्य या विष्णुगुप्त की रचना है। ए० एस० अल्तेकर का यह निष्कर्ष सत्य प्रतीत होता है कि पुस्तक का मूलरूप मौर्यकाल मे तैयार हुआ और उसमे कौटिल्य के विचारो का समावेश है। कुछ स्थलो पर अवश्य पीछे से भी परिवर्तन हुए हैं।

कौटिल्य ने राज्य के सात अगो—(१) राजा, (२) अमात्य, (३) जनपद, (४) दुर्ग, (५) कोष, (६) सेना और (७) मित्र का उल्लेख अर्थशास्त्र मे किया है। इन सातों मे राजा और अमात्य के हाथ मे केन्द्रीय शासन की सर्वोच्च सत्ता थी। वही केन्द्रीय शासन की एकता को स्थायी रखते थे। जनपद, दुर्ग, कोष और सेना पर राज्य की पूर्ण शक्ति आधारित थी। राज्य की सुरक्षा और राज्य के सभी कर्त्तव्यो की पूर्ति बिना उपर्युक्त चार साधनो के असम्भव थी 'मित्र' का उल्लेख राज्य के सात अगो मे सम्भवतः इसलिए किया गया है कि उस समय भारत मे अनेक छोटे-छोटे राज्य थे और बिना मित्रो की सहायता के किसी भी राज्य का अस्तित्व संकट मे पड सकता था। राज्य के कुछ अग चाहे अलग-अलग इतने महत्त्वपूर्ण प्रतीत न हो किन्तु राज्य के कर्त्तव्यो की पूर्ति बिना सभी अगो के पूर्ण सहयोग के सम्भव नही है। इसका यही अर्थ है कि प्राचीन भारत के विचारक राज्य को सावयव सगठित इकाई समझते थे। इनमे से कोई भी अवयव यदि कार्य करना छोड दे तो राज्य के कार्यों का सुचारु रूप से चलना असम्भव था।

(क) केन्द्रीय शासन

राजा

कौटिल्य और मेगस्थनीज ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त राजकार्य मे इतना व्यस्त रहता कि उसे रात को मुश्किल से छः घण्टे सोने को मिलता था। दिन-भर वह अपने गुप्तचरो से राज्य के सम्बन्ध मे विवरण सुनने या राज-पुरुषो के पास आज्ञापत्र भेजने मे व्यस्त रहता था। राजा

स्वयं मंत्रियों से परामर्श करता, सेना का निरीक्षण करता और महत्त्वपूर्ण विषयो पर निर्णय देता। राजकीय कार्य को अतिशीघ्र निबटाया जाता था। उसमे किसी प्रकार की ढील नहीं दिखाई जाती थी।

राजा स्वय सेना और कोष पर नियन्त्रण रखता था। राजा के लिए मन्त्रियो का परामर्श मानना अनिवार्य न था। यदि वह आवश्यक समझता तो उनकी सलाह के विरुद्ध कार्य कर सकता था, परन्तु चन्द्रगुप्त एक निरंकुश शासक न था। इसका कारण यह था कि वह अपना सुख प्रजा के सुख मे और अपना हित प्रजा के हित मे समझता था।[1]

मन्त्रि-परिषद्

चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध मे मन्त्रि-परिषद् का प्रमुख हाथ था। कौटिल्य ने लिखा है कि जैसे एक पहिये से रथ नही चल सकता उसी प्रकार बिना मन्त्रियो के परामर्श के शासन ठीक प्रकार नही चल सकता।[2] मन्त्रि-परिषद् मे कितने मन्त्री थे यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। परन्तु गुप्त बातो पर सम्भवत राजा तीन या चार प्रमुख मन्त्रियो से ही मन्त्रणा करता था। सम्भवत युवराज, प्रधानमन्त्री, पुरोहित, सेनापति और कोषाध्यक्ष गुप्त मन्त्रणाओ मे भाग लेते थे।

मन्त्रि-परिषद् शासन के सभी कामो को देखती तथा नीति-निर्धारण करती थी। राज्य सभा मे जब राजा विदेशी राजदूतो से मिलता सभी मन्त्री उपस्थित होते। साधारणतया निर्णय भी बहुमत से किये जाते थे। परन्तु विशेष परिस्थितियो मे राजा बहुमत के विरुद्ध भी कार्य कर सकता था।[3]

केन्द्रीय विभाग

शासन की सुव्यवस्था के लिए चन्द्रगुप्त के समय मे निम्नलिखित १८ प्रमुख अधिकारी थे, जो अपने-अपने विभागो का सचालन करते। ये अधिकारी 'तीर्थ' कहलाते थे—

१ मन्त्री तथा पुरोहित	—यह सब महत्त्वपूण विषयो पर राजा को परामर्श देता था।
२. सेनापति	—सेना का सगठन व युद्ध आदि का प्रबन्ध करता था।
३. युवराज	—राजा को प्रत्येक कार्य मे सहायता देता था।
४. दौवारिक	—द्वारो की रक्षा करता था।
५ अन्तर्वंशिक	—अन्त पुर का रक्षक।
६. प्रशास्ता	—पुलिस विभाग का अध्यक्ष।
७. समाहर्ता	—राजकीय कर एकत्र करने वाला जनपदो का शासक।
८. सन्निधाता	—कोषाध्यक्ष।
९ प्रदेष्टा	—नैतिक अपराधो का प्रमुख न्यायाधीश।

१. प्रजासुखे सुखं राज्ञ: प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञ: प्रजानां तु प्रियं प्रियम्।
कौटिलीय अर्थशास्त्र १।१९

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र १।१।

३ कौटिलीय अर्थशास्त्र १।१५।

१०. नायक —नगर का प्रमुख पुलिस अधिकारी।
११. पौर —राजधानी का शासक।
१२. व्यावहारिक —साधारण न्यायाधीश।
१३. कर्मान्तिक —कारखानो का अधिकारी या उद्योग मन्त्री।
१४. मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष —परिषद् का प्रधान।
१५. दण्डपाल —पुलिस का प्रधान अधिकारी।
१६. दुर्गपाल —किले का रक्षक।
१७. अन्तपाल —सीमाओं की रक्षा करता था।
१८. आटविक —जगल विभाग का अध्यक्ष।

कोष, खान, धातु, सिक्के ढालने, नमक बनाने, भण्डार, राजकीय व्यापार, वन, शस्त्रालय, तोल, देश-काल की माप, चुगी, कताई-बुनाई, कृषि-कर्म, शराब, कसाईखाना, पासपोर्ट चरागाह, जुए, जेल, पशु, नौका-निर्माण, बन्दरगाहो, वेश्या, सेना, व्यापार, मन्दिर आदि का निरीक्षण करने के लिए अलग-अलग विभाग थे।

मौर्यकाल मे सिचाई की भी उचित व्यवस्था थी। मेगस्थनीज ने लिखा है कि कुछ अधिकारी भूमि को नापते और उन नालियो की देखभाल करते थे जिनमे होकर सिंचाई का पानी जाता था। सौराष्ट्र मे सिचाई के लिए सुदर्शन नामक झील के निर्माण का हम ऊपर उल्लेख कर चुके है।

(ख) प्रान्तीय शासन

चन्द्रगुप्त ने अपने विस्तृत राज्य को सम्भवत प्रान्तो मे बाँट रखा था क्योंकि अशोक के समय मे तक्षशिला, तोसलि (कलिग), ब्रह्मगिरि (मैसूर) और गिरनार (काठियावाड) मे राजपुरुष शासन चलाते थे। मगध और आसपास के प्रदेश मे राजा स्वय शासन करता था। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। चन्द्रगुप्त के समय मे सम्भवत. पाटलिपुत्र के अतिरिक्त तक्षशिला, कापिश, गिरनार, उज्जयिनी और सुवर्णगिरि मे ऐसे राजपुरुष, जो इन प्रान्तो के अध्यक्ष थे, रहते थे। इन राजपुरुषो मे से बहुत-से राजकुल के होते थे। ये अपने प्रान्तो मे शान्ति और सुव्यवस्था रखते, सीमा प्रदेशो मे शत्रुओ से रक्षा करते और केन्द्र को प्रमुख घटनाओ की सूचना देते।

(ग) स्थानीय शासन

ग्राम शासन

गाँवो का शासन ग्राम सभाएँ चलाती। सरकार ग्राम सभा के प्रमुख 'ग्रामिक' को नियुक्त करती थी। ग्राम-वृद्धो को, जो ग्राम सभा के सदस्य होते, गाँव वाले चुनते थे। ग्रामसभाएँ गाँव के झगड़े निबटाती और अपराधियो को दण्ड देती। वे सड़कें, पुल आदि भी बनवाती थीं।

नागरिक शासन

नगरो के शासको को 'नागरिक' कहते थे। वे नगर मे ठीक व्यवस्था रखते, कर वसूल करते और न्याय करते। वे विदेशियों और बदमाशो की भी देखभाल करते। शहर बहुत-से वार्डों मे बँटे थे। बड़े शहरो मे सम्भवत पाटलिपुत्र की भाँति शासन चलता था। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र की शासन-व्यवस्था का वर्णन किया है। नगर निगम मे तीस सदस्य थे। ये पाँच-पाँच सदस्यो की छ समितियों मे बँटे हुए थे। पहली समिति शिल्पों की देखभाल करती थी। यदि कोई व्यक्ति किसी शिल्पी को चोट पहुँचाता तो राजा उसे प्राणदण्ड देता था। दूसरी समिति विदेशियों की देखभाल करती और उनके रहने तथा चिकित्सा का भी प्रबन्ध करती थी। तीसरी जन्म-मरण के आँकडे रखती थी। चौथी उद्योग और व्यापार का नियन्त्रण करती और नाप-तोल के पैमानो तथा बाँटों की देखभाल करती थी। पाँचवी समिति यह देखती थी कि वस्तुओ के बनाने वाले नई-पुरानी वस्तुएँ मिलाकर तो नही बेचते। छठी बिक्री-कर वसूल करने का प्रबन्ध करती थी। ये तीस मेम्बर मिलकर जन-कल्याण के सभी कार्यों की व्यवस्था करते, जैसे मन्दिरों आदि का प्रबन्ध।

न्याय-व्यवस्था

साधारण अपराधों के लिए जुर्माने किये जाते थे किन्तु दण्ड-व्यवस्था सख्त थी। शिल्पी को चोट पहुँचाने और बिक्री-कर न देने पर प्राणदण्ड दिया जाता। व्यभिचार का दण्ड अगच्छद था। अपराधियों से अपराध स्वीकार कराने के लिए अनेक प्रकार की यातनाएँ दी जातीं। सम्भवत इस कठोर दण्ड-व्यवस्था के कारण अपराध कम होते थे।

आय के साधन

आय का प्रमुख साधन भूमि-कर था। यह उपज का छठा भाग लिया जाता था। खानो, वनो, सीमाओं पर चुंगी, घाटो पर कर, बिक्री-कर और जुर्मानो से भी सरकारी आय होती थी। कर को वसूल करने वाला अधिकारी समाहर्ता कहलाता था।

व्यय की मदें

राजकोष से राजा व उसके दरबार, सेना, राज्य की रक्षा का व्यय दिया जाता था। राजकर्मचारियों का वेतन, शिल्पियो का पुरस्कार, दान, धार्मिक सस्थाएँ, सडक, सिंचाई आदि व्यय की अन्य मदें थी।

सेना का प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त की सेना मे ६,००,००० पैदल, ३०,००० घुडसवार, ९,००० हाथी और ८,००० रथ थे। इस बडी सेना का प्रबन्ध तीस सदस्यो की एक परिषद् करती थी। ये तीस सदस्य छ समितियों मे बँटे हुए थे। प्रत्येक समिति मे पाँच सदस्य थे। ये छ समितियाँ निम्नलिखित छ. विभागो का प्रबन्ध करती थी —

१. नौसेना।

२. सेना यातायात व आवश्यक सामग्री।

३. पैदल सेना।

४. घुड़सवार।
५ रथ सेना।
६. हाथी सेना।

पाटलिपुत्र

मेगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र का वर्णन भी किया है। यह नगर उस समय १५.२६ कि० मी० लम्बा और लगभग २.८१ कि० मी० चौडा था यह सोन और गंगा नदियो के सगम पर स्थित था। इसके चारो ओर १८२.६ मीटर से अधिक चौडी और १३ ७ मीटर गहरी खाई थी। शहर के चारो ओर जो दीवार थी उसमे ५७० बुर्जियाँ और ६४ दरवाजे थे।

चन्द्रगुप्त का महल एक बडे बाग मे बना था। उसमे सुनहरे खम्भे और कई कृत्रिम तालाब थे। यह सूसा और एकबतना के महलो से अधिक सुन्दर था। इस महल के खण्डहर कुम्रहार नामक गाँव मे मिले है जो पटना के समीप है।

मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि राजा चार अवसरो पर अपने महल से बाहर जाता था—युद्ध के लिए, यज्ञ के लिए, न्याय करने के लिए और शिकार खेलने के लिए। उसको मेढो, साँडो, हाथियो और गैंडो के युद्ध पसन्द थे। बैलो की दौडो पर लोग खूब बाजी लगाते थे।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु

जैन अनुश्रुतियो के अनुसार जब मगध मे अकाल पडा तो चन्द्रगुप्त जैन आचार्य भद्रबाहु के साथ मैसूर चला गया। वहाँ उसने अनशन करके प्राण त्याग दिये। यह घटना सम्भवत. ३०० ई० पू० मे हुई।

चन्द्रगुप्त का मूल्यांकन

चन्द्रगुप्त एक साधारण क्षत्रिय घराने मे उत्पन्न हुआ था। उसने केवल १८ वर्ष की आयु मे अपने बाहुबल से पजाब और सिन्ध को विदेशियो की दासता से मुक्त किया। मगध आदि देशो को शक्तिशाली नन्द राजाओ के अत्याचार से मुक्त किया। विदेशी सेल्यूकस के आक्रमण से देश की रक्षा करके पश्चिम मे हिरात तक अपना राज्य फैला लिया। पश्चिम मे सौराष्ट्र तक और दक्षिण मे मैसूर तक दिग्विजय करके भारत मे राजनीतिक एकता स्थापित की। इन विजयो के कारण हम नि सन्देह चन्द्रगुप्त को चक्रवर्ती शासक कह सकते है। किन्तु वह केवल एक विजेता ही नही था। उसने अपने मन्त्री कौटिल्य की सहायता से सगठित और सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था स्थापित की। ऐसी अच्छी शासन-पद्धति वह चौथी शती पूर्व मे भारत मे स्थापित कर सका, यह कुछ कम आश्चर्य की बात नही हैं। उसने सारे देश मे एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करके वे परिस्थितियाँ ला दी जिनमे उसकी प्रजा ऐहिक और पारलौकिक दोनो प्रकार के सुख का उपभोग कर सकें। इन सब कार्यों से उसकी महत्ता का अनुमान सहज मे ही लगाया जा सकता है।

बिन्दुसार

लगभग ३०० ई० पू० से २७४ ई० पू०

चन्द्रगुप्त के पश्चात् मगध के सिंहासन पर उसका पुत्र बिन्दुसार बैठा। यूनानी लेखको ने

अशोक का साम्राज्य
कम्बोज
योन
शाहबाज-गढ़ी
मानसेहरा
गधार
हिमालय पर्वत
तोपरा
कालसी
बैराट
गुज्जरा
कौशाम्बी
पाटलिपुत्र
महसराम
रूपनाथ
सोराष्ट्र
गिरनार
उज्जयिनी
बोधगया
बराबर
सोपारा
भोज
राष्ट्रिक
पालकीगुंडु
धौली
जौगड़
कलिंग
मस्की
येरगुडी
सुवर्णगिरि
सतियपुत्र
चोल
पाण्ड्य
ताम्रपर्णी
अरब सागर
बंगाल
की
खाड़ी

अशोक का साम्राज्य

बिन्दुसार का नाम अमित्रघात लिखा है। तारानाथ ने लिखा है कि बिन्दुसार और चाणक्य ने लगभग १६ नगरों के राजाओं को नष्ट किया और पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रो के बीच के सारे प्रदेश को अपने आधिपत्य मे ले लिया। इससे प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत की विजय बिन्दुसार ने की, किन्तु जैन अनुश्रुति के अनुसार यह कार्य चन्द्रगुप्त ने किया था। अशोक के अभिलेखो से यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारत मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित था, अशोक ने केवल कलिंग को जीता। इसलिए दक्षिण भारत की विजय चन्द्रगुप्त या बिन्दुसार ने ही की होगी। बिन्दुसार कुछ आनन्दप्रिय शासक प्रतीत होता है इसलिए यह अधिक सम्भव है कि यह कार्य चन्द्रगुप्त ने ही किया हो, जैसा कि हमने ऊपर कहा है।

बिन्दुसार के राज्यकाल मे प्रान्तीय अधिकारियों के अत्याचार के कारण तक्षशिला के प्रान्त मे विद्रोह हुआ। बिन्दुसार का बडा पुत्र सुषीम उस प्रान्त का शासक था। जब वह इस विद्रोह को न दबा सका तो अशोक को इस काम के लिए भेजा गया। उसने पूर्णतया विद्रोह को दबाकर शान्ति स्थापित की।

बिन्दुसार ने विदेशो से भी शान्तिपूर्ण सम्बन्ध रखे। यूनान के राजा ने डेइमेकस नामक राजदूत को और मिस्र के राजा ने डायनीसियस नामक राजदूत को बिन्दुसार के दरबार मे भेजा। कहा जाता है कि बिन्दुसार ने सीरिया के राजा ऐन्टिओकस को लिखा था कि वह अपने देश से कुछ मधुर मदिरा, सूखे अजीर और एक दार्शनिक भेज दे। उत्तर मे सीरिया के शासक ने लिखा कि पहली दो वस्तुएँ तो वह बडी प्रसन्नता से भेज देगा, किन्तु सीरिया के नियमो को ध्यान में रखते हुए दार्शनिक भेजना सम्भव नही है। पत्र-व्यवहार से स्पष्ट है कि बिन्दुसार को दर्शन-शास्त्र मे रुचि थी और उसके समय मे भारत और पश्चिमी देशो मे सामाजिक, व्यापारिक और कूटनीतिक सम्बन्ध विद्यमान थे।

अशोक महान्

२७४ ई० पू० से २३६ ई० पू०

चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार के पश्चात् अशोक मगध के सिंहासन पर बैठा। उसको प्राचीन भारत का सबसे महान् नरेश कहना अत्युक्ति न होगी। उसके जीवन की घटनाओ को जानने का सबसे अधिक विश्वसनीय साधन उसके अभिलेख हैं जो उसने चट्टानो, प्रस्तर-खण्डो, गुफाओ और पत्थर के स्तम्भो पर खुदवाए थे। हम उसके प्रमुख अभिलेखो को चार श्रेणियो मे बाँट सकते हैं--

चौदह शिलालेख--जिन स्थानो पर अशोक के चौदह शिलालेख पाये गए हैं वे निम्नलिखित हैं--

(१) पेशावर जिले मे शाहबाजगढी, (२) हजारा जिले मे मानसेहरा, (३) देहरादून जिले मे काल्सी, (४) काठियावाड मे जूनागढ के निकट गिरनार, (५) बम्बई राज्य के थाना जिले मे सोपारा, (६-७) उडीसा राज्य में धौली और जौगड, और (८) आन्ध्र राज्य के कुर्नूल जिले मे येरगुडी।

लघु शिलालेख--इनमे से एक लेख तो तेरह स्थानो मे मिला है अर्थात् (१) जबलपुर जिले में रूपनाथ, (२) जयपुर जिले मे बैराट, (३) बिहार के शाहाबाद जिले मे सहसराम, (४) रायचूर जिले में मस्की, (५-६) मैसूर के कोपबल ताल्लुके मे रावीमठ और पालकीगुण्डु,

(७) मध्यप्रदेश के दतिया जिले मे गुज्जरा, (८-९) कुर्नूल जिले के राजुल मण्डगिरि और येरगुडी, (१०-१२) मैसूर के चीतलद्रुग जिले मे तीन स्थानों पर और (१३) कन्दहार के निकट शरेकुना मे। अन्तिम पाँच शिलालेखो मे पीछे से खुदवाया हुआ एक अतिरिक्त अभिलेख भी है ।

सात स्तम्भ अभिलेख—ये स्तम्भ राज्य के अनेक स्थानो पर है। इनमे से एक स्तम्भ फीरोजशाह तुगलक ने तोपरा से लाकर दिल्ली मे लगाया था। इस पर सातो राजाज्ञाएँ खुदी हैं। शेष स्तम्भो पर केवल छ राजाज्ञाएँ खुदी हैं।

अन्य अभिलेख—इनमे से सबसे प्रमुख अभिलेख लुम्बिनीवन मे है, जहाँ गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था। इसमे अशोक के इस स्थान पर जाने का उल्लेख है। दो छोटे अभिलेख आर्मिक लिपि मे खुदे, तक्षशिला और अफगानिस्तान के जलालाबाद जिले मे मिले हैं। अफगानिस्तान मे कन्दहार के समीप शरेकुना मे एक अभिलेख ऐसा मिला है जो यूनानी और आर्मिक दोनो लिपियो मे है। बराबर के दरीगृह मे दो अभिलेख है, जिनमे अशोक के आजीविको को ये दरीगृह दान देने का उल्लेख है।

शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा के लेख खरोष्ठी लिपि मे खुदे हैं जो फारसी की भाँति दाहिनी से बाईं ओर लिखी जाती है। शेष सारे लेख ब्राह्मी लिपि मे हैं जो वर्तमान नागरी लिपि का मूलरूप है और बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती है। अपने अभिलेखो मे अशोक सब जगह स्वय को 'देवान पिय पियदसि राजा' कहता है, नाम नही लेता। केवल मस्की और गुज्जरा के शिलालेखो मे अशोक का नाम लिखा है। इन सब शिलालेखो की भाषा मागधी प्राकृत है।

प्रारम्भिक जीवन

अशोक के प्रारम्भिक जीवन के विषय मे हमे उसके अभिलेखो से कोई विशेष जानकारी नही मिलती। इसके लिए हमे बौद्ध अनुश्रुति का आश्रय लेना पडता है। इसके अनुसार अशोक अपने ९९ भाइयो को मारकर सिंहासन पर बैठा था। उसकी क्रूरता के कारण लोग उसे 'चण्डाशोक' कहते थे। इन अनुश्रुतियो पर विश्वास नही किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि 'धर्माशोक' का चरित्र अधिक उज्ज्वल दर्शाने के लिए लेखको ने उसका पूर्व चरित्र इतना भयकर दिखाया है। अभिलेखो[1] मे अशोक अपने भाइयो के परिवार के प्रति प्रेम प्रकट करता है और उनकी सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखता है। उसने अपने भाई तिष्य को उपराजा नियुक्त किया था।

अपने पिता के समय मे अशोक अवन्ति राष्ट्र का राज्यपाल रह चुका था। वहाँ उसका महादेवी नाम की शाक्यकुलीन विदिशा की राजकुमारी से विवाह हुआ। उसी की सन्तान अशोक का पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा थे। अवन्ति से अशोक को तक्षशिला का विद्रोह दबाने भेजा गया था। कुछ इतिहासकारो के अनुसार अशोक ने राज्य की बागडोर २७४ ई० पू० मे अपने हाथ मे ले ली, किन्तु उसका राज्याभिषेक चार वर्ष पश्चात् अर्थात् २७० ई० पू० मे हुआ। इससे वे यह निष्कर्ष निकालते है कि अशोक को सिंहासन के लिए अपने भाइयो से अवश्य लडना पडा होगा। परन्तु हमारे पास इसके लिए निश्चित प्रमाण नही है।

१ शिलालेख ३, ४, ५, ६, ११, १२.

कलिंग विजय

नन्द राजाओ के समय मे कलिंग उनके साम्राज्य का भाग बन गया था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जब नन्द राजाओ की शक्ति क्षीण हो गई तो कलिंग के राजा स्वतन्त्र हो गए। हमे अशोक के १३वें शिलालेख से ज्ञात होता है कि राज्याभिषेक से आठ वर्ष पश्चात् उसने कलिंग को फिर से जीतने का निर्णय किया। कलिंग के निवासियो ने अपने देश की रक्षा के लिए घमासान युद्ध किया, परन्तु अन्त मे विजय अशोक की हुई। इस युद्ध मे १,५०,००० व्यक्ति बन्दी हुए, १,००,००० मारे गए और कई गुने संम्भवतः बीमारी आदि से मर गए। इस भीषण युद्ध का प्रभाव योद्धाओ तक ही सीमित न रहा। ब्राह्मणो, तपस्वियों और गृहस्थियों को भी इस भीषण युद्ध के कारण बडी हानि उठानी पडी। इस विजय के पश्चात् अशोक ने एक राजकुमार को कलिंग का राज्यपाल बनाकर तोसलि भेजा। धौली और जौगड में अशोक के दो अभिलेख मिले हैं इनमें अशोक ने अपने महामात्रो को आदेश दिया है कि वे प्रजा के साथ न्याय करे क्योकि वह अपनी प्रजा को अपनी सन्तान समझता था।

कलिंग के युद्ध ने अशोक के जीवन मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। इससे पहले वह उसी नीति का अनुसरण कर रहा था जो उसके पूर्वजो ने अपनाई थी। वे भारत के बाहर के राजाओ से मित्रता रखते थे और देश के अन्दर जो राज्य मौर्य राजाओ की छत्रछाया मे नही आये थे उन्हे जीतकर भारत मे चक्रवर्ती या एकच्छत्र राज्य स्थापित करना चाहते थे। अशोक ने भी कलिंग युद्ध तक यही नीति अपनाई। परन्तु इस युद्ध मे हुई हानि का अशोक पर ऐसा प्रभाव पडा कि उसने भारत की सीमाओ के भीतर भी साम्राज्य-विस्तार करने का विचार सदा के लिए छोड दिया। उसने तलवार के बल पर दिग्विजय का मार्ग छोडकर प्रेम और सहानुभूति से धर्म-विजय करने का निश्चय किया।

अशोक का धर्म

विभिन्न विद्वानो ने अशोक के धर्म के विषय मे विभिन्न मत प्रकट किये है। परन्तु हमे वही स्वरूप सही समझना चाहिए जो उसने अपने अभिलेखो मे व्यक्त किया है। इससे पहले कि हम अशोक के धर्म का विवेचन करे, समाज की तत्कालीन धार्मिक अवस्था पर सक्षेप मे विचार करना अनुचित न होगा। *अशोक के अभिलेखो*[1] मे ब्राह्मणो और श्रमणो का वर्णन है। ब्राह्मण वैदिक धर्म के अनुसार अपना जीवन बिताते थे। श्रमण वे तपस्वी थे जो वैदिक कर्मकाण्ड मे विश्वास नही रखते और जगलो मे श्रम या तप करते थे। सप्तम स्तम्भ लेख मे उसने सघ, आजीविको और निर्ग्रन्थो का भी वर्णन किया है। सघ से उसका तात्पर्य बौद्ध सघ से है। *निर्ग्रन्थो से तात्पर्य महावीर के अनुयायी जैनो से है* और आजीविक वे थे जो भोजनादि के विषय मे बडी कठोरता बरतते थे। स्त्रियाँ यक्ष, चैत्य, गन्धर्व और नागो की भी पूजा करती। अधिकतर मनुष्य कर्म सिद्धान्त मे विश्वास करते थे। इसका अपवाद केवल भक्ति मार्ग के अनुयायी थे, परन्तु उनकी सख्या अधिक न थी। ऐसी दशा मे एक ऐसे सरल व्यावहारिक धर्म की आवश्यकता थी जिसे अपनाकर मनुष्य अपनी ऐहलौकिक और पारलौकिक उन्नति कर सके।

हम अशोक के धर्म को दो भागो मे बाँट सकते है—उसका व्यक्तिगत धर्म और वह धर्म जिसका अनुसरण वह अपनी प्रजा से कराना चाहता था। जहाँ तक उसके व्यक्तिगत धर्म

१. *शिलालेख* ४।

का प्रश्न है, हम कह सकते है कि वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। कलिंग युद्ध के तुरन्त बाद वह बौद्ध हो गया। एक वर्ष पश्चात् वह सघ मे रहा। उसी समय वह बोधगया की तीर्थयात्रा करने गया और राज्याभिषेक के बीसवे वर्ष मे वह गौतम बुद्ध के जन्म-स्थान लुम्बिनीग्राम की तीर्थयात्रा पर गया।[1] मस्की के लघु शिलालेख मे उसने अपने को 'बुद्ध शाक्य' कहा है। भाब्रु के शिलालेख मे उसने बौद्ध धर्म के त्रिरत्न—बुद्ध, धर्म और सघ मे अपनी आस्था स्पष्ट रूप से प्रकट की है और बुद्ध के उपदेशो मे से कुछ लेकर मगध नरेश के रूप मे बौद्ध सघ के सदस्यो को आदेश दिया है। सारनाथ, कौशाम्बी और साँची के लघु स्तम्भ लेखों मे उसने बौद्ध सघ की एकता पर बल दिया है और जो सघ मे फूट डालने वाले व्यक्तियो को दण्ड देने की चेतावनी दी है।

परन्तु अपने निजी अनुभव से अशोक ने ज्ञात किया होगा कि बौद्ध धर्म सब जनता का एकमात्र धर्म नही हो सकता। वह ऐसा धर्म चाहता था जिसे जनसाधारण अपना सके। इसलिए अपनी प्रजा के नैतिक उत्थान के लिए उसने धर्म के मूल सिद्धान्तो का उपदेश दिया। धर्म के बाह्य रूप मे कुछ मतभेद हो सकता है, किन्तु धर्म के नैतिक स्वरूप के विषय मे कोई मतभेद नही है। तेरहवे शिलालेख मे वह स्वय लिखता है कि सब धर्मों मे, चाहे वे ब्राह्मण हो चाहे श्रमण, धर्म के मूल आचार एकसे है। उसका सार्वजनिक धर्म बौद्धो तक सीमित न था। सातवें शिलालेख मे वह स्वयं कहता है—सब धर्मों के व्यक्ति मेरे राज्य मे रह सकते है क्योकि सबका उद्देश्य आत्म-संयम और हृदय की पवित्रता है। वह सारी प्रजा मे धर्म के सार की वृद्धि चाहता था। उसने अपनी प्रजा को वह मार्ग बतलाया जिससे धर्म के सार की वृद्धि हो सकती है। बारहवे शिलालेख मे उसने कहा कि मनुष्य को अपनी वाणी पर सयम रखना चाहिए। उसे अकारण दूसरे धर्मों की निन्दा नही करनी चाहिए। जो ऐसा करता है वह अपने धर्म की हानि करता है और दूसरे धर्मों की भी। मनुष्यो को सब धर्मों के सिद्धान्त सुनने चाहिए जिससे उनका ज्ञान बढे और उनकी उन्नति हो।

अशोक ने अपने धर्म मे बौद्ध धर्म के उन सिद्धान्तो का समावेश नही किया जिनके विषय मे कुछ मतभेद हो सकता है। उसके अभिलेखो का धर्म उन नैतिक सिद्धान्तो पर आधारित है जो सर्वप्रिय हो सके। उसने अपने अभिलेखो मे चार आर्य सत्यो, अष्टांगिक मार्ग, निर्वाण आदि का जिक्र तक नही किया जो बौद्ध-धर्म की आधार शिला समझे जाते है।

उसका विचार था कि जनता का नैतिक जीवन तभी उच्च हो सकता है जब परिवार मे सबके आपस मे सम्बन्ध ठीक हो। इसीलिए उसने आदेश दिया कि सबको माता-पिता, अध्यापका और अवस्था और पद मे जो बडे हो उनका उचित आदर करना चाहिए। तपस्वियो, ब्राह्मणो, श्रमणो, सम्बन्धियो, मित्रो, परिचित व्यक्तियो, नौकरो, आश्रितो, निर्धनो और रोगियो के प्रति उदारता का व्यवहार करना चाहिए।[3] सबको यथाशक्ति दान देना चाहिए। इस प्रकार अशोक के धर्म मे चरित्र और आचार की प्रधानता थी न कि कर्मकाण्ड की।

अशोक के धर्म के दो रूप हैं— बाह्य रूप मे वह उन गुणो पर ज़ोर देता है, जिनसे समाज का

१. लघु शिलालेख १।
२. रुम्मिनदेई अभिलेख।
३. शिलालेख ६।

नैतिक उत्थान हो। दूसरे व सातवें स्तम्भ लेखों में उसने इन गुणों का वर्णन किया है। वह चाहता है कि मनुष्य पवित्र जीवन व्यतीत करें, लोक-कल्याण के कार्य करें, जैसे पेड़ लगाना, बाग लगाना, कुएँ खुदवाना, प्याऊ बैठाना आदि। पशुओं की हिंसा न करें और किसी जीव को हानि न पहुँचाएँ। सबको दान देकर सहायता करें और सब के साथ नम्रता का बर्ताव करें।

जहाँ तक अशोक के धर्म के आन्तरिक रूप का प्रश्न है, वह अन्तरावेक्षण पर ज़ोर देता है क्योंकि बिना उसके भाव-शुद्धि नहीं हो सकती। वह आत्म-संयम और दूसरों के प्रति सहिष्णुता का उपदेश देता है तथा कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने हृदय से हिंसा, क्रूरता, क्रोध, अहंकार और ईर्ष्या के भाव निकाल देने चाहिए।[1]

डॉ० भण्डारकर के अनुसार वह धर्म, जिसका उपदेश अशोक ने जनता को दिया बौद्ध धर्म का वह रूप था जिसका वर्णन स्वयं बुद्ध ने गृहस्थों के लिए दीर्घनिकाय के सक्खन सुत्तन्त में किया है। उसी निकाय के सिगालोवाद सुत्त में उन गुणों का वर्णन है जो बौद्ध-धर्म के अनुसार एक आदर्श गृहस्थ को अपने अन्दर धारण करने चाहिए। चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग और निर्वाण का आदर्श बौद्ध भिक्षुओं के लिए था, गृहस्थों के लिए तो स्वर्ग की कामना ही जीवन का ध्येय था। परन्तु उस धर्म को, जिसका उपदेश अशोक ने अपनी प्रजा को दिया, सब धर्मों का सार कहना अधिक युक्तिसंगत होगा।

धर्म-प्रचार के लिए अशोक के प्रयत्न

अशोक के राज्यकाल में तृतीय बौद्ध संगीति पाटलिपुत्र में हुई। इसके अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स ने निम्नलिखित बौद्ध धर्म-प्रचारकों को विदेशों में भेजा—

धर्म-प्रचारक	देश
१. मज्झन्तिक	कश्मीर, गन्धार
२. महारक्षित	यूनानी प्रदेश (गन्धार के उत्तर-पश्चिम मे)
३. मज्झिम	हिमालय प्रदेश
४. धर्म-रक्षित	अपरान्त (बम्बई का उत्तरी भाग)
५. महाधर्म-रक्षित	महाराष्ट्र
६ महादेव	महिष्मण्डल (मैसूर और मान्धाता)
७. रक्षित	वनवासी (उत्तरी कनारा)
८ सोण और उत्तर	सुवर्ण भूमि (पूर्वी द्वीपसमूह तथा ब्रह्मा)
९. महेन्द्र आदि	लका

स्वय अशोक ने अपने सर्वमान्य धर्म का उपदेश देने के लिए, (१) अन्तियोक (सीरिया के राजा एण्टिओकस थियोस), (२) तुरमय (मिश्र के राजा टालेमी फ़िलेडलफस), (३) अन्तिकिनि (मकदूनिया के राजा एण्टिगोनस गोनेतस), (४) मक (साइरीन के राजा मगस), और (५) अलिकसुदरो (एपिरस के राजा एलेक्ज़ेण्डर) नाम के पाँच पाश्चात्य राजाओ के पास भी अपने धर्म-प्रचारक भेजे। इसी प्रकार अशोक ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए दक्षिण भारत मे चोल और पाण्ड्य प्रदेशो में भी अपने दूत भेजे। उसने यह भी लिखा है कि यवन, कम्बोज, नाभक और नाभपंक्ति, भोज और पितिनिक, आन्ध्र और परिन्द

१. स्तम्भ लेख १ व ३।

भी उसके धर्म का अनुसरण कर रहे हैं। इन जातियो मे भी अशोक के दूतों ने धर्म-प्रचार का कार्य किया होगा ।

भारत निवासियों मे धार्मिक भावना जागृत करने के लिए भी अशोक ने कई कार्य किये। उसने उत्सवों का रूप ही बदल दिया। पहले समाज मे पशुओ की दौडें और आहार के लिए अनेक पशुओ का वध किया जाता था। इनमे हाथी, घोड़ो, भैंसों, सांडो, बकरो और मेढ़ों के युद्ध होते, मुर्गी और बटेरो को भी लडाया जाता। इनसे पशु-पक्षियो को अकारण कष्ट पहुँचता था। अशोक ने इनके स्थान पर स्वर्ग के रथ, दिव्य हाथी और स्वर्ग मे पुण्यात्माओं द्वारा भोगे जाने वाले सुखो के दृश्य मनुष्यो के सामने रखे, जिससे मनुष्य पुण्यात्मा बनें।[1]

वह जानता था कि कि कोरा उपदेश उतना प्रभाव नही डालता जितना स्वयं आचरण करना। उसने स्वय विहार-यात्राएँ छोडकर धर्म-यात्राएँ प्रारम्भ की तथा बुद्ध के जन्म-स्थान लुम्बिनीग्राम भी गया। उसने अपने रसोईघर मे आहार के लिए पशुओ का मारा जाना धीरे-धीरे बन्द कर दिया और स्वय निरामिषाहारी हो गया। अशोक ने प्रजा को भी आदेश दिया कि पर्व-तिथियो पर वे आहार के लिए या अकारण पशु-हिंसा न करे।[2] वह स्वय साधुओं, दरिद्रों और पीडितो को दान देता था। उसके ये कार्य बौद्ध भिक्षुओ तक ही सीमित न थे। उसने बराबर की पहाडी मे दरीगृह आजीविको को दिये।

इसी उद्देश्य से उसने धर्म महामात्र नियुक्त किए। धर्म महामात्रो का मुख्य कार्य प्रजा की आध्यात्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना था। धर्मोपदेशो को उसने चट्टानो और स्तम्भों पर खुदवाया तथा कोनाकमन (कनक मुनि) नामक पूर्वजन्म के बुद्ध के स्तूप को पहले से दूना बढाकर बनवाया।

उसने राजुक, प्रादेशिक और युक्त नामक अधिकारियो को आज्ञा दी कि वे धर्म की शिक्षाओ का प्रचार करें और प्रति पाँचवे वर्ष स्वय देखें कि प्रजा उन पर आचरण करती है या नही।

वह अपने तथा राज्य अधिकारियों के धर्माचरण से ही सन्तुष्ट न था वरन् उसने अपने उत्तराधिकारियो से भी यह आशा की कि वे भी इसी प्रकार धर्माचरण करते रहेगे।[3]

उसके इन प्रयत्नो का यह परिणाम हुआ कि प्रजा धर्म मे आस्था करने लगी। वह स्वय लिखता है---सारे भारत मे जो लोग पहले देवताओं के प्रति उदासीन थे वे धर्मानुरक्त हो गये। उसके प्रयत्नों से बौद्ध धर्म एक विश्व धर्म बन गया।

अशोक का साम्राज्य-विस्तार

अशोक ने अपने पूर्वजो से एक विस्तृत साम्राज्य पाया। सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को हिरात, कन्दहार, बिलोचिस्तान और काबुल की घाटी के प्रदेश दिये थे। ये चारो प्रदेश अशोक के अधिकार मे बने रहे। यह तथ्य इस बात मे भी स्पष्ट है कि उसके शिलालेख कन्दहार के निकट शरेकुना, पेशावर मे शाहबाजगढी और हजारा जिले मे मानसेहरा मे मिले हैं। युवान च्वांग ने भी लिखा है कि कापिश और जलालाबाद मे अशोक ने स्तूप बनवाये थे और कश्मीर उसके राज्य मे शामिल था।

१. शिलालेख ४।
२. स्तम्भलेख ५।
३ शिलालेख ६।

उत्तर मे अशोक के अभिलेख देहरादून जिले में कालसी और नेपाल की तराई में रूम्मिनदेई और निग्लीव मे मिले हैं। अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक ने नेपाल में ललितपाटन नामक नगर बसाया था। इन सब बातो से स्पष्ट है कि उत्तर मे उसका राज्य हिमालय तक फैला हुआ था।

दक्षिण-पश्चिम में गिरनार और सोपारा मे उसके अभिलेख मिले हैं। रुद्रदामा के जूनागढ़ वाले अभिलेख से भी स्पष्ट है कि अशोक के राज्य काल मे यवनराज तुषास्प सौराष्ट्र का राज्यपाल था। अत. दक्षिण-पश्चिमी भारत भी अशोक के राज्य मे सम्मिलित था। दक्षिण मे मस्की येरागुडी तथा मैसूर के चीतलद्रुग जिले तक उसके अभिलेख पाये गए है।

पूर्व में बंगाल उसके राज्य मे शामिल था। युवान च्वांग ने लिखा है कि यहाँ अशोक ने अनेक स्तूप बनवाए थे। कलिंग विजय तो स्वय अशोक ने ही की थी। इस प्रदेश में पुरी जिले में धौली और गंजम जिले मे जौगड में उसके दो शिलालेख मिले हैं।

अशोक के साम्राज्य की जो सीमा हमने अभिलेखो के आधार पर निश्चित की है उसकी पुष्टि उन जातियो की स्थिति से भी होती है, जिन्हें अशोक ने अपने राज्य की सीमा पर माना है। ये जातियाँ योन, कम्बोज, गन्धार, नाभक, नाभपंक्ति, राष्ट्रिक, भोज, आन्ध्र और परिन्द हैं। योन से तात्पर्य सम्भवत उन यूनानियो से है, जो निसा मे रहते थे। गन्धार की राजधानी तक्षशिला थी। राष्ट्रिक नासिक और पूना जिले तथा भोज सम्भवतः बम्बई के पास थाना और कोलबा जिलो मे रहते थे। नाभक और नाभपंक्ति सम्भवत बिलोचिस्तान में तथा परिन्द सम्भवत. उत्तरी बगाल मे रहते थे।

अपने राज्य की सीमा के बाहर उसने भारत के अन्दर चोल, पाण्ड्य, केरलपुत्र, सतियपुत्र और ताम्रपर्णि का उल्लेख किया है। भारत के बाहर उसने उन पाँचों यूनानी शासकों को माना है, जो सीरिया, मिस्र, मकदूनिया, सिरीन और एपिरस मे राज्य करते थे।

राज्य के अन्दर अशोक ने बोधगया, धौली, उज्जयिनी, सुवर्णगिरि, कौशाम्बी, पाटलिपुत्र आदि नगरो का उल्लेख किया है।

इन सब प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि अशोक का राज्य हिन्दुकुश से बगाल तक और हिमालय से मैसूर तक फैला हुआ था। पूर्व मे कलिंग और पश्चिम मे सौराष्ट्र उसके राज्य मे शामिल थे। सम्भवत प्राचीन भारत मे किसी अन्य राजा का राज्य इतना विस्तृत नही था।

अशोक का राजा का आदर्श

अशोक की धर्मानुरक्ति ने उसे राज्य के कार्यों से उपेक्षित नही किया। वह बडे उत्साह से अपनी प्रजा की ऐहलौकिक और पारलौकिक उन्नति मे लग गया। वह प्रजा को अपनी सन्तान समझता था। वह स्वयं कहता है कि जिस प्रकार मैं अपनी सन्तान को चाहता हूँ कि वह इस ससार मे और परलोक मे सुखी और समृद्ध रहे, ठीक उसी प्रकार मैं अपनी प्रजा को चाहता हूँ।[1] जैसे माँ अपने बालक को चतुर धाय को देकर निश्चिन्त हो जाती है, उसी प्रकार मैं अपने योग्य अधिकारियों पर अपनी प्रजा की देखभाल छोडकर निश्चिन्त हूँ।

वह प्रजा की सेवा करना उतना ही आवश्यक समझता था जितना कि ऋण चुकाना। वह स्वयं लिखता है कि मेरे लिए विश्व-कल्याण से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई कार्य नहीं है। मैं

१. कलिंग अभिलेख—२

जो कुछ कार्य जीवों को इस संसार में सुख प्राप्त करने और परलोक में स्वर्ग-प्राप्ति निमित्त करता हूँ वह इसीलिए करता हूँ कि मैं उन जीवों से उऋण हो सकूं। सम्भवत: प्रजा के हित-चिन्तन के लिए कर्त्तव्य का इतना ऊँचा आदर्श संसार के किसी अन्य नरेश ने अपने सामने नहीं रखा होगा। अशोक ने इस आदर्श को चट्टानों पर भी खुदवाया, जिससे कि उसके उत्तराधिकारी भी इस आदर्श का अनुसरण करें।[१]

अशोक यह समझता था कि ईश्वर ने उसे राजा बनाकर उसके ऊपर एक महत्त्वपूर्ण कार्य छोड़ा है जिसे उत्साहपूर्वक करना उसका कर्तव्य है। इसीलिए हर समय प्रजा की भलाई के कार्य करने को उद्यत रहता था। उसने छठे शिलालेख मे स्वय लिखा है कि 'विश्व का कल्याण करना मेरा प्रमुख कर्त्तव्य है और इसका मूल उत्साह के साथ कार्य को निबटाना है। इसलिए मैंने यह निश्चय किया है कि हर समय और हर स्थान पर, चाहे मैं भोजन कर रहा हूँ अन्त पुर मे हूँ, घुड़साल मे हूँ, घोड़े पर हूँ, या आनन्दवाटिका मे, प्रतिवेदक प्रजा के कार्य की सूचना मुझे दे सकते हैं।' इससे यह स्पष्ट है कि अशोक प्रजा के कार्य मे पूर्ण अभिरुचि रखता था। उसका ध्यान सदा लोक-कल्याण करने मे लगा रहता। इसीलिए उसने प्रत्येक अधिकारी को आदेश दिया कि वह तीन या पाँच वर्ष पश्चात् अपने प्रान्त का दौरा करे। वह नहीं चाहता था कि स्थानीय अधिकारी प्रजा के साथ किसी प्रकार का अत्याचार करें।

वह प्रजा को इस संसार मे सुखी बनाने के अतिरिक्त उनकी आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी यत्नशील था। मनुष्य और पशुओ की चिकित्सा के लिए उसने देश-विदेश में अस्पताल खोले। प्रत्येक आधे कोस पर कुएँ और विश्राम-गृह बनवाये तथा बड के वृक्ष और आम के बाग लगवाये। जहाँ औषधियो के पौधे न थे वे लगवाये। वह अपनी प्रजा का लौकिक और पारलौकिक कल्याण चाहता था। वह यह जानता था कि नैतिक सुधार के लिए जबर्दस्ती करना उचित नहीं है, परन्तु वह प्रजा पर अपना आतक रखता था। उसने अपनी प्रजा से कहा कि 'आप ऐसे कार्य न करें जिससे मुझे दण्ड देना पडे, क्योंकि उससे मुझे दु:ख होगा। परन्तु यदि आप मुझे ऐसा करने के लिए विवश करेंगे तो मैं कर्त्तव्यपालन मे पीछे न हटूंगा।'

उसने सातवें स्तम्भ-लेख मे अपना सन्तोष प्रकट किया है कि 'प्रजा ने उसके आदेशो का पालन किया है। वह कहता है कि जो भी अच्छे कार्य मैंने किये हैं प्रजा ने इनका अनुसरण किया है। वे इन्हीं के अनुसार आचरण कर रहे हैं।' इससे उसकी कुशल राजनीति स्पष्ट झलकती है।

अशोक का शासन-प्रबन्ध

अशोक का शासन-प्रबन्ध बहुत-कुछ वही था जो चन्द्रगुप्त मौर्य का। किन्तु अभिलेखादि के आधार पर हमे कुछ सूचनाएँ और मिलती हैं। राजा को परामर्श देने के लिए एक परिषद् होती थी। राजा के उच्चपदस्थ अधिकारी 'महामात्र' कहलाते थे। मुख्यमन्त्री शायद अग्रामात्य कहलाता। विभागो के अध्यक्षो को 'मुख' कहा जाता था। धर्म-महामात्र नैतिक विभाग की देखभाल करता था।[२] 'स्त्री-अध्यक्ष-महामात्र' स्त्रियो के विभाग का अध्यक्ष था।

१. शिलालेख—११।
२. शिलालेख—५।

सीमाओं की देखभाल करने वाले अधिकारियों को 'अन्त महामात्र' या 'अन्तपाल' कहते थे। सम्भवत: चरागाहों के मन्त्री को 'व्रजभूमिक' कहते थे। महामात्रों को राजदूत बनाकर विदेशों को भी भेजा जाता था।

साम्राज्य प्रान्तों में बँटा था। उनमे राजा के प्रतिनिधि या राज्यपाल शासन चलाते थे। तक्षशिला, उज्जयिनी, तोसलि और सुवर्णगिरि मे राजकुमार राजा के प्रतिनिधि थे। किन्तु कुछ भागों मे अन्यवंशीय राज्यपाल शासन चलाते थे जैसे सौराष्ट्र में अशोक का राज्यपाल यवन तुषास्प था। 'राजुक' भूमि और न्याय का प्रबन्ध करते। न्याय विभाग का अधिकारी 'व्यावहारिक' कहलाता। सम्भवत: प्रान्तो का विभाग 'प्रदेश' था। प्रदेश का अधिकारी 'प्रादेशिक' कहलाता। नगर शासन के प्रमुख को 'नागरक' कहते।

सरकारी अधिकारी 'पुरुष' कहलाते। उनमें तीन श्रेणियाँ थी—उच्च, मध्य और निम्न। निम्न श्रेणी के पुरुषो को 'युक्त' कहा जाता था। युक्तों का मुख्य कार्य महामात्रों के कार्यालयो मे राजाज्ञाओं को लिखना था। कुछ युक्त राजुको और प्रादेशिको के साथ दौरों पर जाते। साधारण लेखको को लिपिकार कहा जाता।

शासन-सुधार

अशोक ने अपने राज्य मे शासन-सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया। इसी उद्देश्य से उसने राजुको को न्याय-सम्बन्धी अधिक अधिकार दिये। स्थानीय अधिकारी प्रजा पर अत्याचार न करें, इस उद्देश्य से उसने प्रादेशिको, युक्तो, राजुकों और महामात्रों को आज्ञा दी कि वे हर पाँचवें या तीसरे वर्ष अपने क्षेत्र का दौरा करें जिससे से वे प्रजा की दशा से भली प्रकार परिचित हो सकें और प्रजा को अत्याचारो के कारण विद्रोह न करना पड़े। उसने उन अपराधियो को जिन्हे प्राण-दण्ड की सजा दी जाती, तीन दिन का अवसर दिया जिससे उनके मित्र और सम्बन्धी दान आदि देकर परलोक मे उनके कल्याण की कामना करें। मनुष्यो के नैतिक उत्थान के लिए उसने जो महामात्र आदि नियुक्त किये और लोक-कल्याण के लिए किये गये कार्यों का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। उसके शासन-प्रबन्ध मे अहिंसा को प्रमुख स्थान मिला। इसका आश्रय लेकर उसने भारत की सीमा के अन्दर भी युद्ध के द्वारा विजय की नीति छोड दी और कुछ पर्व के दिनों पर पशुओ की हिंसा बन्द करा दी। वह वस्तुस्थिति को जानता था, इसलिए उसने पशुओ का वध सर्वथा बन्द नही किया।

विदेश-नीति

अपने राज्यकाल के पहले १३ वर्षों मे अशोक ने अपने पूर्वजो की नीति अर्थात् भारत के अन्दर दिग्विजय करके एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करना और विदेशी राजाओ से मित्रता रखना, अपनाई थी। किन्तु कलिंग युद्ध के पश्चात् उसने भारत की सीमाओं के अन्दर भी दिग्विजय की नीति छोड़ दी। पहले कलिंग अभिलेख मे अशोक ने स्वयं स्पष्ट लिखा है कि उसके साम्राज्य की सीमा पर स्थित जो स्वतन्त्र राज्य हैं वे उससे भयभीत न हों तथा यह विश्वास रखें कि वे अशोक से सुख ही प्राप्त करेंगे न कि शोक। उसके विचार से सबसे बड़ी विजय धर्म-विजय है। वह स्वयं कहता है कि अब युद्ध के नगाड़ो (भेरिघोष) का स्थान धर्म-प्रचार की

ध्वनि (धर्मघोष) ने ले लिया है। उसने अपने पुत्र पौत्रो से भी यह आशा की कि वे दिग्विजय की नीति को तिलांजलि देकर धर्म-विजय की नीति अपनायें। किन्तु दिग्विजय की तिलांजलि देने का अर्थ यह नही था कि उसने देश की रक्षा से भी हाथ खीच लिया, या सेना को अपने नियत काम से छुट्टी दे दी। उसने स्पष्ट रूप से घोषित किया है, 'यदि उन प्रदेशो के निवासी, जिन्हे मैंने नहीं जीता है, जानना चाहते हैं कि मेरी क्या इच्छा है तो उन्हे बतला दिया जाए कि उनके प्रति मेरी यह इच्छा है। मेरे कारण वे किसी प्रकार चिन्तित न हो। मेरे मे विश्वास रखें। उन्हे इस व्यवहार का फल सुख ही मिलेगा न कि शोक। किन्तु वे यह भली प्रकार समझ लें कि मैं उनको एक सीमा तक ही क्षमा कर सकता हूँ उससे परे नही।' इसका अर्थ यह है कि यदि वे उपद्रव करेंगे तो वह उन्हें दण्ड देने के लिए विवश होगा।

अपनी उपर्युक्त घोषणा के अनुरूप उसने चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णि (लका) को जीतने का कोई प्रयत्न न किया, इसके विपरीत सीरिया के राजा एण्टियोकस द्वितीय थियोस, आदि से मित्रता के सम्बन्ध रखे।

यद्यपि अशोक ने अपने पडोसी राज्यो को जीतकर अपने राज्य मे नही मिलाया, किन्तु समय-समय पर वह उन्हे परामर्श देता रहता। उसने उनके राज्यो मे परोपकारी सस्थाए भी स्थापित की। इसका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि उसने उनको नैतिक दृष्टि से जीत लिया। इन राज्यो मे उसने अपने धर्म-प्रचारक ही नही भेजे, वरन् उनमे मनुष्यो और पशुओ के लिए अस्पताल खोले तथा औषधियो के पौधे लगवाये। इस प्रकार ये सब देश भारतीय सस्कृति के केन्द्र बन गये। अशोक के धर्म-प्रचार का प्रभाव पश्चिमी एशिया के लोगों पर कुछ-न-कुछ अवश्य पडा होगा, क्योकि बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म मे बहुत-सी समानताएँ है। इन समानताओ को हम आकस्मिक नही कह सकते। सम्भवत यूनानी राजाओ पर उनका कोई स्थायी प्रभाव नही पडा। जैसे ही मौर्य राजाओ की शक्ति क्षीण हुई उन्होने भारत पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये। जो धर्म-प्रचारक लका या स्वर्णभूमि भेजे गये उनका प्रभाव स्थायी हुआ। उन्होने इन देशो के राजाओ और प्रजा को बौद्ध बना लिया।

अशोक के निर्माण-कार्य

अशोक ने कई नगर बसाये थे। युवान च्वाग ने लिखा है कि अशोक ने कश्मीर मे श्रीनगर को बसाया। उसने इस नगर मे ५०० मठ बनाए, जिनमे रहने के लिए ५०० बौद्ध विद्वानो को बुलाया। नेपाल मे उसने देवपाटन नाम का शहर बनाया जिसमे उसकी पुत्री चारुमती रहती थी। उसने पाटलिपुत्र को भी बढाया। पाटलिपुत्र मे अशोक का महल अत्यन्त सुन्दर था। उसे देखकर फाहियान ने लिखा था, 'ऐसा प्रतीत होता है कि यह मनुष्यो का बनाया हुआ नही है। इसके लिए पत्थर इकट्ठे करने, दीवारो और दरवाजो को बनाने, खुदाई और पच्चीकारी का कार्य स्वय देवताओं ने किया है। कोई मनुष्य इतनी सुन्दर कृति तैयार नही कर सकता।'

अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने ८४,००० विहार बनवाये। हर विहार मे एक चैत्य था, जिसमे बुद्ध के भौतिक शरीर के अवशेष रखे गए थे। जब युवान च्वाग भारत आया था तब इन स्तूपो मे से ५०० स्तूप काश्मीर मे और ८० शेष भारत मे विद्यमान थे।

अशोक की सबसे अधिक प्रसिद्धि उसके स्तम्भों के कारण है। इन स्तम्भो की पालिश

इतनी चमकीली है कि कुछ विदेशियों ने इन्हें धातु या चिकने पत्थर का समझा। ये सब स्तम्भ एक पत्थर में से काटकर बनाये गए हैं। इनमे कही कोई जोड नहीं है। हर स्तम्भ पर एक शीर्ष है। इस शीर्ष के तीन भाग हैं। सबसे नीचे उलटे कमल के फूल की आकृति की खुदाई है जो आत्मा के विकास का प्रतीक है। कुछ विद्वान् इसे फारस की राजधानी मे इमारतो पर बनी घंटियाँ बतलाते है। इसके ऊपर चौकोर या गोल निकला हुआ पत्थर है जिस पर फूल या पशु बने हैं। सबसे ऊपर कुछ पशुओ की मूर्तियाँ हैं, जैसे सिंह, हाथी, साँड, घोड़ा आदि। सारनाथ का स्तम्भ इन स्तम्भो मे सबसे सुन्दर समझा जाता है। इसके शीर्ष मे सब से नीचे घंटियो के आकार के उलटे कमल के फूल है। उसके ऊपर पत्थर पर चारो दिशाओ मे चार पशु, हाथी, घोड़ा, बैल व शेर खुदे है जो चारो दिशाओ के अधिपति समझे जाते थे। सबसे ऊपर चार शेरो की मूर्तियाँ हैं जो कमर-से-कमर लगाये बैठे है। उनके ऊपर धर्मचक्र है। यह धर्मचक्र उस उपदेश की याद दिलाता है जो बुद्ध ने पहले-पहल अपने पाँच शिष्यों को सारनाथ मे दिया था। इन स्तम्भो से मौर्यकालीन पाषाण-कला के विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। प्रत्येक स्तम्भ लगभग ५० फीट लम्बा और तोल मे लगभग ५० टन है। पत्थर चुनार से पाटलिपुत्र ले जाया जाता और वहाँ से ये स्तम्भ देश के विभिन्न भागो मे दूर-दूर भेजे जाते थे।

सौराष्ट्र मे चन्द्रगुप्त के समय मे पहाडी नदियो म बाँध लगाकर सिंचाई के लिए सुदर्शन झील बनवाई थी। अशोक के समय मे इसमे बहुत-सी नई नालियाँ बनाई गई।

अशोक ने गया के निकट बराबर और नागार्जुनी की पहाडियो मे कई दरीगृह बनवाये। इनमे से सब से बडा लम्बाई मे लगभग १२.२ मीटर और चौडाई मे ५.२ मीटर है। इसकी ऊँचाई २ मीटर है। इसकी दीवारें शीशे की भाँति चमकती है।

अशोक के अन्तिम दिन

'दिव्यावदान' के अनुसार अशोक के अन्तिम दिन सुख से नही बीते। कहा जाता है कि जब उसने अपने पोते सम्प्रति के लिए राजसिंहासन छोड दिया तो उसने बौद्ध सघ को दिये जाने वाले दान की राशि और अशोक के निजी व्यय की धनराशि कम कर दी। किन्तु दिव्यावदान इतनी परतर कृति है कि उसके आधार पर अशोक के विषय मे कुछ यथार्थ कहना कठिन है।

राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार लगभग ६२ वर्ष की अवस्था मे २३६ ई० पू० मे अशोक की मृत्यु हो गई। डॉ० स्मिथ के अनुसार लगभग ४० वर्ष राज्य करने के पश्चात् अशोक की मृत्यु २३२ ई० पू० मे हुई।

अशोक के कार्यों का मूल्यांकन

एच० जी० वेल्स ने ससार के सक्षिप्त इतिहास मे अशोक को संसार का सबसे बडा राजा कहा है। अशोक का राज्य बहुत विस्तृत था, किन्तु उसकी महत्ता राज्य-विस्तार पर आधारित नही है। उसकी महत्ता उन सिद्धान्तो के कारण है जिन पर उसने अपना शासन चलाया। उसने दसवे शिलालेख मे स्वय लिखा है कि किसी राजा की कीर्ति उसकी प्रजा की नैतिक उन्नति की प्रसिद्धि से आँकी जा सकती है। उसकी महत्ता इस बात पर निर्भर है कि

उसने महान् विजय के क्षण मे युद्ध का मार्ग छोड़कर शान्ति का मार्ग अपनाया। राजा अधिकतर विजयोन्मत्त होकर ससार-विजय के स्वप्न देखते हैं। किन्तु अशोक ने कलिंग-युद्ध के पश्चात् भेरि-घोष बन्द करके धर्म-घोष करने का निश्चय किया। अशोक ने उन सिद्धान्तो को अपने जीवन में अपनाया जिन पर आचरण करने का उसने अपनी प्रजा को उपदेश दिया। उसने स्वयं आहार के लिए पशु-हिंसा बन्द कर दी। उसने केवल बौद्ध सघ को ही नही, वरन् ब्राह्मणो और आजीविको को भी दान दिया। उसका उद्देश्य अपनी प्रजा की ऐहिक और पारलौकिक उन्नति करना था। परन्तु उसके कल्याण-कार्य भारत तक ही सीमित न थे, वे विभिन्न राष्ट्रों मे फैले हुए थे। वह विश्व का कल्याण चाहता था। उसे पशु-पक्षियो की भी उतनी ही चिन्ता थी जितनी मनुष्यो की। उसने पूर्ण अहिंसा का व्रत लिया था, किन्तु इसका यह अर्थ नही कि वह कर्त्तव्य पालन से विमुख हो गया हो। वह हर समय प्रजा के कार्य करने को उद्यत रहता। प्रजा की रक्षा करना वह एक ऋण चुकाना समझता। वह सारी प्रजा को अपनी सन्तान मानता था। ससार के किसी अन्य देश मे शायद ही ऐसे उच्च आदर्श वाला कोई राजा हुआ हो। उसने अपने राज्यकाल मे सारे देश को एक सूत्र मे पिरो दिया। सारे देश की भाषा मागधी प्राकृत हो गई, जिसमे उसकी आज्ञाएँ खुदी हुई है। कला के क्षेत्र मे भी उसके समय मे बहुत उन्नति हुई। उसके स्तम्भ भारतीय कला के उत्तम नमूने है। इस प्रकार यह कहना अत्युक्ति न होगा कि अशोक ससार के चमकते हुए तारो मे से एक सबसे चमकता हुआ तारा है, जो आगे आने वाली पीढियो को सदा शान्ति का मार्ग दिखलाता रहेगा।

मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए अशोक का उत्तरदायित्व[1]

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार मौर्य साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण ब्राह्मणो की प्रतिक्रिया थी। वे अशोक की उन आज्ञाओ के विरुद्ध थे जो उसने यज्ञो मे पशुओ की हिंसा के विरुद्ध प्रकाशित की थी। उनका यह विचार ठीक नही प्रतीत होता, क्योकि पशु-हिंसा के विरुद्ध तो बहुत-से हिन्दू ऋषियो ने अशोक से पहले ही अपना विचार व्यक्त किया था। धर्म-महामात्रो की नियुक्ति भी ब्राह्मणो के विशेषाधिकारो पर कोई कुठाराघात नही था। दण्ड-समता और व्यवहार-समता बरतने का जो आदेश अशोक ने अपने राजुको को दिया था उसका अर्थ यह नहीं कि ब्राह्मणो के प्रति कोई विशेष सख्ती का व्यवहार किया जाए। फिर हमारे पास ऐसे कोई प्रमाण नही है कि ब्राह्मणो ने सगठित होकर अशोक की नीति के विरुद्ध कोई विद्रोह किया हो। इसलिए अशोक की नीति के विरुद्ध ब्राह्मणो की प्रतिक्रिया को मौर्य-साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण समझना युक्तिसगत नही प्रतीत होता।

कुछ इतिहासकार यूनानी आक्रमणो को मौर्य-साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण समझते हैं। यह भी ठीक प्रतीत नहीं होता क्योकि सबसे पहला यूनानी आक्रमण एण्टियोकस महान् का था, जो २०६ ई० पू० में हुआ और मौर्य-साम्राज्य के पतन का प्रारम्भ कल्हण और पोलीबियस के अनुसार काफ़ी पहले हो गया था।

कोशाम्बी का मत था कि पिछले मौर्य राजाओ के राज्यकाल मे मौर्य साम्राज्य की

१. इस विषय का अध्ययन करने के लिए देखिए:
Romila Thapar--*Asoka and the Decline of the Mauryas*, Chapter VII

आर्थिक दशा बहुत बिगड़ गई। इसका आधार उन्होंने सिक्कों मे खोट की मात्रा की वृद्धि माना है। किन्तु उनका यह निष्कर्ष ठीक नहीं प्रतीत होता क्योंकि हस्तिनापुर और शिशुपालगढ़ में जो अवशेष मिले हैं उनसे यह प्रकट होता है कि इस काल में उत्तर भारत मे पर्याप्त भौतिक उन्नति हुई थी। भारहुत, साँची, अमरावती तथा नागार्जुनकोण्ड की मूर्तिकला नए धनीवर्ग की उत्पत्ति का स्पष्ट प्रमाण है।

हेमचन्द्र रायचौधुरी के अनुसार पतन का एक कारण सीमान्त प्रदेशों में शासन करने वाले राज्यपालो का अत्याचार था। हमे ज्ञात है कि तक्षशिला की जनता ने इसी कारण विद्रोह किया था, जब अशोक ने उज्जयिनी से तक्षशिला आकर इसे दबाया था। अशोक के समय मे फिर तक्षशिला के लोगो ने इसी कारण विद्रोह किया। सम्भवत: अन्य प्रान्तों में भी राज्यपालों के अत्याचारो के कारण लोग स्वतन्त्र होना चाहते थे।

मौर्य साम्राज्य के पतन का दूसरा प्रमुख कारण यह था कि अशोक के उत्तराधिकारी इतने योग्य न थे कि देश मे पूर्ण शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रखते। रायचौधुरी का विचार है कि अशोक की अहिंसा की नीति ने साम्राज्य की शक्ति को निर्बल बना दिया। उनका विचार है कि सम्भवत: अशोक ने अपनी शान्ति की नीति के कारण सैनिक अभ्यासों और प्रदर्शनों को बन्द कर दिया, इसलिए सेना निकम्मी हो गई। यह विचारधारा पूर्ण रूप से ठीक नहीं है। इसमे कुछ अशो मे सत्यता हो सकती है। अशोक हिंसा का मार्ग छोड़कर विश्व में शान्ति और प्रेम का राज्य स्थापित करना चाहता था, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह न्याय की स्थापना के लिए यदि आवश्यकता हो तो शक्ति का प्रयोग नही करेगा। हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि उसने अपनी सेना कम कर दी। यदि सैनिक शक्ति क्षीण हो गई होती तो उसका साम्राज्य उसके राज्यकाल मे ही छिन्न-भिन्न हो गया होता। उसने उपद्रव मचाने वाली जगली जातियो को स्पष्ट शब्दो मे चेतावनी दी थी कि यदि वे नैतिक नियमो का उल्लघन करेंगे या हिंसात्मक कार्य करेंगे, तो वह उन्हे पूरी शक्ति से दण्ड देने मे नही हिचकिचाएगा।

मौर्य साम्राज्य के पतन का तीसरा कारण स्थानीय स्वातन्त्र्य की भावना का प्रबल हो जाना था। प्राचीन भारत मे कभी तो केन्द्रीकरण की शक्तियाँ इतनी प्रबल हो जाती कि उनके सामने स्थानीय स्वराज्य की भावना देश की एकता मे बाधा नही डाल पाती थी, किन्तु जैसे ही केन्द्रीय शक्ति कुछ निर्बल हो जाती, स्थानीय स्वारज्य की शक्तियाँ प्रबल हो जाती और देश के टुकडे-टुकडे हो जाते थे। यही दशा अशोक की मृत्यु के पश्चात् हुई। अशोक के निर्बल उत्तराधिकारियो के सामने एक-एक करके सीमावर्ती सब प्रान्त मौर्य-साम्राज्य से अलग हो गए। अशोक की मृत्यु के तुरन्त बाद पूर्वी साम्राज्य का शासक दशरथ बना और पश्चिमी का कुणाल। इससे शासन-व्यवस्था मे कुछ ढील अवश्य आ गई होगी।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी का यह निष्कर्ष ठीक प्रतीत होता है कि मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए अशोक को दोषी ठहराना उचित नही है। उसका प्रमुख कारण वह राज्य-व्यवस्था थी जिसमे एक राजा के पश्चात् उसका पुत्र सिंहासन पर बैठता था, चाहे वह कितना ही अत्याचारी या अयोग्य क्यों न हो। व्यक्तिगत शासन की सफलता शासक की व्यक्तिगत योग्यता व प्रजा के हित की भावना पर निर्भर है। ये सब गुण एक अच्छा राजा सदा अपने उत्तराधिकारी मे नही छोडता। इसीलिए लोकतन्त्र शासन राजतन्त्र शासन की अपेक्षा अच्छा समझा जाता है।

लोकतन्त्र शासन इसलिए सफल होता है कि उसे प्रत्येक कार्य मे जनता का सहयोग मिलता

है। निरकुश राजतन्त्र में यह सम्भव नहीं है। वास्तव से उस समय जनता मे राष्ट्रीयता की भावना का सर्वथा अभाव था। राजकर्मचारी राजा के प्रति निष्ठा रखते थे न कि राज्य के प्रति। प्रशासन मे भी अधिकतर शक्तियाँ राजा के हाथ मे थी। ऐसे प्रशासन मे जनता के सहयोग के लिए पर्याप्त अवसर ही न था। लोकमत को प्रकट करने वाली कोई सस्थाएँ मौर्य-काल मे न थी।

डॉ० रोमिला थापर का मत है कि मौर्य साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण मौर्यकालीन शासन-व्यवस्था ही थी। इसमे राज्यसत्ता ऊपर के थोडे अधिकारियो के हाथ मे थी और जनता मे राष्ट्रीयता की भावना का सर्वथा अभाव था।

कुछ भी हो यदि हम यह मान भी ले कि अशोक के शान्ति के पुजारी हो जाने से मौर्य साम्राज्य की सैनिक शक्ति कुछ कम हो गई थी तो भी इसके लिए अशोक को दोषी ठहराना ठीक नही है। वह एक ऐसा सम्राट् था जो शान्ति की नीति अपनाकर विश्व-प्रेम और विश्व-बन्धुत्व का आदर्श अब से २२५० वर्ष पूर्व भारतीय जनता के सामने रख रहा था। वह भारत और विश्व को हिंसा और युद्ध के घातक परिणामो से बचाकर ससार को वही पाठ पढ़ाना चाहता था जिसके लिए ससार के सभी महान् राष्ट्र अब सयुक्त राष्ट्र सघ के द्वारा प्रयत्नशील है।

अशोक के उत्तराधिकारी[१]

अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य क्षीण होने लगा। इस वश के कुछ राजा लगभग पचास वर्ष तक राज्य करते रहे, किन्तु उनका राज्य मगध तक सीमित था। पुराणो म जो वशावलियाँ दी हैं वे एक-दूसरे से नहीं मिलती। परन्तु सब पुराणो ने लिखा है कि इस वश ने १३७ वर्ष राज्य किया। चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार और अशोक ने मिलाकर ८५ वर्ष राज्य किया, इसलिए उनके उत्तराधिकारियो का राज्य ५२ वर्ष बैठता है। इन सब पुराणो, अशोकावदान, जैन-परम्पराओ, कल्हण की राजतरगिणी, यूनानी लेखको के वर्णन, हर्ष चरित और तिब्बत के इतिहासकार तारानाथ के वर्णन का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि सम्भवत: अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य साम्राज्य दो भागो मे बँट गया। पश्चिमी भाग म पहले अशोक के पुत्र कुणाल ने और उसके बाद कुछ वर्ष सम्प्रति ने राज्य किया। यह सम्भव है कि इसके दक्षिणी प्रदेशो के शासक पीछे से बन्धुपालित, इन्द्रपालित तथा दशोन रहे हो। इस प्रदेश पर उत्तर-पश्चिम से यवनो ने और दक्षिण भारत के उत्तर मे रहने वाले आन्ध्रो ने आक्रमण किये।

मौर्य साम्राज्य के पूर्वी भाग पर पाटलिपुत्र से सम्भवत निम्नलिखित राजाओ ने निम्न-लिखित क्रम से राज्य किया—

दशरथ	—	८ वर्ष
सम्प्रति	—	९ वर्ष
शालिशूक	—	१३ वर्ष
देववर्मा	—	७ वर्ष

१ विशेष अध्ययन के लिए देखिए :
Romila Thapar—*Asoka and the Decline of the Mauryas*, **Chapter VI.**

शतधन्वा — ८ वर्ष
बृहद्रथ — ७ वर्ष

इन राजाओं का राज्यकाल अनुमानत दिया गया है, इसलिए एक या दो वर्ष का अन्तर भी हो सकता है। यदि अशोक की मृत्यु २३३-३२ ई० पू० मे हुई तो इन राजाओं के राज्यकाल के ५२ वर्ष जोड़ने पर मौर्य वंश की समाप्ति १८१-१८० ई० पू० मे हुई होगी। अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ को उसी के ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने मारकर शुग वश की नीव डाली।

शुंग वंश

१८६ ई० पू० से ७५ ई० पूर्व

बाण ने 'हर्ष-चरित' मे लिखा है कि अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र ने सेना के एक प्रदर्शन का आयोजन किया और राजा को इस प्रदर्शन को देखने के लिए आमन्त्रित किया। उस समय उपयुक्त अवसर समझकर उसने राजा का वध कर दिया।

राज्य-विस्तार और शासन

'मालविकाग्निमित्र', 'दिव्यावदान' व तारानाथ के अनुसार पुष्यमित्र का राज्य नर्मदा तक फैला हुआ था। पाटलिपुत्र, अयोध्या और विदिशा उसके राज्य के मुख्य नगर थे। विदिशा मे पुष्यमित्र ने अपने पुत्र अग्निमित्र को अपना प्रतिनिधि शासक नियुक्त किया। धनदेव के अयोध्या अभिलेख से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किये। नर्मदा नदी के तट पर अग्निमित्र की महादेवी धारिणी का भाई वीरसेन सीमा के दुर्ग का रक्षक नियुक्त किया गया था।

विदर्भ से युद्ध

'मालविकाग्निमित्र' नाटक से हमें ज्ञात होता है कि विदर्भ मे यज्ञसेन ने एक नए राज्य की नीव डाली थी। वह मौर्य राजा बृहद्रथ के सचिव का साला था। इससे प्रकट होता है कि वह पुष्यमित्र के विरुद्ध था। पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने यज्ञसेन के चचेरे भाई माधवसेन से मिलकर एक षड्यन्त्र रचा। इसलिए यज्ञसेन के अन्तपाल ने माधवसेन को पकड लिया। इस पर अग्निमित्र ने वीरसेन को यज्ञसेन के विरुद्ध भेजा। वीरसेन ने यज्ञसेन को हरा दिया। इस पर यज्ञसेन को अपने राज्य का कुछ भाग माधवसेन को देना पडा। इस प्रकार विदर्भ राज्य को पुष्यमित्र का आधिपत्य स्वीकार करना पडा।[1]

यूनानियों का आक्रमण

पतंजलि के महाभाष्य से हमे दो बातों का पता चलता है कि पतंजलि ने स्वयं पुष्यमित्र

१. कुछ इतिहासकारों के अनुसार कलिंग के राजा खारवेल ने अपने राज्यकाल के आठवें वर्ष में पुष्यमित्र के राज्य पर आक्रमण किया और उसे वहाँ से भागने के लिए विवश किया। वे खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख के उल्लिखित बृहस्पतिमित्र का अर्थ पुष्यमित्र लगाते हैं, परन्तु यह घटना पुष्यमित्र के साथ घटी यह बहुत संदिग्ध है।

के लिए अश्वमेध यज्ञ कराये और उस समय एक आक्रमण मे यूनानियों ने चित्तौड़ के निकट मध्यमिका नगरी और अवध मे साकेत का घेरा डाला, किन्तु पुष्यमित्र ने उन्हें पराजित किया। 'गार्गी संहिता' के युग पुराण मे भी लिखा है कि दुष्ट, पराक्रमी यवनों ने साकेत, पंचाल और मथुरा को जीत लिया। सम्भवत. यह आक्रमण उस समय हुआ जब पुष्यमित्र मौर्य राजा का सेनापति था। सम्भव है कि इस युद्ध मे विजयी होकर ही पुष्यमित्र बृहद्रथ को मारकर राजा बना हो। कालिदास ने यूनानियो के एक दूसरे आक्रमण का वर्णन अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' मे किया है। यह युद्ध सम्भवत पजाब मे सिन्धु नदी[1] के तट पर हुआ और पुष्यमित्र के पोते और अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र ने इस युद्ध मे यूनानियो को हराया। शायद इस युद्ध का कारण यूनानियो का अश्वमेध के घोड़े को पकड लेना हो। सम्भवत यह यूनानी आक्रमणकारी, जिसने पुष्यमित्र के समय मे आक्रमण किया, डिमेट्रियस था।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि पुष्यमित्र ने यूनानियो से कुछ समय के लिए भारत की रक्षा की। यूनानियो को पराजित करके ही सम्भवत. पुष्यमित्र ने वे अश्वमेध यज्ञ किये जिनका उल्लेख धनदेव के अयोध्या अभिलेख मे है।

पुष्यमित्र की धार्मिक नीति

बौद्ध धर्म-ग्रन्थो मे लिखा है कि पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्म का कट्टर समर्थक था। उसने बौद्धो के साथ अत्याचार किया। कहते हैं कि उसने पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध बौद्ध मठ कुक्कुटाराम को, जिसे अशोक ने बनवाया था, नष्ट करने की योजना बनाई। उसने पूर्वी पंजाब मे शाकल के बौद्ध केन्द्रों को भी नष्ट करने का प्रयत्न किया। 'दिव्यावदान' मे लिखा है कि उसने प्रत्येक बौद्ध भिक्षु के सिर के लिए १०० दीनार देने की घोषणा की। परन्तु यह वृत्तान्त ठीक नही प्रतीत होता। भारहुत के अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस समय बहुत-से दानियो ने तोरण आदि के लिए स्वेच्छा से दान दिया। भारहुत शुग साम्राज्य के अन्दर था और विदिशा के इतने समीप था। यदि पुष्यमित्र की नीति बौद्धो पर सख्ती करने की होती तो वह अवश्य विदिशा के राज्यपाल को आज्ञा देता कि वह बौद्धो को इमारतें बनाने की आज्ञा न दे। सम्भव है कुछ बौद्धों ने पुष्यमित्र का विरोध किया हो और राजनीतिक कारणो से पुष्यमित्र ने उनके साथ सख्ती का बर्ताव किया हो।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी

पुराणो मे पुष्यमित्र के पश्चात् नौ अन्य शुग राजाओ के नाम लिखे है। अग्निमित्र का नाम कुछ सिक्को पर खुदा है जो रुहेलखण्ड मे मिले हैं। वसुमित्र का भी नाम

१. यह सिन्धु नदी कौन-सी थी इस विषय में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। वी० ए० स्मिथ का मत है कि यह सिन्धु नदी राजपूताना की काली सिन्धु है जो चम्बल की सहायक नदी है या वह सिन्धु जो यमुना नदी की सहायक नदी है। किन्तु डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय के अनुसार इस नदी को पंजाब की सिन्धु नदी मानने में कोई कठिनाई नहीं है, क्योंकि 'मालविकाग्निमित्र' के अनुसार विदिशा से यह नदी बहुत दूर थी।

२. दिनेशचन्द्र सरकार, राधाकुमुद मुकर्जी और सुधाकर चट्टोपाध्याय हमारे मत से सहमत हैं, किन्तु वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि यह आक्रमण मिनाण्डर का था।

'मालविकाग्निमित्र' में आता है। सम्भवत. हेलियोडोरस के बेसनगर के गरुडध्वज अभिलेख में भागवत नाम के राजा का उल्लेख है। सम्भव है वह भी इसी वंश का रहा हो। इस वंश का अन्तिम राजा देवभूति था जिसे उसके अमात्य वसुदेव ने मारकर ७५ ई० पू० के लगभग काण्व वंश की नींव डाली।

काण्व वंश

७५ ई० पू० से ३० ई० पू०

काण्व वंश मे चार राजा हुए—वसुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मा, जिन्होंने लगभग ४५ वर्ष राज्य किया। काण्व वश के उपरान्त मगध में कौन राजा हुए, यह कहना कठिन है। पाटलिपुत्र मे कुछ काल के लिए मित्र वंश के राजाओ ने राज्य किया। उनके पश्चात् शक-मुरुण्डो का इस प्रदेश पर अधिकार हो गया। अन्त मे नाग वंश और गुप्त वश के राजाओं ने शक-मुरुण्डो का नाश किया।

मौर्यकालीन समाज व संस्कृति

राजनीतिक सिद्धान्त

'कौटिल्य का अर्थशास्त्र' इस काल के राजनीतिक सिद्धान्तो के जानने का प्रमुख साधन है। जैसा हम कह चुके हैं, अधिकतर भारतीय विद्वानो का मत है कि यह चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री कौटिल्य की रचना है और मौर्यकालीन राजनीतिक अवस्था को चित्रित करता है।

राजा के पद के मूल के विषय मे कौटिल्य लिखता है कि जब सब मनुष्य अराजकता के कारण कष्ट पाने लगे तो उन्होने मनु को अपना राजा चुना और उपज का छठा भाग और व्यापार की वस्तुओ का दसवाँ भाग उसे देने का निश्चय किया। राजा ने इसके बदले में प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। बौद्ध ग्रन्थो मे लिखा है कि मनुष्यों ने उस व्यक्ति को अपना राजा चुना जो सबसे सुन्दर, दयालु और शक्तिशाली था। इस प्रकार इन सिद्धान्तो मे सामाजिक सविदा का सिद्धान्त स्पष्ट दिखलाई देता है।

प्राचीन भारत के राजनीतिशास्त्र के विद्वान् राज्य को राजा के पद से सर्वथा भिन्न समझते थे। वे राज्य की तुलना मनुष्य के शरीर से करते थे। हम पहले कह आये हैं कि कौटिल्य ने राज्य के सात अगो का वर्णन किया है। ये सात अंग राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, सेना और मित्र थे। इन अंगो में वे सब बातें आ जाती हैं, जो आजकल एक राज्य का आवश्यक अंग समझी जाती है, जैसे एक निश्चित भूभाग और सगठित शासन। परन्तु प्राचीन भारत मे राज्य को व्यक्ति के प्रत्येक कार्य मे हस्तक्षेप करने का अधिकार था। मनुष्य के सांसारिक और नैतिक आदि सभी विषयों मे राज्य का दखल था। राज्य मनुष्य के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा, न्याय और आर्थिक नियन्त्रण करने के साथ-साथ परिवार के व्यक्तियो के निजी सम्बन्धों और धर्म और समाज के नियमो का पालन करने के लिए भी नागरिको को बाध्य कर सकता था। राज्य प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और नैतिक जीवन की भी देखभाल करता था। राज्य को हर काम में हस्तक्षेप करने की पूरी छूट थी। इसका मुख्य कारण यह था

कि ये सब विभाग धर्म के व्यापक शब्द मे शामिल थे। जीवन को एक सामूहिक इकाई समझा जाता था। इसलिए राज्य भी प्रत्येक काम मे हस्तक्षेप कर सकता था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि राज्य मनमानी करता था। स्थानीय समाजो और धार्मिक एव सामाजिक संगठनों को अपने नियम बनाने की स्वतन्त्रता थी और राजा भी इन सगठनो के नियमो को स्वीकार करता था।

कौटिल्य ने राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का भी विवेचन किया है। उसने लिखा है कि शासक को दूसरे राज्यो के साथ ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिससे उसके राज्य की शक्ति व समृद्धि बढ़े। इसके लिए उसने चार उपाय बताए हैं—साम अर्थात् मेल या समझौते द्वारा, दान—सहायता देकर, भेद—फूट डालकर और दण्ड—उसके विरुद्ध कार्यवाही करके। कौटिल्य नैतिक बातो को राजनीति मे प्रमुख स्थान नही देता।

शासन-प्रणाली

राजतन्त्र—मौर्यकाल एक साम्राज्य का युग था। इस काल मे राजा की शक्ति बहुत बढ गई। सेना, कोष, राज्य-प्रबन्ध और न्याय सभी उसके अधिकार में थे। परन्तु राजा मनमानी नही कर सकता था।

राजा की उचित शिक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। राजा का दैनिक कार्यक्रम इतना व्यस्त था कि वह राजकार्यों की उपेक्षा कर ही नही सकता था। प्रजा किसी भी आवश्यक कार्य के लिए राजा के पास पहुँच सकती थी। राजा का मुख्य कार्य प्रजा की रक्षा और उसे सुखी बनाना था।

मन्त्रिपरिषद् का बहुत महत्त्व था। कौटिल्य ने लिखा है कि राजा को महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर पत्र भेजकर अनुपस्थित मन्त्रियों की सम्मति जाननी चाहिए। मन्त्रियो की सख्या ३-४ से १२ तक होती थी।

कौटिल्य ने प्रमुख अधिकारियो मे पुरोहित, सेनापति, मुख्य न्यायाधीश, प्रतिहार (द्वारपाल), सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) और समाहर्ता (कर इकट्ठा करने वाला अधिकारी) लिखे है। इनके अतिरिक्त अर्थशास्त्र मे २८ विभागो का वर्णन है। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता था। उसके बहुत-से सहायक होते थे। ऐसे राजकर्मचारियो को, जो कही भी उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर नियुक्त किये जा सकते थे, अमात्य कहते थे।

जिले का अधिकारी स्थानिक कहलाता था और ग्राम का हिसाब रखने वाला अधिकारी गोप। प्रत्येक गाँव मे एक मुखिया होता जो ग्राम-वृद्धो की सहायता से गाँव मे शान्ति और व्यवस्था रखता था। गाँव पचायत का वहाँ के निवासियो और सम्पत्ति पर पूरा अधिकार होता था। कुछ गाँव कर के रूप मे योद्धा देते थे, कुछ अनाज, पशु, सोना और कुछ मुफ्त सेवा। गोप गाँव के किसानो, ग्वालो, व्यापारियो, शिल्पकारो, मजदूरो, दासो और पशुओ के आँकडे रखता था।

नगरो का शासन सम्भवत उसी प्रकार चलता था जिस प्रकार पाटलिपुत्र मे। इसका वर्णन हम चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध में कर चुके हैं।[1] सब प्रमुख नगरो मे किले व दीवारें होती थी। शहरों में मन्दिरो, सड़को, पगडडियों, तालाबो, कुओ, धर्मशालाओ, अस्पतालो, बागो आदि सभी की व्यवस्था थी।

१. देखिए पृष्ठ १२१।

मौर्य शासन की एक विशेषता गुप्तचर थे। इस कार्य के लिए कुछ व्यक्तियों को बाल्यावस्था से ही प्रशिक्षण दिया जाता था। स्त्रियाँ भी इस विभाग में रखी जाती थीं। गुप्तचर भेष बदलकर सब अधिकारियों और प्रजा की गतिविधियों की सूचना राजा को देते थे।

गाँव के न्यायालयों के अतिरिक्त, जिनमें साधारण मुकद्दमों का न्याय होता था, कौटिल्य ने दो प्रकार के न्यायालयों का वर्णन किया है। धर्मस्थीय न्यायालयों में तीन अमात्य और तीन विद्वान् ब्राह्मण होते थे, वे दीवानी मुकद्दमों का फैसला करते थे। इनके फैसलों की अपील राजा तक हो सकती थी। दूसरे न्यायालय कण्टकशोधन कहलाते थे। उनमें तीन प्रदेष्टा या अमात्य न्यायाधीश होते थे और बहुत-से गुप्तचर उनकी सहायता करते थे। उनमें साधारणतया तुरन्त न्याय कर दिया जाता था और अपराध स्वीकार कराने के लिए यातनाएँ भी दी जाती थीं। ये न्यायालय सब राजनीतिक अपराधों और अधिकारियों के विरुद्ध शिकायतें सुनते थे। उनका उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों को दण्ड देना था जो समाज के विकास में काँटे या रोड़े अटकाते थे। ये न्यायालय ऐसे शिल्पियों को जो अपने स्वामी के साथ किये संविदे को पूरा न करते, ऐसे वैद्य को जो अपनी अयोग्यता के कारण रोगी की मृत्यु का कारण होता, ऐसे राज कर्मचारियों को जो घूस लेते और राजद्रोहियों को कठोर दण्ड देते थे। सम्भवतः चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में शासन प्रबन्ध में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए थे उन्हीं के कारण इन न्यायालयों की स्थापना की गई होगी। इस समय नौकरशाही की बढ़ती हुई शक्ति को नियन्त्रित रखने के लिए इस प्रकार के न्यायालयों की स्थापना आवश्यक थी।

कौटिल्य ने पैदल, घुड़सवारों, रथों, हाथियों, नावों की सेना के अलग-अलग अध्यक्षों का वर्णन किया है। घायल सैनिकों की सेवा-शुश्रूषा के लिए सेना के साथ योग्य चिकित्सक रहते थे। सेना के प्रबन्ध के लिए ३० सदस्यों की जो परिषद् थी उसका वर्णन हम चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध में कर आए हैं।

कौटिल्य ने राज्य के उद्देश्य के विषय में भी लिखा है। वह लिखता है कि राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रजा को अपने धर्म से गिरने न दे। जो कोई आर्यों द्वारा प्रतिपादित नियमों और वर्णाश्रम-धर्म का पालन करता है, वह इस संसार में और परलोक में सुख प्राप्त करेगा। राजा को चाहिए कि इन नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देकर प्रजा को ठीक मार्ग पर चलने के लिए बाध्य करे। इससे स्पष्ट है कि राज्य का उद्देश्य वह वातावरण बनाना था जिसमें सब व्यक्ति सुख, शान्ति से रहकर स्वतन्त्रतापूर्वक अपना-अपना व्यवसाय कर सकें, रीति-रिवाजों और धर्म का पालन कर सकें। साथ ही वे अपने परिश्रम से कमाये धन का भी उपभोग कर सकें। राजा को ईश्वर ने इसीलिए रचा था कि वह शान्ति, सुख और सुव्यवस्था स्थापित करे।

गणतन्त्र राज्य

सिकन्दर के आक्रमण के समय जो गणराज्य उत्तर-पश्चिमी भारत में थे उनका वर्णन हम पहले कर चुके हैं।[1] मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् इन गणराज्यों का धीरे-धीरे अन्त हो गया। कौटिल्य ने लिखा है कि उन्हें जिस प्रकार भी सम्भव हो दबाना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य ने अपनी कूटनीति से उन सब गणराज्यों को दबा दिया जो

१. देखिए पृ० १०८—११०।

मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व पूर्वी भारत मे विद्यमान थे। परन्तु मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् पश्चिमी भारत के कुछ गणराज्य फिर शक्तिशाली हो गए। यौधेय, अर्जुनायन, मालव गणराज्यो ने विदेशियो को भारत भूमि से निकालने में प्रमुख भाग लिया, परन्तु अन्त में समुद्रगुप्त ने उन्हे भी जीत लिया।

सामाजिक दशा

मौर्यकाल मे वर्णाश्रम-व्यवस्था पूर्ण रूप से विकसित हो गई। हम ऊपर कह आए हैं कि कौटिल्य ने लिखा है कि राजा सब व्यक्तियो को वर्णाश्रम धर्म के नियमो का पालन करने के लिए बाध्य करे। तत्कालीन यूनानी लेखको ने भी लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति मे ही विवाह करता और अपनी जाति का ही व्यवसाय करता। न एक योद्धा किसान हो सकता और न शिल्पकार दार्शनिक। कुछ लेखको ने लिखा है कि दार्शनिक किसी भी जाति का हो सकता था। ये दार्शनिक सादा जीवन बिताते और गम्भीर धर्मोपदेश सुनते थे। इनमे से कुछ जगल मे जाकर रहते, पत्तो और फलो से अपना निर्वाह करते तथा वृक्षो की छाल के कपडे पहनते थे। अशोक के अभिलेखो मे भी गृहस्थो और वानप्रस्थियो का वर्णन है। इस सबसे स्पष्ट है कि वर्णाश्रम धर्म पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया था। कौटिल्य ने लिखा है कि खेती करना, पशुपालन और व्यापार, वैश्यो और शूद्रो दोनो के व्यवसाय थे। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि अब समाज मे वैश्यो और शूद्रो मे विशेष अन्तर नही रह गया। किसानो, ग्वालो और व्यापारियो के अपने वर्ग बन गए। ब्राह्मणो मे वैद्यो का वर्ग अलग हो गया। यूनानी लेखको ने अधिकारियो के भी दो वर्ग लिखे है—अमात्य[1] और मन्त्री। मेगस्थनीज़ ने समाज मे दार्शनिक, किसान, ग्वाले, शिकारी, योद्धा, अमात्य और मन्त्री, ये सात श्रेणियाँ लिखी हैं।

विवाहित स्त्रियाँ अब वैदिक ग्रन्थो का स्वाध्याय नही करती। कुछ स्त्रियाँ विशेष सयम से रहती और दर्शनो का अध्ययन करती थी। राजा और धनी लोग एक से अधिक पत्नियाँ रखते थे। अशोक ने लिखा है कि स्त्रियाँ यक्षो, चैत्यो, गन्धर्वों और नागो की पूजा करतीं। स्त्रियाँ सम्भवत मनुष्यो के साथ मिलने मे पूर्णतया स्वतन्त्र न थी। परन्तु वे अपने पतियो के साथ धार्मिक कृत्यों मे पूर्ण रूप से भाग लेती।

दास-प्रथा विद्यमान थी। अशोक ने मजदूरो और दासो मे अन्तर किया है। परन्तु यूनानी लेखको ने लिखा है कि भारतीयो मे कोई दास नही है। उनका यह वक्तव्य ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि मेगस्थनीज ने स्वय लिखा है कि राजा की अगरक्षिका स्त्रियो को राजा उनके माता-पिता से खरीदता था।

यूनानी लेखको ने लिखा है कि भारतीय सादा जीवन बिताते और शान्ति से रहते थे। झूठ और चोरी का नाम न था। वे अधिकतर चावल खाते और केवल यज्ञो के समय ही मदिरा पीते। धरोहर आदि के कोई मुकदमे नही होते। उनके मकान और सम्पत्ति बिना चौकीदारो के भी सुरक्षित रहते।

ब्रह्मा और पशुपति शिव के उपलक्ष्य मे समाजो का आयोजन किया जाता था। इन

१. अमात्य आजकल की भारतीय प्रशासकीय सेवा (Indian Administrative Service) के अधिकारियों के समान थे

समाजों में मनुष्यों और हाथियों के युद्ध, रथों की दौड़ें, आदि होती थी। अशोक ने मनुष्यों और पशुओं के युद्ध बन्द कर दिए, क्योंकि उनमे व्यर्थ रक्तपात होता था। पतंजलि ने नाटकों के अभिनय का वर्णन किया है। जुआ और शतरज जैसे खेल भी खेले जाते थे।

आर्थिक दशा

इस काल में भारतीयो का मुख्य व्यवसाय कृषि था जिस में बहुत उन्नति कर ली गई। कुछ गाँवों में खेती करने वाले किसानो के अतिरिक्त ऐसे जमीदार भी थे जो कुल गाँव के स्वामी थे। धनी आदमी भी गाँवों मे रहते। मेगस्थनीज ने भी लिखा है कि देश धन-धान्य से पूर्ण था।

मौर्यकाल मे राजनीतिक एकता स्थापित हो जाने से देश में सब जगह सुव्यवस्था हो गई, इससे व्यापार और उद्योगो को बहुत प्रोत्साहन मिला। सबसे बड़ा उद्योग सम्भवतः वस्त्रोत्पादन था। मालवो ने सिकन्दर को बहुत-सा सूती कपडा उपहार मे दिया। पालि ग्रन्थों मे शिवि देश और बनारस के कपड़े की प्रशसा लिखी है। कौटिल्य ने पाण्ड्य राजधानी मदुरा, पश्चिम-तटीय अपरान्त, काशी, वग, वत्स और महिष के बारीक कपड़े की प्रशसा की है। काशी और पुण्ड्र का क्षौम वस्त्र प्रसिद्ध था। ऊनी वस्त्र सम्भवत नेपाल से और रेशम चीन से मँगाया जाता था। अनेक प्रकार का चमडा जूते बनाने मे काम मे लाया जाता। कई प्रकार की सुगन्धित लकड़ियाँ विदेशो को भेजी जाती। नाव और जहाज बनाये जाते तथा हाथीदाँत की सुन्दर वस्तुएँ बनाई जाती। हाथीदाँत से लकडी के काम मे पच्चीकारी की जाती थी। राजा के महल मे सोने के बर्तन काम मे आते। अनेक प्रकार के आभूषण बनाये जाते। अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र और खेती के औजार बानए जाते थे।

कौटिल्य ने लिखा है कि उत्तरी भारत से कम्बल, खाल और घोडे विदेशो को भेजे जाते और दक्षिण से सोना, मोती, हीरे और अन्य मणियाँ। विदेशो से व्यापार के लिए राजा की आज्ञा लेनी आवश्यक थी। व्यापारी लोगो ने अपनी श्रेणियाँ बना रखी थी। हर श्रेणी मे एक 'सेठ' या 'मुख्य' होता। उद्योगो मे मजदूर और दास दोनो ही काम करते थे। राज्य के अपने भी कारखाने थे।

मौर्यकाल मे सीरिया, मिस्र आदि देशो से भारत का सीधा सम्बन्ध था। भारत से इन देशो को सुगन्धित पदार्थ और मणियाँ भेजी जाती। बिन्दुसार ने पश्चिमी देशो से मीठी शराब और सूखे अजीर मँगाये थे। मौर्य सरकार स्वय जहाज बनवाती और व्यापारियो को उन्हे किराये पर देती थी। उत्तर मे व्यापार अधिकतर नदियो द्वारा होता। दक्षिण मे पैठन और तगर से सौदागरी का सामान बैलगाडियो मे भडोच ले जाया जाता जहाँ से वह विदेशों को भेजा जाता था।

सोने का सिक्का 'निष्क', चाँदी का ३२ रत्ती का सिक्का 'पुराण' या 'धरण' और ताँबे का ८० रत्ती का सिक्का 'कार्षापण' कहलाता था।

भाषा व साहित्य

आर्यों के भारत मे उनसे पूर्व रहने वाली जातियो के सम्पर्क के फलस्वरूप उत्तर भारत में भाषा के तीन रूप हो गए। उत्तर-पश्चिम की भाषा पूर्णतया शुद्ध, आर्यों की सस्कृत समझी जाती। इसी भाषा का व्याकरण पाणिनि ने रचा। पूर्वी भारत की भाषा मागधी प्राकृत थी।

अशोक के अभिलेख इसी भाषा मे हैं। मध्यदेश में पालि से मिलती-जुलती भाषा बोली जाती। पीछे से बौद्ध धर्म के ग्रन्थ मध्यदेश की भाषा मे ही लिखे गए। चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार ने सस्कृत को प्रोत्साहन दिया। व्याडि ने पाणिनि की सस्कृत व्याकरण अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखे। कात्यायन ने महावार्तिक लिखे। शुंग काल में गोनर्द के निवासी पतंजलि ने पाणिनि के व्याकरण के ऊपर अपना प्रसिद्ध भाष्य 'महाभाष्य' लिखा।

सुबन्धु नामक एक लेखक ने 'वासवदत्ता नाट्यधारा' नामक नाटक की रचना की। पतजलि के महाभाष्य मे जो उदाहरण दिये हैं उनसे ज्ञात होता है कि इस काल मे संस्कृत भाषा मे उच्चकोटि के साहित्यिक ग्रन्थो की रचना हुई, किन्तु वे अब प्राप्य नही हैं। उसने लिखा है कि उस समय एक पाण्डु महाकाव्य था। कसवध और बालिवध नाटको का अभिनय होता था। यवक्रीत, ययाति और वासवदत्ता के आख्यानो का भी उसने वर्णन किया है। एक वाररुच काव्य तथा पिंगल का छन्द ग्रन्थ 'छन्दसूत्र' भी सम्भवत इसी काल मे रचा गया। दत्तक नामक लेखक ने इस काल मे कामशास्त्र पर एक पुस्तक रची। राजनीति मे कौटिल्य का अर्थशास्त्र मौर्यकाल की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक है।

बौद्ध और जैन धर्मग्रन्थो का पूर्वरूप सम्भवत इसी काल मे तैयार हुआ। सम्भवत 'विनयपिटक' का अधिकाश भाग ३५० ई० पू० तक रचा गया था। 'सुत्तपिटक' के पहले चार निकाय भी इसी काल की रचना है। परन्तु पाँचवाँ निकाय तीसरी शती ई० पू० मे तैयार हुआ। 'अभिधम्मपिटक' की अन्तिम पुस्तक कथावस्तु अशोक के राज्यकाल की रचना है।

तमिल साहित्य के आदितम ग्रन्थो का सम्बन्ध तीन सगमो से है। सगम विद्वानो की परिषद् थी। पहले दो सगमो का ऐतिहासिक वर्णन उपलब्ध नही है। परन्तु कुछ साहित्यिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। सगमो का समय ५०० ई० पू० से ५०० ई० तक है। पहले सगम का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। दूसरे सगम से सम्बन्धित एक ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' उपलब्ध है। यह एक व्याकरण की पुस्तक है, परन्तु इससे तत्कालीन समाज का अच्छा चित्र मिलता है। तीसरे सगम से सम्बन्धित कुछ कविताओ के सग्रह है और कुछ महाकाव्य। कविताओ के सग्रहो मे तीन सबसे प्रसिद्ध हैं—(१) पत्थुपाट्टु (दस कविताएँ), (२) एतुत्थकइ (आठ सग्रह और (३) पदिनेन्कील्कनक्कु (अठारह छोटी नैतिक कविताएँ)। महाकाव्यो मे सबसे प्रसिद्ध 'शिलप्पदिकारम्' और 'मणिमेकलय' हैं।

धार्मिक अवस्था

लका के बौद्ध ग्रन्थो के अनुसार चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और अपने राज्य के प्रारम्भिक वर्षों मे अशोक भी ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे और वे विद्वान् ब्राह्मणो का आदर करते थे। मेगस्थनीज के अनुसार पहाडी ब्राह्मण-शिव की और मैदानो के निवासी विष्णु या कृष्ण की पूजा करते थे। कृष्ण की पूजा का मुख्य केन्द्र मथुरा था। वैदिक यज्ञ और श्राद्ध भी किये जाते थे। मेगस्थनीज ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त यज्ञ करने के लिए महल से बाहर निकलता था तथा यज्ञ के समय भारतीय मदिरापान करते थे। पुष्यमित्र शुग ने तो स्वय दो अश्वमेध यज्ञ किये। इन यज्ञो को कराने वाले स्वय पतजलि थे। इससे स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाण्ड का पर्याप्त प्रचलन था।

कौटिल्य ने बौद्ध और जैन आदि नए धर्मों की कटु आलोचना की है। उसने लिखा है कि यदि देवताओं के निमित्त या श्राद्ध के भोज मे कोई व्यक्ति किसी शाक्य या आजीविक मत के शूद्र तपस्वी को धोखे से लिवा लाए तो उस पर सौ मुद्रा का दण्ड दिया जाए। ऐसा प्रतीत

होता है कि इस समय बहुत-से स्त्री-पुरुष तपस्वी बन रहे थे। समाज में इस प्रवृति को रोकने के लिए कौटिल्य ने लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति बिना परिवार के सदस्यों के निर्वाह का प्रबन्ध किये संन्यास ले ले तो राजा को उसे दण्ड देना चाहिए।

वैदिक देवताओं जैसे इन्द्र आदि की पूजा भी प्रचलित थी। पंतजलि ने लिखा है कि मौर्य राजा शिव, स्कन्द और विशाख की मूर्तियो का प्रदर्शन करते और बेचते थे। यद्यपि अशोक का निजी धर्म बौद्ध था, किन्तु यह अपने को देवताओं का प्रिय कहने में गर्व समझता। कौटिल्य ने लिखा है कि लोग अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त, शिव, वैश्रवण (कुबेर), अश्विन् और श्री (लक्ष्मी) की मूर्तियाँ बनाकर पूजते। अग्नि, नदी, इन्द्र, समुन्द्र-तट की भी पूजा की जाती थी। अशोक के अभिलेखो से पता लगता है कि स्त्रियाँ यक्ष, चैत्य, गन्धर्व और नागो की पूजा करती। देवताओ की इतनी लोकप्रियता के कारण ही सम्भवत अशोक ने अपने को देवताओं का प्रिय कहा है। तीर्थयात्रा और नाग की प्रतिमाओ की पूजा भी प्रचलित थी।

हम पहले (पृष्ठ १२५) कह आए हैं कि अशोक ने अपने अभिलेखो में ब्राह्मणों और श्रवणों का वर्णन किया है। श्रवण वे तपस्वी थे जो जगलो मे श्रम करना अधिक श्रेयस्कर समझते और वैदिक कर्मकाण्ड मे विश्वास नही रखते थे। नये धर्मों मे आजीविक, जैन और बौद्ध धर्म को भी बहुत-से लोगो ने अपना लिया। इन धर्मों का अवध, बिहार और उड़ीसा मे ज़ोर था। अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त और सम्प्रति स्वय जैन थे। अशोक और दशरथ ने आजीविकों के लिए दरीगृह बनवाए। अशोक के प्रयत्नो के कारण बौद्ध धर्म संसार का धर्म हो गया।

मौर्य कला

सिन्धु सभ्यता की कला का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। उसके पश्चात् लगभग २,००० वर्षों के कोई स्मारक हमे अब प्राप्य नही हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि इस काल मे भारत मे कला का विकास ही नही हुआ। भारत मे कला का विकास तो अवश्य हुआ, परन्तु अशोक ने उसे एक नया मोड़ दिया। वह सम्भवत स्वयं ईरानी और यूनानी कला से प्रभावित था। उसने ही इतने बड़े पैमाने पर कलात्मक कृतियो मे पत्थर का प्रयोग प्रारम्भ किया। उससे पहले कला में अधिकतर लकडी का ही प्रयोग होता था।

पाटलिपुत्र के मौर्य राजाओ के महल के केवल सौ स्तम्भ वाले एक बडे कमरे के अवशेष कुम्रहार गाँव मे मिले हैं। यूनानी लेखको ने इस महल की बहुत प्रशसा की। गुप्तकाल तक यह महल विद्यमान था और फाह्यान भी इसे देखकर आश्चर्य मे पड गया था। अब यह महल पूर्णतया नष्ट हो गया है इसलिए हम इसकी कला का मूल्यांकन करने मे असमर्थ हैं। बराबर और नागार्जुनी की पहाडियों मे जो दरीगृह हैं वे अपनी दीवारो की चमकती पालिश के कारण प्रसिद्ध हैं। लोमश ऋषि दरीगृह से पता लगता है कि इस समय जो राज काम करते थे उन्हें पहले लकड़ी में सजावट का अभ्यास था।

मौर्य कला मे मनुष्य की आकृति कुछ विशेष प्रभावशालिनी नही है। पारखम का यक्ष, बेसनगर की यक्षिणी और दीदारगंज की चौरी ढालने वाली स्त्री की आकृतियाँ बहुत साधारण बनी हैं। उनमे आकर बड़ा बनाने का विशेष प्रयत्न किया गया है। सौन्दर्य की कमी है। पत्थर की छटाई भी साफ नहीं है। दीदारगंज की मूर्ति में भारतीय स्त्री के कलात्मक निरूपण का आरम्भ आवश्य है जिसका पूर्ण विकास शुंग-काल में हुआ। सारनाथ की वेष्टनी के पत्थर के टुकड़ों में भी विशेष सौन्दर्य नहीं है।

स्तूप ईंट या पत्थर के बनाए जाते थे। ये अर्धगोलाकार होते तथा इनके ऊपर एक छत्री होती थी। अशोक के ८४,००० स्तूप बनवाने का जिक्र हम पहले कर चुके हैं। साँची का स्तूप अशोक ने ईंटो का बनवाया था, परन्तु शुंग-काल मे उसका आकार दूना कर दिया गया और उसके चारो ओर वेष्टनी और द्वार बनवाये गए।

अशोक की कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने उसके स्तम्भ हैं, जिनका पूर्ण वर्णन हम अशोक के वर्णन के साथ कर चुके हैं।[1] इन स्तम्भो की सबसे बडी विशेषता यह है कि इनके शीर्ष पर जो पशुओ की मूर्तियाँ हैं वे बहुत ही सजीव बनी हैं। सारनाथ के स्तम्भ पर चार शेरो की मूर्तियाँ हैं। डॉ० स्मिथ ने इन्हे अत्यन्त सुन्दर कहा है। वे कहते हैं कि इतनी प्राचीन और इतनी सुन्दर पशुओं की मूर्तियाँ किसी भी देश में पाना दुर्लभ है। रामपुर्वा का साँड भी बहुत स्वाभाविक और सजीव है। मार्शल के शब्दो मे वह अनुपम है। प्राचीन ससार में उस-जैसी प्रभावशालिनी कोई मूर्ति उपलब्ध नही है।

मौर्यकाल की कला के मूल के विषय मे सब विद्वान् एकमत नही हैं। परन्तु साधारणतया यह समझा जाता है कि इस कला को प्रेरणा ईरान के हखमी सम्राटो की कला से मिली। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि मौर्य कलाकारो ने ईरान की कला की ज्यो-की-त्यो नकल की। मौर्य-स्तम्भो और ईरानी स्तम्भो मे पर्याप्त अन्तर है। मौर्य-स्तम्भ पूर्णतया गोलाकार हैं, जबकि ईरान के स्तम्भो मे कगूरे है। मौर्य-स्तम्भ एक चट्टान से काटकर बनाया गया है जबकि ईरान का स्तम्भ बहुत-से पत्थर जोडकर बनाया गया है। मौर्य-स्तम्भ एक बढई का बनाया हुआ प्रतीत होता है जबकि ईरानी स्तम्भ राज का बनाया हुआ दीखता है। मौर्य स्तम्भ मे कोई आधार नही है किन्तु ईरानी स्तम्भ की आधारशिला उल्टे कमल के फूल के समान है। मौर्य स्तम्भ मे ईरानी और यूनानी कला का ऋण अवश्य दिखाई देता है, परन्तु उसमे भारतीय कला की देन भी बहुत स्पष्ट है। उसका सामूहिक प्रभाव बहुत उत्कृष्ट है।

निहार रंजन राय का मत है कि यद्यपि मौर्यकला कला का उत्कृष्ट नमूना है, किन्तु इसका विकास जनता की स्वतः अभिव्यक्ति का परिणाम नही था। इसलिए वह भारतीय कला के विकास मे स्थायी स्थान न पा सकी। मौर्य कृतियो मे हमे एक शानदार चिरस्मरणीय और शिष्ट कला के दर्शन होते हैं, परन्तु भारतीय कला के इतिहास मे वह एक परिच्छेद मात्र है। इस देश की कला के विकास में उसकी कोई स्थायी देन नही है।

शुंग कला

शुगों के राज्य काल मे भारहुत मे एक बड़ा स्तूप बनाया गया। उसकी वेष्टनी आजकल कलकत्ते के भारतीय संग्रहालय मे है, शेष स्तूप नष्ट हो गया है। इस वेष्टनी पर बुद्ध के जीवन और जातक कहानियो के बहुत-से दृश्य दिखलाए गये हैं। मनुष्यो की आकृतियाँ सुन्दर नही बनी है, परन्तु कुल मिलाकर इन दृश्यो का अच्छा प्रभाव पडता है। उनमे हमे प्राचीन भारतीय जीवन की एक सजीव झलक मिलती है। उसमे जीवन का उल्लास स्पष्ट दिखाई देता है। बोधगया के मन्दिर की वेष्टनी भी इसी प्रकार की है। साँची का बडा स्तूप, जिसे अशोक ने बनाया था, इस काल मे बढ़ाकर दूना कर दिया गया। इसके चारो ओर चार दरवाजे और वेष्टनी भी बनवाई गई। इन दरवाजो पर भी गौतम बुद्ध के जीवन और जातक कथाओ के दृश्य

१. देखिए पृष्ठ १३५।

दिखलाए गए हैं। परन्तु इसमे आकृतियाँ, उनको एकत्रित तथा अभिव्यक्त करने का ढंग, और सजावट भारहुत की अपेक्षा अधिक कलात्मक है। किंवदन्ती है कि साँची के असाधारण द्वार के तोरण का निर्माण विदिशा के हाथीदाँत के शिल्पियो ने किया था। मथुरा की प्रारम्भिक कलाकृतियाँ भद्दी और खुरदरी हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि शुग-काल मे भारतीय कला के उन आधारभूत सिद्धान्तो की नींव पड़ी जिनका आने वाली शताब्दियो मे पूर्ण विकास हुआ। इस कला मे यूनानी कला का प्रभाव लेशमात्र भी नही है, यह पूर्णतया भारतीय है। इस कला मे मानव को प्रमुखता दी गई है। परन्तु इस काल की कला से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि कलाकारो का समस्त सृष्टि की एकता मे पूर्ण विश्वास था। इसीलिए उन्होने अपनी कला मे सृष्टि की अन्य वस्तुओ, जैसे पशु-पक्षी, फूल, पौधो, का मानव के साथ सुन्दर सामजस्य प्रस्तुत किया है। उनकी कला इस भावना से ओत-प्रोत है।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी — **प्राचीन भारत**, अध्याय ७
अनुवादक—बुद्ध प्रकाश

राजबली पाण्डेय — **प्राचीन भारत**, अध्याय १२-१३

H C. Raychaudhuri — *Political History of Ancient India*, Part II, Chapters 4, 5, 6, 7.

R C. Majumdar and A. D Pusalkar — *The History and Culture of the Indian People. The Imperial Unity*, Chapters 4, 5, 6, 17, 19, 20

K A. Nilkanta Sastri — *Age of the Nandas & Mauryas.*

D R. Bhandarkar — *Asoka.*

Romila Thapar — *Asoka and the Decline of the Mauryas.*

अध्याय ११

सातवाहन राजा, उनके काल में संस्कृति और सुदूर दक्षिण के राज्य

(The Satavahana Rulers, Culture in their Reign and the States of the Far South)

मूलस्थान और जाति

प्रारम्भिक सभी आन्ध्र या सातवाहन राजाओं के अभिलेख और सिक्के दक्षिण-पश्चिमी भारत में मिले है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय उनकी राजधानी प्रतिष्ठान के आस-पास थी और पीछे से उन्होंने अपना साम्राज्य पूर्व की ओर बढा लिया। सम्भवत आन्ध्र प्रदेश जीत लेने पर वे आन्ध्र कहलाने लगे।[1] टॉलमी के भूगोल मे भी सातवाहनों की राजधानी प्रतिष्ठान लिखी है। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख मे भी सातवाहन राजा का राज्य कलिंग के पश्चिम मे लिखा है। डॉ० के० गोपालाचारी ने सातवाहन राजाओं को सूर्यवंशी क्षत्रिय बतलाया है। वे सातवाहन को सूर्य का नाम मानते है, क्योंकि उसके रथ को सात वाहन (घोडे) खींचते है। डॉ० रायचौधुरी के अनुसार इस कुल मे नागो और ब्राह्मणो के रक्त का मिश्रण था।[2]

तिथिक्रम

पुराणो मे लिखा है कि काण्ववंश का अन्त आन्ध्रो ने किया। चन्द्रगुप्त मौर्य ३२४ ई० पू० मे सिंहासन पर बैठा। इसमे मौर्यों (१३७ वर्ष), शुगो (११२ वर्ष) और काण्वों का राज्यकाल (४५ वर्ष) जोडने से सातवाहनों के पहले राजा सिमुक का समय (३२४ ई० पू० +१३७+११२+४५=२९४ वर्ष) ३० ई०पू० के लगभग बैठता है। इसकी पुष्टि हाथीगुम्फा, नानाघाट और नासिक अभिलेखो की लिपि से भी होती है। इनकी लिपि बेसनगर अभिलेख की लिपि से अधिक विकसित है और बेसनगर अभिलेख की लिपि का समय दूसरी सदी ई० पू० है। इसलिए सिमुक का राज्यकाल पहली सदी ई० पू० बैठता है।[3]

१. सातवाहन राजाओं ने अपने अभिलेखों में अपने को कहीं भी आन्ध्र नहीं कहा है, किन्तु पुराणों में उन्हें आन्ध्र कहा गया है। पुराणों में सम्भवत उन्हें आन्ध्र इसलिए कहा गया है कि उनकी रचना सातवाहनों की आन्ध्र विजय के बाद हुई।

२. नागों से सम्बन्ध नागनिका और स्कन्दनाग शातक आदि नामों से लक्षित है। उनका ब्राह्मणत्व नासिक प्रशस्ति में गौतमीपुत्र शातकर्णी के लिए 'एक ब्म्हण' आदि विशेषणों से सिद्ध है।

३. रैप्सन और स्मिथ की तरह यदि हम पुराणो के इस वक्तव्य को सत्य मानें कि सातवाहनों ने ४५० वर्ष राज्य किया तो सिमुक का समय तीसरी शती ई० पू० में बैठता है।

प्रमुख सातवाहन शासक

सिमुक

सातवाहन वंश का प्रथम शासक सिमुक था। पुराणो के अनुसार उसने काण्व-शासक सुशर्म पर आक्रमण कर शुग शक्ति को नष्ट कर दिया। सम्भवत. यह घटना ६० ई० पू० मे हुई। जैन अनुश्रुति के अनुसार सिमुक ने २३ वर्ष राज्य किया। फिर उसकी दुष्टता के कारण प्रजा ने उसे सिंहासन से उतार दिया।

कृष्ण (लगभग ३७—२७ ई० पू०)

सिमुक के पश्चात् उसका भाई कृष्ण गद्दी पर बैठा। उसने अपना राज्य पश्चिम की ओर बढाया। नासिक के एक अभिलेख मे इस बात का उल्लेख है कि उस स्थान की एक गुफा का निर्माण राजा कण्ह (कृष्ण) के समय एक श्रमण महामात्र ने करवाया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि नासिक तक सारा प्रदेश उसके राज्य मे सम्मिलित था।

श्री शातकर्णी (लगभग २७—१७ ई० पू०)

कृष्ण के पश्चात् श्री शातकर्णी राजा हुआ। उसने मालवा के आस-पास का प्रदेश जीता। वह शक्तिशाली राजा था, अत उसने अश्वमेध राजसूय आदि कई वैदिक यज्ञ किये और पुरोहितो को दक्षिणाओ मे बहुत धन दिया। इस बात का उल्लेख उसकी विधवा रानी नागनिका के नानाघाट अभिलेख मे है। उसने दक्षिणापथपति और अप्रतिहतरथ (जिसका रथ कही न रोका जा सके) आदि विरुद धारण किये। खारबेल ने अपने अभिलेख में उसे पश्चिम का स्वामी लिखा है। साँची अभिलेख मे भी उसका उल्लेख है। पेरिप्लस नामक पुस्तक मे उसे बडा शातकर्णी लिखा है।

नागनिका

यह अगीय कुल के महारथी व्रण-कयिरो की पुत्री और शातकर्णी प्रथम की पत्नी थी। अपने पुत्रो शक्तिश्री और वेदिश्री की कुमारावस्था मे नागनिका ने उनका अभिभावकत्व किया। उसने भी कई यज्ञ किये।

शातकर्णी प्रथम के पश्चात् सम्भवत शकक्षहरात नेता नहपान ने सातवाहन कुल को क्षति पहुँचाई। इसका आभास हमे पेरिप्लस (७० ई० से ८० ई०) के एक वर्णन से मिलता है। उसने लिखा है कि 'शातकर्णी' प्रथम के समय मे 'कल्याण' व्यापार का मुख्य केन्द्र था, किन्तु उसके उत्तराधिकारियो के समय मे उसका व्यापारिक महत्त्व कम हो गया, पहले जो जहाज कल्याण जाते थे अब भडोच जाते है। सम्भवत इस समय नहपान ने सातवाहन राजाओ से महाराष्ट्र छीन लिया था।

पुराणो मे शातकर्णी प्रथम के पश्चात् कई आन्ध्र राजाओ के नाम दिये हैं, परन्तु हमे न उनके कोई सिक्के मिले है और न अभिलेख। इनमे सत्रहवे राजा हाल का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उसने महाराष्ट्री प्राकृत मे आर्या छन्द मे ७०० गाथाओ का संग्रह किया। यह पुस्तक सत्तसई कहलाती है। परन्तु हाल की सत्तसई की भाषा के आधार पर विद्वानो का मत हैं कि वह ईसा की पहली सदी मे राज्य करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि शको की शक्ति बढ़ जाने

के कारण लगभग १०० वर्ष तक सातवाहन शक्ति क्षीण रही, फिर गौतमी-पुत्र शातकर्णी ने उसका उद्धार किया।

गौतमीपुत्र शातकर्णी

गौतमी बलश्री के नासिक अभिलेख से हमे ज्ञात होता है कि उसके पुत्र ने क्षत्रियों का मानमर्दन किया और वर्ण-धर्म की फिर से प्रतिष्ठा की। उसने शको, यवनो, पह्लवो तथा क्षहरातो का नाश कर सातवाहन कुल के गौरव की फिर स्थापना की। उसने नहपान को हराकर उसके चाँदी के सिक्को पर अपना नाम अंकित कराया।[1] शको से उसने उत्तरी महाराष्ट्र और कोकण, नर्मदा की घाटी और सुराष्ट्र, मालवा और पश्चिमी राजपूताना छीन लिए। उसके राज्य मे विदर्भ (बरार) और दक्षिण मे वनवासी भी सम्मिलित थे। इस प्रकार हम देखते है कि उसका राज्य उत्तर मे मालवा से दक्षिण मे कनाड़ा प्रदेश तक फैला हुआ था। उसने अपने राज्यकाल के अठारहवे वर्ष मे एक दरीगृह बनवाकर दान दिया और चौबीसवें वर्ष मे कुछ साधुओं को भूमि दान मे दी। इससे स्पष्ट है कि उसने कम-से-कम २४ वर्ष राज्य किया।

गौतमी बलश्री ने उक्त अभिलेख मे लिखा है कि उसके पुत्र के घोडे तीन समुद्रो का पानी पीते थे। गौतमीपुत्र शातकर्णी के कुछ सिक्के भी आन्ध्रप्रदेश मे मिले है। वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के अभिलेख ही सातवाहन राजाओ के अभिलेखो मे आन्ध्रप्रदेश मे सबसे प्राचीन हैं किन्तु उनमे यह कही नही लिखा है कि इस प्रदेश को जीतकर पुलुमावि ने स्वय सातवाहन साम्राज्य मे मिलाया था। उक्त आधार पर रामाराव व सुधाकर चट्टोपाध्याय का मत है कि सम्भवत गौतमीपुत्र शातकर्णी ने ही आन्ध्रप्रदेश को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया था।

यदि उपर्युक्त निष्कर्ष ठीक माने तो हम कह सकते हैं कि गौतमीपुत्र के राज्य मे महाराष्ट्र, आन्ध्र और कुन्तल प्रदेश सम्मिलित थे। सम्भवत कलिंग और सुदूर दक्षिण गौतमीपुत्र के राज्य का भाग नही थे।[2]

वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि (१३०—१५८ ई०)

पुलुमावि के सिक्के गोदावरी और गुण्टूर जिलो मे और कोरोमण्डल तट पर कडालोर तक मिले हैं। कुछ विद्वानो के अनुसार वह आन्ध्र प्रदेश का पहला सातवाहन राजा था। टॉलमी ने उसे प्रतिष्ठान का राजा कहा है। पुलुमावि के अभिलेख नासिक, कार्ले और अमरावती मे भी मिले है। बेलारी जिला भी उसके राज्य का भाग था। इसे उस समय सातवाहनीय कहते थे। कार्ले के एक अभिलेख से हमे ज्ञात होता है कि उसने कम-से-कम २४ वर्ष राज्य किया। ऐसा प्रतीत होता है कि शको ने उसके राज्यकाल मे ही पश्चिमी राजपूताना और

१. नासिक जिले में जोगलथेम्बी में सिक्कों का ढेर मिला है। इस एक ढेर में बहुत-से चाँदी के सिक्के हैं जो नहपान ने चलाये थे और जो दोबारा गौतमीपुत्र की मुद्रा से अंकित हैं।

२. विशेष विवरण के लिए देखिए
Chattopadhyaya Sudhaker : Gautamiputra S'atakarni. Dr. Satkari Mookerji Felicitation Vol, pp. 92-96, Varanasi 1969

मालवा सातवाहनों से छीन लिए। उत्तरी कोंकण और नर्मदा की घाटी के प्रदेश भी सातवाहनो से शकों के हाथ मे चले गए ।

वासिष्ठीपुत्र शिव श्री शातकर्णी (लगभग १५९—१६६ ई०)

यह श्री पुलुमावि का भाई था और उसकी मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर बैठा । कन्हेरी के दरीगृह के अभिलेख मे लिखा है कि वासिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णी ने महाक्षत्रप रुद्र की पुत्री से विवाह किया । सम्भवत: रुद्र का अर्थ यहाँ रुद्रदामा है, जिसने युद्ध मे दो बार शातकर्णी राजा को हराया, किन्तु निकट सम्बन्धी होने के कारण उसको मारा नहीं ।

यज्ञश्री शातकर्णी

यह सातवाहन कुल का अन्तिम प्रसिद्ध राजा था । उसके अभिलेख नासिक, कन्हेरी और कृष्णा जिले मे मिले है । उसके सिक्के गुजरात, काठियावाड, मध्यप्रदेश के चन्द जिले और उत्तरी कोंकण मे मिले हैं। उसके सिक्को पर दो मस्तूलो वाले जहाज भी बने हैं। इनसे प्रकट होता है कि पूर्व मे उसका राज्य समुद्र तक फैला हुआ था । इससे स्पष्ट है कि उसके राज्य में महाराष्ट्र, उत्तरी कोंकण और आन्ध्र देश सम्मिलित थे । उत्तरी कोंकण को उसने रुद्रदामा के उत्तराधिकारियों से छीना था । उसने उज्जयिनी के शक शासको के अनुरूप चाँदी के सिक्के भी चलाये ।

इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसने शकों को पराजित किया । उसकी मृत्यु के बाद ही शक फिर स्वतन्त्र हुए। शक राजा रुद्रसिंह के स्वतन्त्र होने की तिथि १९० ई० है। इसका यह अर्थ है कि यज्ञश्री ने १९० ई० तक राज्य किया ।

शक सातवाहन संघर्ष

राजनीतिक क्षेत्र मे इस काल की प्रमुख घटना दक्षिणापथ के आधिपत्य के लिए शको और सातवाहनो का सघर्ष है । सातवाहन कुल का तीसरा नरेश शातकर्णी प्रथम शक्तिशाली राजा था । उसके राज्य मे समस्त दक्षिणापथ सम्मिलित था । उसके निर्बल उत्तराधिकारियो को शको के विरुद्ध अनेक युद्ध करने पडे । यहीं से शक सातवाहन सघर्ष का प्रारम्भ हुआ ।

पेरिप्लस के वर्णन से जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, ज्ञात होता है कि मैम्बेरस नाम के किसी शक राजा ने सातवाहनो को हराकर उनके राज्य के उत्तरी प्रदेशो पर अधिकार कर लिया ।

ऐसा प्रतीत होता है कि मैम्बेरस के उत्तराधिकारियो को कुछ दिन पश्चात् एक दूसरे शक वंश क्षहरातो ने परास्त करके इन प्रदेशो को अपने अधिकार मे कर लिया । इस वश के प्रथम राजा भूमक के राज्य मे महाराष्ट्र, उत्तरी कोंकण, राजस्थान और मध्यप्रदेश का कुछ भाग सम्मिलित थे । भूमक के सिक्के मालवा, गुजरात और काठियावाड मे भी मिले हैं । इसका यह अर्थ है कि भूमक ने सातवाहनो को हराकर इन प्रदेशों मे से कुछ पर अपना अधिकार किया होगा । भूमक का उत्तराधिकारी नहपान क्षहरात वश का सबसे पराक्रमी शासक था । उसका अपरान्त, गुजरात, काठियावाड़ और मालवा पर अधिकार था । इनमे से कुछ प्रदेश पहले सातवाहन साम्राज्य मे सम्मिलित थे । इसका यही अर्थ है उसने सातवाहनो को हराकर इन

प्रदेशों पर अधिकार किया होगा ।

गौतमीपुत्र शातकर्णी ने नहपान को पराजित करके फिर से अपने वंश की प्रतिष्ठा को स्थापित किया। यह बात उसके पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के नासिक अभिलेख से ज्ञात होती है जिसमें लिखा है कि उसने क्षहरात वश को नष्ट करके अपने कुल की प्रतिष्ठा स्थापित की थी। जोगलथेम्बी से प्राप्त सिक्को से भी इस बात की पुष्टि होती है। इन सिक्को को पहले नहपान ने चालू किया था। नहपान को हराकर गौतमीपुत्र ने इन सिक्कों पर अपना नाम अंकित कराकर इन्हे फिर चालू किया ।

गौतमीपुत्र शातकर्णी की मृत्यु के बाद सातवाहन राजाओ का शको के एक अन्य वश कार्दमक से संघर्ष हुआ। इस वंश के दो प्रसिद्ध शासक चष्टन और रुद्रदामा थे। उन्होंने गौतमीपुत्र शातकर्णी के पुत्र व उत्तराधिकारी वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि को पराजित करके सातवाहन साम्राज्य के अनेक प्रदेशो पर अधिकार कर लिया। कन्हेरी अभिलेख के आधार पर कुछ विद्वानो का मत है कि वासिष्ठीपुत्र श्री शिव शातकर्णी ने महाक्षत्रप रुद्रदामा की पुत्री से विवाह किया था। रुद्रदामा के गिरनार अभिलेख मे भी लिखा है कि उक्त शक शासक ने दक्षिणापथपति शातकर्णी को दो बार पराजित किया था किन्तु निकट सम्बन्धी होने के कारण उसका विनाश नही किया। वासिष्ठीपुत्र शिव श्री शातकर्णी की शको द्वारा पराजय के कुछ अन्य प्रमाण भी मिलते हैं। चष्टन के सिक्के गुजरात, काठियावाड और अजमेर मे मिले है। ये प्रदेश पहले सातवाहनो के अधिकार में थे। चष्टन ने अपने सिक्को पर सातवाहनो के सिक्को के अनुरूप चैत्य चिह्न को अंकित कराया। पहले उज्जैन पर वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का अधिकार था किन्तु टालमी के अनुसार उज्जन पर चष्टन का अधिकार था। जूनागढ अभिलेख से ज्ञात होता है कि रुद्रदामा ने पूर्वी मालवा, मान्धाता प्रदेश, काठियावाड, सिन्ध और पारियात्र के मध्य के प्रदेश और उत्तरी कोकण पर अधिकार कर लिया था किन्तु पहले ये प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णी के अधीन थे।

यज्ञश्री शातकर्णी ने उन अनेक प्रदेशो पर फिर अधिकार कर लिया जिनको शको ने उसके पूर्वजो से छीन लिया था। उसके सिक्के गुजरात, काठियावाड, पूर्वी और पश्चिमी मालवा, मध्यप्रदेश और आन्ध्रप्रदेश मे मिले है। उसकी चाँदी की मुद्राएँ शको की मुद्राओ के अनुरूप है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उसने शको को पराजित किया था। किन्तु यज्ञश्री के बाद सातवाहन कुल का पतन होने लगा और उसी समय शक सातवाहन संघर्ष समाप्त हो गया।

यज्ञश्री के उत्तराधिकारियो के समय मे सातवाहन शक्ति शीघ्र ही कम होती चली गई। आभीरो ने उनसे महाराष्ट्र और इक्ष्वाकुओ तथा पल्लवो ने पूर्वी प्रदेश छीन लिए।

सातवाहनो के मूल वश के समाप्त होने के पश्चात् उनकी कई शाखाएँ दक्षिण मे राज्य करती रही। इसमे सबसे प्रसिद्ध शाखा वह थी जो कुन्तल प्रदेश (उत्तरी कनाडा जिला और मैसूर का कुछ भाग) मे राज्य करती थी। राजशेखर और वात्स्यायन ने इसका उल्लेख किया है। एक दूसरी शाखा चुटुकल कहलाती व दक्षिण-पश्चिम मे राज्य करती थी। अकोला और कोल्हापुर के आसपास के प्रदेश मे दो अन्य शाखाएँ राज्य करती थी।

सातवाहन काल की संस्कृति

सातवाहन काल की संस्कृति को जानने के साधन तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थ, अभिलेख और मुद्राएँ हैं। सातवाहन संस्कृति के मुख्य केन्द्र प्रतिष्ठान, गोवर्धन और वैजयन्ती थे। गोवर्धन का आधुनिक नाम नासिक है। वैजयन्ती उत्तरी कनाडा में स्थित था।

शासन-प्रबन्ध[1]

सातवाहनों का शासन-प्रबन्ध बहुत-कुछ मौर्यों के शासन-प्रबन्ध के समान ही था।

अशोक की भाँति प्रारम्भिक सातवाहन राजा अपने को 'राजा' कहते थे किन्तु गौतमीपुत्र शातकर्णी की माता गौतमी बलश्री ने अपने पुत्र और पोते को 'महाराज' कहा है। वास्तव में गौतमीपुत्र या वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि मे से किसी ने भी इस विरुद को धारण नही किया था। राजा अपने आदेश छोटे राज कर्मचारियों को भेजता था जिन्हे 'अमात्य' कहा जाता था। सातवाहनों के एक अभिलेख मे एक 'महामात्र' का भी उल्लेख है जो बौद्ध भिक्षुओं की देखभाल करता था। 'अमात्य' का पद पैतृक नही था। गौतमीपुत्र शातकर्णी के राज्यकाल में गोवर्धन मे छः वर्षों मे विष्णुपालित, शिवदत्त और श्यामक तीन अमात्यो ने शासन किया। कुछ अभिलेखो मे 'राजामात्य' का भी उल्लेख है।

राजकुमारो की शिक्षा पर पूरा ध्यान दिया जाता था। राजा को परामर्श देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् थी। शासन के लिए सातवाहन राजाओ ने अपने राज्य को 'आहारों' या जनपदो मे बाँट रखा था। प्रत्येक जनपद का शासन एक अमात्य अर्थात् असैनिक राज्यपाल, महासेनापति अर्थात् सैनिक राज्यपाल या स्थानीय सरदारो के हाथ मे था जो महारठी, महाभोज या राजा कहलाते थे। उत्तर कोंकण, नासिक और वनवासी (उत्तर कनाडा) मे अमात्य शासक थे। चीतलद्रुग (मैसूर), नानाघाट, कार्ले और कन्हेरी मे महारठी शासन चलाते थे। यज्ञश्री के समय मे नासिक मे और पुलमावि के समय मे बेलारी मे महासेनापति शासक थे।

भूमि के अधिकारपत्र लिखने का कार्य कई राजकर्मचारी जैसे 'अमात्य', 'प्रतिहार' और 'महासेनापति' करते थे। सम्भवत इन अधिकारपत्रो को सुरक्षित रखने वाले अधिकारी 'पट्टिका पालक' कहलाते थे। सम्भवत सभी राजकर्मचारियों को वेतन प्राय नकद धन के रूप मे दिया जाता था।

कृषियोग्य भूमि पर राजकर्मचारी कर निर्धारण करते थे। नमक खोदने का एकाधिकार राजा का था। किसानों को चाहे जब पुलिस या राजकर्मचारियो के रहने और भोजन का प्रबन्ध करना पड़ता था। सम्भवत शिल्पियो से भी कर लिया जाता था जो 'कारुकार' कहलाता था। कर नकद और नाज दोनो रूप मे लिया जाता था।

भिक्षुओं के लिए गुफा आदि बनाने वाले निरीक्षक 'नवकर्मिक' या 'उपरक्षित' कहलाते थे। भारहुत और साँची में अधिकतर दान शिल्पियों और गन्धिकों ने दिया था। इससे स्पष्ट है कि सरकार को इन लोगो से पर्याप्त धन कर के रूप मे मिलता होगा। सम्भवतः सातवाहनो ने नगर शासन मे व्यापारियो को उच्च पदो पर नियुक्त किया। कुछ नगरो का शासन निगम

१. विशेष विवरण के लिए देखिए
Sharma, R. S : Satavahana Polity, Dr Satkari Mookerji Felicitation Vol., pp. 108—121, Varanasi 1969.

सभाएँ चलाती थी। इन निगम सभाओ के सदस्य अधिकतर व्यापारी होते थे। शहरों मे नगर-व्यवहारक और गाँवो मे पचायतें शासन-कार्य चलाती थी। सातवाहनों के समय में स्थानीय शासन सुचारु रूप से चलता था। यह उनके शासन की विशेषता थी।

सातवाहन शासन मे सैनिक अधिकारियो का भी प्रमुख भाग था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक आहार मे एक कटक होता था जहाँ सेना की टुकडियाँ पड़ाव डालती थीं—जैसे कि गोवर्धन आहार मे बनकटक। 'सातवाहणिहार' मे महासेनापति स्कन्दनाग के अधीन कुमारदत्त नाम का 'गौल्मिक' शासन चलाता था। गुल्म से अभिप्राय सेना की टुकड़ी से है। ये सेना की टुकडियाँ कुछ गाँवो के बीच मे रखी जाती थी और उनमे सरकार की ओर से शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था करती थी।

सातवाहन राजाओ ने ब्राह्मणों और बौद्ध भिक्षुओं को अधिकारपत्रो द्वारा भूमि दान मे देकर उन्हे बहुत से आर्थिक और प्रशासकीय नियमो से मुक्त कर दिया था जैसे कि सरकार इन गाँवो से नमक नही निकालती थी और राजकीय अधिकारी इन गाँवो के प्रशासन मे हस्तक्षेप नही करते थे। सम्भवत ये ब्राह्मण और बौद्ध भिक्षु जनता को सदाचार की शिक्षा देते थे।

जब सातवाहन राजा निर्बल हो गए तो स्थानीय सैनिक या असैनिक राज्यपाल और स्थानीय सरदार स्वतन्त्र हो गए और उन्होंने अपने स्वतन्त्र राज्यो की स्थापना की। इस समय राज्य मे सुरक्षा का पूर्ण प्रबन्ध था। वैजयन्ती (वनवासी) और सोपारा के व्यापारी कार्ले जाकर दान देते थे। नासिक के एक व्यापारी ने विदिशा मे जाकर और भड़ोच और कल्याण के निवासियो ने जुन्नर मे जाकर दान दिया। सिन्ध तक के एक निवासी ने नासिक पहुँचकर दान दिया और नासिक के निवासी भारहुत पहुँचकर दान देते थे। इस सबसे स्पष्ट है कि मार्गों मे सुरक्षा का पूर्ण प्रबन्ध था।

सक्षेप मे हम कह सकते है कि सातवाहन शासन मे ब्राह्मणो, बौद्ध भिक्षुओ और व्यापारियों ने भी प्रमुख योगदान किया। सम्भवत ब्राह्मण और बौद्ध भिक्षु राज्य से पुष्कल आर्थिक सहायता प्राप्त करने के कारण जनता को शान्ति और सुव्यवस्था रखने की शिक्षा देते थे और व्यापारी शान्ति और सुव्यवस्था के वातावरण मे लाभ उठाकर राज्य को पर्याप्त धन करो और उपहारों के रूप मे देते थे जिससे सरकार का समस्त व्यय चलता था। प्रशासन मे सेनापतियो और गौल्मिको के प्रमुख भाग लेने से यह स्पष्ट है कि सातवाहन शासन मे पुलिस और सेना के अधिकारी किसी प्रकार की भी अव्यवस्था का सख्ती से दमन करते थे।

सातवाहन शासन मे कुछ बातें वही हैं जिनका अशोक के अभिलेखो मे उल्लेख है किन्तु उन्होने कुछ नए सुधार किए जिनको वाकाटक और गुप्त राजाओ ने अपने प्रशासन मे कायम रखा। पल्लव राजाओ ने भी कुछ ग्रामीण क्षेत्रो को सैनिक शासन मे रखा था। उनके अभि-लेखो मे भी गुल्मो का उल्लेख है। इस प्रकार सातवाहन प्रशासन मौर्य और गुप्त प्रशासनो और उत्तर और दक्षिण के बीच एक महत्त्वपूर्ण कडी है।

सामाजिक स्थिति

सातवाहन राजाओ के समय में समाज व्यवसायो के आधार पर कम-से-कम चार वर्गों मे बँटा था। पहले वर्ग मे जिलो या राष्ट्रो के अधिपति अर्थात् महाभोज, महारठी, महासेनापति शामिल थे। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत अमात्य, महामात्र, भाण्डागारिक आदि कर्मचारी, नैगम (सौदागर), सार्थवाह (वणिक्पति) तथा श्रेष्ठी (श्रेणिमुख्य) थे। तीसरा वर्ग वैद्यों, लेखकों,

सुनारों, इत्र बेचने वालों और किसानों आदि का था। चौथे वर्ग मे माली, बढ़ई, धीवर, लुहार आदि थे।

प्रत्येक परिवार का मुख्य 'गृहपति' कहलाता था। परिवार के सभी सदस्य उसके आदेश का पालन करते थे। समाज मे स्त्रियों का उचित आदर था। राजाओ के नाम के पहले उनकी माताओ के नाम होने से स्त्रियो की प्रमुखता स्पष्ट दिखलाई देती है। शातकर्णी प्रथम की विधवा-पत्नी नागनिका अपने कुमारो की अभिभाविका के रूप मे शासन चलाती रही। विधवा स्त्रियाँ भी सुखपूर्वक अपना जीवन बिता सकती थी।

गौतमीपुत्र शातकर्णी ने वर्णाश्रम धर्म की फिर से अपने राज्य मे स्थापना की। वह क्षत्रियो के विरुद्ध था। इसका कारण यह हो सकता है कि उस समय तक क्षत्रिय जाति मे बहुत-से विदेशी, जैसे शक, पह्लव और यूनानी शामिल हो गए थे। परन्तु अन्तर्जातीय विवाह मे कोई कठिनाई न थी। शातकर्णी प्रथम ने एक अब्राह्मण कन्या से विवाह किया और वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि के भाई ने एक शक राजकुमारी से विवाह किया। विदेश-यात्रा पर भी कोई प्रतिबन्ध न था। हाल द्वारा सम्पादित गाथा-सप्तशती मे जीवन का आशावादी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से दिखाई देता था। इस समय हिन्दू समाज मे वह संकीर्णता न थी जो पीछे से आ गई। बहुत-से विदेशी हिन्दू समाज मे इतने घुल-मिल गए कि उनका अलग अस्तित्व ही समाप्त हो गया। सिहध्वज और धर्म दो यूनानियो के नाम थे। उषवदात भी शक था। वह ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था।

आर्थिक दशा

खेती, शिल्प और व्यापार मनुष्यो के मुख्य व्यवसाय थे। व्यापारियो ने अपनी-अपनी श्रेणियाँ बना रखी थी। ये श्रेणियाँ अपने सदस्यो के हितो की रक्षा करती और साथ ही बैंको का काम करती। वे जनता से दान का रुपया लेकर अक्षयनीवी (स्थायी कोष) के रूप मे जमा करती और उसके ब्याज को दानी की लिखित इच्छा के अनुसार पुण्यकार्यों मे व्यय करतीं। एक व्यक्ति ने जुलाहो की एक श्रेणी के पास ३,००० कार्षापण जमा कराये थे। इनका ब्याज बौद्ध भिक्षुओ को दान के रूप मे दिया जाता था।

इस समय सोने के सिक्के खूब चलते। सोने का सिक्का 'सुवर्ण' और चाँदी तथा ताँबे के 'कार्षापण' कहलाते थे। एक सुवर्ण चाँदी के ३५ कार्षापण के बराबर होता था।

मार्ग सुरक्षित थे, अत व्यापार खूब चलता था। वैजयन्ती के बडे व्यापारी ने कार्ले मे एक चैत्य दरी-गृह बनवाकर दान मे दिया था। उसने कन्हेरी मे भी एक दरी-गृह बनवाया था। इससे व्यापारियो की समृद्धि का पता चलता है। पैरिप्लस मे लिखा है कि पश्चिमी देशो से लाई हुई व्यापारिक वस्तुएँ भडोच मे उतारी जाती थी। वहाँ से इस देश के व्यापारिक केन्द्रो, जैसे कल्याण, सोपारा और वैजयन्ती, के बाजारो मे ले जाकर बेची जाती थी। भारत के बन्दरगाह से भी बहुत-सा माल विदेशो को भेजा जाता था, जैसे पैठन से गोमेदक रत्न और तगर से कपास, मलमल और अन्य प्रकार के सूती कपड़े विदेशो को भेजे जाते थे। नासिक और जुन्नर भी व्यापारिक केन्द्र थे। सारे व्यापारिक केन्द्र सडको से जुड़े हुए थे। मसाले, चमड़ा, रेशम, नील, हाथीदाँत, औषधियाँ, रग, मोती और मणियाँ भी विदेशो को भेजी जाती थी।

धार्मिक दशा

सातवाहनो के राज्य काल मे धार्मिक विषयों मे पूर्ण सहिष्णुता थी। यद्यपि राजा हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, किन्तु बौद्ध और हिन्दू दोनो ही धर्मों की सस्थाओ को दान देते। दोनों धर्मों की प्रगति हो रही थी। कृष्ण ने बौद्ध श्रमणो के रहने के लिए नासिक मे एक दरीगृह बनवाया। शातकर्णी ने अश्वमेधादि वैदिक यज्ञ किये। उसने ब्राह्मणों को पुष्कल दक्षिणाएँ दीं। इस समय सभी हिन्दू देवता, जैसे प्रजापति, इन्द्र, सकर्षण, वासुदेव, यम, वरुण, कुबेर और वासव की पूजा होने लगी। बहुत-सी गौएँ और घोड़े भी दक्षिणा मे दिए गए। गौतमीपुत्र शातकर्णी ने बौद्ध भिक्षुओं को दरीगृह और भूमि दान मे दी। शक राजा नहपान के दामाद उषवदात ने ब्राह्मणों को प्रभास, भारुकच्छ (भडोच), शूर्पारक (सोपारा), दशपुर, गोवर्धन (नासिक), उज्जयिनी आदि तीर्थ-स्थानो पर बहुत दान दिया। बहुत-से उपासको ने इस काल मे चैत्य-गृह और भिक्षुओ के रहने के लिए दरीगृह बनवाये और गाँव दान मे दिये। बहुत-से धर्मात्मा व्यक्ति धार्मिक सस्थाओ का साधारण व्यय चलाने के लिए श्रेणियो के पास अक्षयनीवी जमा कराते, जिनका ब्याज ९ से १२ प्रतिशत प्रतिवर्ष मिलता और इस ब्याज से इन धार्मिक सस्थाओ का व्यय चलता था। इस समय बहुत-से विदेशियों ने ब्राह्मण धर्म या बौद्ध धर्म को अपनाया। उनके नाम भी हिन्दू हो चले थे। हमने ऊपर दो यूनानी सिंहध्वज और धर्म तथा शक उषवदात के नाम दिए हैं।

साहित्य और कला

सातवाहन राजाओ ने अपने अभिलेखो मे प्राकृत भाषा का प्रयोग किया है। राजा हाल ने स्वयं प्राकृत भाषा मे 'गाथा सप्तशती' (सत्तसई) का सम्पादन किया। गुणाढ्य नामक लेखक ने 'बृहत्कथा' नामक पुस्तक प्राकृत मे ही लिखी। शर्ववर्मा ने 'कातन्त्र' नामक प्राकृत भाषा का व्याकरण लिखा। इस सबसे स्पष्ट है कि सातवाहन राजा प्राकृत भाषा के पोषक थे। ये राजा स्वय ब्राह्मण थे और ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। उन्होने सस्कृत भाषा को प्रोत्साहन न देकर प्राकृत को अपनाया, यह एक आश्चर्य की बात है।

इन राजाओ के समय मे कला की भी पर्याप्त प्रगति हुई। बहुत-से राजाओ और धनी नागरिको ने दक्षिण भारत के पश्चिमी तट पर अनेक चैत्य और दरी गृह बनवाये। इनमे बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। नासिक, कार्ले और कन्हेरी आदि के दरी गृह कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इसके अतिरिक्त इस काल मे बहुत-से मन्दिर भी दरी गृहों मे बनाये गए। अमरावती, गुम्मदिदुरु, घण्टशाल और गोलि आदि के स्तूप भी इसी काल मे बनाए गये। इस काल की पुरुषो और स्त्रियो की मूर्तियो की मुद्राओ से भक्तो के हृदय का दिव्य आनन्द स्पष्ट दिखाई देता है।

कलिंग देश का राजा खारवेल

हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् कलिंग में किन राजाओ ने राज्य किया। पुरी जिले मे भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि की पहाड़ियो मे हाथीगुम्फा के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि चेत कुल का तीसरा राजा खारवेल था। इस अभिलेख

में खारवेल के १३ वर्ष के कार्यों का उल्लेख है। डॉ० रायचौधरी ने इसका समय २४ ई० पू० रखा है।

हाथीगुम्फा अभिलेख से हमें खारवेल के विषय मे निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं —

चेत कुल में वह कलिंग का तीसरा राजा था। उसकी राजधानी कलिंगनगरी थी। वह जैन धर्मावलम्बी था और भिक्षुराज कहलाता था। राजकुमार के रूप मे उसे खेलो, लिखाई, मुद्रा, हिसाब-किताब, शासन-प्रबन्ध और व्यवहार (कानून) की उचित शिक्षा दी गई। १५ वर्ष की अवस्था मे उसे युवराज बनाया गया और २४ वर्ष की अवस्था में उसका राज्याभिषेक हुआ।

अपने राज्य के पहले वर्ष मे उसने अपनी राजधानी की उन मीनारो, दीवारो, बुर्जों, तालाबों और अन्य भवनो की मरम्मत कराई जो एक तूफान के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गए थे।

दूसरे वर्ष उसने शातकर्णी राजा की परवाह न करके उसके राज्य में होकर अपनी सेना भेजी जिसने ऋषिक नगर और कृष्णा नदी तक धावा मारा।

चौथे वर्ष मे उसने विद्याधर नाम के राजा को हराया और उसकी राजधानी पर अधिकार कर लिया। इस विजय के उपलक्ष्य मे उसने एक दरबार किया जिसमे राष्ट्रिक और भोजक आदि स्वतन्त्र जातियो ने उसका आधिपत्य स्वीकार किया।

पाँचवे वर्ष में वह तनसुलिय वाट नामक नहर को, जिसे प्रारम्भ मे नन्द राजा ने बनवाया था, अपनी राजधानी मे ले आया। इस पंक्ति मे 'तिवस सत' शब्द आते हैं, जिसका अर्थ कुछ इतिहासकार नन्दराज के १०३ वर्ष पश्चात् और कुछ ३०० वर्ष पश्चात् लगाते हैं। दूसरा अर्थ अधिक सम्भव प्रतीत होता है। डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने इसी को ठीक माना है।

आठवें वर्ष मे उसकी सेना ने राजगृह के रास्ते मे गोरथ-गिरि को लूटा और राजगृह को भी हानि पहुँचाई। इसके पश्चात् उसने डिमित (डिमैट्रियस) पर आक्रमण करके उसे मथुरा लौटने के लिए विवश किया।

मगध से लौटने के पश्चात् उसने उत्सव मनाया जिसमे बहुत-सा दान दिया और ३० लाख कार्षापण व्यय करके महाविजय-प्रासाद नामक महल बनवाया। उसने चक्रवर्ती राजा के रूप मे कल्पतरु पूजा भी की और जिसने जो माँगा उसे वही दिया। उसने जैन तपस्वियो के लिए खण्डगिरि पर्वत मे दरी गृह भी बनवाये।

दसवे वर्ष में उसने फिर उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। ग्यारहवें वर्ष में उसने अपने पूर्वजों की राजधानी पीथुण्ड (मछलीपट्टम् के निकट) को जीता।

बारहवें वर्ष मे उसने सम्भवतः उत्तर-पश्चिमी भारत पर छापे मारे, मगध पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा बृहस्पतिमित्र को अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया। उसे अंग और मगध से खूब लूट का माल मिला। वह वहाँ से कलिंग जिन की मूर्ति

१. इस लेख में स्पष्ट रूप से कोई तिथि नहीं दी है। परन्तु इसमें तीन ऐसे राजाओं के नाम दिए हैं जो खारवेल के समकालीन थे। ये हैं शातकर्णी, बृहस्पतिमित्र और डिमित। शातकर्णी नाम का राजा दूसरी ई० पू० शती और प्रथम ई० पू० शती में भी हुआ है। बृहस्पतिमित्र की अब तक सन्तोषप्रद पहचान नहीं हुई। कुछ विद्वान् बृहस्पति को पुष्य नक्षत्र का स्वामी मान बृहस्पतिमित्र और पुष्यमित्र को एक मानने के पक्ष मे हैं। डिमित की पहचान भी अब तक नहीं हो पाई है। शायद यह कोई यूनानी सरदार रहा हो।

भी वापस लाया जिसे पहले एक नन्द राजा कलिंग से ले गया था। उसी वर्ष उसने सुदूर दक्षिण तक धावा मारा और पाण्ड्य राजा के अपार धन को खूब लूटा। इस धन में बहुत-से मोती और मणियाँ थी। उसने पाण्ड्य राजा की प्रजा को भी अपने अधीन कर लिया।

तेरहवें वर्ष मे उसने जैन धर्म का स्वाध्याय किया और उदयगिरि पर्वत पर अपनी रानी के लिए ७५ लाख कार्षापण लगाकर कर एक महल बनवाया।

इस अभिलेख से हमें खारवेल के राज्यकाल के तेरहवे वर्ष के पीछे की घटनाओ के विषय मे कुछ भी ज्ञात नहीं होता। परन्तु उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि खारवेल एक वीर और महत्त्वाकाक्षी व्यक्ति था। सातवाहन साम्राज्य को उससे अवश्य हानि पहुँची होगी। उसकी मृत्यु के पश्चात् हमें कलिंग के राजाओ के विषय मे कुछ विशेष ज्ञात नही है।

सुदूर-दक्षिण के राज्य

कृष्णा और तुंगभद्रा नदियो के दक्षिण मे कुमारी अन्तरीप तक जो प्रदेश है उसे सुदूर दक्षिण कहते हैं। प्राचीन काल मे इस प्रदेश मे तीन महत्त्वपूर्ण राज्य थे। कुमारी अन्तरीप के निकटतम प्रदेश को पाण्ड्य राज्य कहते थे। यह पूर्व मे बगाल की खाडी से पश्चिम मे अरब सागर तक फैला हुआ था। उत्तर मे यह राज्य वल्लरू नदी तक फैला हुआ था जो पुदुकोटाइ जिले मे होकर बहती है। इसके उत्तर-पूर्व मे चोल और उत्तर-पश्चिम मे चेर राज्य थे। चोल राज्य मे कावेरी का पठार और उसके आसपास का प्रदेश सम्मिलित थे। कभी-कभी कॉंची के आसपास का प्रदेश जिसे तोण्डैमण्डल कहते है, चोल राज्य के अन्तर्गत आ जाता था। चेर राज्य पश्चिमी तट के निकट था। उत्तर मे सम्भवत यह कोकण तक फैला हुआ था। इन तीनो राज्यो के उत्तर मे कुछ अन्य छोटे-छोटे राज्य थे जो इन तीनों मे से किसी का आधिपत्य स्वीकार कर लेते थे।

पाण्ड्य—तमिल साहित्य के अनुसार अगस्त्य ऋषि उत्तर भारत से आये थे और उन्होने इस प्रदेश के निवासियो को सभ्य बनाया। मेगस्थनीज ने लिखा है कि एक रानी पाण्ड्य राज्य मे बडी कुशलतापूर्वक शासन करती थी। उसकी सेना मे ५०० हाथी, ४,००० अश्वारोही और १३,००० पैदल थे। तमिल साहित्य मे एक परम्परा का उल्लेख है कि मौर्य राजाओ ने मदुरा-तिनेवली तक समस्त दक्षिण पर अधिकार कर लिया था किन्तु अशोक के राज्यकाल मे पाण्ड्य एक स्वतन्त्र राज्य था। इस राज्य का एक प्रसिद्ध राजा नेडुजेलियान था। उसकी राजधानी मदुरा थी। चेर, चोल और पाँच अन्य छोटे राज्यो ने उसकी राजधानी पर आक्रमण किया। उसने तलैयालगनम् नामक स्थान पर उनकी सम्मिलित सेना को हराकर विजय प्राप्त की। कोगु प्रदेश तथा कुछ अन्य राज्यो को जीतकर उसने अपने राज्य का विस्तार किया। उसने अनेक वैदिक यज्ञ किए। वह अनेक कवियो का संरक्षक था और स्वय भी अच्छा कवि था।

चोल—अशोक के राज्यकाल मे चोलो का भी एक स्वतन्त्र राज्य था। प्राचीन तमिल साहित्य से ज्ञात होता है कि ईसा से पूर्व पहली शती से ईसा की पहली शती के अन्त तक चोल राजाओ ने चेर और पाण्ड्य राजाओ को हराकर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। सगम साहित्य से ज्ञात होता है कि चोल राज्य के प्राचीन राजाओं मे सबसे प्रसिद्ध करिकाल था उसने चेर और पाण्ड्य राजाओं को पराजित किया और लका पर भी आक्रमण किया। उसने भी अनेक

वैदिक यज्ञ किए। वह न्यायप्रियता के लिए भी प्रसिद्ध था। उसने कृषि के विकास के लिए सिंचाई के लिए अनेक नहरें बनवाईं। उसके राज्यकाल में उद्योगों और व्यापार की भी बहुत उन्नति हुई। टालमी के भूगोल मे जिसकी रचना लगभग २०० ई० मे हुई थी चोल प्रदेश के नगरों और बन्दरगाहो का वर्णन मिलता है। करिकाल तमिल लेखको का संरक्षक था। उसकी राजधानी उरैयूर थी।

चेर—चेर राज्य भी अशोक के राज्यकाल मे एक स्वतन्त्र राज्य था। ईसा की पहली शती में इस राज्य का एक प्रसिद्ध राजा पेरुन्नार हुआ जिसकी एक युद्ध मे मृत्यु हो गई। चेर राजा नेडुजराल आदन ने सम्भवत कदम्ब प्रदेश को जीता जिसकी राजधानी गोआ के निकट बनवासी थी। सात नरेशो को हराकर उसने अधिराज के विरुद्ध युद्ध किया। इसी युद्ध से उसकी मृत्यु हो गई। सम्भवत उसने कुछ यूनानी या रोमन व्यापारियो को भी बन्दी बनाया क्योकि उस समय भारत का रोम के साथ बहुत व्यापार होता था।

आदन के छोटे भाई ने भी चेर राज्य का विस्तार किया। आदन के पुत्र शेनगुवट्टुन ने दो बार चोल राजाओ को हराया। उसके पुत्र को पाण्ड्य नरेश ने पराजित किया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इन तीन राज्यो मे सुदूर दक्षिण के आधिपत्य के लिए बराबर संघर्ष चलता रहता था। कभी एक राज्य अपना आधिपत्य शेष दो राज्यो पर स्थापित करता था तो कभी दूसरा। सबसे पहले चोलो ने चेर और पाण्ड्य राजाओं पर अपना आधिपत्य स्थापित किया फिर क्रम से पाण्ड्य और चेर राजाओ ने अपना आधिपत्य स्थापित किया। तमिल साहित्य मे ऐसा भी उल्लेख है कि कई पाण्ड्य और चेर राजाओ ने अपने सैनिक अभियान हिमालय पर्वत तक भेजे। परन्तु यह कहना कठिन है कि इन परम्पराओं में कुछ ऐतिहासिक तथ्य है या नही।

तमिल प्रदेश के उत्तर मे कलवार जाति के लोग रहते थे। जब सातवाहनो ने अपने राज्य का विस्तार किया तो कलवारो को चोल और पाण्ड्य प्रदेशो की ओर बढ़ना पडा। इससे वहाँ थोड़े समय के लिए अव्यवस्था हो गई किन्तु काँची के आसपास के प्रदेश पर जिसे तोण्डैमण्डल कहते हैं, कलवारो का स्थायी प्रभाव पडा। तीसरी शती ईसवी की समाप्ति से पूर्व ही पल्लवो ने इस प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया। ये काँची प्रदेश में कई शताब्दियो तक शासन करते रहे।

तमिल सस्कृति का मूल महापाषाण युग (तीसरी शती ई० पू० से पहली शती ईसवी) की सस्कृति मे निहित है। इसका विवेचन हम अध्याय ३ मे कर चुके हैं। शगम साहित्य से भी इस सस्कृति के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इस साहित्य की रचना कुछ विद्वानो के अनुसार ईसा की पहली पाँच शताब्दियो मे हुई। अन्य विद्वानो के अनुसार इस साहित्य का सृजन लगभग १०० ई० से २५० ई० के बीच हुआ। ऐसी परम्परा है कि विद्वानो की सभा को दक्षिण भारत मे शंगम कहा जाता था। प्राचीन काल मे पाण्ड्य राज्य मे इस प्रकार के तीन शगम हुए। शगम काल मे तमिल भाषा मे उत्कृष्ट साहित्य की रचना हुई।

पहला शगम प्राचीन मदुरा मे हुआ। इस शगम का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है। दूसरा शंगम कपातपुरम् मे हुआ। इस शंगम का केवल एक ग्रन्थ 'तोल्काप्पियम्' अब उपलब्ध है। यह तमिल भाषा का व्याकरण है। इस पुस्तक के तीन भाग हैं। पहले भाग मे वर्ण विन्यास, दूसरे मे व्युत्पत्ति और तीसरे मे विषयवस्तु का विवेचन है। इसमे प्रेम, युद्ध, फूलो,

तत्कालीन रीति-रिवाजों सभी का वर्णन है । इस प्रकार इस ग्रन्थ में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का विशद विवेचन है ।

तीसरे संगम के तीन संग्रह उपलब्ध हैं—'पत्युप्पात्तु', 'एतुत्योकइ' और 'पदिनेन कीलकनक्कु' ।

'पत्तुप्पात्तु' मे दस काव्य हैं । एक काव्य को छोडकर सभी काव्य राजाओ को समर्पित किए गए हैं । नक्किररकृत एक काव्य युद्ध के देवता मुरुगन की प्रशसा मे है और दूसरे काव्य में राजा नेदुञ्जेलियान के युद्धभूमि के शिविर की रगरेलियो और उसकी विरह पीडित रानी के विरोधी दृश्यो का चित्रण है । दूसरा काव्य अधिक हृदयस्पर्शी है । नक्किरर ने इन दोनो काव्यो के अतिरिक्त बहुत से छोटे-छोटे अन्य ग्रन्थ लिखे । उसने अपने समकालीन और परवर्ती तमिल लेखको पर व्यापक प्रभाव डाला ।

रुद्रन कन्ननार के एक काव्य मे ५०० कविताएँ हैं जिनमे एक मे काँचीपुरम् का सुन्दर वर्णन है । दूसरा काव्य एक प्रेम कथा है । इसके नायक के सामने एक कठिन समस्या थी कि वह युद्धभूमि मे शत्रुओ के विरुद्ध लडने जाए या अपनी प्रेमिका के पास रहे । अन्त मे नायक प्रेमिका के पास रहने का ही निश्चय करता है । इस कविता मे चोल राज्य की राजधानी पुहार का भी विस्तृत वर्णन है ।

शेष छ काव्य छ कवियो की रचनाएँ हैं (१)मरुथनार ने अपने काव्य में नेदुञ्जेलियान के राज्यकाल मे पाण्ड्य राज्य के गौरव का वर्णन किया है । इसमे प्राचीन तमिल सस्कृति का यथार्थ वर्णन मिलता है, (२) कन्नियार ने अपने काव्य मे एक विद्वान् की हीन आर्थिक अवस्था का वर्णन किया है, (३) नत्थथनार के काव्य मे तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाजो का उल्लेख है और उसने आदर्श राजा का चित्र प्रस्तुत किया है, (४) नप्पुथनार ने एक सौ कविताओ मे एक रानी की विरह-कथा लिखी है जिसका पति विदेश गया है, (५) कपिलर के काव्य का नायक एक सुन्दरी के प्रेमपाश मे पड जाता है और(६) कैसिकनार ने अपने राज्य मे ६०० कविताओ मे प्रकृति का सुन्दर वर्णन किया है और उसमे नृत्य-कला का आलोचनात्मक विवेचन है ।

इन दस काव्यो मे प्रकृति का और मनोभावो का हृदयग्राही वर्णन है । दो काव्य चोल नरेश करिकाल को और दो नेदुञ्जेलियान को समर्पित किए गए हैं इसलिए हम यह अनमान कर सकते हैं कि इन काव्यो की रचना ईसा की दूसरी शती मे हुई ।

'एतुत्योकइ' मे कविताओ के आठ सग्रह है । इनमे पहले सग्रह मे ४०० कविताएँ हैं । इसी प्रकार दूसरे सग्रह मे लगभग २०० कवियो की ४०० प्रेम सम्बन्धी कविताएँ हैं । तीसरे सग्रह मे पाँच कवियो की ५०० प्रेम सम्बन्धी कविताएँ हैं । चौथे सग्रह मे चेर राजाओ के सद्गुणो का वर्णन है । ये चेर राजा सम्भवत ईसा की दूसरी व तीसरी शती मे विद्यमान थे । इन कविताओ का बहुत ऐतिहासिक महत्त्व है क्योकि उनमे तत्कालीन समाज का यथार्थ वर्णन मिलता है । पाँचवे सग्रह मे चेर राजा चेरन सेनगुत्तुवन की प्रशसा है । इसमे एक कवियित्री की कविताएँ भी हैं । पाँचवे सग्रह मे २४ कविताएँ हैं । उनमें कुछ देवी-देवताओ की प्रशसा मे हैं और कुछ मे प्रकृति के दृश्यों के मनोहारी वर्णन हैं । छठे सग्रह मे १५० प्रेम सम्बन्धी कविताएँ है । सातवे सग्रह मे ४०० प्रेम सम्बन्धी कविताएँ हैं । अन्तिम सग्रह मे १५० कवियो की ४०० कविताएँ हैं । इसमे ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो के तमिल समाज का बड़ा विस्तृत वर्णन मिलता है । कविता की दृष्टि से भी ये उत्कृष्ट रचनाएँ हैं ।

'पतिनेनकीलकनक्कु' मे २८ संग्रह हैं। इनमें सब से प्रसिद्ध तिरुवल्लुवर की रचना 'कुरल' है। इसमे दस-दस कविताओ के ११३ वर्ग हैं। इनमें सद्गुण, धन-सम्पत्ति, प्रेम, नीति, सुख आदि सभी विषयों का विशद विवेचन है। तिरुवल्लुवर के पदो का सौन्दर्य और शब्दों का चयन भी सराहनीय है। तिरुवल्लुवर ने अपने काव्य मे नीति, राजधर्म, नागरिकता, शृंगार और जीवन की कला सभी समस्याओ पर प्रकाश डाला है। इसीलिए उसे संक्षिप्त वेद कहा जाता है।

पहले संग्रह में जैन लेखको की ४०० चौपाइयाँ हैं। इनमे कुछ उत्कृष्ट हैं और कुछ साधारण। दूसरे संग्रह मे १०० चौपाइयाँ हैं। अगले चार संग्रहों में एक मे एक विरहिणी के मनोभावों का चित्रण है, दूसरे में चेर और चोल राजाओ के युद्ध का वर्णन है। शेष दो संग्रहो में कुछ ग्राह्य और त्याज्य शिक्षाओ का विवेचन है। छः संग्रहो मे प्रेम सम्बन्धी कविताएँ हैं। शेष पांच संग्रहो में सदाचार की शिक्षाएँ हैं जिनमे अनेक सदुक्तियाँ भरी पडी हैं।

तीसरे संगम मे उपर्युक्त तीन संग्रहो की ही नहीं तमिल के तीन बड़े महाकाव्यो की भी रचना हुई। वास्तव मे ईसा की दूसरी शती को तमिल साहित्य का स्वर्ण युग कहना अत्युक्ति न होगी।

महाकाव्यो में सबसे प्रसिद्ध 'सिलप्पदिकारम्' है। इसके लेखक इलगों ने कोवलन और कन्नकी की कथा लिखी है। कोवलन अपनी पतिव्रता पत्नी कन्नकी को भूल जाता है और माधवी नाम की वेश्या पर आसक्त हो जाता है। जब कोवलन अपनी और अपनी पत्नी कन्नकी की समस्त धन-सम्पत्ति को नष्ट कर देता है तो वह पश्चात्ताप करता है और दोनो पुहार छोड़कर मदुरा चले जाते हैं। मदुरा मे पाण्ड्य नरेश भूल से कोवलन को प्राणदण्ड की सजा देता है। इस पर पतिव्रता कन्नकी राजा और रानी को शाप देती है। मदुरा का वैभवपूर्ण नगर राख हो जाता है। स्वर्ग मे कन्नकी अपने पति कोवलन से मिलती है। यह महाकाव्य कथानक की दृष्टि से तो हृदयस्पर्शी है ही, कविता, संगीत, नाटकीय तत्वो और सुन्दर वर्णनो, अन्य महाकाव्यो जैसी गरिमा और उत्कृष्टता से भी परिपूर्ण है।

दूसरे महाकाव्य 'मणिमेखलय' की नायिका कोवलन और माधवी की पुत्री है। वह यह भली-भाँति अनुभव करती है कि मानव प्रेम का क्षेत्र सीमित है और अपने को बुद्ध, धर्म और संघ के अर्पण कर देती है। यह काव्य उतना उत्कृष्ट नही है जितना 'सिलप्पदिकारम'। किन्तु नायिका मणिमेखलय के भाग्य के उतार-चढाव मानव आत्मा को लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए प्रदर्शित करते हैं। इस काव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता को मानवता से पृथक् नही किया जा सकता।

तीसरा महाकाव्य 'जीवक चिंतामणि' है। इसका नायक जीवक है। उसके पिता के राज्य को उसी के मन्त्री ने छीन लिया। इसके बाद जीवक के पिता की मृत्यु हो गई। जीवक को अपने जीवन मे अनेक उतार-चढ़ावो का सामना करना पड़ता है किन्तु अन्त मे अपने पिता के उस मन्त्री को मारकर वह अपना राज्य उससे वापिस ले लेता है। ४५ वर्ष की अवस्था मे जीवक राज-सिंहासन छोड़कर जैन तपस्वी हो जाता है और अन्त मे मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस महाकाव्य मे ३,००० मनोहर पदों में जन्म से मोक्ष तक आत्मा की यात्रा का सुन्दर वर्णन है।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी	**प्राचीन भारत**, अध्याय ८ अनुवादक—बुद्ध प्रकाश
राजबली पाण्डेय	**प्राचीन भारत**, अध्याय १३
चन्द्रभान् पाण्डेय	**आंध्र सातवाहन साम्राज्य का इतिहास**
H C Raychaudhuri	*Political History of Ancient India,* Part II, Chapter 7, Sec II
K A. Nilakanta Sastri	*Comprehensive History of India,* Vol II, Chapters 4, 10.
K. A Nilakanta Sastri	*A History of South India*, Chapter 6
R C Majumdar and A D Pusalkar	*The History and Culture of the Indian People The Age of Imperial Unity,* Chapter 13

अध्याय १२

उत्तर-पश्चिमी भारत के विदेशी शासक

(Foreign Rulers of North-Western India)

(क) यूनानियों का उत्तर-पश्चिमी भारत पर अधिकार

सिकन्दर (Alexander) के आक्रमण से पूर्व भी उत्तर-पश्चिमी भारत मे यूनानियों की कुछ बस्तियाँ थी। इसके हमारे पास कई प्रमाण हैं। पाणिनि ने *अष्टाध्यायी* मे *यवनानी* शब्द का प्रयोग यूनानी लिपि के अर्थ मे किया है। उन इतिहास-लेखको ने, जो सिकन्दर के साथ भारत आए थे, स्पष्ट लिखा है कि निसा का राज्य एक यूनानी बस्ती थी। सिक्को से भी इस बात का प्रमाण मिलता है कि अफगानिस्तान मे बहुत से यूनानी उपनिवेश सिकन्दर के आक्रमण से पहले ही विद्यमान थे। डॉ० ए० के० नारायण ने अपनी पुस्तक मे सिद्ध किया है कि बैक्ट्रिया का राज्य सिकन्दर के उत्तराधिकारियो का राज्य नही माना जा सकता। उनका सैल्यूकस (Seleucus) के वशजो से कोई सम्बन्ध न था।

पार्थिया और बैक्ट्रिया के विद्रोह--तीसरी सदी ई० पू० मे पार्थिया और बैक्ट्रिया के राज्य सैल्यूकस के सीरिया के साम्राज्य से पृथक् हो गये। पार्थिया खुरासान और कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व का तटवर्ती प्रान्त था। वहाँ की जनता ने आर्सेकीज (Arsaces) नाम के सामन्त के नतृत्व मे विद्रोह किया। इस सामन्त ने स्वतन्त्र होकर २४८ ई० पू० मे पार्थिया मे एक स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली। बैक्ट्रिया का राज्यपाल डायोडोटस प्रथम (Diodotos I) महत्त्वाकाक्षी था। उसके प्रयत्नो से बैक्ट्रिया सीरिया के साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गया। बैक्ट्रिया का प्रदेश हिन्दुकुश पर्वत और वक्षु (Oxus) नदी के बीच का उर्वर प्रदेश था। बैक्ट्रिया के दूसरे राजा डायोडोटस द्वितीय ने २५० ई० पू० मे अपने देश को सैल्यूकस के साम्राज्य से पूर्णतया स्वतन्त्र कर लिया। उसने पार्थिया के शासक से मित्रता कर ली और जब २४० और २३५ ई० पू० के बीच सम्राट् सैल्यूकस द्वितीय ने पार्थिया पर आक्रमण किया तो पार्थिया के शासक ने अपने देश की ही रक्षा नहीं की वरन् उसने बैक्ट्रिया के राज्य को भी बचा लिया। डायोडोटस द्वितीय ने लगभग २३० ई० पू० तक राज्य किया।

२३० ई० पू० के लगभग मैगनेशिया के निवासी **यूथीडिमस** (Euthydemos) ने डायोडोटस द्वितीय को हराकर बैक्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। यूथीडिमस के राज्य काल मे सीरिया के सम्राट् ऐन्टियोकस तृतीय (Antiochos III) ने इस विद्रोही प्रान्त को फिर से जीतना चाहा। उसने बलख का घेरा डाला, परन्तु वह उसे जीत न सका। दो वर्ष पश्चात् उसे यूथीडिमस से सन्धि करनी पडी। उसने अपनी पुत्री का विवाह यूथीडिमस के पुत्र डिमिट्रियस (Demetrios) के साथ कर दिया। इसके पश्चात् ऐन्टियोकस ने हिन्दु-कुश पार करके भारत पर आक्रमण किया। काबुल की घाटी मे उसकी सुभागसेन से भेंट हुई। सुभागसेन से कुछ हाथी लेकर वह मैसोपोटामिया वापस चला गया। उसके जाने के पश्चात् यूथीडिमस ने भारत की ओर अपना अधिकार बढाया ऐसा उसके सिक्कों से ज्ञात

होता है। इस प्रकार भारत की सीमा पर जो सफलताएँ यूथीडिमस या ऐन्टियोकस (Antiochos III) ने प्राप्त की उनका भारत पर कोई स्पष्ट प्रभाव न पड़ा। १९० ई० पू० के लगभग यूथीडिमस की मृत्यु हो गई।

बाख्त्री के यूनानी राजाओं की भारत विजय—यूथीडिमस की मृत्यु के पश्चात् डिमिट्रियस (Demetrios) ने भारत-विजय की योजना बनाई। १८३ ई० पू० के लगभग उसने पजाब का एक बड़ा भाग जीत लिया। उसने सम्भवत. सिन्ध की भी विजय की। उसके सिक्को पर यूनानी और प्राकृत भाषा मे यूनानी और खरोष्ठी लिपि मे उसका नाम और उसकी पदवी 'अजेय' खुदी है।

स्ट्रैबो ने लिखा है कि यूनानियो ने गगा नदी और पाटलिपुत्र तक आक्रमण किये। पतजलि ने महाभाष्य मे लिखा है कि यूनानियो ने अवध मे साकेत का और राजस्थान मे चित्तौड के निकट मध्यमिका का घेरा डाला। गार्गी सहिता के युगपुराण अध्याय से हमे ज्ञात होता है कि दुष्ट, वीर यवनो ने साकेत, पचाल (गगा-यमुना का दोआब) और मथुरा को जीतकर पाटलिपुत्र तक धावा मारा, किन्तु वे वहाँ से तुरन्त लौट गये, क्योकि उनके देश मे एक भयकर युद्ध प्रारम्भ हो गया था। सम्भवत इस युद्ध से उस घरेलू युद्ध की ओर सकेत है जो यूथीडिमस के वशजो और यूक्रेटाइडीज (Eucratides) के वशजो मे बैक्ट्रिया मे प्रारम्भ हो गया था। उपर्युक्त लेखको मे से किसी ने भी उस यवन आक्रमणकारी यूनानी राजा का नाम नही दिया है जिसने यह आक्रमण किया।[1]

जब डिमिट्रियस अपनी भारत विजय मे लगा हुआ था, यूक्रेटाइडीज (Euctratides) नामक एक व्यक्ति ने १७५ ई० पू० के लगभग अपने को बैक्ट्रिया का शासक घोषित कर दिया। भारत से लौटकर डिमिट्रियस ने उसे बैक्ट्रिया के सिंहासन से हटाने का प्रयत्न किया, परन्तु वह इसमे सफल न हो सका। यूक्रेटाइडीज के सिक्के बैक्ट्रिया, सीस्तान, काबुल की घाटी' कापिश और गन्धार प्रदेश मे मिले हैं। इसका यह अर्थ है कि बैक्ट्रिया पर अधिकार करने के बाद उसने कुछ प्रदेश यूथीडिमस के वशजो से जीत कर अपने अधिकार मे कर लिए। सम्भवत· झेलम नदी तक पश्चिमी पजाब को उसने अपने राज्य मे मिला लिया। वह और आगे न बढ सका। डिमिट्रियस का अधिकार पूर्वी पजाब और सिन्ध पर ही रह गया। यूक्रेटाइडीज ने बैक्ट्रिया, काबुल की घाटी और पश्चिमी पजाब पर अपना अधिकार जमाये रखा।

सम्भवत उसे यूथीडिमस के वशजो से अनेक युद्ध करने पड़े। उसकी दुर्बलावस्था से लाभ उठाकर पार्थिया के शासक मिथ्रदात प्रथम ने बैक्ट्रिया के कुछ भाग को अपने राज्य मे मिला लिया। जब यूक्रेटाइडीज बैक्ट्रिया की ओर लौट रहा था तो उसके पुत्र हेलियोक्लीज ने उसकी हत्या कर दी (लगभग १५० ई० पू०)। बैक्ट्रिया का अन्तिम यूनानी शासक हेलियोक्लीज था। हमे चीनी ऐतिहासिक साधनो से ज्ञात होता है कि १६५ ई० पू० के कुछ समय बाद यूह चो जाति के लोगो ने वक्षु नदी के उत्तर मे स्थित प्रदेशो और उस नदी के दक्षिण पश्चिमी

१. कुछ भारतीय इतिहासकारों का मत है डिमिट्रियस के नाम का खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में भी उल्लेख है। स्ट्रैबो ने लिखा है कि डिमिट्रियस और मिनाण्डर ने भारत विजय की। इसलिए जो इतिहासकार हाथीगुम्फा अभिलेख में डिमिट्रियस के नाम का उल्लेख मानते हैं, उनके मत में वह यूनानी आक्रमण, जिसका पतञ्जलि और गार्गी-संहिता के युगपुराण में वर्णन है, डिमिट्रियस का ही था।

और दक्षिणी प्रदेश पर अधिकार कर लिया और शकों को इन प्रदेशों को छोड़कर बैक्ट्रिया में शरण लेने के लिए विवश किया। इसका अर्थ है कि बैक्ट्रिया के कुछ भाग पर शकों ने अधिकार कर लिया। कुछ दिन बाद यूह्‌-ची जाति के लोगों ने शकों से इस प्रदेश को भी छीन लिया। जब बैक्ट्रिया हेलिओक्लीज के हाथ से निकल गया (लगभग १२५ ई० पू०) तो उसका राज्य काबुल नदी की घाटी तक सीमित रह गया।

इस प्रकार यूनानियों के भारत में दो राज्य हो गए। पूर्वी भाग में यूथीडिमस के वंशज अर्थात् अपालोडोटस (Apollodotus), डिमिट्रियलस द्वितीय और मिनाण्डर (Menander) ने राज्य किया। उसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी। पश्चिमी भाग में यूक्रेटाइडीज (Eucratides) के वंशज राज्य करते थे। उनकी राजधानी तक्षशिला थी।

स्ट्रेबो के अनुसार डिमिट्रियस द्वितीय का राज्य पश्चिम में सिन्धु नदी के डेल्टा, सौराष्ट्र और कच्छ तक फैला हुआ था।

मिनाण्डर

भारत के पूर्वी यूनानी राज्य के शासकों में मिनाण्डर सबसे प्रसिद्ध है। उसके सिक्के काबुल से मथुरा और बुन्देलखण्ड तक मिले हैं। पेरिप्लस में लिखा है कि मिनाण्डर के सिक्के अपोलोडोटस के सिक्कों के साथ भड़ौच के बाजारों में खूब चलते थे। उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश से परे बजौर ज़िले में शिन्कोट में एक मंजूषा मिली है जिस पर मिनाण्डर का नाम खुदा है। मिनाण्डर के राज्यकाल में उस मजूषा में बुद्ध के कुछ अवशेष रखकर वियकमित्र ने बुद्धधातुमय मजूषा की प्रतिष्ठा की। स्वात की घाटी में भी एक मजूषा मिली है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि मिनाण्डर के राज्य में अफगानिस्तान का कुछ भाग और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश सम्मिलित थे। कुछ इतिहासकारों का मत है कि वे आक्रमण, जिनका वर्णन पञ्जतलि के महाभाष्य और गार्गी संहिता के युगपुराण में है, मिनाण्डर के थे। परन्तु यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि यह आक्रमण पुष्यमित्र शुग के राज्यकाल के प्रारम्भ में अर्थात् लगभग १८७ ई० पू० में हुआ था और मिनाण्डर का समय पुष्यमित्र के बहुत बाद में है। मिनाण्डर का समय डिमिट्रियस के उत्तराधिकारी अपोलोडोटस, एगेथोक्लीज और एण्टीमेकस के तुरन्त बाद है। डिमिट्रियस की मृत्यु लगभग १६५ई० पू० में हुई थी। इसलिए मिनाण्डर के राज्यकाल सभवत ११५-९० ई०पू०रहा होगा।

भारतीय साहित्य में मिनाण्डर का नाम मिलिन्द है। उसका नाम 'मिलिन्दपञ्ह' नामक पुस्तक से अमर है। इस पुस्तक में मिनाण्डर के कुछ पेचीदे प्रश्नों का संग्रह है, जिनका उत्तर नागसेन नामक बौद्ध भिक्षु ने दिया था। नागसेन ने ही इस यूनानी राजा को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। मिनाण्डर के कुछ सिक्कों पर धर्मचक्र बना है और उसका विरुद 'धार्मिक' खुदा है, जिससे उसका बौद्ध होना प्रमाणित होता है।[1] 'मिलिन्दपञ्ह' में लिखा है कि मिनाण्डर का जन्म-स्थान शाकल (स्यालकोट) से लगभग ५०० मील की दूरी पर अलसन्दा द्वीप में कलसी नामक स्थान था। सभवतः अलसन्दा द्वीप से उस सिकन्दरिया से अभिप्राय है जो पजशीर और काबुल नदियों के मध्य स्थित था। मिनाण्डर की बहुत बड़ी सेना थी। उसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) व्यापार का बड़ा केन्द्र था। उसमें उपवनों, तालाबों, नदियों, पहाड़ों और जगलों की बहुतायत थी। इस

१. मिनाण्डर के कुछ दरबारियों के नाम भी भारतीय रूप में मिलते हैं, जैसे अनन्तकाय (Antiochos) और देवमन्त्रिय (Demetrius)।

नगर मे बनारसी मलमल, रत्न और बहुमूल्य वस्तुओ की बड़ी-बड़ी दुकानें थी।

मिनाण्डर अपनी न्यायप्रियता के लिए प्रसिद्ध था। वह इतना लोकप्रिय था कि उसकी मृत्यु के बाद उसकी भस्म के लिए बहुत झगड़ा हुआ। सब उसकी भस्म पर अलग-अलग स्तूप बनाना चाहते थे।

मिनाण्डर के उत्तराधिकारी

मिनाण्डर के बाद उसकी रानी एगथॉक्लिया (Agathocleia) ने पहले अपने नाम मे अपने पुत्र स्ट्रेटो (Strato)प्रथम की अभिभावक के रूप मे और फिर उसने अपने और अपने पुत्र दोनो के नाम के सिक्के चलाये। सम्भवत स्ट्रेटो प्रथम के पश्चात् स्ट्रेटो द्वितीय राजा बना।

एपोलोडोटस प्रथम (Apollodctus I) के वश मे भी कई राजा हुए, जैसे एपोलोडोटस द्वितीय और हिपोस्ट्रेटस (Hippostratus), परन्तु इन राजाओ का ज्ञान हमे उनके सिक्को से होता है। उनके राज्यकाल की घटनाओ का हमे कोई पता नही है।

यूक्रेटाइडीज का कुल

हम ऊपर कह चुके हैं कि यूक्रेटाइडीज के पश्चात् उसका पुत्र हेलिओक्लीज (Heliocles) अपने पिता को मार कर बैक्ट्रिया का शासक बना। इसके समय मे ही मध्य एशिया से निकले कुछ शक बैक्ट्रिया पहुँच गये और उन्होंने बैक्ट्रिया पर अधिकार कर लिया।

इस वश के अन्य राजाओ के विषय मे हमे कुछ विशेष ज्ञान नही है। किन्तु बेसनगर स्तम्भ के अभिलेख से हमे इतना अवश्य मालूम है कि एण्टिऑलकिडस (Antialcidas) नामक तक्षशिला के यूनानी राजा ने दियस के पुत्र हैलियोदोरस (Hioledoros) को अपना दूत बनाकर काशीपुत्र भागभद्र त्राता की सभा मे भेजा। यह दूत भागवत अर्थात् विष्णु का उपासक था। एण्टिआलकिडस ने यूक्रेटाइडीज के अनुरूप ही सिक्के चलाये। वह कापिश, पुष्कलावती और तक्षशिला का शासक था। पीछे से पह्लवों ने ये प्रदेश उसके वशजो स छीन लिये। सीमाप्रान्त और काबुल घाटी का अन्तिम राजा हर्मियस (Hermaues) था। वह पहली शती ई० पू० मे राज्य करता था। उसे कुषाणो ने नष्ट कर दिया।

यूनानी सम्पर्क का प्रभाव

भारतीय सस्कृति पर यूनानी सस्कृति का क्या प्रभाव पडा, इस विषय मे इतिहासकारो के दो मत हैं। कुछ इतिहासकार इस मत के हैं कि प्रत्येक क्षेत्र मे भारत की सास्कृतिक प्रगति बहुत कुछ यूनानियो के सम्पर्क के कारण ही हुई। इसकी प्रतिक्रिया के रूप मे कुछ भारतीय विद्वान् कहते है कि भारतीय सस्कृति पर यूनानी सस्कृति का लेशमात्र भी प्रभाव नही पडा। वास्तविकता इन दोनों से कुछ भिन्न है।

पहले हम उन विषयो का वर्णन करेंगे जिनमे भारतीयो ने निश्चय ही यूनानियो से बहुत कुछ सीखा।

सिक्के

यूनानियों से सम्पर्क होने से पहले भारतीय केवल आहत मुद्राएँ (Punch marked

coins) काम में लाते थे। उन पर कोई आकृति या नाम नहीं होता था। यूनानियों ने यहाँ ऐसे सिक्को का प्रचलन किया जिन पर राजाओ की आकृतियाँ व उनके नाम खुदे होते थे। इन सिक्को पर एक ओर राजा की आकृति और दूसरी ओर किसी देवता की मूर्ति या कुछ अन्य चिह्न बड़े चातुर्य से बनाये गए। भारतीय शासको ने इसी प्रणाली को अपनाया, परन्तु उनके सिक्को में इतनी सफाई न आ सकी। भारतीयो ने यूनानी शब्द द्रख्म को 'द्रम्म' या 'दाम' रूप मे भारतीय भाषाओं मे अपनाया। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सिक्कों के बनाने मे भारतीयो ने यूनानियों से बहुत-कुछ सीखा। कनिष्क ने भी बैक्ट्रिया के यूनानी राजाओ और रोम के सिक्को के अनुरूप अपने सिक्के बनाये।

ज्योतिष

भारतीयो ने ज्योतिष विद्या को स्वय निकाला था, किन्तु उन्होने यूनानियो से भी इस विषय मे बहुत सीखा। फलित ज्योतिष का कुछ ज्ञान भारतीयो को पहले था, परन्तु नक्षत्रो को देखकर भविष्य बतलाने की कला भारतीयो ने सिकन्दरिया (Alexandria) के ज्योतिषियो से सीखी। गार्गी संहिता ने ज्योतिष के लिए भारत का यूनान का ऋणी होना स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उसने लिखा है कि यद्यपि यवन बर्बर हैं तथापि ज्योतिष के मूल निर्माता होने के कारण वे वन्दनीय है। रोमक (Romaka) तथा पोलिस (Paulisa) सिद्धान्त तो निश्चय ही यूनानी प्रभाव को बतलाते है। वराहमिहिर ने भी लिखा है कि यद्यपि यूनानी म्लेच्छ हैं किन्तु वे ज्योतिष के विद्वान हैं, इसलिए प्राचीन ऋषियो-की भाँति पूज्य हैं। भारतीय ज्योतिष में बहुत-से शब्द यूनानी भाषा से लिये गए है, जैसे केन्द्र, हारिज, द्रेक्काण, लिप्त आदि।

कला

डा० डी० बी० स्पूनर ने लिखा था कि अशोक के महल का १०० स्तम्भो वाला बडा कमरा जो कुम्रहार मे मिला था, उसमे और यूनानियो की राजधानी पर्सिपोलिस मे जो १०० स्तम्भो वाला बडा कमरा था, बहुत समानता है। परन्तु जिस आधार पर डा० स्पूनर उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँचे थे वह विश्वसनीय नही है। केवल तक्षशिला के दो मकानों और एक मन्दिर पर यूनानी प्रभाव दिखाई देता है और कही यूनानी वास्तुकला का भारतीय वास्तुकला पर प्रभाव नही दिखाई देता।

अशोक के स्तम्भो के विषय मे हम पहले लिख चुके है कि प्रेरणा अवश्य ईरानी स्तम्भों से मिली परन्तु वे सर्वथा ईरानी कला की नकल नही है। भारतीय कलाकारो ने उसे एक नया रूप दे दिया है जो कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है।

गन्धार और मथुरा की बुद्ध व बोधिसत्वो की मूर्तियो पर यूनानी और रोमन कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पडता है। इसका विशद विवेचन हम कुषाणकालीन कला मे करेंगे।

साहित्य

रामायण के मूल भाग मे हमे कही यूनानी प्रभाव दिखाई नही देता। रामायण के मूल भाग की रचना तो बौद्ध धर्म के उदय से भी पूर्व हो चुकी थी। महाभारत की मूल कथा ब्राह्मण-युग अर्थात् ७०० ई० पू० से पूर्व ही प्रचलित थी। हाँ, जिस रूप मे महाभारत अब उपलब्ध है वह अवश्य

यूनानियों के आने के बाद तैयार हुआ। कुछ लेखक भारतीय नाटको मे 'यवनिका' शब्द आने से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि नाटको के लिए भारत यूनान का ऋणी है। यह ठीक नही प्रतीत होता। उस समय के यूनानी नाटक मे यवनिका थी ही नहीं। भारतीय नाट्य-कला की कुछ अपनी विशेषताएँ भी हैं जो यूनानी नाटकों मे नही पाई जाती, जैसे भारतीय नाटक सब सुखान्त होते हैं, यूनानी सुखान्त और दु:खान्त दोनो। भारतीय नाटको मे पात्र विभिन्न बोलियां बोलते हैं। यूनानी नाटको मे जो समय, स्थान और कार्य की एकता का ध्यान रखा जाता है, यह एकता भी भारतीय नाटको मे नही मिलती। भारतीय नाटको मे विदूषक होना, पात्रो की बहुतायत, कथानक की ढीली प्रगति आदि कुछ ऐसी अपनी विशेषताएँ हैं कि हम उन पर यूनानी नाट्य-कला का प्रभाव मानने मे असमर्थ हैं। इनके विषय भी अधिकतर भारतीय हैं। भारतीय नाटको का प्रारम्भ तो वैदिक काल से ही हो जाता है, इसलिए यह कहना ठीक नही प्रतीत होता कि भारतीय नाटक का विकास यूनानी नाटकों से हुआ।

धर्म और दर्शन

भारतीयो ने न तो यूनानी धार्मिक विश्वासो को अपनाया न उनके देवी-देवताओ की पूजा की। इसके विपरीत कई यूनानी राजाओ ने भारतीय धर्म को अपनाया। तक्षशिला के राजा ऐण्टिआलकिडस (Antialkidas) ने हेलियोदोरस को अपना राजदूत बनाकर काशीपुत्र भागभद्र के पास भेजा था। हेलियोदोरस अपने को भागवत कहता था और उसने देवो-के-देव वासुदेव के उपलक्ष्य मे बेसनगर मे गरुडध्वज की स्थापना की। मिनाण्डर स्वय बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया।

दर्शनशास्त्र मे भी यूनान भारत का ऋणी है। पाइथोगोरस के अनुयायी मद्य, मास से परहेज करते हैं। यूनानी पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त मे विश्वास करते हैं। तपस्या और योग की क्रियाएँ भी यूनानियो ने भारतीयो से सीखी।

राजनीति

कुछ विद्वान् यह समझते हैं कि एक सगठित विशाल साम्राज्य का विचार भी भारतीयो न यूनानियो से लिया। वे इसके पक्ष मे अशोक के शिलालेख प्रस्तुत करते हैं जो ईरानी आदेशो के अनुरूप हैं। परन्तु ऐसा समझना ठीक नही प्रतीत होता, क्योकि एक चक्रवर्ती राज्य की भावना तो भारत मे ब्राह्मणो के युग से ही विद्यमान थी और इस युग मे बहुत-से राजाओ ने इस निमित्त अश्वमेध और राजसूय आदि यज्ञ किये।

व्यापार

दोनो देशो का निकट सम्बन्ध स्थापित हो जाने से व्यापार को अवश्य प्रोत्साहन मिला होगा। भारत से गर्म मसाले और हाथीदाँत की वस्तुएँ पश्चिमी देशो को जाती और यूनानी देशो से लिखने की सामग्री तथा 'सुन्दर कुमारी उप-पत्नियाँ' भारत आती। इस समय सिकन्दरिया पूर्व और पश्चिम के व्यापारियो के मिलने का केन्द्र बन गया था। बहुत-से भारतीय वहाँ जाकर बस गये थे।

निष्कर्ष

जब दो जातियो का निकट सम्पर्क स्थापित होता है तो उन मे विचारो का आदान-प्रदान

होना स्वाभाविक है। यद्यपि भारतीय सिक्को और ज्योतिष पर यूनान का प्रभाव अवश्य पड़ा, किन्तु जहाँ तक यूनानी सस्कृति का प्रश्न है उसका भारतीय संस्कृति पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ा। इसके विपरीत बहुत-से यूनानियो ने भारतीय सस्कृति को पूर्ण रूप से अपना लिया।

(ख) शक पह्लव

चीनी लेखकों से हमे ज्ञात होता है कि १७५ से १६५ ई० पू० के लगभग हूणो ने यूह्‌ची जाति को पश्चिमी चीन से खदेड दिया। जब वे पश्चिम की ओर चले तो सीर नदी के उत्तर मे उन्हें एक दूसरी घुमक्कड जाति शक मिली। जब यूह्‌ची जाति के लोगो ने शकों को हरा दिया तो वे भारत की ओर बढे। कुछ दिनो पश्चात् सीर नदी के निकट वुसुन नामक एक तीसरी घुमक्कड जाति आई। उसने यूह्‌ची जाति से उन प्रदेशो को छीन लिया जो उन्होने शको से छीने थे। इसके पश्चात् यूह्‌ची (Yueh-chi) जाति के लोग वक्षु नदी की घाटी में रहने लगे।

यूह्‌ची जाति से हारकर शक लोग दो शाखाओ मे बँट गए। उनकी एक शाखा—शक मुरुण्ड—कश्मीर और पजाब के मैदानो मे रहने लगी। दूसरी शाखा ने सम्भवत: यूनानियो को हराकर बैक्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। जब यूह्‌ची उनका पीछा करते-करते बैक्ट्रिया पहुँच गये तो इन शको मे से कुछ मर्व, हिरात और सीस्तान (शकस्थान) होकर भारत पहुँचे। जब शक बैक्ट्रिया से दक्षिण-पश्चिम की ओर बढे तो उन्हें पार्थिया के शासको से लड़ना पडा। इस सघर्ष मे पार्थिया (Parthia) के दो शासको १२९ ई० पू० मे फ्रात द्वितीय (Phraates II) और १२३ ई० पू० मे आर्तबानस (Artabanus) प्रथम को अपने प्राण खोने पड़े। पार्थिया के अगले राजा मिथ्रदात (Mithridates) द्वितीय (१२३—८८ ई० पू०) ने शकों को पूर्व की ओर जाने के लिए विवश किया। इसके पश्चात् शक शकिस्तान मे बस गए। वहाँ से वे कदहार और बलोचिस्तान होते हुए सिन्धु नदी की निचली घाटी मे पहुँचे और वहाँ बस गए। इसी कारण इस प्रदेश का नाम शक द्वीप पडा। भारत मे आने से पहले इन शको का पह्लवो के साथ पर्याप्त सम्पर्क रहा था, इसलिए उन्होने पह्लव सस्कृति के कई अश अपना लिए। शको के नाम, सिक्के और राजनीतिक सस्थाएँ पह्लवो के नाम, सिक्को और राजनीतिक सस्थाओ से बहुत मिलती हैं।

मोअ (Maues) का शक वंश

भारत का पहला शक शासक मोअ (२२ ई० पू० से २० ई० पू०) जान पड़ता है। खरोष्ठी लिपि मे उसके सिक्को पर उसका नाम 'मोय' लिखा है। मिथ्रदात द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् उसने राजाधिराज का विरुद अपने सिक्को पर खुदवाया। उसके सिक्को के प्राप्ति-स्थानो से पता चलता है कि गन्धार और पश्चिमी पजाब उसके राज्य मे सम्मिलित थे। तक्षशिला से मिले एक ताम्रपत्र मे उसे 'महाराय' कहा गया है, जिससे स्पष्ट है कि वह प्रदेश भी उसके राज्य में सम्मिलित था। मोअ ने भारत के यूनानी राजाओ के सिक्को का अनुकरण किया है, इसलिए उसका राज्य काल उनके राज्य काल के निकट ही होना चाहिए। उसके सिक्को पर यूनानी देवताओं के अतिरिक्त शिव और बुद्ध की आकृतियाँ भी खुदी हैं। सम्भव है कि मोअ ने अपना राज्य पूर्व मे मथुरा तक फैला लिया हो, क्योंकि वहाँ १५ ई० मे शक महाक्षत्रप सोण्डास शासक था।

अय (Azes) प्रथम (५ ई० पू० से ३०)

मोअ के उत्तराधिकारी अय प्रथम ने यूथीडिमस के यूनानी वशजो को हराकर सारे पजाब, गन्धार और कापिश पर अपना अधिकार कर लिया। यह इस बात से स्पष्ट है कि उसने यूथीडिमस के वशज अपोलोडोट्स द्वितीय के सिक्को पर अपने नाम का ठप्पा लगाया। उसने अपने उत्तराधिकारी अयलिस (Azilises) के साथ भी कुछ सिक्के चलाये। अयलिस ने २८ ई० से ४० ई० तक राज्य किया। उसके बाद अय द्वितीय (३५ ई० से ७९ ई०) ने राज्य किया। वह भारत का अंतिम शक सम्राट् था। उसके बाद पह्लव गुन्दफर्न (Gondophernes) भारत का शासक हुआ।

वनान (Vonones) ने मिथ्रदात द्वितीय (१२३—८८ ई० पू०) के बाद पूर्वी ईरान मे एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। उसने दक्षिणी अफगानिस्तान और अपने साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशो का शासन अपने प्रतिनिधि शासको द्वारा चलाया। 'राजातिराज' का विरुद धारण किया। उसने स्पलिरिष (Spalirises) के साथ भी सिक्के चलाए जो उसका उत्तराधिकारी हुआ (१८ से १ ई० पू०)। मोअ का शक कुल और वनान का पह्लव वश आपस मे सम्बन्धित थे, क्योकि अय द्वितीय वनान का भतीजा था।

गुन्दफर्न (Gondophernes) (२० ई०—५० ई०)

खरोष्ठी लिपि में उत्कीर्ण तख्तेबाही अभिलेख मे इसे गुदुव्हर कहा गया है। उसका नाम फारसी मे विन्दफर्ण है, जिसका अर्थ है यशविजयी। सम्राट् आर्थेगनस (Orthagnes) के समय मे वह कन्दहार का राज्यपाल था, फिर वह स्वतन्त्र शासक हो गया। उसने पार्थिया के साम्राज्य के पूर्वी ईरान आदि प्रदेशो को और यूनानी राजा हर्मियस से उत्तरी काबुल की घाटी को जीता। तख्तेबाही अभिलेख से पेशावर जिले पर उसका अधिकार होना स्पष्ट है। तख्तेबाही अभिलेख की तिथि १०३ है। उसमे वैशाख का महीना दिया है, अत इसे विक्रम सवत् माना जा सकता है। यह गुन्दफर्न के राज्य का २६वाँ वर्ष था। इसीलिए उसके राज्यकाल का प्रारम्भ [१०३—(५७+२६) = २० ई०] मे समझना चाहिए।

'सन्त टॉमस के कार्य' पुस्तक मे लिखा है कि सन्त टॉमस गुन्दफर्न के दरबार मे आया था। उसने भारत मे ईसाई धर्म का प्रचार किया और उसका बलिदान यही हुआ। यह कहना कठिन है कि इस कहानी मे कहाँ तक ऐतिहासिक तथ्य है।

गुन्दफर्न के पश्चात् उसका राज्य दो भागो मे बँट गया। पकोरिस सम्भवत पश्चिमी पजाब और दक्षिणी अफगानिस्तान के कुछ भागो पर राज्य करता था। दूसरे भाग का शासक सम्बरिस था।

पह्लव साम्राज्य का अन्त कुषाणो द्वारा हुआ, यह बात दो अभिलेखो से स्पष्ट होती है। हजारा जिले के पतजर अभिलेख की तिथि १२२ अर्थात् ६५ ई० है, उसमे महाराज गुषण (कुषाण) का राज्य लिखा है। तक्षशिला अभिलेख की तिथि १३६ अर्थात् ७९ ई० है। उसमे राजा के लिए 'महाराज राजातिराज देवपुत्र कुषाण' लिखा है।

(ग) शक क्षत्रप

शको ने भारत के भीतर कई स्थानो पर अपने राज्य स्थापित कर लिए थे। इनके मुख्य केन्द्र

चार थे—तक्षशिला, मथुरा, नासिक और उज्जयिनी।

तक्षशिला के क्षत्रप

शको के शासन की एक विशेषता थी कि साधारणतया दो शासक एक साथ राज्य करते थे। उनमें एक महाक्षत्रप होता था और दूसरा क्षत्रप। जब महाक्षत्रप की मृत्यु हो जाती थी तो क्षत्रप महाक्षत्रप हो जाता था। तक्षशिला के ताम्रपत्र अभिलेख मे, जिसकी तिथि ७८ अर्थात् २१ ई० है, मोअ के अधीन दो व्यक्तियो के नाम मिले है। **लियक कुसुलक** को चुक्ष (तक्षशिला के निकट) का क्षत्रप लिखा है और **पतिक** को तक्षशिला का 'महादानपति' लिखा है।

तक्षशिला के अन्य क्षत्रप **अस्पवर्मा**, उसका भतीजा **सस**, **सपेदन** और **सत-वस्त्र** थे। **इन्होंने** गुन्दफर्न के राज्यकाल मे इस प्रान्त का शासन चलाया।

सिक्को से तक्षशिला के एक अन्य क्षत्रप **जियोनिसिस** का नाम ज्ञात होता है और १९१ तिथि अर्थात् १२४ ई० के तक्षशिला अभिलेख मे चुक्ष के क्षत्रप **जिहोणिक** का उल्लेख है जो सम्भवतः जियोनिसिस का पोता था। ये क्षत्रप सम्भवतः कुषाण सम्राटो के अधीन थे।

मथुरा के क्षत्रप

मथुरा के क्षत्रपो के विषय मे हमे सबसे अधिक जानकारी सिंह-शीर्ष वाले अभिलेखो से होती है। इसमे महाक्षत्रप **राजुल** और उसके पुत्र **शोडास** का उल्लेख है। राजुल ने मोअ के भतीजे **खरोष्ट** की पुत्री से विवाह किया। इस अभिलेख मे शोडास को क्षत्रप कहा गया है। आमोहिनी आयागपट अभिलेख मे शोडास को महाक्षत्रप कहा गया है। इसकी तिथि ७२ अर्थात् १५ ई० है।

सिक्को से मथुरा के कुछ अन्य क्षत्रपो के नाम ज्ञात होते हैं, जैसे **तरनदास**, **हगान**, **हगामश**, **घटाक**, **शिवघोष** और **शिवदत्त**। अन्तिम दो नामो से प्रकट होता है कि सम्भवतः ये शक क्षत्रप शैव मतावलम्बी थे।

पश्चिमी भारत के क्षत्रप

नासिक के क्षत्रप

इस वंश के दो प्रसिद्ध शासक भूमक और नहपान थे। वे अपने को क्षहरात क्षत्रप कहते थे। भूमक ने अपने ताँबे के सिक्को मे अपने को क्षत्रप लिखा है। उसका अधिकार सौराष्ट्र पर था। उसके सिक्को पर जो सिंह-शीर्ष और धर्मचक्र बना है उससे उसका सम्बन्ध मथुरा के शक क्षत्रपों से प्रतीत होता है।

नहपान

नहपान के अभिलेखो मे ४१ से ४६ तक तिथियाँ है। ये तिथियाँ सम्भवतः ७८ ई० मे प्रारम्भ होने वाले शक सम्वत् मे है। इसलिए नहपान का राज्यकाल ११९ से १२४ ई० तक हुआ। नहपान ने अपने सिक्को मे अपने को 'राजा' लिखा है। प्रारम्भिक अभिलेखों मे वह अपने को 'क्षत्रप' लिखता है, किन्तु वर्ष ४६ के अभिलेख मे 'महाक्षत्रप'।

इन अभिलेखो मे नहपान के निम्नलिखित आहारो (जिलो) का उल्लेख है :—

गोवर्धन (नासिक), नामाल (पूना), कापूर (बड़ौदा), प्रभास (दक्षिणी काठियावाड़),

भृगुकच्छ (भड़ोच), दशपुर (पश्चिमी मालवा में मन्दसौर), शूर्पारक (सोपारा), पुष्कर (अजमेर)। इनमें तापी, बर्णास, पाराद, दमन, और दाहनुका नदियों के भी नाम आए हैं।

नहपान का राज्य उत्तर में अजमेर और राजपूताना तक फैला हुआ था। उसके राज्य में काठियावाड, दक्षिण गुजरात, पश्चिमी मालवा, उत्तरी कोंकण, नासिक और पूना जिले शामिल थे।

हम पहले कह आए हैं[१] कि नहपान ने महाराष्ट्र सातवाहन राजाओं से छीन लिया था। पीछे गौतमी पुत्र शातकर्णी ने नहपान को हराकर फिर उसके सिक्कों पर अपना नाम अंकित कराया।

पेरिप्लस में नहपान का नाम नम्बेनस लिखा है। भड़ोच का बन्दरगाह उसके अधिकार में था। पेरिप्लस के अनुसार नहपान की राजधानी मिन्नगर थी। इसकी स्थिति का अब पता नहीं है। वहाँ से बहुत-सी कपास भड़ोच ले जाई जाती। नहपान के समय में भड़ोच एक बड़ा बन्दरगाह था। उज्जैन, प्रतिष्ठान और तगर से बहुत-सा व्यापारिक सामान लाकर वहाँ इकट्ठा किया जाता था। वहाँ से यह सामान पश्चिमी देशों को भेजा जाता था। नहपान के लिए विदेशों से चाँदी के बहुमूल्य बर्तन, गाने वाले लड़के, रनवास के लिए सुन्दर कुमारियाँ, अच्छी शराब, बहुत बारीक कपड़ा और श्रेष्ठ औषधियाँ लाई जाती।

सम्भवत क्षहरात कुल का नहपान अन्तिम राजा था।

उज्जयिनी के शक क्षत्रप

उज्जयिनी का पहला स्वतन्त्र शक शासक चष्टन था। उसने अपने अभिलेखों में शक सवत् का प्रयोग किया है। इस प्रकार इस वश का राज्य १३० ई० से ३८८ ई० तक चला। ३८८ ई० के लगभग सभवत चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इस कुल को समाप्त कर दिया। १३० ई० के अण्डौ अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि चष्टन ने कुछ समय तक रुद्रदामा के साथ राज्य किया।

राज्य-विस्तार

रुद्रदामा (१३० ई० से १५० ई०) इस वश का सबसे बड़ा राजा था। उसके जूनागढ अभिलेख से हमें पता लगता है कि पूर्वी और पश्चिमी मालवा, महेश्वर, द्वारका के आस-पास का प्रदेश, सुराष्ट्र, साबरमती नदी के तट का प्रदेश, मारवाड, कच्छ, सिन्धु नदी की घाटी, उत्तरी कोंकण आदि प्रदेश उसके राज्य में सम्मिलित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्रदामा या उसके पूर्वजों ने मालवा, सुराष्ट्र, उत्तरी कोंकण और महेश्वर को सातवाहनों से जीता।[२]

उसने दोबारा अपने समकालीन शातकर्णी राजा को हराया, परन्तु निकट सम्बन्धी होने के कारण उसे नष्ट नहीं किया। यह शातकर्णी सभवत वासिष्ठीपुत्र श्रीशिव शातकर्णी था जो वासिष्ठीपुत्र पुलुमवि का भाई था। सम्भवत सिन्धु नदी की घाटी उसने कनिष्क के किसी उत्तराधिकारी से जीती।

१. देखिए पृ० १५१।
२. देखिए पृ० १५४।
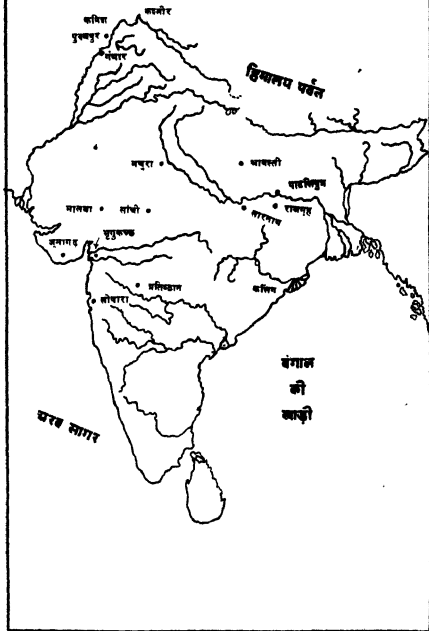
पहली शती ईसवी में भारत

शासन-प्रबन्ध

रुद्रदामा के समय में वह सुदर्शन झील, जिसे चन्द्रगुप्त मौर्य ने बनवाया था और जिसकी मरम्मत अशोक ने कराई थी, फिर टूट गई, तब रुद्रदामा ने अपनी निजी आय से इसकी मरम्मत कराई। इसके लिए रुद्रदामा ने प्रजा से कोई अतिरिक्त कर नहीं लिया। इस समय सुराष्ट्र में रुद्रदामा का अमात्य एक पह्लव था जिसका नाम सुविशाख था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसके अन्य प्रान्त भी राज्यपालों के हाथ में होंगे। रुद्रदामा के दो प्रकार के मन्त्री थे। सम्मति देने वाले मन्त्रियों को 'मति-सचिव' कहा जाता था और कार्यपालिका के अध्यक्षों को 'कर्म-सचिव'। उसने अपनी प्रजा पर कोई अनुचित कर नहीं लगाया। इस समय बलि, भाग और शुल्क उचित कर समझे जाते थे और कर, विष्टि और प्रणय अनुचित। रुद्रदामा ने अपनी प्रजा से बलि, भाग और शुल्क ही वसूल किए। उसने न प्रजा से बेगार ली और न उपहार लिए जिनको देने में प्रजा को आपत्ति हो सकती थी। इससे स्पष्ट है कि रुद्रदामा परोपकारी राजा था जो प्रजा के हित का पूर्ण ध्यान रखता था।

रुद्रदामा व्याकरण, राजनीति, संगीत और तर्कशास्त्र का पंडित था। वह गद्य और पद्य दोनों में प्रवीण था। जूनागढ़ अभिलेख संस्कृत में है और इससे उस समय के संस्कृत साहित्य के विकास का अनुमान होता है।

रुद्रदामा के उत्तराधिकारी

रुद्रदामा के पश्चात् उसका पुत्र दमघसद राजा बना। उसके पश्चात् जीवदामा। इस वंश के राजाओं के सिक्कों से ज्ञात होता है कि उन्होंने रुद्रदामा की मृत्यु के पश्चात् लगभग २०० वर्ष राज्य किया, किन्तु उनके राज्यकाल की कोई घटना हमें ज्ञात नहीं है। २३६ से २४० ई० के बीच आभीर राजा ईश्वरदत्त ने इस वंश के राजाओं के कुछ प्रदेश छीन लिए। यह इस बात से स्पष्ट है कि उसने इन राजाओं के सिक्कों पर अपना नाम खुदवाया। इस वंश का अन्तिम राजा रुद्रसिंह तृतीय था जिसने ३९० ई० तक राज्य किया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उसे मारकर पश्चिमी क्षत्रपों के राज्य को गुप्त राज्य में मिला लिया।

(घ) कुषाण

यूह्-ची जाति ने वक्षु नदी की घाटी और बैक्ट्रिया में बसकर अपने घुमक्कड़पने को छोड़ दिया। इनमें पांच वर्ग थे। एक वर्ग का नाम कुषाण था। ३० ई० के लगभग कुजुल कदफिस ने अन्य वर्गों को हराकर हिन्दुकुश, दक्षिणी अफगानिस्तान, काबुल, कन्दहार, किपिन और पार्थिया के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार उसका राज्य पार्थिया से सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। उसके प्रारम्भिक सिक्कों पर एक ओर अन्तिम यूनानी राजा हर्मियस की आकृति है और दूसरी ओर उसकी अपनी। इसका यह अर्थ है कि वह पहले यूनानी राजा हर्मियस के अधीन था। सम्भवतः हर्मियस की सहायता से उसने अन्य यूह्-ची सरकारों को दबाया। पिछले सिक्कों में वह अपने को महाराज राजातिराज कहता है। उसकी मृत्यु ८० वर्ष की अवस्था लगभग ६४ ई० में हुई। उसके सिक्के रोम के सम्राटों के सिक्कों से बहुत मिलते हैं।

कुजुल कदफिस के बाद उसका पुत्र विम कदफिस गद्दी पर बैठा। उसने सिन्धु नदी को

पार करके तक्षशिला और पंजाब पर अधिकार कर लिया। सम्भवतः वह मथुरा तक पहुँच गया। उसके सिक्के लगभग सारे उत्तरी भारत मे पाये जाते हैं। उसने अपने सोने और ताँबे के सिक्कों मे महाराज, राजातिराज, महीश्वर, सर्वलोकेश्वर आदि विरुद धारण किये। उसके सिक्को पर एक ओर यूनानी लिपि है और दूसरी ओर खरोष्ठी। यह शिव का पुजारी था। उसके सिक्कों पर शिव की आकृति, नन्दी और त्रिशूल आदि लक्षणो सहित या उनके बिना अंकित है। उसका साम्राज्य चीन से रोम के साम्राज्य तक फैला हुआ था, इसलिए उसके समय मे व्यापार की बहुत उन्नति हुई। इसीलिए भारत में रोम से बहुत सोना आया।

विम कदफिस अपने विजित भारतीय प्रदेशों का शासन प्रतिनिधि शासकों द्वारा करता था। एक ऐसे शासक के बहुत-से ताबे के सिक्के मिले हैं जिन पर महाराजस्य राजातिराजस्य देवपुत्रस्य कुजुल कदफिस शब्द अंकित है। पेशावर जिले मे १२२ तिथि अर्थात् ६४ ई० के पञ्जतर मे प्राप्त एक अभिलेख मे एक महान् कुषाण राजा का उल्लेख है, वह भी सम्भवतः विम कदफिस का प्रतिनिधि शासक था। उसने शिव की एक मूर्ति की स्थापना की। ७६ ई० का एक अभिलेख तक्षशिला के निकट कलवान मे मिला है, जिससे प्रकट होता है कि उस समय तक्षशिला के आसपास के प्रदेशो पर कुषाण राजाओ का अधिकार न था। इसका यह अर्थ है कि विम कदफिस को सिन्धु नदी के पूर्व मे स्थित प्रदेशो को फिर से जीतना पड़ा। स्मिथ के अनुसार विम कदफिस का राज्य दक्षिण पूर्व में बनारस तक फैला हुआ था। सम्भवतः विम कदफिस का राज्यकाल ७८ ई० से पूर्व ही समाप्त हो गया था। कदफिस द्वितीय के समय मे चीनियो ने खोतान, काशगर आदि प्रदेशों पर आक्रमण किया। कदफिस ने एक राजदूत चीनी सम्राट् के पास भेजकर सन्धि की।

कनिष्क

इस वश का तीसरा राजा कनिष्क था। उसका कदफिस राजाओ से क्या सम्बन्ध था यह ज्ञात नही, किन्तु विम कदफिस और कनिष्क की मुखाकृतियो मे बहुत समानता है। वह कुषाण राजाओं मे सबसे महान् था। वह महान् विजयी और बौद्ध-धर्म का सरक्षक था।

कनिष्क की तिथि

कनिष्क की तिथि के विषय मे इतिहासकार एकमत नही है।[1] उसके राज्यकाल के प्रारम्भ होने की अधिकतम सम्भव तिथि ७८ ई० है यद्यपि अधिकतर पाश्चात्य विद्वान् अब भी १२० ई०

१. डॉ० फ्लीट का मत था कि कनिष्क ने कदफिस राजाओं से पूव राज्य किया और उसने ५८ ई० पू० के उस सम्वत् का प्रारम्भ किया जो पीछे से विक्रम सम्वत् कहलाने लगा। यह मत सर्वथा अग्राह्य है क्योंकि अभिलेखों, सिक्कों और युवान च्वाग के वर्णन से अब पूर्णतया निश्चित है कि गन्धार कनिष्क के साम्राज्य मे सम्मिलित था, परन्तु चीनी इतिहासकारों के अनुसार पहली शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध में गन्धार थिन्मोफू के अधीन था न कि कनिष्क के। कनिष्क के सिक्के उन रोमन सम्राटों के अनुरूप हैं जिनका राज्यकाल ७८ ई० के बाद है, इसलिए कनिष्क को पहली शती ई० ५० में नहीं रखा जा सकता।

(क्रमशः)

या १४४ ई० मे उसके राज्य का प्रारम्भ मानते है। उसने जो सम्वत् ७८ ई० में चलाया वह शकनृपकाल कहलाता है, क्योंकि सबसे पहले पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपो ने अपने अभिलेखो मे उसका प्रयोग किया। १२५ ई० को कनिष्क के राज्यकाल का प्रारम्भ मानने मे

मार्शल, स्टेनकोनो और स्मिथ आदि विद्वानों का मत है कि कनिष्क का राज्यकाल १२० या १४४ ई० में प्रारम्भ हुआ। सुई विहार अभिलेख से स्पष्ट है कि कनिष्क के राज्य में सिन्धु नदी की घाटी का निचला भाग सम्मिलित था। परन्तु रूद्रदामा के जूनागढ़ अभिलेख से स्पष्ट है कि १३० ई० से १५० ई० के बीच यह भाग रूद्रदामा के राज्य में सम्मिलित था। इसलिए कनिष्क का राज्यकाल रूद्रदामा के राज्यकाल से पहले या पीछे होना चाहिए। घिर्शमैन नामक विद्वान कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि १४४ ई० मानते हैं। उन्हें पूर्वी अफगानिस्तान में बेग्राम नामक स्थान पर वासुदेव नामक कुषाण राजा के सिक्के मिले। एक वासुदेव कुषाण वंश का अन्तिम राजा था और वह मथुरा के आसपास राज्य करता था। कुछ विद्वानों का मत है कि ईरान के राजा शापूर प्रथम ने, जिसका राज्यकाल २४२ ई० से २५० ई० है, बेग्राम को नष्ट किया और वासुदेव ने ७४ से ९८ वर्ष तक कनिष्क के बाद राज्य किया। इसलिए कनिष्क का राज्यकाल २४२—९८=१४४ ई० के प्रारम्भ होना चाहिए। परन्तु सुधाकार चट्टोपाध्याय उपर्युक्त तिथि को दो कारणों से अग्राह्य मानते हैं। वह वासुदेव, जिसके सिक्के बेग्राम में मिले हैं और मथुरा का राजा वासुदेव प्रथम एक नहीं हो सकते, क्योंकि वासुदेव प्रथम का राज्य उत्तर प्रदेश तक ही सीमित था। इसका मुख्य कारण यह है कि उसके सिक्के इसी प्रदेश में मिलते हैं। चीनी इतिहास से हमे ज्ञात होता है कि वासुदेव नामक एक राजा ने २३०ई० में चीन के सम्राट् के पास अपना राजदूत भेजा। सम्भवत यह वासुदेव अफगानिस्तान का वासुदेव ही था जिसके सिक्के बेग्राम में मिले हैं। इस प्रमाण को इसलिए भी नहीं माना जा सकता क्योंकि यह बात विवादास्पद है कि शापूर प्रथम ने बेग्राम को नष्ट किया। इसलिए शापूर प्रथम की तिथि से वासुदेव की तिथि निश्चित करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि कनिष्क का राज्यकाल २४८ ई० मे प्रारम्भ हुआ और उसने वह सम्वत् प्रारम्भ किया जो त्रैकूटककलचुरि चेदि सम्वत् कहलाता है। यह मत ग्राह्य नहीं है क्योंकि कुषाण वंश का अन्तिम राजा वासुदेव मथुरा में राज्य करता था और उसका राज्य कनिष्क के राज्यकाल के प्रारम्भ से १०० वर्ष पश्चात् समाप्त हो गया। इसका अर्थ हुआ कि वासुदेव का राज्यकाल ३५० ई० के लगभग होना चाहिए, परन्तु इस समय मथुरा में वासुदेव नहीं यौधेय और नाग राज्य कर रहे थे। डॉ० मजूमदार द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त तिब्बत की उस अनुश्रुति के भी विपरीत है जिसमे कनिष्क को खोतन के राजा विजयकीर्ति का समकालीन कहा गया है। चीनी त्रिपिटक में स्पष्ट कहा गया है अनशिह काव (१४८—१७० ई०) ने सघरक्ष के 'मार्गभूमिसूत्र' का अनुवाद किया। सघरक्ष कनिष्क का पुरोहित था, इसलिए कनिष्क का राज्यकाल १७० ई० से पूर्व ही होना चाहिए।

फर्ग्युसन आदि कई विद्वानो का मत है कि कनिष्क का राज्यकाल ७८ ई० मे प्रारम्भ हुआ और उसने वह सम्वत् चलाया जो पीछे से शक सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रोफेसर डूब्रियल उपर्युक्त मत से सहमत नहीं है और उन्होंने कई आपत्तियाँ उठाई हैं जिनका निराकरण डॉ० हेमचन्द्र राय-चौधुरी ने बड़ी उत्तमता से किया है। कनिष्क के राज्यकाल मे प्रारम्भ को ७८ ई० में मानने के पक्ष मे निम्नलिखित प्रमाण है—

सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि यह निश्चय है कि कनिष्क ने एक सवत् चलाया था और अलबेरूनी तक को किसी ऐसे सम्वत् का पता नही था जिसका प्रारम्भ दूसरी शती ई० मे हुआ हो।

कनिष्क की विजय और साम्राज्य-विस्तार

कनिष्क के राज्यकाल के दूसरे वर्ष का एक अभिलेख कौशाम्बी में और तीसरे वर्ष का सारनाथ मे मिला है। जेदा और सुईविहार मे जो कनिष्क के अभिलेख मिले हैं उनकी तिथि कनिष्क के राज्यकाल का ग्यारहवाँ वर्ष है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सम्भवत: कनिष्क सबसे पहले उत्तर प्रदेश का शासक था और उसने अपने राज्यकाल के ग्यारहवे वर्ष मे या उससे कुछ पूर्व पजाब और सिन्ध को जीता। उसके कुर्रम अभिलेख की तिथि उसके राज्यकाल का इक्कीसवाँ वर्ष है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सिन्धु नदी के पश्चिमी प्रदेशों पर कनिष्क ने सबसे बाद मे अधिकार किया। ऐसा प्रतीत होता है कि ७८ ईसवी से पूर्व वह विम कदफिस का राज्यपाल था और उसकी ओर से वाराणसी के आसपास के प्रदेश का शासन चलाता था। जब ७८ ई० मे तक्षशिला के एक अन्य राज्यपाल ने जिसने सोटर मेगस सिक्के चलाए थे, अपनी स्वतन्त्रता घोषित की तो कनिष्क ने भी अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। यदि यह निष्कर्ष ठीक है तो हमे स्मिथ का यह मत मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि विम कदफिस का राज्य वाराणसी तक फैला हुआ था।

कनिष्क ने भारत के अन्दर अपना राज्य मगध तक फैला लिया। वहाँ से वह प्रसिद्ध

१. उनके सिक्के रोमन सम्राट् टाइटस के सिक्कों के अनुरूप हैं जिसका राज्यकाल ७९ ई० से ८१ ई० है। इसलिए कनिष्क का राज्यकाल इसके पश्चात् ही होना चाहिए।

२ सिन्धु सौवीर प्रदेश तभी रुद्रदामा और कनिष्क दोनों के राज्य में सम्मिलित हो सकता है जबकि कनिष्क का राज्यकाल रुद्रदामा के राज्यकाल (१३०—१५० ई०) मे काफी पहले हो।

३ कजुल और हर्मियस दोनों ५० ई० में राज्य कर रहे थे। इसलिए कुछ विद्वान् कहते हैं कि ७८ ई० मे कनिष्क का राज्यकाल कैसे प्रारम्भ हो सकता है। यह असम्भव नहीं क्योंकि हम जानते है कि कजुल ने अस्सी वर्ष की अवस्था तक राज्य किया और उसके और कनिष्क के बीच में केवल विम है जिसने अधिक वर्ष राज्य नहीं किया होगा।

४ तक्षशिला के ७८ ई० के अभिलेख में राजा को देवपुत्र कहा गया है। यह विरुद कनिष्क ने ही धारण किया था न कि कदफिस राजाओं ने।

५. चीनी और तिब्बत के कुछ ग्रन्थों में लिखा है कि कनिष्क दूसरी शती ई० में राज्य करता था। इसमें कोई कठिनाई नहीं होनी क्योंकि हम जानते हैं कि एक दूसरा कनिष्क भी था जिसका ११८ ई० के आरा अभिलेख में उल्लेख है।

६. कुछ विद्वान् कहते हैं कि यदि कनिष्क ने १२० ई० से पहले राज्य किया होता तो चीनी विद्वान् उसका वर्णन अवश्य करते क्योंकि भारत और चीन के सम्बन्धों का विच्छेद १२५ ई० के पश्चात् हुआ। इस आपत्ति का निराकरण इस बात मे किया जा सकता है कि सम्भवतः चीनियों ने कनिष्क प्रथम का उल्लेख इसलिए नहीं किया क्योंकि उसने चीनियों को हराया था।

विद्वान् अश्वघोष को अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) ले गया। तिब्बत और चीन के कुछ लेखकों ने लिखा है कि उसका साकेत और पाटलिपुत्र के राजाओं से युद्ध हुआ था। उसने पश्चिम की ओर पार्थिया के शासकों से युद्ध किया और चीनियों को हराकर खोतान और यारकन्द अपने राज्य में मिला लिये। कश्मीर को अपने साम्राज्य में मिला कर उसने वहाँ एक नगर बसाया जो अब तक कानिस्पोर कहलाता है। इस प्रकार कनिष्क का राज्य ईरान से पाटलिपुत्र तक फैला हुआ था। उसमें काशिश, गन्धार, कश्मीर, सिन्ध और मालवा भी सम्मिलित थे। यह सम्भव है कि अपने राज्यकाल के अन्तिम दिनों में कनिष्क को पनचाओ नामक चीनी योद्धा के विरुद्ध सफलता न मिली हो।

चीनी वर्णन से हमें ज्ञात होता है कि कनिष्क और पनचाओ का संघर्ष ९० ईसवी के बाद हुआ। इससे युवान-च्वांग के उस कथन की पुष्टि होती है जिसके अनुसार कनिष्क ने गन्धार पर अधिकार करने के बाद मध्य एशिया पर अधिकार किया। ८७ ई० कनिष्क ने देवपुत्र का विरुद धारण किया जिसे उससे पूर्व चीनी सम्राट् ही धारण करते थे। इसका यह अर्थ है कि ८७ ई० से पूर्व ही कनिष्क ने मध्य एशिया पर अधिकार कर लिया था जिसे चीनी सम्राट् अपने आधिपत्य में मानते थे। पनचाओ ने ९० ईसवी के बाद कनिष्क को हराकर मध्य एशिया पर अधिकार कर लिया होगा। ऐसी अनुश्रुति है कि कनिष्क को, जब वह दोबारा मध्य एशिया की विजय के लिए गया, उसके अपने ही योद्धाओं ने मार डाला। इसका कारण यह था कि वे लगातार उसकी विजयों के लिए लड़ते-लड़ते दुःखी हो गये और अब लड़ना नहीं चाहते थे।

सिल्वन लेवी ने कनिष्क की मृत्यु के विषय में एक आख्यान लिखा है जो इस प्रकार है — 'मैंने तीनों दिशाओं को जीत लिया। सभी मनुष्यों ने मेरी शरण ली है केवल उत्तरी प्रदेशों के निवासियों ने मेरा आधिपत्य स्वीकार नहीं किया है।' इसका यही अर्थ है कि कनिष्क को पनचाओ से हारना पड़ा था और जब वह दोबारा मध्य एशिया की विजय के लिए गया तो उसकी हत्या उसी के सैनिकों ने कर दी। इसके फलस्वरूप उसकी सार्वभौम सम्राट् होने की महत्वाकांक्षा पूरी न हो सकी।

कनिष्क का शासन-प्रबन्ध

कनिष्क अपने विस्तृत राज्य का प्रबन्ध क्षत्रपों द्वारा करता। उसकी राजधानी गन्धार में पेशावर थी। उत्तर-पश्चिमी भारत में उसका शासन दण्डनायक लल और क्षत्रप वेश्पशि और लियक चलाते थे। पूर्वी भारत में उसने खरपल्लान को महाक्षत्रप और वनस्पर को क्षत्रप नियुक्त किया। इसका पता हमें ८१ ई० के एक अभिलेख से लगता है जो वाराणसी में मिला है।

कनिष्क का धर्म

कनिष्क निश्चय ही महान् योद्धा था जिसने ईरान से मगध तक अपना राज्य फैलाया, किन्तु उसका यश केवल उसकी विजयों के कारण ही नहीं है। वास्तव में उसका यश बौद्ध-धर्म का संरक्षक होने के कारण कहीं अधिक है। कनिष्क का निजी धर्म बौद्ध-धर्म था। उसके प्रचार और संगठन के लिए उसने बहुत से कार्य किये। उसने पार्श्व के कहने से बौद्धों की चौथी बड़ी सभा (महासंगीति) का आयोजन कुंडलवन विहार में कश्मीर में या जालन्धर

मे किया । इसमे ५०० विद्वानों ने भाग लिया । इसका उद्देश्य उन सिद्धान्तों पर विचार करना था जिनके विषय में बौद्ध विद्वानो मे मतभेद था । इस सभा में इन विद्वानो ने सारे बौद्ध साहित्य को देखकर उन पर टीकाएँ लिखवाई । इस सभा के प्रधान वसुमित्र थे और अश्वघोष नामक विद्वान् ने इसमें प्रमुख भाग लिया जिसे कनिष्क मगध से अपने साथ पेशावर लाया था । परमार्थ ने इस महासगीति का वर्णन लिखा है परन्तु उसमे कनिष्क का उल्लेख नहीं है ।

पेशावर के निकट कनिष्क ने एक बडा स्तूप और एक मठ बनवाया । इस स्तूप मे उसने बुद्ध के अवशेष रखे । इस स्तूप की चीनी यात्रियो ने बहुत प्रशसा की है । खुदाई करने पर वहाँ एक कांसे की मजूषा और बुद्ध की अस्थियाँ निकली हैं । इसमे बुद्ध, ब्रह्मा, इन्द्र और सूर्य और चन्द्रमा के बीच खडे कनिष्क की मूर्तियाँ भी निकली हैं । एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस स्तूप का निर्माण एक यूनानी अभियन्ता (इंजीनियर) अगिशल ने कराया ।

कनिष्क यद्यपि स्वय बौद्ध धर्मावलम्बी था परन्तु अन्य धर्मों के प्रति पूर्णतया सहिष्णु था । यह बात उसके सिक्को से स्पष्ट है । उन पर कई ईरानी, यूनानी तथा भारतीय देवताओ की आकृतियाँ हैं । उन पर हिरैक्लीज, सिरापिज, हेलिओस (सूर्य), सेलिनी (चन्द्र), मीइरो (सूर्य), अथ्शो (अग्नि), ननाइया और शिव की आकृतियाँ हैं । कुछ सिक्को पर यूनानी ढग मे खड़े हुए और भारतीय ढग मे बैठे बुद्ध की आकृतियाँ हैं । सम्भवत. ये सिक्के इस बात को प्रकट करते हैं कि उसके राज्य मे इन सब धर्मों के रहने वाले रहते थे और सम्राट् इन सब धर्मों के प्रति सहिष्णु थे ।

कनिष्क के राज्यकाल मे जो महायान बौद्ध धर्म का उदय हुआ उसका वर्णन हम कुषाण-कालीन संस्कृति मे करेंगे ।

साहित्य व कला में अभिरुचि

कनिष्क की राजसभा मे बड़े-बड़े विद्वान विद्यमान थे । पार्श्व, वसुमित्र और अश्वघोष बौद्ध दार्शनिक थे, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं । सघरक्ष और नागार्जुन-जैसे प्रकाड पंडित और चरक-जैसे चिकित्सक उसकी राजसभा के रत्न थे । माठर उसका कूटनीतिनिपुण मन्त्री था । अगिशल जैसे यूनानी अभियन्ता उसके निर्माण-कार्य कराते थे । उसके समय मे महायान धर्म का प्रचार होने से बुद्ध और बोधिसत्वो की मूर्तियाँ बनने लगी । इन कलाकारो को कनिष्क ने आश्रय और प्रोत्साहन दिया । यह कला गन्धार कला कहलाती है इसका पूरा विवेचन हम कुषाणकालीन सस्कृति मे करेगे ।

कनिष्क की मूर्ति, सिक्के व अभिलेख

मथुरा मे एक मूर्ति मिली है जिसमे कनिष्क को सैनिक पोशाक पहने खड़ा दिखाया गया है । कनिष्क के सिक्के दो प्रकार के हैं एक प्रकार के सिक्कों मे यूनानी भाषा मे उसका नाम आदि अंकित है । दूसरे प्रकार के सिक्को मे ये बातें ईरानी भाषा में खुदी हैं । उसके तांबे के सिक्को मे उसे एक वेदी पर बलिदान करते दिखाया गया है । उसके सोने के सिक्के रोम के सम्राटो के सिक्को से मिलते-जुलते हैं । एक ओर उसकी अपनी आकृति है और दूसरी ओर किसी देवी या देवता की । कनिष्क के कुछ अभिलेख ब्राह्मी लिपि मे और कुछ खरोष्ठी लिपि में हैं ।

कनिष्क के उत्तराधिकारी

कनिष्क के दो पुत्र वासिष्क और हुविष्क थे। **वासिष्क** (१०२–१०६ ई०) कनिष्क के समय मे मथुरा मे प्रतिनिधि शासक के रूप मे शासन चला रहा था। वासिष्क का नाम दो अभिलेखो मे है जिनमे उसे राजा कहा गया। एक १०२ ई० का है और दूसरा १०६ ई० का। कनिष्क की अनुपस्थिति मे **हुविष्क** ने भी प्रतिनिधि शासक के रूप मे शासन चलाया। सम्भवत ११९ ई० से १३८ ई० तक उसने स्वतन्त्र शासक के रूप मे राज्य किया। काशगर, यारकन्द और खोतान कुषाण साम्राज्य का भाग बने रहे। परन्तु भारत मे रुद्रदामा की विजयो के कारण १३० ई० से १५० ई० के बीच कुषाण साम्राज्य की कुछ क्षति हुई। हुविष्क का उल्लेख कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी मे भी किया है। हुविष्क के सिक्के कई प्रकार के है और बडी सख्या मे मिले है, जिससे प्रकट होता है कि उसने दीर्घ काल तक राज्य किया। उसके सिक्को पर भी यूनानी, मिस्र और भारतीय देवी-देवताओ की आकृतियाँ है, किन्तु उन पर बुद्ध की आकृति नहीं है। हुविष्क एक बौद्ध था, उसने मथुरा मे एक मन्दिर और एक बौद्ध मठ बनवाया। उसने कश्मीर मे हुविष्कपुर नामक नगर भी बसाया।

कनिष्क द्वितीय का नाम ११९ ई० के अटक के निकट आरा के अभिलेख मे मिला है। वह कैसर महाराज राजातिराज देवपुत्र वासिष्क का पुत्र था और हुविष्क का प्रतिनिधि शासक। वह स्वतन्त्र शासक नही था, इसीलिए उसके कोई सिक्के नही मिले है। उसका भी उल्लेख राजतरंगिणी मे है।

वासुदेव (१५२ ई० से १७६ ई०) हुविष्क के पश्चात् वासुदेव प्रथम राजा हुआ। उसके अभिलेख १५२ ई० से १७६ ई० तक के मिले है। उसके सिक्के अधिकतर मथुरा के आसपास तथा पजाब, उत्तर प्रदेश और उत्तरी सिन्ध मे भी मिले है। इसका यह अर्थ है कि सम्भवत इन प्रदेशो पर भी उसका अधिकार बना रहा। वह शिव का उपासक था। उसके सिक्को पर शिव व नन्दी की आकृति बनी है। उसके नाम से यह अनुमान होता है कि वह कृष्ण का पुजारी था।

वासुदेव के पश्चात् कुषाण साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यो मे बँट गया। छोटे-छोटे कुषाण सरदार मध्य एशिया और अफगानिस्तान मे राज्य करते रहे। अफगानिस्तान के कुषाण किदार कुषाण कहलाते है। वे लगभग २०० वर्षो तक राज्य करते रहे। उन्हे हूणो ने उखाड फेंका। शकिस्तान मे वासुदेव चतुर्थ तीसरी शती ई० मे राज्य करता था। उसके उत्तराधिकारियो ने सासानी सम्राटो का आधिपत्य मान लिया। भारत के पिछले कुषाण शासको मे तीन के नाम उनके सिक्को से ज्ञात हुए है। वे कनिष्क तृतीय, वसु और ग्रम्बेटिज (Grumbates) है। इन कुषाण शासको को हराकर समुद्रगुप्त ने कुषाण साम्राज्य की समाप्ति की।

कुषाण राजाओं के समय में समाज व संस्कृति

शासन

कुषाण सम्राटो ने महाराज, राजातिराज, देवपुत्र, महीश्वर, शाहीशाहानुशाही आदि विरुद धारण किये। स्थानीय शासको ने भी कुछ ऐसे विरुद धारण किये जिससे राजा ईश्वर का

प्रतिनिधि है, इस सिद्धान्त को शक्ति मिली। कुषाणों का एक राज्य नहीं वह एक साम्राज्य था जिसकी सीमाएँ पश्चिम मे ईरान तक और पूर्व मे मगध तक फैली हुई थी। इतने बड़े राज्य का शासन कुषाण सम्राट् अपने क्षत्रपों या महाक्षत्रपों की सहायता से चलाते थे। कुषाण सम्राटो के कुछ अधिकारियों के नाम विदेशी थे। सैनिक राज्यपाल के लिए स्ट्रेटेगस (Strategos) और जिला मजिस्ट्रेट के लिए मेरीडक (Meridarch) शब्द प्रयुक्त होता था। कुछ अधिकारियो के नाम भारतीय थे, जैसे 'अमात्य' और 'महासेनापति'। विदेशी नाम वाले अधिकारी उत्तर-पश्चिम मे और भारतीय नाम वाले भारत के अन्य भागो मे शासन चलाते थे। शासन की सुविधा के लिए साम्राज्य को राष्ट्र, आहार, जनपद और देश या विषयों मे बाँट रखा था। कुषाण सम्राटो के काल मे कभी-कभी दो राजा साथ-साथ भी राज्य करते थे, जैसे कनिष्क द्वितीय और हुविष्क।

भारतीय इतिहास मे कुषाण काल एक महत्वपूर्ण युग है। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात पहली बार इतना बडा साम्राज्य स्थापित हुआ, जो भारत तक ही सीमित न था। वह ईरान से मगध तक फैला हुआ था। मध्य एशिया उसमे सम्मिलित था। इतने बड़े साम्राज्य मे शान्ति और सुव्यवस्था होने से दूसरे देशों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुए और सांस्कृतिक और आर्थिक दोनो प्रकार की उन्नति हुई। क्या धर्म, क्या साहित्य, क्या कला, सभी मे आशातीत उन्नति हुई।

समाज

इस काल की सबसे प्रमुख विशेषता विदेशियो का भारतीय समाज मे घुल-मिल जाना है। यूनानी, पह्लव, शक और कुषाण जातियाँ उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी भारत मे आकर बस गई। इस भाग मे सम्भवत यूनानी भाषा का भी प्रचार हुआ होगा। बहुत-से भारतीयो ने भी यूनानी शासको के नीचे नौकरी करने के लिए यूनानी भाषा सीखी होगी, किन्तु यूनानी लोग तो यहाँ की संस्कृति से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने बौद्ध या हिन्दू धर्म को ही अपना लिया। उनमें से बहुतो ने अपने नामो का भी भारतीयकरण कर लिया। भारतीयो ने यूनानियो से सिक्के ढालने की कला और ज्योतिषशास्त्र मे बहुत-कुछ सीखा। जब विदेशियो ने भारतीय संस्कृति को अपना लिया तो वे क्षत्रिय मान लिये गए और हिन्दू समाज का अभिन्न भाग बन गए। भारतीयो ने अपने खान-पान और वेश-भूषा मे भी इन विदेशियो के सम्पर्क मे आकर कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य किया होगा। ऐसा इस बात से स्पष्ट है कि चरक ने अपने आयुर्वेद के ग्रन्थ चरक-संहिता मे पथ्य मे जहाँ शाकाहारी भोजन का विधान किया वहा माँस भोजन का विधान भी विकल्प मे अवश्य दिया। इन विदेशियों के आने से पूर्व भारतीय प्राय. बिना सिले कपडे पहनते थे। इन शासकों को देखकर सम्भवतः कुछ धनी लोगो ने भी सिले कपडे पहनना आरम्भ किया।

कुषाण काल मे व्यापार को प्रोत्साहन मिलने से व्यापारी वर्ग की आर्थिक दशा अवश्य सुधरी होगी। इसी कारण हम इतने दान के कार्य इस युग म देखते है। बहुत-से उपासकों ने बौद्ध स्तूप बनवाये। बजौर के ईसा की दूसरी शती पूर्व के अभिलेख मे हमें ज्ञात होता है कि दो भारतीय दानियो ने बुद्ध के अवशेषो को एक पात्र मे रखकर एक स्मारक बनवाया। इसी प्रकार स्वात की घाटी मे बुद्ध के अवशेषो का एक पात्र मिला है। ७७ ई० के एक ताम्रपत्र लेख में लिखा है कि एक व्यापारी की पुत्री चन्द्राभी ने, जो एक बौद्ध उपासिका थी,

बुद्ध के अवशेषों पर एक स्मारक बनवाया। ७६ ई० के तक्षशिला के एक अभिलेख में लिखा है कि उरशं के एक धर्मात्मा बौद्ध उपासक ने नावाचल मे बौद्ध अवशेषो के लिए एक चैत्य तथा तक्षशिला मे एक धर्मराजिका स्तूप और अपने घर म एक बोधिसत्व-गृह बनवाया। कनिष्क के समय के कई अभिलेखो मे भी बहुत-से दानो का उल्लेख है। यह सब तभी सम्भव था जब एक सम्पन्न व्यापारी वर्ग समाज मे विद्यमान था।

आर्थिक दशा

कुषाण साम्राज्य स्थापित हो जाने के पश्चात् विदेशियो के आक्रमण का भय न रहा और देश मे सब जगह शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित होने से उत्तर-पश्चिम के स्थल-भागो और पश्चिमी तट के बन्दरगाहो से सामुद्रिक मार्ग द्वारा व्यापारिक वस्तुएँ भेजना सम्भव हो गया।

इस समय सोने के सिक्के को 'सुवर्ण' कहते थे। वह तोल मे ८० रत्ती होता था। चाँदी के सिक्के को 'पुराण' या 'धरण' कहते थे। वह ३२ रत्ती का होता था। ताँबे का सिक्का भी ८० रत्ती का होता था और 'कार्षापण' कहलाता था। उन पर चालू करने वाले राजा, व्यापारी या निगमो का ठप्पा लगा होता था। भारतीय मुद्रा पर बैक्ट्रिया के यूनानी राजाओं के सिक्को का बहुत प्रभाव पडा। इन सिक्को पर एक ओर राजा की आकृति और नाम खुदा होता, दूसरी ओर किसी देवी-देवता की आकृति। भारतीय सिक्को पर रोम के सिक्को का भी बहुत प्रभाव पडा। इनको देखकर उत्तर-पश्चिमी भारत के शक, पह्लव और कुषाण शासको ने उन्ही के अनुरूप अपने सिक्के चलाए। उन्होने विदेशी सिक्को के नाम दीनार और द्रम्म भी अपना लिये। रोम के सिक्को के बहुतायत से भारत मे आने के कारण कुषाण सम्राटो ने भी सोने के सिक्के चलाए। राजन्य, कुणिन्द औदुम्बर, मालव, यौधेय और अर्जुनायन गणराज्यों ने चाँदी और ताँबे के सिक्के बडी सख्या मे चलाये।[1]

साहित्य

इस काल मे पाली प्राकृत की अपेक्षा सस्कृत भाषा का अधिक प्रचार हुआ। बौद्ध और जैन विद्वानो ने भी अपने धर्म-ग्रन्थो के लिए सस्कृत भाषा का ही प्रयोग किया। अश्वघोष ने सस्कृत मे दो सुन्दर काव्य 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरानन्द' लिखे। एक नीति की पुस्तक 'सूत्रालकार' भी उसी की रचना बतलाई जाती है। भास ने अपने नाटक भी सम्भवत इसी काल मे लिखे। 'स्वप्नवासवदत्त' उसका प्रसिद्ध नाटक है। बनारस से १६० मील दक्षिण की ओर सीताबेंग और जोगीमारा मे दो रगमच मिले है। ये रगमच यूनानी रगमचो के अनुरूप हैं।

नागार्जुन और आर्यदेव बौद्ध विद्वान् थे। वे आन्ध्र प्रदेश के रहने वाले थे। उन्होने भी संस्कृत मे ग्रन्थ लिखे। चरक और सुश्रुत ने इसी काल मे वैद्यक के ग्रन्थ लिखे। कहा जाता है कि चरक कनिष्क की राजसभा म था। कुछ विद्वानो के अनुसार भरत का नाट्यशास्त्र और वात्स्यायन का कामसूत्र भी इसी काल की रचनाएं है।

इस काल के खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपि के अभिलेखो मे भी सस्कृत के श्लोक खुदे है।

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—पृष्ठ १६३
परिशिष्ट १—'व्यापार और वाणिज्य मे उन्नति'।

कुषाण साम्राज्य के सुईविहार के अभिलेखों मे सस्कृत का ही प्रयोग हुआ है।

इस काल के संस्कृत मे लिखे हुए बहुत-से ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं हैं, परन्तु उनके अनुवाद तिब्बत और चीन की भाषाओं मे उपलब्ध हैं।

धार्मिक दशा

कुषाण काल मे धार्मिक विषयो मे पूर्ण स्वतन्त्रता थी। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायी स्वतन्त्रतापूर्वक अपने धर्मो का प्रचार करते थे। किसी प्रकार की असहिष्णुता न थी। कुषाण राजाओं के सिक्कों पर उन सभी देवी-देवताओं की आकृतियाँ हैं जिन्हे उनके साम्राज्य के विभिन्न भागो की प्रजा पूज्य समझती थी। इनमे यूनान, सुमेर, ईरान, एलम, मिस्र और भारत के बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म के देवताओं की आकृतियाँ थी। कुषाण राजाओं ने अपने व्यक्तिगत धर्म को राज्य का धर्म बनाने का प्रयत्न नही किया। विम शैव था, कनिष्क को अश्वघोष ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा दी थी और वासुदेव भी शैव था। परन्तु किसी राजा ने प्रजा को अपना धर्म मानने के लिए विवश नही किया। हाँ कनिष्क ने महायान बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए कुछ प्रयत्न किया जिसका हम ऊपर वर्णन कर आए हैं। उसके प्रयत्न के फल-स्वरूप तत्कालीन बौद्ध ग्रन्थ सस्कृत भाषा मे लिखे गए।

इस काल की यह विशेषता है कि लोगो ने ज्ञान-मार्ग और कर्ममार्ग की अपेक्षा भक्ति-मार्ग को अधिक अपनाया। बौद्ध-धर्म मे महायान सम्प्रदाय का उदय इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। हीनयान सम्प्रदाय मे बुद्ध मानव के पथ-प्रदर्शक मात्र थे, अब वे देवता माने जाने लगे। बौद्ध उपासक उनकी और बोधिसत्वो की पूजा करने लगे। महायान सम्प्रदाय का प्रारम्भ ईसा से पूर्व दूसरी शती मे हुआ। अब बुद्ध एक ऐसे देवता माने जाने लगे जो मनुष्यमात्र की रक्षा कर सकते हैं। हीनयान में प्रत्येक व्यक्ति के सामने व्यक्तिगत निर्वाण-प्राप्ति के लिए अर्हत् पद प्राप्त करने का आदर्श था। महायान सम्प्रदाय ने प्रत्येक व्यक्ति के सामने बोधिसत्व का आदर्श रखा। बोधिसत्व अपना ही निर्वाण नही चाहता, वह मनुष्यमात्र का निर्वाण चाहता है। वह लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने निर्वाण को कुछ समय के लिए स्थगित कर सकता है। बुद्ध के दिव्य गुणों पर जोर देने के लिए इस काल मे उनकी जीवनकथा फिर से लिखी गई। इस उद्देश्य से लिखी प्रारम्भिक पुस्तको मे 'महावस्तु', 'ललितविस्तर' और अश्वघोष के 'बुद्धचरित' का उल्लेख करना अनुचित न होगा। महायान सम्प्रदाय मे अध्यात्मविद्या और योग पर अधिक बल दिया गया। 'सद्धर्म पुण्डरीक' मे हम कल्पित कथाओं और अध्यात्मविद्या का मिश्रण पाते हैं। विष्णु के अवतारो की भाँति अनेक बुद्धो की कल्पना की गई। महायान सम्प्रदाय का प्रचार विदेशों मे ब्रह्मा, स्याम, कम्बोडिया, जावा और सुमात्रा आदि देशो मे हुआ। भारत मे इसके मुख्य केन्द्र उत्तर और मध्यभारत रहे। हीनयान का प्रचार विदेशो मे लका में ही हुआ, भारत मे उसका मुख्य केन्द्र दक्षिण भारत रहा।

वैष्णव धर्म

भक्ति-भावना से प्रेरित होकर हिन्दू-धर्म में भी वैष्णव धर्म का प्रचार इस काल में बहुत हुआ। भगवद्गीता और हरिवंश मे भी उसी प्रकार की कल्पित कथाओं और अध्यात्म-विद्या का सम्मिश्रण पाते हैं जैसी कि 'सद्धर्म-पुण्डरीक' मे। हमारे काल मे हेलियोदोर का विष्णुध्वज और उदयपुर के निकट घसुण्डि का अभिलेख (१५० ई० पू० के लगभग) इसके

प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस अभिलेख मे संकर्षण और वासुदेव के उपलक्ष्य मे देवमन्दिर बनाने का उल्लेख है।

शैव धर्म

सम्भवत शैव धर्म में भी भक्ति-भावना का सचार इसी काल मे हुआ। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे शिव को उच्चतम देवता समझा जाने लगा। शैवो मे सबसे पहला सम्प्रदाय पाशुपतो का था। किवदन्ती के अनुसार शिव ने एक लकुल (गदा) धारी मनुष्य के रूप मे भृगुकच्छ मे अवतार लिया। यह लकुली नामक व्यक्ति ही सम्भवत पाशुपत धर्म का पहला उपदेशक था। डॉ० भडारकर इस सम्प्रदाय का उदय ईसा पूर्व दूसरी शती मे मानते हैं। पाशुपत सम्प्रदाय के अनुसार योग की क्रियाओ द्वारा मनुष्य दु ख से मुक्ति और असाधारण शक्तियाँ प्राप्त कर लेता है। पाशुपत धर्म मे आतस्किता और तप का मिश्रण है।

मेगस्थनीज के वृत्तान्त से पता लगता है कि उस समय पर्वतीय भारतीय शिव की पूजा करते थे। पतजलि ने भी शिव-भागवतो का उल्लेख किया है। राजतरगिणी के अनुसार अशोक का उत्तराधिकारी जलौक शैव था। रामायण मे शैव धर्म की लोकप्रियता स्पष्ट दिखलाई देती है। महाभारत मे शिव के विषय मे अनेक कथाएँ है और उसके गुणो का विशद वर्णन है। शैव सम्प्रदाय मे जाँति-पाँति का भेद नही माना जाता।

कला

बौद्ध धर्मावलम्बियो के बुद्ध के प्रति दृष्टिकोण मे अन्तर होने का प्रभाव कला पर भी पड़ा। हीनयान मे बुद्ध की मूर्ति बनाना वर्जित था। बुद्ध ने स्वय उपदेश दिया था कि मेरे शरीर की अपेक्षा मेरी शिक्षाओ का अधिक महत्त्व है। इसलिए बुद्ध के अनुयायी उसकी मूर्ति नही बनाते थे। जहाँ कही कलात्मक कृतियो में बुद्ध की उपस्थिति दिखानी होती थी उनके पदचिह्न, बौधिवृक्ष और वज्रासन या स्तूप आदि से दर्शाई जाती थी। अब गन्धार और मथुरा मे गौतम बुद्ध की ओर पूर्व जन्म के बुद्धो और बोधिसत्वो की मूर्तियाँ बनाई जाने लगी।

कुषाण साम्राज्य का पश्चिमी देशो से सीधा सम्पर्क था, इसलिए भारतीय कला पर विदेशी कला का प्रभाव पडा। यूनानी राजाओ के द्वारा भारतीय कला पर यूनानी कला का प्रभाव पडा। प्रारम्भ मे बुद्ध या बोधिसत्वो की जो मूर्तियाँ बनाई गई या बुद्ध के जीवन से जो दृश्य दिखाये गये उनमे भावना तो भारतीय थी किन्तु शैली यूनानी। इस कला की अधिकतर कृतिया गन्धार मे मिली हैं। इसलिए इसे गन्धार कला कहा जाता है। गन्धार कला मे जो बुद्ध या बोधिसत्व दिखलाये गये है उनकी पोशाक यूनानी या रोम के दार्शनिको की पोशाक के अनुरूप है। शरीर की बनावट, बालो के रूप और अलकरण मे भी यूनान और रोम की कला का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। यद्यपि इस कला पर यूनान और रोम की कला का प्रभाव दिखलाई देता हैं परन्तु यह पाश्चात्य कला की कोरी नकल नही है। सर जॉन मार्शल के शब्दो मे 'यह एक राष्ट्रीय कला थी जिसकी जडे भारतीयो के धार्मिक विश्वासों मे जमी हुई थी' और यह पूर्ण रूप से उन विश्वासो को व्यक्त करती थी। इसमे भारतीयो की प्रकृति के प्रति जो गहरी सहानुभूति की भावना है उसका भी चित्रण था। गन्धार के कलाकारो का हाथ यूनानी था किन्तु उनका हृदय पूर्णतया भारतीय।

गन्धार कला का प्रभाव मथुरा की कला पर भी पडा। मथुरा मे बुद्ध और बोधिसत्वो

की अनेक मूर्तियाँ बनी, क्योकि उस समय देश मे उनकी बहुत माँग थी। ये मूर्तियाँ दूर-दूर के स्थानो, जैसे साँची, राजगृह, सारनाथ और श्रावस्ती, तक ले जाई जाती। ये अधिकतर लाल पत्थर की बनी थी। मथुरा मे जैन कला का भी विकास हुआ। कंकाली टीले मे पहली शती ई० पू० का एक बडा जैन स्तूप मिला है। यह साँची के बौद्ध स्तूप से मिलता-जुलता है। मथुरा मे कुछ हिन्दू देवी-देवताओं, यक्ष, अप्सरा और नागो की भी मूर्तियाँ बनाई जाती थी। मथुरा से दो ऐतिहासिक व्यक्तियो की भी मूर्तियाँ मिली है। इनमे एक मे चष्टन को बैठे हुए दिखाया गया है और दूसरी मे कनिष्क को खड़े हुए।

कुषाण सम्राटों का भारतीय संस्कृति के विकास में योगदान

कुषाण लोगों की अपनी कोई विकसित संस्कृति नही थी, किन्तु जब वे भारत या उसके सीमान्त प्रदेशों मे बसे तो उन्हे भारतीय और यूनानी संस्कृति को अपनाने मे देर न लगी। उनके सिक्के, अभिलेख और कलाकृतियाँ इस बात की साक्षी हैं कि उन्होने इन दोनो संस्कृतियो को अपनाया। ये योग्य शासक थे, उन्होने इस समन्वित संस्कृति को ऐसा प्रोत्साहन दिया कि यह खूब फूली-फली। उत्तरी भारत की जनता को यूनानी, शक और पह्लवो की लूट-मार से अब मुक्ति मिली और कुषाणो ने सारे उत्तरी भारत मे शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित की। इस राजनीतिक शान्ति के युग मे भारतीय संस्कृति की प्रत्येक क्षेत्र मे उन्नति हुई। धर्म, साहित्य, कला, विज्ञान, व्यापार, सभी दिशाओं मे अभूतपूर्व प्रगति हुई। गुप्त राजाओ से पहले कुषाण राजाओ का युग भारत के सांस्कृतिक विकास मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसे गुप्तकालीन संस्कृति की पृष्ठभूमि कहना अत्युक्ति न होगी।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी	**प्राचीन भारत**, अध्याय ९ अनुवादक—बुद्ध प्रकाश
राजबली पाण्डेय	**प्राचीन भारत**, अध्याय १४
S Chattopadhyaya	*Early History of North India*, Chapters 1, 2, 3, 4.
H C Raychaudhuri	*Political History of Ancient India*, Part II, Chapters 6, 7, 8, 9
K. A. Nilakanta Sastri	*Comprehensive History of India*, Vol II, Chapter 8.
V A Smith	*The Early History of India* (*4th Edition*), **Chapters 9, 10.**

R. C. Majumdar — *The History and Culture of the Indian People, The Age of Imperial Unity*, Chapters 7, 8, 9.

E. J Rapson — *Cambridge History of India* Volume I, Chapters 22, 23.

V. K Narayan — *The Indo Greeks*

परिशिष्ट २

विक्रम संवत् तथा शक संवत्

(The Vikram Era and the Saka Era)

विक्रम संवत् ५८ ई० पू० से प्रारम्भ होता है और शक संवत् ७८ ई० से। ये दोनों सवत् भारत में सबसे अधिक प्रचलित हैं। इन दोनों संवतो को किन राजाओं ने चलाया, इस विषय मे इतिहासकार एकमत नही है। इनके विषय मे अनेक विद्वानो ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। हम यहाँ संक्षेप मे उनका विवेचन करेगे।

विक्रम संवत्

मार्शल (Marshall) ने १९१४ ई० मे यह मत व्यक्त किया था कि विक्रम संवत् को शक राजा अय (Azes)ने चलाया। डि ला वैली पूसिन (de la Vallee Poussin) के मतानुसार यह सवत् अय की मृत्यु के समय से प्रारम्भ होता है, परन्तु सुधाकर चट्टोपाध्याय ने इस मत को इसलिए अग्राह्य बतलाया है कि अय ने अपने कुछ सिक्कों मे वर्गाकार यूनानी अक्षर आमिक्रन का प्रयोग किया है। वर्गाकार आमिक्रन का प्रयोग सबसे पहले पार्थिया में ओरोडिस प्रथम (Orodes I) (५७—३८ ई० पू०) के राज्यकाल मे हुआ था और अय ने उन्ही पार्थिया के शासकों से इस अक्षर का यह रूप सीखा, इसलिए अय ५८ ई० पू० में विक्रम सवत् का चलाने वाला नही हो सकता।

फ्लीट (Fleet) के मतानुसार कनिष्क ने विक्रम सवत् प्रारम्भ किया था, किन्तु तक्षशिला मे जो पुरातत्व-सम्बन्धी सामग्री मिली है उससे यह अब निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि कनिष्क का राज्यकाल पहली शती ई० पू० नहीं है, इसलिए कनिष्क किसी प्रकार भी विक्रम सवत् का चलाने वाला नही हो सकता।

कीलहार्न (Kielhorn) ने यह मत व्यक्त किया था कि विक्रम संवत् एक ऋतु के नाम पर है, इसका किसी राजा से कोई सम्बन्ध नही है। यह बात कुछ विश्वसनीय प्रतीत नही होती, क्योंकि भारत मे ऋतुओं के नाम पर कोई सवत् चलाने की प्रथा नही पाई जाती।

डी० आर० भण्डारकर का मत था कि पुष्यमित्र का राज्यकाल ७५ ई० पू० के लगभग है। उसने ब्राह्मण धर्म की पुन: स्थापना कर के ५८ ई० पू० मे कृतयुग प्रारम्भ किया, इसीलिए यह संवत पहले कृत संवत् कहलाया। यह मत इसलिए ग्राह्य नही है कि पुष्यमित्र युग का राज्यकाल का प्रारम्भ अधिकतर विद्वान् १८० ई० पू० मे मानते हैं न कि ७५ ई० पू०।

हरिहरनाथ द्विवेदी (ग्वालियर) का विचार है कि मालव वंश मे विक्रमादित्य नाम का कोई राजा था जिसने ५८ ई० पू० मे अपने वश को फिर से स्थापित किया। इसलिए यह विक्रम सवत् कहलाया। परन्तु यह मत इसलिए ग्राह्य नही है कि आठवी सदी ई० से पूर्व किसी अभिलेख मे इस सवत् को विक्रम संवत् नही कहा गया है।

फर्ग्युसन (Fergusson) का मत था कि विक्रमादित्य ने ५४४ ई० मे कुरोर के युद्ध

में हूणों को हराया। उसने अपनी विजय के उपलक्ष्य में यह सवत् चलाया। परन्तु यह सवत् बहुत प्राचीन काल से चला आता है, यह बात स्थापित करने के लिए ब्राह्मणो ने इसे ६०० वर्ष के लगभग पहले से प्रारम्भ कर दिया। प्राप्त अभिलेखो से अब यह पूर्णतया सिद्ध हो गया है कि यह मत किसी प्रकार भी ग्राह्य नहीं है।

अब हम अभिलेखो और साहित्यिक प्रमाणो के आधार पर यह निश्चय करने का प्रयत्न करेंगे कि किस राजा ने इस सवत् को चलाया।

ईसा की तीसरी व चौथी शताब्दी के अभिलेखों में इसे कृत सवत् कहा गया है। पाँचवी शताब्दी ई० के अभिलेखो मे इसे कभी कृत सवत् और कभी मालव सवत् कहा गया है। छठी, सातवी और आठवी शताब्दी ई० के अभिलेखों मे इसे मालव सवत् कहा गया है। नवीं व दसवी शताब्दी ई० के अभिलेखो में इसे कहीं केवल सवत्, कहीं मालव काल और कहीं विक्रम सवत् कहा गया है। ११ व १२वीं शताब्दी ई० के अभिलेखों में भी इसे अधिकतर सवत् कहा गया है। केवल १५ प्रतिशत अभिलेखो मे इसे विक्रम सवत् कहा गया है। इसका निष्कर्ष यही है कि नवी शताब्दी ई० से पूर्व इस सवत् को कोई विक्रम सवत् नहीं कहता था और बारहवी शताब्दी ई० मे भी अधिकतर लोग इसे केवल सवत् के नाम से जानते थे।

विक्रमादित्य के विषय मे जो साहित्यिक परम्पराए हमे प्राप्त है उन्हे हम दो भागो मे बाँट सकते हैं एक वे जो कोरी कल्पना पर आधारित है और दूसरी वे जो कुछ ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित प्रतीत होती है। पहली श्रेणी मे ऐसे ग्रन्थ है जिनमे एक आदर्श राजा का कल्पित चित्र प्रस्तुत किया गया है, जैसे 'वेतालपचविंशति' या 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका'। दूसरी श्रेणी मे ऐसे ग्रन्थ आते है, जैसे सोमदेवरचित 'कथासरित्सागर' या हालरचित 'गाथासप्तशती'। कथासरित्सागर का वर्णन इसलिए विश्वसनीय नहीं है क्योंकि वह ग्यारहवी शताब्दी की रचना है और उसमे ऐतिहासिक तथ्यों को बहुत-सी कल्पित घटनाओ मे ऐसा पिरोया गया है कि उन्हे अलग करना प्राय दुर्लभ है। 'गाथासप्तशती' भी भाषा की दृष्टि से २०० ई० से ४५० ई० के बीच की रचना मालूम होती है। इसलिए उसका साक्ष्य पहली शती ई० पू० की घटनाओ के लिए पूर्णतया विश्वसनीय नहीं है।

मेरुतुगरचित 'थेर वाली' मे एक जैन परम्परा विक्रमादित्य के महान् कार्यो पर कुछ प्रकाश डालती है। उसमे लिखा है कि विक्रमादित्य के पिता गर्दभिल्ल से शकों ने उसका राज्य छीन लिया। विक्रमादित्य ने शको से अपने पिता का राज्य वापस ले लिया और ६० वर्ष तक शान के साथ राज्य किया।

कालकाचार्य कथा मे लिखा है कि कालकाचार्य की एक बहन सरस्वती थी। गर्दभिल्ल नाम का राजा उस पर आसक्त हो गया और उसने उसके साथ बलात्कार किया। इससे क्रुद्ध होकर कालकाचार्य सिन्धु नदी के पश्चिम को ओर गया और वहाँ एक 'शाही' सरदार के पास रहने लगा। अपनी ज्योतिष विद्या के ज्ञान के कारण उसने उस सरदार पर बहुत प्रभाव डाल लिया। धीरे-धीरे पता लगा कि उसका सरक्षक सरदार और ९५ अन्य सरदार एक बड़े स्वामी का आदेश पालन करते थे। कालकाचार्य ने अपने सरक्षक को उन ९५ अन्य सरदारो की सहायता से गर्दभिल्ल पर आक्रमण करने के लिए राजी कर लिया। उस सेना के साथ कालकाचार्य सिन्ध और गुजरात से होकर उज्जयिनी पहुँचा और उस नगर का घेरा डाला। अन्त मे गर्दभिल्ल की हार हुई और शकों ने मालवा मे अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। १७ वर्ष बाद गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शको को वहाँ से निकालकर अपने राज्य पर

फिर अधिकार कर लिया। कालकाचार्य गर्दभिल्ल को हराकर और अपनी बहन को छुड़ाकर प्रतिष्ठान के सातवाहन राजा की राजसभा मे चला गया।

उपर्युक्त जैन परम्परा मे कुछ ऐतिहासिक तथ्य प्रतीत होता है। हमे मालूम है कि सिन्धु से परे रहने वाले शको ने मालवा पर आक्रमण किया था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। हमे यह भी ज्ञात है कि ७६ ई० के लगभग शक राजा मालवा मे राज्य करते थे। हमे इस समय के किसी राजा विक्रमादित्य का पता नही है, किन्तु यह सम्भव है कि कोई राजा विक्रमादित्य हुआ हो जिसने ५८ ई० पू० मे शको को हराया हो। इस परम्परा को सत्य मानने मे सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि पहले पाँच सौ वर्षों मे इस सवत् का विक्रम से कोई सम्बन्ध न था।

दिनेशचन्द्र सरकार का मत है कि भारत के अधिकतर प्राचीन राजा अपने अभिलेखो मे अपने राज्यकाल का वर्ष लिखवाते थे, इसलिए इस सवत् का मूल विदेशियो मे होना चाहिए। इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि पहले-पहल शको और पह्लवो ने ही इस सवत् का प्रयोग किया। डॉ० सरकार का मत है कि विक्रम सवत् और ५८ ई० पू० का अ़ॅगियन सवत् एक ही है। इस वर्ष पूर्वी ईरान ने २४९ ई० पू० के अरसैसिड सवत् को छोड़कर और नया सवत् चलाकर अपनी स्वतन्त्रता घोषित की। मालव जाति ने पह्लवो को कुछ समय के लिए अपना आधिपति मान लिया था और उन्होने ५८ ई० पू० के इस सवत् को अपना लिया। कृत नाम का सम्भवत कोई प्रसिद्ध मालव सरदार था। उसके नाम पर उन्होने इसका नाम 'कृत' सवत् रखा लिया। पीछे जब वे पजाब छोडकर मालवा मे जा बसे तो इसका नाम मालव सवत् पड़ गया। यह कहना कठिन है कि पीछे इसका नाम विक्रम सवत् कैसे पडा।

अन्त मे हम इस विवेचन को आर० सी० मजूमदार के निम्नलिखित शब्दो से समाप्त करते है।

"हमे इस विषय मे कट्टरपन्थी होने की कोई आवश्यकता नही है। सम्भव है यह सवत् किसी विदेशी ने ही चलाया हो। परन्तु इस परम्परा मे कि राजा विक्रमादित्य ने ५८ ई० पू० मे शको को हराकर उज्जयिनी विजय करने के उपलक्ष्य मे यह सवत् चलाया, कोई सर्वथा असम्भव बात प्रतीत नही होती।"

शक सवत्

दिनेशचन्द्र सरकार कहते हैं कि शक सवत् का तो नाम ही यह प्रकट करता है कि इस सवत् को विदेशियो ने चलाया था। अधिकतर भारतीय विद्वान् अब यह मानते हैं कि कनिष्क का राज्यकाल ७८ ई० मे प्रारम्भ हुआ और ७८ ई० के शक सवत् का चलाने वाला कनिष्क ही था। कुछ विद्वानो का यह मत था कि शक सवत् कदफिस द्वितीय (Kadphises II) ने चलाया था, किन्तु इसके समर्थन मे कोई प्रमाण नही है। परन्तु यह मानने मे कि कनिष्क ने शक सवत् चलाया एक कठिनाई है कि कनिष्क स्वय कुषाण था न कि शक, फिर इस सवत् का नाम शक सवत् कैसे पडा। इसका निराकरण डॉ० सरकार इस प्रकार करते है कि पश्चिमी भारत के शक प्रारम्भ मे कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियो के करदाता सामन्त थे। उन्होने अपने अधिपति के सवत् को अपनाया। ये शक बहुत दिन तक इस सवत् को प्रयोग मे

लाते रहे, इसलिए इस सवत् का नाम शक सवत् पड़ गया ।

यह सवत् भी ५०० वर्ष तक शक सवत् नही कहलाया । पीछे यह शक सवत् कहलाने लगा, क्योकि यह सवत् शक राजाओ के बीच बहुत दिन तक चलता रहा । शक राजाओ की तिथियाँ ४१ से ३१० अर्थात् ११९ ई० से ३८८ ई० के बीच की है । इसी कारण हमे इसके चलाने वाले के नाम का पता नही चलता । यह बात अब प्राय सभी मानते है कि इस सवत् का चलाने वाला कोई शको का अधिपति था । वह भी सम्भवत कनिष्क ही था ।

परिशिष्ट ३

व्यापार और वाणिज्य की उन्नति

(The Progress of Trade and Commerce)

प्राचीन बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि मौर्यकाल मे और उसके बाद देश मे व्यापार और वाणिज्य की बहुत उन्नति हुई । देश के अन्दर निम्नलिखित प्रमुख राजमार्ग थे जिनके द्वारा व्यापार होता था ।

(१) पूर्व से पश्चिम जाने वाले मार्ग पर मुख्यत नदियो द्वारा व्यापार होता था। चम्पा से नावें वाराणसी पहुँचती थी । वाराणसी से कौशाम्बी और वहाँ से व्यापारी थल मार्ग से सिन्ध और सौवीर (सिन्ध नदी का दक्षिणी कॉंठा) पहुँचते थे ।

(२) उत्तर मे कोसल की राजधानी श्रावस्ती से एक राजमार्ग दक्षिण-पश्चिम की ओर गोदावरी के तट पर स्थित प्रतिष्ठान पहुँचता था। लौटते समय व्यापारी प्रतिष्ठान, उज्जयिनी और विदिशा होकर कौशाम्बी पहुँचते थे।

(३) उत्तर मे श्रावस्ती से दक्षिण पूर्व मे राजगृह जाने वाले मार्ग पर कई प्रसिद्ध नगर थे जैसे कि कपिलवस्तु, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालन्दा ।

(४) उत्तर पश्चिम जाने वाला मार्ग पजाब को मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया से जोडता था।

दक्षिणापथ के मार्ग भी पूर्णतया सुरक्षित थे। यह इस बात से स्पष्ट है कि व्यापारी दूर-दूर से जाकर दान देते थे। बनवासी के एक व्यापारी और सोपारा के दूसरे व्यापारी ने कार्ले मे जाकर दान दिया था । नासिक के एक व्यापारी ने विदिशा मे और भडोच और कल्याण के निवासियो ने जुन्नर मे जाकर दान दिया था ।

इन राजमार्गों पर व्यापार की वस्तुएँ बैलगाडियो या नावो द्वारा ले जाई जाती थी। व्यापारियो ने अपनी श्रेणियाँ बना रखी थी । इन श्रेणियो के अध्यक्ष 'सेट्ठि' कहलाते थे । उनके नीचे बहुत से 'अनुसेट्ठि' होते थे। प्रत्येक श्रेणी ने अपने सदस्यो के हितो की रक्षा के लिए अपने नियम बना रखे थे। सरकार इन नियमो को लागू करती थी। प्रत्येक श्रेणी का अपना संविधान होता था। कभी-कभी श्रेणियाँ अपनी सैनिक टुकडियाँ भी रखती थी जो आवश्यकता पडने पर राजा की भी सहायता करती थी ।

बहुत से व्यापारी अपनी व्यापार की वस्तुओ को बैलगाड़ियो पर लादकर एक काफिला बना लेते थे। सभी व्यापारी मिलकर एक मार्गदर्शक चुनते थे जो सार्थवाह कहलाता था । वह व्यापारियो को रुकने, पानी मिलने, नदियो को पार करने के स्थान के अतिरिक्त सकट के स्थान भी बतलाता था ।

बहुत से व्यापारी हिस्सेदारी करके भी व्यापार करते । मौर्य काल मे राज्य व्यापार और मूल्यो का नियन्त्रण करता था । व्यापारियो को व्यापार करने के लिए अधिकार-पत्र लेने होते थे। वाणिज्य विभाग का अध्यक्ष वस्तुओ के मूल्य निर्धारित करता था । राजमार्गों पर

व्यापारियो को अनेक स्थानो पर चुगी देनी पडती थी। सरकार मार्ग मे व्यापारियों की सुरक्षा का प्रबन्ध करती थी। स्ट्रेबो ने लिखा है कि 'मजिस्ट्रेट' सार्वजनिक मार्गों पर देखभाल करते थे। यदि मार्ग मे व्यापारियों की कुछ हानि होती तो सरकार उसे पूरा करती थी।

मौर्य राजाओं ने यूनानी राजाओ से मैत्री सम्बन्ध रखे थे। यूनानी ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इन देशों से भारत का व्यापार थल और जल दोनो मार्गों से होता था। ४५ ई० मे जब हिपेलस ने मानसून हवाओ का पता लगा लिया तो भारतीय जहाज सीधे समुद्र पार करने लगे। अब उन्हे समुद्र तट के साथ-साथ नही जाना पडता था। पहली शती ईसवी मे अफ्रीका के तट के निकट भारतीय व्यापारियो की एक बस्ती थी। थल मार्ग पर सबसे प्रसिद्ध नगर पामिरा था। भारत और रोम का व्यापार सिकन्दरिया के द्वारा बहुत अधिक होता था। पश्चिमी देशों के व्यापारी भारतीय व्यापारियो से अधिकतर सिकन्दरिया मे ही मिलते थे। यहाँ भारतीय व्यापारियों की एक अलग बस्ती थी।

फिलिपाइन, मलय प्रायद्वीप और इण्डोनेशिया मे जा पुरातत्व सम्बन्धी अवशेष मिले है उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत और इन देशों के ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध थे। चीन के साथ भारत का व्यापार थल और जल दोनो प्रकार से होता था। चोल नाविक अनेक प्रकार के जहाज बनाना जानते थे। इन जहाजों में ऐसे जहाज भी थे जिनमे प्रत्येक में ७०० यात्री यात्रा कर सकते थे। जब रोम मे मसालों की माँग बढी तो भारतीय व्यापारी मलाया, जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया और बोर्नियो से मसाले लाने लगे। इसके बाद इन पूर्वी देशो से भी भारत के व्यापार म बहुत उन्नति हुई। मगध और कलिंग के बहुत से व्यापारी लका और वहाँ से वर्मा पूर्वी द्वीप समूह और चीन जाते थे।

देश मे भिन्न-भिन्न प्रदेश भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए प्रसिद्ध थे। कश्मीर, कोसल, विदर्भ और कलिंग हीरो के लिए प्रख्यात थे। हिमालय प्रदेश चमडे के लिए प्रसिद्ध था। मगध वृक्षो के रेशो से बने हुए वस्त्रों के लिए, बगाल मलमल के लिए, नेपाल ऊनी वस्त्रों के लिए तथा लका, पाण्ड्य और केरल अपने मोतियों के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे।

नगरो मे व्यापारी वर्ग समृद्ध था अत भोग-विलास की वस्तुओं की माँग बढी। इससे मणियो और हाथीदाँत की बहुत-सी वस्तुएँ बनने लगी। व्यापारी लाभ उठाने के लिए इन सभी वस्तुओ को देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचाते थे। इनके अतिरिक्त फेरी वाले घूम-घूम कर नगरो और गाँवो मे अपनी वस्तुएँ बेचते थे।

ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों मे भारत का विदेशों के साथ व्यापार बहुत उन्नत दशा मे था। रोम साम्राज्य मे भोग-विलास की भारतीय वस्तुओं की बहुत माँग थी। मणियाँ, मोती, सुगधित पदार्थ, इत्र, मसाले, रेशम और मलमल बडी मात्रा मे भारत से इन देशों को भेजे जाते थे। रोम से इन वस्तुओ के बदले मे बडी मात्रा मे सोना भारत आता था। इसका प्रमाण यह है कि दक्षिण भारत के अनेक बन्दरगाहो के निकट रोम के सिक्के बडी मात्रा मे मिले है। पाण्डेचेरी के निकट एरिकामेडु मे इटली के बने हुए तीन मृद्भाण्ड मिले हैं जिन पर बनाने वालो के नाम खुदे हैं। इनका समय पहली शती ईसा से पूर्व पहली शती ईसवी तक है। यहाँ रोम मे बने लैम्प का भी टुकडा मिला है। सभवत एरिकामेडु मे रोम ले जाने के लिए मलमल भी बुनी जाती थी। प्लिनी ने लिखा है कि इन शताब्दियों मे ५ करोड मुद्रा का सोना

१. विस्तृत विवरण के लिए अध्याय २४ देखिए।

प्रतिवर्ष रोम से भारत आता था। कावेरी-पट्टनम् भी प्रसिद्ध बन्दरगाह था। एक तमिल कविता मे इसके वैभव का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि इस समय भारत और रोम का व्यापार बहुत उन्नत दशा मे था।

एक यूनानी व्यापारी ने लगभग ६० ई० व ८० ई० के बीच भारत की यात्रा की थी। उसने 'पेरिप्लस आफ दी एरिथ्रियन सी' (Periplus of the Erythrean Sea) नामक अपनी पुस्तक मे भारतीय बन्दरगाहों के नाम और उनसे जिन वस्तुओ का निर्यात या आयात होता था उनकी सूचियाँ दी हैं। भड़ोच से कश्मीर और उज्जयिनी से लाई अनेक वस्तुएँ पश्चिमी देशो को भेजी जाती थी। उस समय सोपारा और कल्याण भी प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। प्रतिष्ठान (पैठन) और तगर (तेर) व्यापार के केन्द्र थे। पूर्वी तट पर मछलीपटम के निकट मसलिया और गंगा नदी के मुहाने के निकट गगे प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। इस समय ईथियोपिया से हाथीदाँत और सोना भारत आते थे और भारत से मलमल ईथियोपिया जाती थी। जॉर्डन में पेडा नाम का नगर था। लाल सागर से व्यापारी वहाँ जाते थे और वहाँ से पश्चिमी एशिया के देशो मे भारतीय वस्तुएँ पहुँचाते थे। भारत से बहुत से जहाज चावल, गेहूँ, सूती कपडे, दासियाँ आदि लेकर सोकोतरा के द्वीप पर जाते थे। वहाँ से ये जहाज कछुए की खोपडियाँ लाते थे। भारत में फारस की खाड़ी के दक्षिणी तट के बन्दरगाहो को ताँबा, चन्दन, सागौन और आबनूस जाता था। वहाँ से मोती, गुलाबी रग, सूती कपड़े, शराब, खजूर, सोना और दास भारत लाए जाते थे। सिन्ध नदी के डेल्टे मे बारबरिकम् नाम का प्रसिद्ध बन्दरगाह था। यहाँ फारस की खाडी से क्षौमवस्त्र, पुखराज, मूगा, शिला-रस, वन-मेथी, सुर्मा, सोने और चाँदी के सिक्को और अनेक प्रकार की औषधियो का आयात किया जाता था। भडोच से मसाले, बालछड, मणियाँ और कछुओ की खोपड़ियो का निर्यात होता था।

तक्षशिला मे पश्चिमी देशो से बहुत सी वस्तुएँ लाई जाती थीं—जैसे ईरान और अफगानिस्तान से फीरोज़ा और लाजवर्द और चीन से रेशम। जब रोम का पार्थिया से विरोध हो गया तो चीन से भारत का व्यापार अधिकतर समुद्र के मार्ग से होने लगा।

इस काल मे व्यापार और वाणिज्य की अत्यधिक उन्नति हुई। यह इस बात से स्पष्ट है कि व्यापारी वर्ग बहुत धनी था। अनाथ पिण्डक ने जेतवन नाम के उद्यान को सोने के सिक्को से ढककर बुद्ध के लिए खरीदा था। एक वैजयन्ती के व्यापारी ने कार्ले मे एक चैत्य गुफा का निर्माण कराया था। उसने कन्हेरो म भी एक गुफा बनवाई थी। कुछ अन्य व्यापारियो ने दो जुलाहो की श्रेणियो के पास ३००० कार्षापण जमा कराए थे जिनका ब्याज बौद्ध भिक्षुओ पर खर्च किया जाता था।

परिशिष्ट ४

बौद्ध कला

(The Buddhist Ait)

सिन्धुघाटी की सभ्यता मे कुछ कलात्मक कृतियाँ मिली है। उसके बाद मौर्यकाल तक हम कलात्मक कृतियो के कोई अवशेष नही मिलते। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि मौर्यकाल से पूर्व भारत मे कलाकार ही नही थे। अशोक के समय की कलाकृतियो से यह स्पष्ट है कि तत्कालीन कलाकार नौसिखिये नही थे उन्हे पर्याप्त-अनुभव था और उनसे पूर्व कलाकारो ने कला के विकास मे पर्याप्त प्रगति कर ली थी। मौर्यकाल से पूर्व की कलाकृतियो के न मिलने का मुख्य कारण सम्भवत यह था कि भारत मे कलाकार अशोक से पूर्व अपनी कलाकृतियो के लिए लकडी का प्रयोग करते थे और लकडी की होने के कारण ये कलाकृतियाँ बहुत समय बीतने के कारण अब उपलब्ध नही है। अशोक के राज्यकाल मे लगभग ३०० ई० तक जो कलाकृतियाँ बनी वे अधिकतर बौद्ध थी। इस अध्याय मे हम पहले बौद्ध वास्तुकला का, फिर मूर्तिकला और अन्त मे चित्रकला का विवेचन करेगे।

बौद्ध वास्तुकला के तीन मुख्य उदाहरण स्तूप, चैत्य और सघाराम है।

स्तूप—स्तूप गुम्बदाकार होते थे और ईंटो या पत्थर के बनाए जाते थे। परिनिर्वाण सूत्र मे लिखा है कि बुद्ध ने स्वय अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि मेरे शरीर के अवशेषो पर चौराहो पर स्तूप बनवाना। किन्तु परिनिर्वाण सूत्र मे यह प्रकरण प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। इसे सम्भवत तब मिलाया गया जब स्तूप बनाने को पुण्य कार्य समझा जाने लगा। बुद्ध के मरने के बाद उसके शिष्यो के अवशेषो पर भी अनेक स्तूप बनाए गए। कुछ स्तूप स्मरणीय घटनाओ की स्मृति बनाए रखने के लिए और कुछ बुद्ध द्वारा प्रयुक्त सामग्री को सुरक्षित रखने के लिए भी बनाए गए। बौद्ध पूजागृहो मे भी जिन्हे चैत्य कहते है, पूजा के लिए अनेक छोटे स्तूप बनवाए गए।

सबसे प्राचीन स्तूप अर्धगोलाकार गुम्बद थे जो गोल पीठिका पर बनाए जाते थे। यह गुम्बद 'अण्ड' कहलाता। अण्ड के ऊपर चौकोर चौकी होती है जिसे 'हर्मिका' कहते है। उसके ऊपर एक छत्री होती है जिसे 'छत्र' कहते है। गुम्बद के चारो ओर प्रदक्षिणापथ होता है जिससे कि भक्त स्तूप की परिक्रमा कर सके। इसके चारो ओर वेष्टनी या दीवार होती है।

स्तूपो से प्राप्त सबसे प्राचीन पात्र जिसमे बुद्ध के अवशेष रखे गए थे, पिपरावा मे मिला था। अक्षरो की बनावट के आधार पर इसका समय ईसा पूर्व चौथी शती का उत्तरार्ध निश्चित *किया गया है।*

ऐसी परम्परा है कि अशोक ने ८४,००० स्तूप बनवाए थे। इस प्रकार के स्तूपो का सबसे प्राचीन उपलब्ध उदाहरण भोपाल राज्य मे साँची का स्तूप है। यह स्तूप अर्धगोलाकार गुम्बद है तथा एक ऊँचे चबूतरे पर बना है जो प्राचीनकाल मे प्रदक्षिणा पथ का काम देता था। भूमि तल पर एक दूसरा प्रदक्षिणापथ है जिसके चारो ओर एक ठोस वेष्टनी है। इस वेष्टनी

पर कोई उत्कीर्ण मूर्तियाँ नही हैं। इसका निर्माण पहले ईंटों से अशोक ने कराया था। शुग काल मे इस स्तूप का आकार पहले से दूना कर दिया गया और इसको पत्थर की शिलाओ से ढक दिया गया। उसी समय इसके चारो ओर वेष्टनी लगाई गई और चारो दिशाओ मे चार द्वार बनाए गए। इन चारो द्वारो का अलकरण बहुत ही उत्कृष्ट है। इनमे बुद्ध के जीवन के अनेक दृश्य दिखलाए गए है। पहले शायद इस स्तूप के चारो ओर लकडी की वेष्टनी थी। इस स्तूप के चारो ओर जो पत्थर की वेष्टनी है उसमें अठ पहलू स्तम्भ हैं जिनके ऊपर एक गोल टोपी है जिसे 'उष्णीष' कहते है। इन स्तम्भो के बीच मे पडी पत्थर की शिलाएँ है जो 'सूची' कहलाती है। इस वेष्टनी मे पत्थरो को जोडने के लिए जो चूले बनाई गई हैं वे उसी प्रकार की हैं जैसी बढई लकडी जोडने के लिए बनाते हैं। मध्यभारत में नागौद राज्य में भारहुत मे जो स्तूप था उसके चारो ओर भी इसी प्रकार की वेष्टनी थी। किन्तु भारहुत की वेष्टनी पर अनेक दृश्य उत्कीर्ण थे जबकि साँची की वेष्टनी बिल्कुल सादा थी। भारहुत के स्तूप की वेष्टनी लाल पत्थर की बनी है।

कनिष्क ने पेशावर मे बुद्ध के अवशेषो पर एक स्तूप का निर्माण कराया था। फाहियान ने इसकी सुन्दरता की मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है। सम्भवत यह स्तूप भारत मे सबसे बडा था क्योकि इसकी पीठिका का व्यास लगभग २६१ ३ मीटर है।

गन्धार प्रदेश मे जो अनेक स्तूप मिले है उनसे स्तूपो के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। प्रारम्भिक स्तूप अर्धगोलाकार थे किन्तु बाद मे उन्हें कुछ ऊँचा उठाने का रिवाज चल पडा। साधारणतया एक चौकोर चबूतरे पर ऊँचा गुम्बद बनाया जाता था। उसके ऊपर हर्मिका और छत्र बनाया जाता था। स्तूप पर सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्ण की जाती थी।

दक्षिणापथ मे आन्ध्र पदेश मे भी अनेक सुन्दर स्तूप बनाए गए। अमरावती, भट्टिप्रोलु, जगय्यपेत, घण्टशाल और नागार्जुनी कोण्ड के स्तूप बौद्ध कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन स्तूपो मे दो गोल सकेन्द्री दीवारे ईंटो से बनाई जाती थी। इन दोनो दीवारो को जोडने के लिए बीच-बीच मे दीवारे बनाई जाती थी और रिक्त स्थान को मिट्टी से भर दिया जाता था। स्तूप के ऊपर उत्कीर्ण मूर्तियो वाले सगमरमर के पत्थर लगाए जाते थे। स्तूप के गुम्बद के चारो ओर आयताकार छज्जे होते थे। इन छज्जो की छत पर पाँच आयक खम्बे होते है जिनकी उपासक पूजा करते है। सबसे प्राचीन स्तूप भट्टिप्रोलु का है। आन्ध्र प्रदेश के स्तूपो मे सर्वश्रेष्ठ अमरावती का स्तूप है। इसका गुम्बद और वेष्टनी संगमरमर के बने है।

चैत्य भवन–जब तक बुद्ध की मूर्तियाँ नही बनाई जाती थी, बौद्ध लोग स्तूपो की ही पूजा करते थे। जिन स्तूपो को पूजा जाता उन्हे चैत्य कहते थे। जिन भवनो मे चैत्य होते वे बौद्धो के मन्दिर कहलाते। साँची, सारनाथ आदि मे इस प्रकार के चैत्य भवनो के खण्डहर मिले है। किन्तु अब जो चैत्य-भवन विद्यमान है वे चट्टानो को खोदकर गुफाओ मे बनाए गए थे। इनकी बनावट लकड़ी के भवनो के अनुरूप है। इस प्रकार के अधिकतर चैत्य-भवन पश्चिमी भारत मे मिले है। इन चैत्य-भवनो का आकार बहुत कुछ प्रारम्भिक गिर्जाघरो के अनुरूप है। इनमें एक आयताकार बड़ा कमरा होता है जिसके दो ओर दालान होते है और पीछे की दीवार अर्धगोलाकार होती है। पीछे अर्धगोलाकार कमरे मे एक स्तूप होता है जिसके चारो ओर प्रदक्षिणापथ होता है। आयताकार बड़े कमरे की छत पीपे के अनुरूप होती है। सामने की ओर द्वार होता है।

पूना के निकट भाजा मे जो चैत्य-भवन है उसकी कला लकडी के शिल्पियो की प्रतीत होती है। सम्भवत इसका निर्माण ईसा की दूसरी शती पूर्वार्ध मे हुआ था। इस प्रकार के चैत्य भवनो मे सर्वश्रेष्ठ कार्ले में है जिसका सौन्दर्य बहुत विकसित है। इसमे कलाकार काष्ठ-कला के बन्धनो से मुक्त हुआ प्रतीत होता है। बडे कमरे के आगे ४ ६ मीटर चौडा और लगभग ४५ ९ मीटर लम्बा बरामदा है। कार्ले की गुफा मे तीन द्वार है। बीच का द्वार बडे कमरे मे खुलता है और पार्श्व के दोनो द्वार दोनो बरामदो मे। बीच के द्वार के ऊपर एक अर्धगोलाकार खिडकी है। इसमे होकर जो प्रकाश चैत्य-भवन मे जाता है वह सीधा छोटे स्तूप पर पडता है। जब अन्धकार पूर्ण मण्डप मे उपासक इकट्ठे होते होगे तो इस प्रकाशयुक्त स्तूप का प्रभाव बहुत रहस्यमय प्रतीत होता होगा। यह चैत्यभवन लगभग ३६ ८ मीटर लम्बा १३ ७ मीटर चौडा और १३.७ मीटर ऊँचा है। इसमे १५ खम्भे दोनो ओर बीच के मण्डप को बरामदो से अलग करते हैं। ये खम्भे बहुत सुन्दर बने है। इन खम्भो का आधार ऊँचा है, अठपहलू स्तम्भ है और अलकृत शीर्ष है। इस शीर्ष मे अन्दर की ओर दो हाथी घुटनो के बल बैठे हैं। पीछे की ओर पूजा के लिए स्तूप है जिसके ऊपर हर्मिका और छत्र है। सामने की दीवार मे जो मूर्तिया उत्कीर्ण है वे कला की दृष्टि से बहुत प्रशसनीय हैं। इस चैत्य भवन का निर्माण सम्भवत ईसा की दूसरी शती के प्रथम चरण मे हुआ था।

संघाराम—सघाराम को 'विहार' भी कहते हैं। इसके बीच मे आगन होता है। चारो ओर भिक्षुओ के रहने के लिए कोठरियाँ बनाई जाती है। पश्चिमी भारत की सबसे प्राचीन विहार गुफाएँ भाजा मे है। नासिक की तीन विहार गुफाओ का निर्माण दूसरी शती ईसवी मे हुआ था। इनमे प्रत्येक मे एक बडा मण्डप है जिसमे कोई खम्भा नही है। इस मण्डप के तीन ओर कोठरियाँ हैं। सामने की ओर एक बरामदा है जिसमे खम्भे है। पीछे की दीवार पर एक स्तूप की आकृति उत्कीर्ण है जिसके दोनो पार्श्वों मे दो स्त्रियाँ खडी है। इसी प्रकार की विहार गुफाएँ जुन्नर मे है। कार्ले की विहार गुफाओ मे कई मजिले है।

मूर्तिकला

अशोक के स्तम्भो की कला का वर्णन हम मौर्यकाल मे कर चुके हैं। फाहियान और युवान च्वाग के वर्णनो के आधार पर हम कह सकते है कि ये स्तम्भ भी बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है। ये स्तम्भ भगवान् बुद्ध को लाक्षणिक रूप मे दिखलाते है और बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित स्थानो पर बनाए गए थे। इन पर बुद्ध का धर्म-चक्र भी दिखलाया गया है।

शुग और काण्व राजाओ के राज्यकाल मे भारहुत, बोधगया, साँची और अमरावती मे जो मूर्तियां उत्कीर्ण की गई उन सब के विषय बौद्ध थे। ये चित्र उसी प्रकार बनाए गए हैं जैसे कि कपडे या लकडी के तख्ते पर बनाए जाते है। साँची के स्तूप सख्या २ की वेदिका पर जो मूर्तिकला है वह सभवत सबसे प्राचीन है। इस कला मे उभार का कोई लाभ नही उठाया गया है केवल लम्बाई और चौडाई का ही ध्यान रखा गया है। भारहुत की मूर्तिकला भी इसी के अनुरूप है किन्तु इसमे उभार का भी कुछ लाभ उठाया गया है। इनमे मनुष्यो की आकृतियां बहुत अच्छी नही बनी है। परन्तु उन पर जो दृश्य दिखलाए गए है वे तत्कालीन समाज का बडा जीता-जागता चित्र प्रस्तुत करते है। इस कला मे एक चित्र दूसरे से इस प्रकार जोडा गया है कि पूरी कथा स्पष्ट हो जाती है। इन चित्रो मे कलाकार ने बडे सन्तुलन और आत्मनियन्त्रण से काम लिया है किन्तु कथा कही भी अस्पष्ट नही है। बोधगया मे कथाएँ संक्षेप मे दिखलाई

गई हैं किन्तु उनमें कला सांकेतिक है। इस कला में मानव को प्रत्येक रूप मे दिखाया गया है। भारहुत मे प्रत्येक अग को स्पष्ट रूप से चित्रित किया गया है किन्तु उनका समाकलन नही हो पाया है। बोधगया में प्रत्येक अग का पूर्ण समाकलन हो गया है। उनसे पूरी सजीवता टपकती है।

साँची मे हम शुंग और काण्व कला का भारहुत और बोधगया से अधिक विकसित रूप पाते हैं। साँची के स्तूप के चारो द्वारो पर जो चित्र उत्कीर्ण है उनमे बुद्ध के जीवन के अनेक दृश्य दिखलाए गए है। मानव की आकृति से सजीवता टपकती है, पशुओं और पौधों की आकृतियाँ भी बहुत सुन्दर बनी हैं।

भारहुत, बोधगया और साँची की कला मे जनसाधारण की कलात्मक रुचि के दर्शन होते हैं। इनमे बुद्ध को कही भी मनुष्य के रूप मे नही दिखाया गया है। उनकी उपस्थिति धर्म चक्र, सिंहासन, या पदचिह्नों से प्रदर्शित की गई है।

गन्धार प्रदेश मे बौद्ध मूर्तिकला का एक भिन्न रूप दिखलाई देता है। गन्धार कला का विकास शक और कुषाण राजाओ के समय में हुआ। सम्भवत इन मूर्तियों के बनाने वाले साधारण कारीगर थे, कोई बड़े कलाकार न थे। इसलिए ये मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट नही है। इसमें कोई सन्देह नही है कि इस कला को प्रेरणा यूनानी कला से मिली। बुद्ध या बौद्ध देवी-देवताओं को जो मूर्तियाँ गन्धार प्रदेश मे बनाई गई उनमे महापुरुषों के वे लक्षण दिखाने का प्रयत्न किया गया है जिनका उल्लेख भारतीय साहित्य मे है किन्तु उनकी आकृति बहुत कुछ यूनानी और रोम के देवताओ जैसी है क्योकि कलाकार सम्भवत यूनानी ही थे। उनमें शरीर की आकृति को सर्वथा यथार्थ-बनाने का प्रयत्न किया गया है। शरीर के पुट्ठे और मूछो के बनाने मे इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। इनकी पोशाक मे बडी मोटी चुन्नटे दिखलाई गई है तथा पोशाक रोमन चोगे जैसी है। भारतीय कथाओ के पुरोहित, और तपस्वी यूनान के दाढी वाले दार्शनिको और साधुओं जैसे लगते है। उनके शरीर की बनावट, पोशाक, केश-विन्यास और सज्जा से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये कलाकार यूनान और रोम की कला से भली-भाँति परिचित थे। यद्यपि गन्धार कला की शैली यूनानी थी किन्तु यह कला अपने मूल रूप में भारतीय थी क्योकि इसमे बौद्धों के तत्कालीन धार्मिक विश्वासो और रीति-रिवाजो को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया था। गन्धार शैली मे बुद्ध की मूर्ति अपोलो की मूर्ति के समान बनी है। बोधिसत्वो की मूर्तियाँ और बुद्ध के जीवन के दृश्य भी एक प्रकार के काले पत्थर मे बडे सुन्दर बने हैं। तीसरी शती ईसवी को गन्धार कला के उदाहरण हद्दा और जौलियन मे मिले है। ये कला की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है। यही कला हद्दा से बामियान और वहाँ से चीनी तुर्किस्तान और चीन पहुँची।

मथुरा मे बुद्ध और बोधिसत्वो की जो मूर्तियाँ बनाई गई उनमे से भी कुछ पर गन्धार कला का प्रभाव पडा। परन्तु मथुरा की बुद्ध की अधिकतर मूर्तियाँ गन्धार शैली की नही है। उनमे शरीर को यथार्थ दिखलाने का प्रयत्न नही किया गया है अपितु मुखाकृति मे आध्यात्मिक सुख और शान्ति व्यक्त की गई है। गन्धार कला यथार्थवादी थी। मथुरा की कला आदर्शवादी है। यही पाश्चात्य और भारतीय कला का मुख्य अन्तर है।

कृष्णा गोदावरी नदियों के डेल्टे मे भी बौद्ध मूर्तिकला का विकास हुआ। यह कला भारहुत, बोधगया और साँची की कला तथा गुप्त और पल्लव कला के बीच की एक कड़ी है। अमरावती

का स्तूप और वेष्टनी भी बहुत अलंकृत हैं। इनकी मूर्तिकला बहुत ही उत्कृष्ट है। मनुष्यो की आकृतियो को अनेक मुद्राओ मे दिखाया गया है। इन आकृतियों का सामूहिक प्रभाव बहुत मनोहर नही है किन्तु इनकी कला बहुत विकसित है। इस कला मे अधिकतर बुद्ध की उपस्थिति उनसे सम्बन्धित चिह्न से दर्शाई गई है। जहाँ-तहाँ उन्हे मनुष्य के रूप मे भी दिखाया गया है। यह दूसरी शती ईसवी की कला है। अमरावती की कला धनी मध्यमवर्ग की कला है। इसमे क्षणिक सुखो और अस्थायी जीवन मूल्यों को प्रधानता दी गई है। नागार्जुनीकोण्ड में भी इसी काल के अवशेष मिले है। स्तूप के निकट कुछ शिलाखण्ड मिले है जिन पर बुद्ध के जीवन के दृश्य दिखलाए गए हैं।

इस प्रकार इस काल मे अनेक स्तूप, विहार और चैत्य भवन बनाए गए किन्तु इस काल की मूर्तिकला बहुत उत्कृष्ट है। उसमे चार विशिष्ट शैलियाँ थी। उत्तर भारत मे भारहुत, बोधगया, अमरावती और साँची की एक, मथुरा की दूसरी और गन्धार की तीसरी शैली थी। दक्षिण भारत की अमरावती और नागार्जुनीकोण्ड की चौथी शैली थी जो शुग कला और गुप्त-पल्लव कला को जोडने वाली कड़ी है।

चित्रकला—प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य मे चित्रशालाओ का उल्लेख मिलता है किन्तु सबसे प्राचीन बौद्ध चित्रकला के उपलब्धउ दाहरण अजन्ता की गुफा सख्या ९ व १० मे मिलते है। गुफा सख्या ९ मे सोलह उपासको को स्तूप की ओर बढते हुए दिखाया गया है। गुफा सख्या १० मे श्याम जातक व षड्दन्त जातक की कथाएँ चित्रित की गई है। इसमे उपासको को बोधिवृक्ष और स्तूप की पूजा करते हुए भी दिखाया गया है।

इस काल की अधिकतर कलाकृतियाँ बौद्ध हैं और इनमे से अधिकतर धनी व्यापारियो की बनवाई हुई हैं। बौद्ध कला इस काल मे अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। सम्भवत किसी अन्य काल मे बौद्ध वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला इतनी उन्नत न हो सकी।

अध्याय १३

गुप्त साम्राज्य

(The Gupta Empire)

गुप्त राजाओं के उत्कर्ष से पूर्व उत्तरी भारत की राजनीतिक अवस्था

कुषाण साम्राज्य के अपकर्ष के पश्चात् उत्तरी भारत मे बहुत-से छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए। अफगानिस्तान और सिन्धु नदी की घाटी पर ईरान के सासानी शासको ने अधिकार कर लिया और वे लगभग ३६० ई० तक इन प्रदेशो पर शासन करते रहे। कुछ कुषाण शासको ने उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। पश्चिमी और मध्य पजाब मे कुछ शक कुलो के राजा, जैसे शक, शीलद और गडहर, राज्य करते रहे। किदार कुषाण वश के राजाओं ने ३४० ई० के लगभग उनका अन्त कर दिया। किदार कुषाण पहले सासानी शासकों के अधीन था। वह कुछ समय के लिए स्वतन्त्र हो गया, किन्तु ३५६-५७ ई० मे फिर उसे सासानी शासको का आधिपत्य स्वीकार करना पडा। लगभग दस वर्ष पश्चात् किदार गुप्त राजाओ की सहायता से सासानी शासक शापूर द्वितीय को हराकर स्वतन्त्र हो गया। उसके राज्य मे गन्धार, कश्मीर, पश्चिमी और मध्य पजाब सम्मिलित थे। उसके उत्तराधिकारी पिरो को सासानी शासको और गुप्त राजाओ से युद्ध करना पडा और अपने राज्य से ३७५ ई० के लगभग हाथ धोना पडा।

मालवा और गुजरात मे पश्चिमी क्षत्रप चौथी शताब्दी ई० तक राज्य करते रहे। समुद्रगुप्त ने अपने राज्यकाल मे पूर्वी मालवा पर अधिकार कर लिया और ३९९ और ४०९ ई० के बीच चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मालवा और सौराष्ट्र के शक राजाओ को हराकर उनके राज्य को अपने राज्य मे मिला लिया। परन्तु उत्तरी भारत मे अन्य भागो में कुछ गणराज्य और कुछ राजतन्त्र राज्यो की स्थापना हुई। गणराज्यो मे प्रमुख अर्जुनायन, यौधेय, मालव, शिवि, कुणिन्द, कुलूत और औदुम्बर जनो के थे। राजतन्त्र राज्यो मे प्रमुख मथुरा, अयोध्या, अहिच्छत्र, कौशाम्बी और पद्मावती के और वाकाटको और मौखरियो के राज्य थे। गुप्त साम्राज्य का विवेचन करने से पूर्व हम इन राज्यो का सक्षिप्त परिचय देगे।

गणराज्य

अर्जुनायन वे भरतपुर और अलवर के आसपास के प्रदेश में राज्य करते थे। ईसा से पूर्व पहली शती मे उन्होने अपने सिक्के चलाये जिन पर 'अर्जुनायनानां जय.' शब्द खुदे हुए थे। सम्भव है कि शक और कुषाण जातियो की पराजय मे इन्होने कुछ भाग लिया हो।

मालव . जब सिकन्दर का आक्रमण हुआ तो वे पंजाब मे राज्य करते थे। जब यूनानियों ने पंजाब पर अधिकार कर लिया तो वे राजस्थान मे जाकर बस गए। उनकी राजधानी जयपुर जिले मे मालवनगर या कर्कोटनगर थी। मालवो ने सबसे पहले ५८ ई० पूर्व के

विक्रम संवत् का प्रचलन प्रारम्भ किया। जयपुर से होती हुई मालव जाति दक्षिण-पूर्वी राजस्थान मे पहुँची। यही पुराने कोटा राज्य के नान्दसा नाम के स्थान मे इनके अभिलेख मिले हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि मालव सवत् २८२ अर्थात् २२६ ई० मे इन्हे कोई महान् विजय प्राप्त हुई थी। मालवो के सिक्को पर 'मालवाना जय' शब्द खुदे है, जिसस प्रतीत होता है कि मालवो ने भी कोई महान् विजय प्राप्त की थी। अल्तेकर का अनुमान है कि यौधेयो ने कुषाण जाति को और मालवो ने शक जाति को पराजित करने मे प्रमुख भाग लिया था। दक्षिण-पूर्व राजस्थान के मौखरि भी सम्भवत मालवो के अधीन थे। मालव गणराज्य के शासक समुद्रगुप्त के राज्यकाल तक स्वतन्त्र रूप से शासन करते रहे। समुद्रगुप्त ने इन्हे अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया।

यौधेय वे मुख्य रूप से पूर्वी पजाब और उत्तरी राजस्थान म रहते थे। यूनानी राज्य के पतन के पश्चात् उनकी शक्ति बढ गई, परन्तु शक राजा रुद्रदामा ने उन्हे एक बार पराजित किया। उनके सिक्के रोहतक, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून आदि अनेक जिलो से प्राप्त हुए हैं। अल्तेकर का अनुमान है कि यौधेयक सघ यौधेय अर्जुनायन और कुणिन्द तीन गणराज्यो से बना था जिनकी अनेक मुद्राएँ मिली है। उन्होने 'यौधेयाना जयमन्त्रधराणाम्', 'यौधेयगणस्य जय' आदि अभिलेखो से युक्त अनेक मुद्राएँ निकाली थी। कार्तिकेय उनके इष्टदेव थे। उनके सिक्को पर 'भगवत स्वामिनो ब्रह्मदेवस्य कुमारस्य यौधेयानाम्' शब्द भी मिलते है। इन सिक्को के अभिलेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि कुषाणो के विरुद्ध सघर्ष प्रारम्भ करने से पूर्व यौधेय अपने युद्ध के देवता कार्तिकेय को अपना राज्य अर्पित कर देते थे। कुषाणो के विरुद्ध सफलता प्राप्त करने पर ही अपनी विजय के उपलक्ष्य मे उन्होने अपने सिक्के चलाए होगे। सम्भवत दूसरी या तीसरी शती मे यौधेय गणराज्य के निर्वाचित प्रधान को भी महाराज महासेनापति कहा गया है।

शिबि. पहले पजाब मे राज्य करते थे फिर चित्तौड के पास जाकर रहने लगे। उनकी राजधानी मध्यमिका थी। उनके सिक्को पर 'मझमिकाय शिबिजनपदस' शब्द खुदे है।

कुणिन्द वे यमुना और सतलुज नदी के बीच के प्रदेश मे रहते थे। उनके सिक्को पर शिव की आकृति है और 'भगवत छत्रेश्वर महात्मन' शब्द खुदे है। सम्भवत छत्र उनकी राजधानी का नाम था। ये भी कुषाण साम्राज्य के पतन के पश्चात् शक्तिशाली हो गए।

कुलूत. वे कुल्लू की घाटी मे रहते थे। उन्होने कुणिन्दो को पराजित किया।

औदुम्बर वे कागडा, गुरुदासपुर और होशियारपुर जिलो मे रहते थे। उनके सिक्को पर 'भगवतो महादेवस्य राजराजस्य शब्द खुदे है।

कुछ अन्य गणराज्यो का हम समुद्रगुप्त के समय की राजनीतिक स्थिति का निर्देश करते समय वर्णन करेगे।

राजतन्त्र राज्य

नाग राजाओं के राज्य पुराणो म विदिशा, कान्तिपुरी, मथुरा और पद्मावती के नाग राजाओ का उल्लेख है।

नागो की एक शाखा भारशिव कहलाती थी। वे अपने कधो पर शिव-लिंग का भार वहन करते थे। इस वश का प्रसिद्ध राजा भवनाग था। उसके सिक्के पद्मावती मे पाए गए
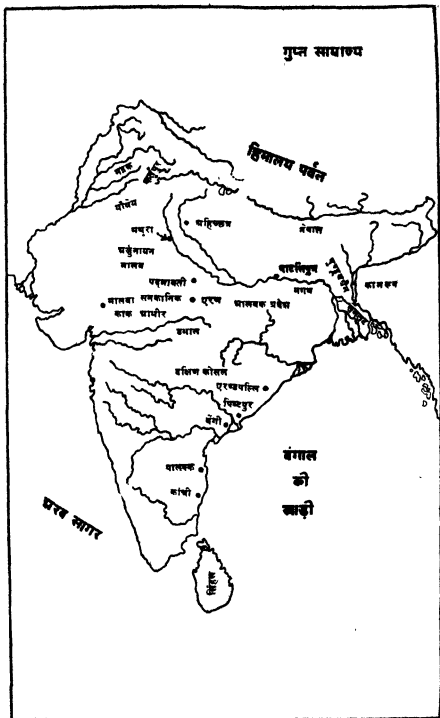
हैं। भारशिवो ने दस अश्वमेध यज्ञ किये। महाराज गणपति नामक नाग राजा के सिक्के पद्मावती, विदिशा और मथुरा मे मिले है। सम्भवत यह वही गणपति नाग है जिसे समुद्रगुप्त ने हराया था। पुराणो मे पद्मावती के नौ नाग राजाओ का उल्लेख है। इन राजाओं ने कुषाण साम्राज्य की अवनति के पश्चात् राज्य किया होगा। समुद्रगुप्त ने एक अन्य नागराजा नागसेन को भी हराया।

अहिच्छत्र यहाँ के राजाओ के नाम के पीछे मित्र शब्द आता है, जैसे सूर्यमित्र, फाल्गुनीमित्र, अग्निमित्र, बृहस्पतिमित्र आदि। अहिच्छत्र मे अच्युत के भी सिक्के मिले है। यह अच्युत सम्भवत वही शासक था जिसे समुद्रगुप्त ने हराया था। यहाँ के राजाओ ने ५० ई० पू० से २५० ई० तक राज्य किया।

अयोध्या धनदेव और विशाखदेव नाम के यहाँ के दो राजाओ के नाम मिले है। धनदेव पुष्यमित्र शुंग की छठी पीढी मे था। कुषाणो का भी सम्भवत कुछ समय के लिए यहाँ शासन रहा। उनकी अवनति के पश्चात् सत्यमित्र, आयुमित्र और संघमित्र आदि राजा हुए।

कौशाम्बी गुप्तो से पूर्व कौशाम्बी मे सम्भवत मघ वश का राज्य था। सिक्कों से इस वश के अनेक शासको के नाम ज्ञात होते है। सम्भवत कुषाण साम्राज्य से स्वतन्त्र होने वाले राज्यो मे कौशाम्बी का राजा भीमसेन सबसे पहला था। उसने १३० ई० के लगभग ही कौशाम्बी के प्रदेश मे अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया।

वाकाटक वाकाटक वश की स्थापना विन्ध्यशक्ति ने की। उसके पुत्र प्रवरसेन ने अश्वमेधादि यज्ञ किये और उसने सम्राट् की पदवी प्राप्त की। वाकाटको का सम्बन्ध भारशिवो के नाग राज्य से था। उनके शक्तिशाली राज्य के अन्तर्गत वर्तमान मध्य-प्रदेश का बहुत-सा भाग था।

राजतन्त्र राज्यो मे से पद्मावती के नाग और कौशाम्बी के मघ राजाओ ने कुषाण राज्य को समाप्त करने मे प्रमुख भाग लिया। पूर्वी पजाब और राजस्थान मे यही कार्य गणराज्यो ने किया। इनमे प्रमुख कुणिन्द, मालव आदि थे। इनके अभिलेखों और मुद्राओ के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी ने कुषाणो को भारत से निकालने मे प्रमुख भाग लिया।

गुप्त साम्राज्य के ऐतिहासिक साधन

अभिलेख—गुप्त सम्राटो की उपलब्धियाँ जानने के सबसे महत्त्वपूर्ण साधन उनके अभिलेख है। पहले तीन राजाओ के नाम तो हमे उन वशावलियो से मिलते है जो उनके अभिलेखो के प्रारम्भ मे हैं। गुप्त अभिलेखो मे ही यह लिखा है कि समुद्रगुप्त लिच्छवियो का धेवता था। इससे गुप्त राजाओ और लिच्छवियो के वैवाहिक सम्बन्ध का महत्त्व प्रकट होता है। समुद्रगुप्त के राज्यकाल के पाँचवे तथा नवे वर्ष के दो ताम्रपत्र अभिलेख क्रम से नालन्दा व गया मे मिले है जिनसे भी गुप्त राजाओ के सवत् पर कुछ प्रकाश पडा है। समुद्रगुप्त के दो अभिलेख पत्थर पर खुदे हैं। इनमे पहला प्रयाग मे अशोक के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है जिससे समुद्रगुप्त की उपलब्धियो पर पर्याप्त प्रकाश पडता है और दूसरा एरण मे मिला है। पहले अभिलेख से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवत, चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त के लिए राज-सिंहासन छोड दिया हो।

रामगुप्त के समय की दो जैन मूर्तियों की पीठिकाओ पर जो अभिलेख मिले हैं उनसे उसकी

ऐतिहासिकता प्रमाणित करने मे बहुत सहायता मिली है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल के छ अभिलेख मथुरा, उदयगिरि, गढ़वा, साँची और मथुरा मे मिले हैं। उनसे उसके राज्य विस्तार और शको के विरुद्ध युद्ध का पता लगता है। मेहरोली की लोहे की कीली पर उत्कीर्ण अभिलेख से चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्तर-पश्चिम में वाहलीक (बैक्ट्रिया) तक और पूर्व में बगाल तक के सैनिक अभियानो का पता लगता है।

कुमारगुप्त के राज्यकाल के १३ अभिलेख बिलसद, गढ़वा, उदयगिरि, धनैदह, मथुरा, तुमैन, करमदाण्डा, कुलैकुरी, दामोदरपुर, बेग्राम और मनकुँवर मे मिले हैं। इनमें से तीन अभिलेख पत्थर पर, पाँच ताम्रपत्रो पर, एक गुफा में, एक बौद्ध मूर्ति पर, एक हिन्दू देवता की मूर्ति पर, एक जैन मूर्ति पर और एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण हैं। ये अभिलेख कुमारगुप्त के राज्यकाल की घटनाओ पर विशेष प्रकाश नही डालते किन्तु उनसे यह अनुमान होता है कि उसने अपने पिता से मिले विस्तृत साम्राज्य को पूर्ववत् सुरक्षित रखा।

स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल के अन्तिम दिनो मे पुष्यमित्रो और हूणो ने उसके राज्य पर आक्रमण करके बडे सकट की अवस्था उत्पन्न कर दी थी। उसके जूनागढ अभिलेख से ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त को अपने शत्रुओ के विरुद्ध युद्ध करना पडा और उन शत्रुओ मे म्लेच्छ भी थे। सम्भवतः म्लेच्छो से अभिप्राय हूणो से है। उसके राज्यकाल के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त के राज्यपाल पर्णदत्त और उसके पुत्र चक्रपालित ने गिरनार की पहाडी पर सुदर्शन झील के बाँध की मरम्मत कराई थी। मन्दसौर के एक अभिलेख से पता चलता है कि उस समय (४७२ ई०) इस प्रदेश का अधिपति कुमारगुप्त था।

पुरुगुप्त की एक मुहर से ज्ञात होता है कि वह कुमारगुप्त प्रथम ओर महादेवी अनन्तदेवी का पुत्र था। उसमे स्कन्दगुप्त का उल्लेख नही है। सम्भव है पुरुगुप्त ने सिंहासन के लिए स्कन्दगुप्त से युद्ध किया हो और स्कन्दगुप्त ने उसे पराजित कर दिया हो। कुमारगुप्त द्वितीय का एक सक्षिप्त अभिलेख वाराणसी मे मिला है। बुधगुप्त के छ अभिलेख मिले है। उनसे स्पष्ट है कि उसका राज्य बहुत विस्तृत था।

काठियावाड मे मैत्रक राजाओ ने ५०० ई० से ७७० ई० तक राज्य किया। उनके अभिलेखो से पता चलता है कि वहाँ के शासक भटार्क और धरसेन गुप्त सम्राटो को अपना अधिपति मानते थे किन्तु धरसेन के छोटे भाई द्रोणसिंह ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित किया। इससे स्पष्ट है कि इस समय गुप्त साम्राज्य के कुछ राज्यपाल स्वतन्त्र होने लगे थे।

बुधगुप्त के राज्यकाल के सारनाथ अभिलेख से ज्ञात होता है कि उत्तरी बगाल मे उसका राज्यपाल ब्रह्मदत्त था। एक दूसरे अभिलेख से ज्ञात होता है कि यमुना और नर्मदा के बीच के प्रदेश का राज्यपाल सुरश्मिचन्द्र था।

वैन्यगुप्त का ५०६ ई० का एक अभिलेख और भानुगुप्त का ५१० ई० का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। पहला पूर्वी बगाल मे और दूसरा मालवा मे है। इससे यह सम्भावना हो सकती है कि इन गुप्त राजकुमारो ने साम्राज्य का बँटवारा कर लिया हो। भानुगुप्त के अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि उसका एक सामन्त गोपराज एरण के पास एक युद्ध मे हूणो के विरुद्ध लडता हुआ मारा गया। उससे यह भी विदित होता है कि उस समय सती की प्रथा थी क्योंकि गोपराज की पत्नी सती हुई थी। एरण मे ही प्राप्त दो अभिलेखो से

ज्ञात होता है कि वहाँ का शासक मातृविष्णु बुधगुप्त को अपना अधिपति मानता था और उसके छोटे भाई धन्यविष्णु ने तोरमाण का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। तोरमाण के राज्यकाल के दो अभिलेख मिले हैं। एक एरण मे और दूसरा ग्वालियर मे। तीसरा अभिलेख पजाब में कुरा मे मिला है। उनसे हूणों की सफलताओ पर प्रकाश पडता है।

यशोधर्मा के मन्दसौर अभिलेख से ज्ञात होता है कि मिहिरकुल ने भी उसका आधिपत्य स्वीकार किया था। इसका यह अर्थ है कि यशोधर्मा ने मिहिरकुल को पराजित किया था। ५४३ ई० के दामोदरपुर ताम्रपत्र अभिलेख से ज्ञात होता है कि उस समय तक उत्तरी बगाल के शासक गुप्त सम्राटो को अपना अधिपति मानते थे।

गुप्तकाल के अभिलेखों को हम दो भागो मे बाँट सकते हैं—एक निजी अभिलेख जो व्यक्ति विशेष ने किसी सम्राट् के राज्यकाल मे उत्कीर्ण कराए जैसे कि रामगुप्त के राज्यकाल की जैन मूर्तियो पर उत्कीर्ण अभिलेख और दूसरे वे जो सम्राटो के आदेशो से उत्कीर्ण किए गए। व्यक्तियों के निजी अभिलेखों से भी गुप्तकाल की घटनाओं पर पर्याप्त प्रकाश पडता है किन्तु उनके उत्कीर्ण कराने में उतनी सावधानी नही बरती जाती थी जितनी कि सम्राटो द्वारा उत्कीर्ण अभिलेखों मे—जैसे कि मनकुवर मे प्राप्त बौद्ध मूर्ति पर जो अभिलेख उत्कीर्ण है उसमे कुमारगुप्त को 'महाराजाधिराज' न लिखकर केवल 'महाराज' लिखा है।

सम्राटो द्वारा उत्कीर्ण अभिलेखो को भी हम दो भागो मे बाँट सकते है—प्रशस्तियाँ और ताम्रशासन। इनके प्राप्ति स्थानो से हम उन सम्राटो के राज्य की सीमाओं का निर्धारण करने मे सहायता मिलती है। उनके प्रारम्भ मे जो राजाओ की वंशावलियाँ दी गई है उनसे सम्राटो का क्रम निर्धारण करने मे सहायता मिली है। प्रशस्तियां मे तीन प्रसिद्ध हैं। समुद्रगुप्त का प्रयाग अभिलेख, चन्द्रगुप्त द्वितीय का मेहरौली अभिलेख और स्कन्दगुप्त का जूनागढ अभिलेख। इनमे इन सम्राटो की दिग्विजयो का जो वर्णन है उसमे हमे अत्युक्ति दिखलाई नही देती।

सिक्के—गुप्त सम्राटो की उपलब्धियाँ जानने का दूसरा प्रमुख साधन उनके सिक्के है। चन्द्रगुप्त प्रथम के कुछ सिक्के ऐसे है जिन पर सीधी ओर उसका और उसकी रानी कुमारदेवी का नाम अकित है और दूसरी ओर 'लिच्छवयः' शब्द खुदे हैं। इससे यह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त और लिच्छवियो के इस वैवाहिक सम्बन्ध का राजनीतिक अत्यधिक महत्त्व था। 'काच' नाम के गुप्त सम्राट् का सिक्का मिला है। उसे अधिकतर इतिहासकार समुद्रगुप्त का ही दूसरा नाम मानते हैं। कोटवंश के जिन राजाओ को समुद्रगुप्त ने हराया था उनके सिक्के पूर्वी पजाब और दिल्ली मे मिले है। इससे समुद्रगुप्त के विजयक्षेत्र का पता चलता है। समुद्रगुप्त के अनेक प्रकार के सोने के सिक्को से उसकी अपार शक्ति, साम्राज्य के वैभव और उसके व्यक्तिगत गुणो का अनुमान होता है। उसके सिक्के कलात्मक है इससे उसके राज्यकाल मे कला की उन्नति का भी आभास मिलता है।

रामगुप्त के जो ताँबे के सिक्के एरण और विदिशा मे मिले हैं उनसे उसके राज्य की स्थिति का पता लगता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के चाँदी के सिक्कों से उसके शकों को पराजित करने की तिथि का अनुमान लगाया गया है। उसके सोने के सिक्को से उसके साम्राज्य के वैभव और शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। सम्भवत. जिन सिक्को मे उसे सिंह को मारते हुए दिखाया गया है उनसे उसकी गुजरात विजय की ओर संकेत है।

कुमारगुप्त प्रथम के अनेक सिक्के पश्चिमी भारत मे मिले हैं। उनसे ज्ञात होता है कि यह प्रदेश उसके राज्य मे सम्मिलित था और उसने अश्वमेध यज्ञ किया।

गुप्त सम्राटो के सिक्कों से उनके राज्यकाल की प्रमुख घटनाओं पर भी प्रकाश पडता है जैसे कि कुमारगुप्त प्रथम के सिक्को से हमे ज्ञात होता है कि उसने अश्वमेध यज्ञ किया था। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी सिक्को से हमे गुप्तवंश और लिच्छवियो के वैवाहिक सम्बन्ध का पता चलता है। समुद्रगुप्त के सिक्को से हमे ज्ञात होता है कि उसने महत्त्वपूर्ण सैनिक सफलताएँ प्राप्त की थी। सिक्को की बनावट व शैली से हमें बहुधा उस काल की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति का भी पता लगता है। उदाहरणस्वरूप कुमारगुप्त प्रथम के उत्तराधिकारियों के सिक्कों से साम्राज्य की आर्थिक दशा हीन होने का पता लगता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय तक होने वाले सम्राटों के सोने के सिक्को मे अधिक से अधिक १५% खोट है। नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त के राज्यकाल तक खोट की मात्रा ४६% हो गई और विष्णु गुप्त के समय मे यह मात्रा बढकर ५७% हो गई।

सिक्कों के प्राप्ति स्थानो से किसी राजा के राज्य की सीमा निर्धारित करने मे सहायता मिलती है। सिक्के यदि कहीं थोडी मात्रा मे मिले हो तो बाहर से लाए हुए हो सकते हैं किन्तु उन्ही स्थानो पर बार-बार बडी मात्रा मे सिक्के मिलने से यह निष्कर्ष निकालना कि यह स्थान अमुक सम्राट् के राज्य के अन्तर्गत था, अनुचित न होगा। यदि एक क्षेत्र मे प्रारम्भिक गुप्त राजाओ के सिक्के बडी मात्रा मे मिले हो तो उस क्षेत्र को गुप्त राजाओ का मूल स्थान मानना उचित समझा जाएगा। चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी सिक्के अधिकतर पूर्वी उत्तर प्रदेश मे मिले है। श्रीराम गोयल का यह निष्कर्ष इसी तथ्य पर आधारित है कि गुप्त राजाओ का मूलस्थान पूर्वी उत्तर प्रदेश था।

साहित्य

भारतीय साहित्य

प्राचीन भारत का इतिहास लिखने वाले प्रारम्भिक विद्वानो का गुप्त सम्राटो की उपलब्धियो का वर्णन करने वाला कोई साहित्यिक ग्रन्थ नही मिला। उन्हे अभिलेखों और सिक्कों के आधार पर ही इस वंश का इतिहास लिखना पडा। केवल आर्य-मंजुश्री-मूल-कल्प नामक पुस्तक मे जो लगभग ७०० ई० मे लिखी गई, गुप्त वंश के राजाओ का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। पुराणों मे उनकी उपलब्धियों का वर्णन नहीं मिलता क्योंकि राजाओं की वंशावलियां लिखने की परम्परा गुप्तकाल मे समाप्त हो गई थी। राजाओं के चरित लिखने की परम्परा हर्ष के राज्यकाल मे बाणभट्ट ने प्रारम्भ की। इसलिए किसी लेखक ने इन सम्राटो की सफलताओं का वर्णन 'चरित' लिखकर भी नहीं किया।

पुराणो से गुप्त राजाओ के मूल स्थान पर कुछ प्रकाश पडता है। विशाखदत्त के 'देवीचन्द्र-गुप्त', बाण के 'हर्षचरित' और राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' से रामगुप्त की समस्या पर कुछ प्रकाश पडता है। कालिदास के रघुवंश मे जिसकी रचना सम्भवत. चौथी शती ईसवी के चौथे चरण में हुई सम्भवत. समुद्रगुप्त की दिग्विजय की झलक मिलती है। सोमदेव के 'कथा सरित्सागर' और क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथा-मंजरी' मे भी राजा विक्रमादित्य की कुछ परम्पराओ का उल्लेख है किन्तु यह कहना कठिन है कि उनमे कितने ऐतिहासिक तथ्य हैं और

कितनी कवि की कल्पना। ये दोनो ग्रन्थ ईसा की ग्यारहवी शती मे कश्मीर म लिखे गए थे।

आठवी शताब्दी के एक जैन ग्रन्थ 'कुवलय माला' से तोरमाण की सफलताओं पर कुछ प्रकाश पड़ा है। कल्हण की 'राजतरगिणी' मे भी जिसकी रचना कश्मीर मे बारहवी शती ईसवी के मध्य म हुई थी, तोरमाण और मिहिरकुल का उल्लेख है।

इन साहित्यिक साधनो का उपयोग करने मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि इनके लेखको की इतिहास की सकल्पना वर्तमान इतिहासकारो की सकल्पना से सर्वथा भिन्न थी। वर्तमान इतिहासकार यह भूल जाते है कि 'देवीचन्द्र गुप्त' लिखते समय विशाखदत्त का उद्देश्य रामगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की घटनाओ का ज्यो का त्यो वर्णन करना नही था। सम्भवत वह उससे जनता को राष्ट्र रक्षा के प्रति जागरुक करना चाहता था। इसी प्रकार 'आर्य-मजुश्री-मूलकल्प' के लेखक का उद्देश्य बौद्ध दर्शन के दृष्टिकोण से गुप्त राजवश का तथा बौद्ध-धर्म का इतिहास लिखना और अच्छे तथा दुष्ट राजाओ के भाग्य के उतार-चढाव चित्रित करना था। यदि हम इस ग्रन्थ मे गुप्तकाल की यथार्थ घटनाओ को जानना चाहते है तो हमे पहले लेखक के दृष्टिकोण को भली-भाँति समझना होगा।

अब राजनीतिक इतिहास का अर्थ केवल घटनाओ का उल्लेख मात्र नही समझा जाता। उसमे महापुरुषो की जीवनी मात्र नहीं होती। मुख्य रूप से उसे सामाजिक जीवन के अध्ययन का राजनीतिक पक्ष कहना उचित होगा। इतिहास का मुख्य विषय समाज का अध्ययन है न कि व्यक्ति विशेष का। सामाजिक और राजनीतिक दोनो पक्षो को एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता। यदि हम गुप्तकाल का इतिहास लिखने समय इस दृष्टिकोण को अपनाएँ तो उस काल की घटनाओ पर जो भी ग्रन्थ प्रकाश डाले उन सबका अपना-अपना महत्त्व समझ सकते हैं।

चीनी यात्रियों के वृत्तान्त

फाहियान—यह चीनी यात्री चन्द्रगुप्त के राज्य मे छ वर्ष तक रहा। उसने अपने वर्णन मे राजनीतिक घटनाओ के विषय मे कुछ नही लिखा। उसमे चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाम भी नही है किन्तु उसके वर्णन से चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक दशा पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। उसके वृत्तान्त से मध्यदेश (उत्तर प्रदेश) के निवासियो के जीवन तथा तत्कालीन दण्ड-व्यवस्था का भी कुछ आभास हमे मिलता है किन्तु उसका वर्णन बौद्ध दृष्टिकोण से लिखा गया है अत जहाँ-तहाँ उसमे कुछ भूल अवश्य रह गई है।

सुंगयुन—यह चीनी राजदूत ५२० ई० के लगभग भारत आया था। उसने लिखा है कि उसके भारत पहुँचने से दो पीढी पूर्व हूणो ने गन्धार प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। सम्भवत इन्ही हूणो को स्कन्दगुप्त ने अपने राज्यकाल के प्रारम्भ मे पराजित किया। उसने अपने वर्णन मे गन्धार के हूण राजा की शक्ति और प्रभाव का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है।

युवान च्वांग—यह हर्ष के राज्यकाल मे भारत आया था। वह ६३० ई० से ६४४ ई० तक भारत मे रहा। उसने मिहिरकुल का विस्तृत वर्णन दिया है जिससे विदित होता है कि

१ विशेष के विवरण के लिये अध्याय २ देखिए।

मिहिरकुल ने अनेक बौद्ध भिक्षुओं को मरवाया था। उसने यह भी लिखा है कि बालादित्य ने मिहिरकुल को पराजित किया। बालादित्य मिहिरकुल को मारना चाहता था किन्तु अपनी माता के कहने से उसे छोड दिया। इसके बाद किस प्रकार मिहिरकुल ने कश्मीर पर अधिकार किया इसका भी वर्णन युवान-च्वाग ने किया है। उसने लिखा है कि मिहिरकुल ने समस्त भारत पर अधिकार कर लिया तथा नरसिंहगुप्तबालादित्य को हराकर उसे भी कर देने के लिए विवश किया था।

इत्सिग--यह चीनी यात्री ६७१ ई० से ६९५ ई० के बीच भारत में रहा था। उसने लिखा है कि श्रीगुप्त ने नालन्दा से पूर्व की ओर ४० योजन अर्थात् २४० मील की दूरी पर चीनी भिक्षुओ के लिए एक सघाराम बनवाया था। इससे श्रीगुप्त के राज्य के विस्तार का अनुमान लगाया गया है। उसने यह भी लिखा है कि श्रीगुप्त इत्सिग से ५०० वर्ष पूर्व राज्य करता था। इससे श्रीगुप्त के राज्यकाल का अनुमान लगाया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त चीनी यात्रियो के वर्णन से भी गुप्तकाल की घटनाओ पर कुछ प्रकाश पडता है। परन्तु उनके वर्णनो मे सभी बाते ठीक नही है क्योकि वे भारतीय रीति-रिवाजो से पूर्णतया अनभिज्ञ थे और बहुधा सुनी हुई बातो के आधार पर अपना वर्णन लिख देते थे। उनका सम्पर्क विशेषकर भारतीय बौद्धों से होता था। अत. वे जो कहते थे यात्री उसे ठीक समझ लेते थे। वे यह जानने का कष्ट नही करते थे कि वास्तविकता क्या है। उनके वर्णनो मे इसी कारण अनेक भूले रह गई हैं जैसे कि फाहियान ने लिखा है कि मध्यप्रदेश में कोई माँस नही खाता या इत्सिग ने लिखा है कि महाराज श्रीगुप्त उसके भारत आने से ५०० वर्ष पूर्व राज्य करते थे। अन्य ऐतिहासिक साधनो के आधार पर हम कह सकते है कि ये तथ्य ठीक नही है।

चीनी यात्री इत्सिग ने एक अनुश्रुति के आधार पर लिखा है कि महाराज श्रीगुप्त ने ५०० वर्ष हुए मृगशिखावन मे चीनी यात्रियो के लिए एक मन्दिर बनवाया था और उसके व्यय के लिए ५०० गाँवो की सम्पत्ति दान दी थी। यह स्थान इत्सिग के अनुसार नालन्दा से पूर्व की ओर गगा के किनारे लगभग २५० मील की दूरी पर था। इससे धीरेन्द्र चन्द्र गागुली और रमेशचन्द्र मजूमदार ने अनुमान लगाया है कि श्रीगुप्त का राज्य उत्तर बगाल को वरेन्द्रि भूमि (मुर्शिदाबाद या माल्दा) मे था, किन्तु इस विषय मे विद्वानो में बहुत मतभेद है।

सुधाकर चट्टोपाध्याय का मत है कि गुप्त राजाओं का मूल स्थान मगध और गगा नदी का वह तटवर्ती प्रदेश था जो उत्तर-पश्चिमी बगाल तक फैला हुआ था। श्रीराम गोयल पुरातत्व सम्बन्धी अवशेषो के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि गुप्त राजाओं का मूल स्थान उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग था। उनका कहना है कि प्रारम्भिक गुप्त राजाओ के अभिलेख और मुद्राएं अधिकतर पूर्वी उत्तर प्रदेश म ही मिले है। गुप्त राजाओं के सिक्को के १४ सचय पूर्वी उत्तर प्रदेश म मिले है जबकि बगाल और बिहार दोनो मे प्रत्येक मे केवल दो-दो सचय मिले है। बगाल के सचयो मे अधिकतर समुद्रगुप्त और पिछले अन्य गुप्त राजाओ की मुद्राएँ थी। बिहार के सचयों मे भी अधिकतर चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम की मुद्राएँ है। केवल एक मुद्रा चन्द्रगुप्त प्रथम की है। सम्भवत मगध मे लिच्छवि राज्य करते थे और पूर्वी उत्तर प्रदेश मे प्रयाग के निकट प्रारम्भिक गुप्त राजा। हमने इस अध्याय के प्रारम्भ मे लिखा है कि कुषाण साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के पश्चात् मगध मे मुरुण्ड शासन करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरी शती ईसवी के अन्त मे लिच्छवियो ने शक मुरुण्डो को

पराजित करके मगध मे अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। चन्द्रगुप्त प्रथम ने उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके गुप्त साम्राज्य के उत्कर्ष का श्रीगणेश किया।[1]

प्रारम्भिक गुप्त राजा

श्रीगुप्त (लगभग २४०—२८० ई०)

जैन परम्पराओ से हमे ज्ञात होता है कि गुप्त शासको से पूर्व पाटलिपुत्र मे मुरुण्ड राज्य करते थे। इस तथ्य की पुष्टि चीनी वर्णन से भी होती है। पुराणो के अनुसार गुप्त राजाओ से पूर्व मगध मे विश्वस्फणि या विश्वस्फूर्जि नाम का शासक राज्य करता था। सम्भवत उसका राज्य कन्नौज तक फैला हुआ था।

घटोत्कचगुप्त (२८०—३१६ ई०)

श्रीगुप्त का पुत्र घटोत्कच था जिसे प्रभावती गुप्ता ने गुप्त वश का आदि राजा लिखा है। घटोत्कच के बाद उसका पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम राजा बना।

चन्द्रगुप्त प्रथम (३१६—३३५ ई०)

अभिलेखो और सिक्को से पता लगता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम का विवाह एक लिच्छवि वश की राजकुमारी से हुआ। उसके सिक्को पर एक ओर चन्द्रगुप्त की और दूसरी ओर उसकी पत्नी श्री कुमारदेवी का नाम लिखा है। यह भी बहुत सम्भव है कि इसी विवाह के कारण लिच्छवि राज्य गुप्त राज्य मे सम्मिलित हुआ हो। मुद्राओ मे दूसरी ओर 'लिच्छवय' शब्द की उपस्थिति भी यह सकेत करती है कि चन्द्रगुप्त के राज्य मे लिच्छवियो को बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली स्थान प्राप्त था।

चन्द्रगुप्त का अपने पिता और दादा से अधिक शक्तिशाली होना इससे भी निश्चित है कि गुप्तवश म सबसे पहले उसने महाराजाधिराज का विरुद धारण किया। श्रीगुप्त और घटोत्कच के लिए केवल 'महाराज' शब्द ही प्रयुक्त है। उसके राज्य की ठीक सीमा पूर्णतया निश्चित नही है। किन्तु समुद्रगुप्त के प्रयाग अभिलेख और पुराणो के आधार पर अनुमान किया गया है कि बिहार के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश और बगाल के भी कुछ भाग उसके राज्य मे सम्मिलित थे।

चन्द्रगुप्त के समय की दो घटनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—गुप्त सवत् का प्रवर्तन और समुद्रगुप्त की अपने उत्तराधिकारी के रूप मे नियुक्ति। अलबेरूनी ने लिखा है कि गुप्त सवत् और शक संवत् मे २४१ वर्ष का अन्तर है। इस हिसाब से गुप्त सवत् (७८+२४१) ३१९ ई० मे प्रारम्भ हुआ होगा। यह तिथि चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्यकाल मे पडती है। अनेक अभिलेखो और घटनाओ के आधार पर विद्वानों ने गुप्त सवत् की यही तिथि निश्चित की है। गुप्त राजाओ के अतिरिक्त उनके अधीन राजाओ ने भी गुप्त सवत् का प्रयोग किया। वलभी सवत् भी वास्तव में गुप्त संवत् ही है। चन्द्रगुप्त के जीवन की दूसरी प्रसिद्ध घटना का उल्लेख

१. विशेष विवरण के लिए देखिए :-
Goyal, S. R.—*A History of the Imperial Guptas*, Chapter II, Allahabad, 1967

प्रयाग अभिलेख में है। प्रतीत होता है कि राजा के सभी सभासद राज्य के उत्तराधिकारी के विषय में बहुत चिन्तित थे। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि राजा ने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया तो उन्होंने सुख की साँस ली। किन्तु समुद्रगुप्त सम्भवत चन्द्रगुप्त का सबसे बड़ा पुत्र न था। दूसरे राजकुमारो को भी यह आशा थी कि उन्हे उत्तराधिकारी नियुक्त किया जायगा। इसलिए समुद्रगुप्त की नियुक्ति से उन्हें खेद हुआ। यह भी सम्भव है कि चन्द्रगुप्त ने स्वय समुद्रगुप्त को गद्दी पर बिठाकर राज्य का त्याग किया हो।

समुद्रगुप्त (लगभग ३३५—३७५ ई०)

मथुरा स्तम्भ अभिलेख मे ३७५ ई० चन्द्रगुप्त द्वितीय का प्रथम वर्ष लिखा है, इसलिए वह समुद्रगुप्त के राज्यकाल की अन्तिम तिथि हो सकती है। उसके सिंहासन पर बैठने की तिथि अनिश्चित है। समुद्रगुप्त के राज्यकाल की घटनाओ को जानने का प्रमुख साधन प्रयाग अभिलेख है जो समुद्रगुप्त के प्रसिद्ध मन्त्री हरिषेण की रचना है।

हम ऊपर बतला ही चुके हैं कि किस प्रकार पिता ने उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। कुछ भाइयो ने शायद विद्रोह भी किया हो, किन्तु समुद्रगुप्त ने उन्हे हरा दिया। समुद्रगुप्त के सामने बड़ी कठिन स्थिति थी। चारो ओर अनेक ऐसे राजा और राज्य थे जिन की प्रबलतम इच्छा यही थी कि समस्त उत्तरी भारत उन्ही की सत्ता स्वीकार करे। पश्चिम मे कुषाण और शक अभी विद्यमान थे। ईरानियो ने भी भारत पर आक्रमण करने शुरू कर दिए थे। ऐसी स्थिति मे समुद्रगुप्त के लिए एक ही नीति सम्भव हो सकती थी और हुई। वह नीति यह थी कि अपनी शक्ति को बढ़ाकर वह अपने पड़ोसी राजाओ को हराये और इस प्रकार अपने राज्य को निरापद करे।

आर्यावर्त की प्रथम विजय

समुद्रगुप्त ने इसी विचार से सबसे पहले आर्यावर्त के अपने पड़ौसी राज्यो पर आक्रमण किया। उसने अच्युत, नागसेन, गणपति आदि आर्यावर्त के नौ राजाओ को जड से उखाड़ फेका। सिक्को से पता चलता है कि अच्युत अहिच्छत्र (बरेली के पास रामनगर जिले में) का राजा था। पुराणो से पता चलता है कि नागसेन पद्मावती (ग्वालियर राज्य मे नरवर) का और गणपति सम्भवत मथुरा का स्वामी और नागसघ का मुखिया था। मतिल की एक मुहर उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर जिले मे मिली है। चन्द्रवर्मा सम्भवत. बगाल मे बाकुरा जिले मे राज्य करता था। उसका अभिलेख इस जिले मे सुसुनिया नामक स्थान पर मिला है। शेष चार राजा रुद्रदेव, नागदत्त, नन्दि और बलवर्मा थे। उनके राज्य कहाँ थे यह निश्चय नही है। उसने पुष्पपुर के कोटवशीय राजा को भी हराया। इस प्रकार समुद्रगुप्त का राज्य प्रयाग और साकेत से परे मथुरा और ग्वालियर तक फैल गया[1]।

आटविक राज्यों की विजय

समुद्रगुप्त ने कुछ जंगली राजाओं को जीता। इसमे उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले का आलवक प्रदेश और डभाल से सम्बन्धित जंगली राज्य थे या जबलपुर के समीप का प्रदेश था। एरण अभिलेख से इन प्रदेशो की संभावना दीख पड़ती है। उन्होने समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार किया और अपने सम्राट् की सेवा करने का वचन दिया। बस्ती के परिव्राजक

१. अभिलेख में 'परिचारिकीकृत' शब्द है।

राजा के एक अभिलेख से पता लगता है कि ऐसे आटविक राज्यों की संख्या उस समय अठारह थी ।

दक्षिणापथ की विजय

इसके पश्चात् समुद्रगुप्त ने दक्षिण के सब राजाओं के विरुद्ध अभियान किया। इन राजाओं को हराकर उसने इनके राज्यों को अपने साम्राज्य मे नहीं मिलाया, क्योंकि वह जानता था कि यातायात के अविकसित साधनो के कारण इतने दूर के राज्यो पर स्वय शासन करना सरल नहीं है। इसलिए उनके साथ एक दूसरी नीति का अनुसरण करके उसने अपनी कूट-नीतिज्ञता का परिचय दिया । उसने इन राजाओ के साथ ग्रहण, मोक्ष और अनुग्रह की नीति अपनाई। पहले उसने उन्हे हराकर बन्दी बना लिया, फिर उन्हे छोड दिया और अनुग्रह करके उनका राज्य उन्हे लौटा दिया। इस नीति से उसने इन राजाओ को अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया और उनके राज्यो के शासन का भार अपने कन्धो पर न लिया। इस प्रकार यह नीति कौटिल्य की राज्य हडपने की नीति की अपेक्षा समुद्रगुप्त की दूरदर्शिता को प्रकट करती है ।

हरिषेण ने निम्नलिखित बारह राजाओ के नाम दिये है जिनके साथ समुद्रगुप्त ने उपर्युक्त नीति का अनुसरण किया ।

१ **कोसल का राजा महेन्द्र** कोसल से अभिप्राय दक्षिण कोसल है। इसमे वर्तमान रायपुर और सम्बलपुर जिले और गजम जिले के कुछ भाग सम्मिलित थे । २ **महाकान्तार का राजा व्याघ्रराज** महाकान्तार से मध्य प्रदेश के जगली प्रदेश से मतलब है। ३ **कौराल का राजा मण्टराज** कौराल से अभिप्राय सम्भवत दक्षिण भारत मे कोराड नामक स्थान है। ४ **पिष्टपुर का महेन्द्रगिरि** गोदावरी जिले मे पिठापुरम् पिष्टपुर का आधुनिक नाम है। ५ **कोट्टूर का स्वामिदत्त** कोट्टूर सम्भवत गजम जिले मे महेन्द्रगिरि के निकट कोठूर है । ६ **एरंडपल्ल का दमन**। एरंडपल्ल के विद्वानो ने तीन सम्भव नाम बतलाये है—(क) गजम जिले मे चिकाकोल के निकट एरण्डपल्लि, (ख) विजगापटम् जिले मे येण्डिपल्लि या (ग) ऐलोर तालुके मे एण्डपिल्लि । ७ **कांची का विष्णुगोप** काँची का आधुनिक नाम काजीवरम् है। सम्भवत. विष्णुगोप ने अवमुक्त, वेगी और पलक्क के राजाओ के साथ मिलकर समुद्रगुप्त के विरुद्ध गुट बना रखा था । ८. **अवमुक्त का नीलराज** . नीलपल्लि नामक बन्दरगाह गोदावरी जिले मे है। ९ **वेंगी का हस्तिवर्मा** वह सभवत शालकायन वश का था। १०. **पलक्क का उग्रसेन** पलक्कड नैलोर जिले मे है। ११ **देवराष्ट्र का कुबेर** देवराष्ट्र विजगापट्टम जिले मे था। १२. **कुस्थलपुर का धनजयः** कुस्थलपुर या तो कुशस्थली नदी पर स्थित था या उत्तरी अर्काट जिले मे कुट्टलुर था।

प्रत्यन्त देशों से सम्बन्ध

उसके प्रचण्ड शासन का प्रभाव प्रत्यन्त नृपतियों और गणराज्यो ने भी अनुभव किया । वे समुद्रगुप्त को सन्तुष्ट करके उससे मित्रता करना चाहते थे, इसलिए उन्होने उसके लगाए सब कर देने (सर्वकर-दान), उसकी आज्ञापालन करने (आज्ञाकरण) और प्रणाम करने के लिए स्वय सम्राट् की सभा म उपस्थित होने (प्रणामागमन) का वचन दिया ।

पाँच प्रत्यन्त राज्य, जिन्होने समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार किया, निम्नलिखित थे—

१. **समतट** . (पूर्वी बगाल का समुद्र-तट के निकट का भाग) । २. **डवाक** . (सम्भवत.

आसाम में नवगाँव ज़िला) । ३. कामरूप · (दक्षिणी आसाम में गौहाटी ज़िला) यहाँ के उपरिक राजाओं ने गुप्त राजाओं का आधिपत्य स्वीकार किया । ४. नेपाल · आधुनिक नेपाल राज्य । ५. कर्तृपुर : (जालन्धर ज़िले में कर्तारपुर और उत्तर प्रदेश मे कुमायू, गढ़वाल और रुहेलखण्ड के ज़िले) ।

नौ प्रत्यन्त गणराज्य, जिन्होने समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार किया, निम्नलिखित थे—

१ **मालव** इस समय सभवत· राजस्थान मे थे । २ **अर्जुनायन** : मथुरा के पास इनके सिक्के मिले हैं । ये अलवर राज्य और जयपुर राज्य के पूर्वी भाग मे रहते थे । ३. **यौधेय** : पूर्वी पजाब और उत्तर प्रदेश मे रहते थे । ४ **मद्रक** शाकल (स्यालकोट) के आसपास के रावी और चिनाब नदियो के मध्य के प्रदेश मे रहते थे । ५. **आभीर** आभीरों का मुख्य केन्द्र पश्चिमी राजपूताने मे था। पेरिप्लस के लेखक ने इसे अबिरिया (Abiria) लिखा है । आभीरो के लेख इस प्रदेश के अतिरिक्त महाराष्ट्र मे भी मिले हैं । उनका दूसरा केन्द्र भिलसा और झाँसी के बीच था । इस प्रदेश को अहीरवाडा कहते थे । समुद्रगुप्त ने सम्भवत: इसी दूसरे केन्द्र पर अधिकार किया । ६. **प्रार्जुन** . इनकी स्थिति अनिश्चित है, किन्तु कुछ विद्वान् इन्हे मध्यप्रदेश मे नरसिंहपुर या नरसिंहगढ के पास मानते हैं । ७. **सनकानिक** : सभवत· ये भिलसा के पास रहते थे । भिलसा से एक सनकानिक महाराज का अभिलेख मिला है । ८. **काक** ये शायद साँची के पास रहते थे । साँची के विहार का नाम 'काकनाद-वोट' था । ९ **खरपरिक** भडारकर की मान्यता है कि ये मध्यप्रदेश के दमोह ज़िले मे रहते थे । किन्तु वास्तविक स्थिति अनिश्चित है ।

साम्राज्य-विस्तार की नीति

उपर्युक्त विजयो के वर्णन से यह स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के राजाओ को समूल नष्ट करके उनके राज्यो को अपने राज्य मे मिला लिया । दक्षिणापथ के राजाओ को पहले बन्दी करके आधिपत्य स्वीकार करने पर उनका राज्य लौटा दिया । आटविक राज्यो को अपनी सेवा करने के लिए विवश कर दिया और प्रत्यन्त राज्यों और गणराज्यो शासको ने सम्राट् को कर देने, आज्ञा-पालन करने और स्वय राजदरबार मे उपस्थित होने का वचन दिया । उसने सब राज्यो के साथ एक ही नीति का अनुसरण नही किया इसीलिए वह इतने बडे साम्राज्य का शासन ठीक प्रकार से चला सका ।

विदेशी राज्यों से सम्बन्ध

ऊपर जिन प्रत्यन्त राज्यो और गणराज्यो का वर्णन किया गया है उनसे परे कुछ स्वतन्त्र राज्य थे । इनमे से पाँच राज्यों का समुद्रगुप्त के अभिलेख मे स्पष्ट वर्णन है ।

१. **उत्तर-पश्चिमी भारत** अर्थात् काबुल घाटी और पजाब के कुषाण राज्यो को उसने दैवपुत्र-षाहि-षाहानु-षाहि कहा है । सभव है कि इस समय यहाँ ग्रम्बेटिस राज्य कर रहा हो जिसने अपने ससानी अधिपति शापूर द्वितीय को हाथी भेट के रूप मे भेजे थे ।

२ **शक:** : सम्भवत. ये पश्चिमी भारत के शक थे ।

३. मुरुण्ड : सम्भवत लगमान मे राज्य करते थे ।[१]

४ सिंहल लका के राजा मेघवर्ण ने अपना एक राजदूत समुद्रगुप्त के पास उपहार लेकर भेजा था कि वह बोधगया मे लका के यात्रियो के लिए एक मठ बनवाने की आज्ञा दे दे। उससे उसका समुद्रगुप्त से मैत्री-सम्बन्ध स्पष्ट है ।

५ अन्य सर्व द्वीप इनसे सम्भवत जावा आदि द्वीपो से अभिप्राय है जहाँ ब्राह्मणो और बौद्धो ने भारतीय उपनिवेश स्थापित किये थे ।

इन राजाओ ने सम्राट् को अपनी सेवाएँ अर्पित की (आत्मनिवेदनम्), कन्याओ की भेट दी (कन्योपायनदान), या अपने प्रदेशो का उपभोग करने के लिए उसके अधिकार-पत्रो को, जिन पर गरुड की मुहर लगी थी, (गरुत्मदाक स्वविषय भुक्ति शासन याचन) स्वीकार किया। यह एक आश्चर्य की बात लगती है कि इन स्वतन्त्र राजाओं ने क्यो अपनी सेवाएँ अर्पित की, या क्यो कन्याओ की भेट देने का वचन दिया तथा अपने राज्यो का उपभोग करने के लिए गुप्त सम्राट से अधिकार-पत्र प्राप्त किये । सम्भवत हरिषेण ने इस मे कुछ अतिशयोक्ति की हो। हम इसका यही अर्थ लगा सकते है कि इन राजाओ के साथ भी समुद्रगुप्त के अच्छे सम्बन्ध थे । हमारे पास कोई प्रमाण नही है कि कुषाण, शक या मुरुण्ड राजाओं ने समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार करके किसी प्रकार की सहायता प्राप्त की ।

अश्वमेध यज्ञ

इस प्रकार उत्तरी भारत की राजनीतिक एकता स्थापित करके समुद्रगुप्त ने अश्वमेघ यज्ञ किया । इस बात का उल्लेख हरिषेण की प्रशस्ति मे नहीं है, परन्तु इसकी पुष्टि उन सिक्को से होती है जो उसने उस यज्ञ के पश्चात् चलाये । पूना के अभिलेखो मे उसे अनेकाश्वमेधयाजी कहा है। सम्भवत. उसने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये हो। प्रभावती गुप्ता ने उसे ऐसे अश्वमेध यज्ञ का करने वाला कहा है जो यज्ञ बहुत दिनो से नही किया गया था (चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तु) । समुद्रगुप्त के इन सिक्को पर एक घोडा एक यूप के निकट खडा दिखाया गया है। दूसरी ओर रानी ढीले-ढाले वस्त्र और आभूषण पहने खडी है। इन पर 'अश्वमेध पराक्रम.' ये शब्द भी अकित है ।

साम्राज्य-विस्तार

रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है कि समुद्रगुप्त के राज्य कश्मीर, पश्चिमी पजाब, पश्चिमी राजपूताना, सिन्ध और गुजरात को छोडकर सारा उत्तरी भारत सम्मिलित था। छत्तीसगढ, उडीसा के पहाडी प्रदेश और पूर्वी तट पर दक्षिण मे चिंगलपुट और सम्भवत. कुछ आगे तक का प्रदेश भी उसके राज्य मे शामिल थे। सुधाकर चट्टोपाध्याय का मत सम्भवतः इस विषय मे सत्य के अधिक निकट प्रतीत होता है। वे कहते है कि नि सन्देह ये प्रदेश समुद्रगुप्त के प्रभाववाले क्षेत्रों मे थे, किन्तु उसका निजी शासन सम्भवत उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बगाल और विन्ध्य प्रदेश के कुछ भाग तक सीमित था ।

१. सुधाकर चट्टोपाध्याय के अनुसार वे कश्मीर के निकट रहते थे। देखिए—*Early History of North India* p. 15

सिक्के

समुद्रगुप्त ने कई प्रकार के सिक्के चालू किये। वे उसके चरित्र और जीवन की घटनाओं पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। गरुड अंकित सिक्के नागों के ऊपर उसकी विजय के द्योतक हैं, क्योकि गरुड साँप को निगल जाता है। व्याघ्र और मकरवाहिनी गंगा वाले सिक्के उसकी गंगा की घाटी की विजय को दिखलाते हैं जिसके जगली प्रदेशो में चीते बहुत पाए जाते हैं। चन्द्रगुप्त कुमारदेवी सिक्को पर सिंहवाहिनी दुर्गा दिखाई गई हैं। यह उसके विन्ध्यप्रदेश और हिमालय के प्रदेशो की विजय के सूचक है। अश्वमेध यज्ञ वाले सिक्कों का वर्णन हम ऊपर कर ही चुके है। उसके एक प्रकार के सिक्के पर 'श्री विक्रम' शब्द अंकित हैं। सम्भव है उसने भी विक्रमादित्य का विरुद धारण किया हो।

धर्म

समुद्रगुप्त ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था। इसीलिए उसने कई अश्वमेध यज्ञ किये। उसकी मुहर पर गरुड की आकृति थी। इससे ज्ञात होता है कि वह विष्णु का उपासक था क्योकि गरुड विष्णु का वाहन है। हरिषेण ने भी लिखा है कि उसने हिन्दू समाज के रीति-रिवाजों और नियमो की रक्षा की।

चरित्र

समुद्रगुप्त एक वीर योद्धा और कूटनीतिज्ञ ही नही, एक साहित्य-प्रेमी भी था। हरिषेण ने उसे 'कविराज' कहा है। एक प्रकार के सिक्को पर उसे वीणा बजाते हुए दिखाया गया है। इससे उसका सगीत-प्रेमी होना सिद्ध होता है। प्रयाग-स्तम्भ-अभिलेख मे उसकी तीव्र और कुशाग्र बुद्धि की प्रशसा की गई है। अपने दृढ़ शासन के लिए वह प्रसिद्ध था। विजित प्रदेशो के प्रति उसकी नीति लचीली थी। उसने अपने बाहुबल से अनेक राजाओं पर विजय प्राप्त की। दीनों, अनाथो और पीडितो के प्रति उसकी पूर्ण सहानुभूति थी। अश्वमेध यज्ञो मे उसने बहुत-सा धन दान दिया तथा धर्म को प्रोत्साहित किया। वह विद्वानो का आश्रयदाता था। हरिषेण ने समुद्रगुप्त के गुणो का जो वर्णन अपनी प्रशस्ति मे किया है उसमे कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है। परन्तु इसमे सन्देह नही कि उसमे ये गुण विद्यमान थे।

रामगुप्त

विशाखदत्तकृत 'देवीचन्द्रगुप्तम्', बाणकृत 'हर्षचरित', राजशेखरकृत काव्यमीमांसा' और सजन और कैम्बे के ताम्रपत्र अभिलेखो के आधार पर कुछ विद्वानो का मत है कि समुद्रगुप्त के पश्चात् चन्द्रगुप्त द्वितीय नहीं अपितु रामगुप्त सिंहासन पर बैठा। रामगुप्त की स्त्री का नाम ध्रुवदेवी था। उसका शको के साथ युद्ध हुआ। इस युद्ध मे वह इतनी विकट स्थिति मे पड गया कि अपनी प्रजा की रक्षा के लिए उसने अपनी स्त्री को शका को देने का वचन दे दिया। उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्योकि इसमे गुप्त कुल की प्रतिष्ठा की हानि थी। वह ध्रुवदेवी के वेश मे शक राजा के डेरे मे गया और उसने शक राजा को मार दिया। इस प्रकार उसने साम्राज्य की प्रतिष्ठा की रक्षा की। अन्त मे चन्द्रगुप्त अपने बडे भाई को मारकर सिंहासन पर बैठा और उसने रामगुप्त की विधवा पत्नी ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया।

इस कहानी को बहुत-से विद्वान् काल्पनिक कहते हैं। उनके अनुसार इसमे कोई ऐतिहासिक तथ्य नही है क्योकि वे ग्रन्थ, जिनके आधार पर उपर्युक्त कहानी बनाई गई है, कल्पना के ससार की वस्तुएँ हैं। वे कहते हैं कि यदि वास्तव मे रामगुप्त कोई शासक होता तो उसके सिक्के अवश्य मिलते। दूसरी आपत्ति यह है कि क्या चन्द्रगुप्त-जैसा महान् शासक, जिसे राजर्षि कहा गया है, सामाजिक दृष्टि से हेय यह कार्य करता, क्योंकि उस समय भारतीय समाज मे विधवा से विवाह करना अच्छा नही समझा जाता था। तीसरी आपत्ति यह है कि क्या समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी इतना निर्बल था कि वह शक राजा के विरुद्ध अपनी प्रजा की रक्षा भी करने मे असमर्थ रहा जो उसने अपनी रानी को शत्रु को देने के घृणित कार्य करने की स्वीकृति दे दी।

कुछ विद्वानों का मत है कि रामगुप्त सम्भवत गुप्त वश से सम्बन्धित न था बल्कि वह भिलसा के आस-पास के प्रदेश का कोई स्थानीय राजा था। किन्तु अभी कुछ दिन पूर्व सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारत के इतिहास-विभाग के अध्यक्ष कृष्णदत्त वाजपेयी को एरण और विदिशा मे रामगुप्त के बहुत-से ताँबे के सिक्के मिले हैं। इनमे से कुछ पर शेर की आकृति है और शेष पर गरुड की। गरुड विष्णु का वाहन है और गुप्त राजा परम भागवत थे। अत श्री वाजपेयी का मत है कि ये सिक्के चन्द्रगुप्त द्वितीय के बडे भाई रामगुप्त के ही सिक्के हैं। सम्भवत उसके सोने के सिक्के इसलिए प्राप्य नही हैं कि वह पाटलिपुत्र पर, जहाँ कि सिक्के बनाने का टकसाल था, अपना अधिकार न कर सका हो।

श्रीराम गोयल का यह मत कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद उसका छोटा पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय किसी प्रकार पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठ गया किन्तु मालवा का पूर्वी भाग उसके बडे भाई, जो वास्तव मे राज्य का उत्तराधिकारी था, के अधिकार मे ही रहा, सत्य के अधिक निकट प्रतीत होता है। सम्भव है कि शको के पूर्वी मालवा पर आक्रमण करने पर चन्द्रगुप्त ने स्वय इस अवसर से लाभ उठाने के लिए पूर्वी मालवा पर आक्रमण कर दिया हो और रामगुप्त की मृत्यु इसी युद्ध मे हुई हो। इस घटना के कुछ समय पश्चात् सम्भव है कि रामगुप्त की विधवा रानी ध्रुवदेवी ने स्वय चन्द्रगुप्त से विवाह कर लिया हो। उनके मतानुसार गुप्त वशावली मे रामगुप्त नाम न देने का कारण तो स्पष्ट ही है कि उसने अपनी स्त्री को शको को देने का वचन देकर ऐसा काम किया कि उस वश के इतिहास-लेखको ने ऐसे राजा का नाम वशावली से छोडना ही उचित समझा।[१]

सन् १९६९ के प्रारम्भ मे पत्थर की दो जैन मूर्तियाँ मध्यप्रदेश के विदिशा जिले मे मिली थी। उनकी पीठिकाओं पर उत्कीर्ण लेख से यह ज्ञात होता है कि उनका निर्माण महाराजाधिराज रामगुप्त ने कराया था। ऐसी दशा मे अब रामगुप्त की ऐतिहासिकता मे सन्देह करना उचित नही प्रतीत होता।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

(लगभग ३७५—४१८ ई०)

नाम और परिवार

चन्द्रगुप्त द्वितीय को उसके अभिलेखों मे भिन्न नामो से पुकारा गया है। साँची अभिलेख

१. विशेष विवरण के लिए देखिए:—S R Goyal, *A History of the Imperial Guptas*, pp. 223-234, Allahabad 1967

में उसे देवराज, वाकाटक राजा प्रवरसेन द्वितीय के अभिलेख में देवगुप्त और उसके कुछ सिक्कों पर उसे देवश्री कहा गया है। स्कन्दगुप्त के भितरी-स्तम्भ-अभिलेख में उसकी माता का नाम दत्तदेवी दिया है। उसकी दो रानियाँ थी––ध्रुवदेवी जिसके पुत्र कुमारगुप्त और गोविन्दगुप्त थे और कुबेरनागा जिसकी पुत्री प्रभावती गुप्ता थी, जिसका विवाह वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से हुआ।

मथुरा, भितरी-स्तम्भ और एरण अभिलेखों से हमे ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने अपने जीवन-काल में ही चन्द्रगुप्त को अपने बहुत-से पुत्रो में से सबसे योग्य पुत्र समझकर सिंहासन के लिए चुना था।

सिंहासन पर बैठने के समय साम्राज्य की अवस्था

समुद्रगुप्त ने अपने जीवन-काल मे भारत मे राजनीतिक एकता स्थापित करके शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित कर दी थी, परन्तु पश्चिमी क्षत्रप अब भी शक्तिशाली थे। यदि रामगुप्त की कथा मे कुछ भी सत्यता हो तो ऐसे निर्बल राजा के समय में वे अवश्य ही गुप्त साम्राज्य के लिए बडा सकट बन गए होगे। वे साम्राज्य के आर्थिक विकास में भी विघ्न-रूप थे क्योकि विदेशो से सारा व्यापार पश्चिमी समुद्र-तट से ही होता।

वैवाहिक सम्बन्धों का महत्त्व

इस समय दो राजकुल शक्तिशाली थे। नागवश की राजकुमारी कुबेरनागा से चन्द्रगुप्त के विवाह के कारण यह वश उसके पक्ष मे हो गया था। चन्द्रगुप्त ने अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से करके अपनी शक्ति बढा ली। वाकाटकों की स्थिति ऐसी थी कि उनकी मित्रता गुप्त साम्राज्य के लिए एक वरदान हो सकती थी और उनकी शत्रुता उसके लिए महान् सकट। इस वैवाहिक सम्बन्ध से चन्द्रगुप्त को शक विजय मे बड़ी सुविधा मिली होगी।

शक विजय

चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना पश्चिमी मालवा और सुराष्ट्र के शको की विजय थी। समुद्रगुप्त ने अपने राज्यकाल मे पूर्वी मालवा को जीत लिया था। सम्भवत. रामगुप्त के राज्यकाल मे ही उन्होने पूर्वी मालवा पर आक्रमण किया हो। साम्राज्य के आर्थिक विकास मे तो शक विघ्न रूप थे ही। इसलिए अपने देश से विदेशियो को निकालने, पश्चिमी देशो के व्यापार से लाभ उठाने और साम्राज्य को पूर्ण रूप से सुरक्षित करने के उद्देश्य से ही चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शक विजय की योजना बनाई होगी। पूर्वी मालवा पहुँचकर वहाँ से चन्द्रगुप्त ने शको पर आक्रमण करने की तैयारी की। उदयगिरि दरीगृह अभिलेख में लिखा है कि चन्द्रगुप्त वहाँ स्वय अपने विदेश और युद्ध-मन्त्री वीरसेन शाब के साथ आया। उदयगिरि के अभिलेख से पता लगता है कि उस समय उदयगिरि मे सनकानिक वशीय कोई गुप्त सामन्त उपस्थित था। वाकाटक राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध हो जाने से भी इस विजय में सहायता मिली होगी। सौराष्ट्र और गुजरात की विजय सम्भवत: ३८८ ई० से ४०९ ई० के बीच हुई, क्योकि सन् ३८८ ई० के बाद के शक सिक्के नहीं मिलते और ४०९ ई० के आस-पास का जो चन्द्रगुप्त का सिक्का मिला है उसमें शक सिक्को की भाँति यूनानी लिपि और

तिथि है।

शक विजय के परिणाम

गुप्त-साम्राज्य बगाल की खाडी से अरब सागर तक फैल गया। इस विजय के फलस्वरूप गुप्त साम्राज्य की पश्चिमी देशो से व्यापार के कारण समृद्धि बढी। भारत का यह भाग, जिस पर विदेशी राज्य कर रहे थे, उनसे मुक्त हो गया। पश्चिमी देशो से विचार-विनिमय तीव्रतर गति से होने लगा। उज्जयिनी एक व्यापार का केन्द्र तो था ही, अब धार्मिक और सास्कृतिक कार्यक्रमो मे भी प्रमुख हो गया और साम्राज्य की दूसरी राजधानी बन गया।

अन्य विजय

दिल्ली के पास मेहरौली मे कुतुबमीनार के निकट एक लौह-स्तम्भ है। इस पर 'चन्द्र' नाम के एक राजा की प्रशस्ति खुदी है। उसमे लिखा है कि चन्द्र ने अपने शत्रुओ के सघ को बगाल मे पराजित किया, दक्षिण समुद्र को अपने वीर्यानिल से सुवासित किया तथा सिन्धु के सातो मुखो को पार कर वाह्लीको को परास्त किया। इस प्रकार पृथ्वी पर एकाधिराज्य स्थापित कर उसने दीर्घकाल तक राज्य किया। अधिकतर विद्वानो का अब यही मत है कि यह चन्द्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है। यदि यह बात ठीक हो तो चन्द्रगुप्त ने बगाल पर अपना पूरा अधिकार जमा लिया और उत्तर-पश्चिम के विदेशी राजाओ को भी हराया। परन्तु कुछ विद्वान् अब भी यह बात मानने को तैयार नही है कि यह चन्द्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही था।

चन्द्रगुप्त का शासन प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त एक कुशल योद्धा ही नही एक योग्य शासक भी था। उसकी शासन-पद्धति का वर्णन गुप्त शासन-व्यवस्था के साथ किया जाएगा।[1] फाहियान ने भी चन्द्रगुप्त के शासन की प्रशसा की है।

उसके अभिलेखो से हमे पाँच निम्नलिखित मुख्य अधिकारियो के नाम ज्ञात होते हैं

१ **सनकानिक** : उदयगिरि अभिलेख मे चन्द्रगुप्त के इस सामन्त का उल्लेख है।

२. **आम्रकार्दव** . साँची मे चन्द्रगुप्त का सेनापति था। वह बौद्धधर्म का अनुयायी था।

३. **शाब वीरसेन** विदेश और युद्ध-मन्त्री। वह शैव था।

४. **शिखर स्वामी** मन्त्री और कुमारामात्य था।

५. **महाराज श्री गोविन्द गुप्त** . राजकुमार गोविन्दगुप्त तीरभुक्ति (तिरहुत) का राज्यपाल था।

सिक्के

चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिक्को से ज्ञात होता है कि उसने विक्रम, विक्रमाँक और विक्रमादित्य के विरुद धारण किए। उसने शको को पराजित किया, उज्जयिनी उसके राज्य का भाग थी और कालिदास उसकी राजसभा मे था। सम्भवत, इन सभी कारणो से मध्ययुग मे मालव सवत् को उसके नाम से जोड दिया गया हो। उसने पाँच प्रकार के सिक्के चलाए। धनुष वाले सिक्को पर एक ओर गरुड की और दूसरी ओर लक्ष्मी की आकृति है। सिंहवध वाले सिक्को पर एक

१. देखिए अध्याय १५।

ओर राजा की सिंह को मारते हुए और दूसरी ओर सिंहवाहिनी दुर्गा की आकृति है। इसमें सिंह सम्भवत चन्द्रगुप्त की सौराष्ट्र-विजय का सूचक है। इसके अतिरिक्त उसने सिंहासन, छत्र और घुड़सवार वाले सिक्के भी चलाए। चन्द्रगुप्त द्वितीय के चाँदी के सिक्के शक सिक्को के समान हैं। इनका वर्णन हम शक विजय के प्रसग मे कर चुके हैं।

फाहियान का वर्णन

चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मे फाहियान नामक चीनी यात्री बौद्ध तीर्थों की यात्रा करने और बौद्ध धर्मग्रन्थो का सग्रह करने भारत आया। उसने लिखा है कि शान शान और कारा शहर प्रत्येक मे ४,००० हीनयान बौद्ध रहते थे। खोतान में दस हजार से अधिक महायान बौद्ध रहते थे। काशगर भी हीनयान बौद्धो का केन्द्र था। अफगानिस्तान में ३,००० हीनयान और महायान बौद्ध थे। वह भारत मे ३६६ से ४२४ ई० तक रहा।

भारत की धार्मिक दशा

उसने देखा कि पजाव मे बहुत-से मठ थे, जिनमें लगभग १०,००० भिक्षु रहते थे। मथुरा मे २० मठ थे जिनमे ३,००० भिक्षु रहते थे। उत्तर प्रदेश मे ब्राह्मण धर्म का अधिक प्रचार था। वहाँ के लोग परोपकारी वृत्ति के थे। राजा, अमीर और साधारण लोग सभी मन्दिर बनवाते और जमीन और मकान दान मे देते। कुछ लोग बाग भी दान मे देते, उनमें बैल भी होते जो खेती के लिए काम मे लाए जाते थे। दानपत्र लिखे जाते थे जिनके नियमो का पीछे आने वाले राजा भी पालन करते थे। सब जगह रहने वाले और यात्रा करने वाले भिक्षुओ के लिए कमरो मे बिस्तर, भोजन और कपड़ो की व्यवस्था रहती थी। लोग सारिपुत्त, मोग्गलन, आनन्द, अभिधम्म, विनय और सूत्रपिटक का आदर करने के लिए मठ बनाते और बहुत-से परिवार भिक्षुओ के लिए कपड़े आदि की व्यवस्था करने के लिए धन इकट्ठा करते थे। फाहियान ने लिखा है कि उस समय हिन्दू धर्म मे ९६ शाखाएँ थी। परोपकारी व्यक्ति पुण्य-शालाएँ बनाते थे जिनमे यात्रियो और भिक्षुओ के ठहरने, बिस्तर, खाद्य और पेय की व्यवस्था रहती थी। इनमें सब जातियो और धर्मों के व्यक्तियो के ठहरने का प्रबन्ध था। पाटलिपुत्र मे दो मठ थे। महायान सम्प्रदाय के मठ मे एक प्रसिद्ध ब्राह्मण रेवत रहता था जो बौद्ध धर्म का प्रकाण्ड पण्डित था।

सामाजिक अवस्था

फ़ाहियान ने लिखा है कि उत्तर प्रदेश मे कोई व्यक्ति किसी जीव को नही मारता था। वहाँ के निवासियो मे शराब तो क्या लहसुन और प्याज का भी प्रयोग नही किया जाता था। चाण्डाल शहर के बाहर रहते। इस देश में लोग सूअर और मुर्गियाँ नही रखते थे। न कोई पशु बेचाता था, न कोई कसाई की दुकान थी, न बाजारो मे शराब बनाने की दुकानें। मनुष्य व्यापार मे कौडियो का प्रयोग करते थे। केवल चाण्डाल शिकार करते और मछलियाँ बेचते थे।

उसने लिखा है कि मगध म लोग सम्पन्न है। वे परोपकार करने और अपने पड़ोसियो के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करने में एक-दूसरे से स्पर्धा करते हैं। धनी मनुष्यो ने नगरों मे नि:शुल्क अस्पताल स्थापित किए हैं। इनमे निर्धन और दीन रोगी, अनाथ, विधवा और

लगड़े-लूले आते हैं तथा डॉक्टर उनकी चिकित्सा करते हैं। उन्हें आवश्यकतानुसार भोजन और औषधि दी जाती है और उनके आराम का पूरा ध्यान रखा जाता है। जब वे अच्छे हो जाते हैं अपने घर चले जाते हैं।

फाहियान ने एक रथयात्रा का भी वर्णन लिखा है, जिसमें मनुष्य चार पहियो के पाँच मंजिल वाले रथो म मूर्तियो के जुलूस निकालते थे। इस अवसर पर ब्राह्मण लोग बौद्धो को भी बुलाते थे।

शासन-प्रबन्ध

फ़ाहियान ने लिखा है कि मध्यदेश मे मनुष्यो को अपने नामो की रजिस्ट्री नही करानी पडती है। उन पर कोई प्रतिबन्ध नही है। वे चाहे जहाँ जा सकते और रह सकतेहै। सरकार प्रजा के हित का बहुत ध्यान रखती है। किसानों को अपनी उपज का एक भाग राजा को देना होता है। शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता। अधिकतर अपराधो के लिए केवल जुर्माने किए जाते हैं। राजा के सैनिक अग-रक्षको को नियत वेतन दिया जाता है।

पाटलिपुत्र

अशोक के महल मे कई बडे कमरे थे। फाहियान के अनुसार वह इतना सुन्दर था कि ऐसा लगता था मानो देवताओ ने उसके लिए पत्थर इकट्ठे किए हो, दीवारे और द्वार बनाए हो और उसमे सजावट के लिए खुदाई और पच्चीकारी की हो तथा उसे बनाया हो। ऐसा कार्य कोई मनुष्य नही कर सकता। वह महल उस समय विद्यमान था।

पाटलिपुत्र से नालन्दा और राजगृह होता हुआ फाहियान बोध गया पहुँचा। वहाँ से वह पाटलिपुत्र और बनारस गया। बनारस से पाटलिपुत्र होकर वह चम्पा पहुँचा। वहाँ से वह तामलुक के बन्दरगाह पहुँचा जहाँ वह दो वर्ष रहा। यहाँ से वह व्यापारी जहाज मे बैठकर लका गया। लका मे वह दो वर्ष रहा। वहाँ मे कुछ बौद्ध ग्रन्थो की प्रतियाँ लेकर वह जावा गया। वहाँ ब्राह्मण-धर्म बहुत लोकप्रिय था। बौद्ध-धर्म की दशा अच्छी न थी। इस प्रकार फाहियान ने छ वर्ष यात्रा मे और अध्ययन मे बिताए। वह ४१४ ई० मे चीन वापस पहुँचा।

सांस्कृतिक प्रगति

चन्द्रगुप्त के समय मे जो धार्मिक और सास्कृतिक प्रगति हुई उसका पूरा विवरण हम गुप्तकालीन समाज और सस्कृति मे करेगे।

कुमारगुप्त प्रथम

(लगभग ४१४—४५५ ई०)

चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्तराधिकारी कुमारगुप्त की तीन रानियाँ थी। महादेवी अनन्तदेवी के चार पुत्र थे—स्कन्दगुप्त, पुरुगुप्त, बुधगुप्त और श्री घटोत्कचगुप्त।

साम्राज्य विस्तार

४१५ ई० के बिलसद अभिलेख से पता लगता है कि उस समय कुमारगुप्त ने दिग्विजय प्रारम्भ कर दी थी। ४३६ ई० के कर्मदाण्डा अभिलेख से पता लगता है कि उसका यश चारो

समुद्रों तक फैल गया था। उसके सिक्के पश्चिम मे अहमदाबाद, वलभी, जूनागढ़ और मोरवी तक मे मिले है। इसका यही अर्थ है कि उसके राज्यकाल में गुप्त साम्राज्य का विस्तार कम नही हुआ था। उसके १३९५ चाँदी के सिक्के सतारा जिले मे समन्द मे और १३ सिक्के बरार में एलिचपुर मे मिले है। इस बात से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भव है कुमारगुप्त ने दक्षिणापथ मे कुछ प्रदेश जीते हों। सम्भवत कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल के अन्तिम दिनो मे वाकाटक वश और गुप्त वश के शासको में विरोध की भावना उत्पन्न हो गई। गुप्त राजाओ ने वाकाटक राज्य के कुछ भागों पर अधिकार करना चाहा इसलिए उन्होंने नल वश के शासकों से मित्रता की। उनसे अपने राज्य की रक्षा करने के लिए वाकाटकों ने कुन्तल नरेश से सहायता ली। ४३९ ई० और ४४७ ई० के दो अभिलेखो से पता लगता है कि इस बीच मे साम्राज्य का पतन प्रारम्भ नहीं हुआ था, किन्तु स्कन्दगुप्त के भितरी अभिलेख से पता लगता है कि उस समय कुमारगुप्त के कुछ शत्रुओ, जैसे कि पुष्यमित्रों और हूणों, ने उसके साम्राज्य के लिए सकट उपस्थित कर दिया था। उनसे लडने के लिए कुमारगुप्त ने अपने पुत्र स्कन्दगुप्त को भेजा। यह युद्ध अत्यधिक भयकर था। परन्तु अन्त में उसकी विजय हुई।

सम्भवत पुष्यमित्रो का राज्य नर्मदा नदी के निकट मेकला प्रदेश मे था। सम्भव है हूणो और पुष्यगुप्तो के आक्रमणो के कारण ही गुप्त सम्राट् को दक्षिणापथ की विजय की योजना छोड़नी पडी हो। वाकाटक राजा नरेन्द्रसेन ने इस अवसर से लाभ उठाने के लिए दक्षिण कोसल के नल राजाओ और मालवा के गुप्त राजाओ पर आक्रमण कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि स्कन्दगुप्त की विजय का समाचार कुमारगुप्त प्रथम के पास पहुँचने से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई।

कुमारगुप्त के सोने के सिक्को पर कार्तिकेय की उसके वाहन मोर के साथ आकृति बनी है। उसके सिक्को से पता चला है कि सौराष्ट्र उसके राज्य मे सम्मिलित था। उसके सिक्कों से यह भी पता चला है कि उसने अश्वमेध यज्ञ किया। इससे भी यह अनुमान होता है कि उसने अपने पिता के साम्राज्य को कुछ नए प्रदेश जीतकर बढ़ाया।

शासन-प्रबन्ध

इस समय सम्राट् स्वय परमदैवत, परमभट्टारक या महाराजाधिराज का विरुद धारण करता था। सम्राट् के अधीन बहुत-से सामन्त थे जो नृप, नृपति, पार्थिव या गोप्ता कहलाते थे। प्रान्त को भुक्ति कहते थे। उसके राज्यकाल मे पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बगाल) भुक्ति मे चिरातदत्त, एरणभुक्ति में घटोत्कच-गुप्त, अवध मे पृथ्वीसेन, और दशपुर (मादसोर) मे बन्धुवर्मा शासक थे। प्रान्त के राज्यपाल को उपरिक कहते थे। प्रान्तो को विषयो (जिलो) मे बाँट रखा था। विषय (जिला) के अधिकारी को विषयपति कहते थे। विषय के कार्यालय को विषयाधिकरण कहते थे। जिलो की तहसीलो को वीथी कहते थे। वीथी का अधिकारी आयुक्तक कहलाता था।

कुछ प्रान्तो मे राजकुमारो को राज्यपाल बनाकर भेजा जाता था, जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मे कुमार गोविन्दगुप्त तीरभुक्ति का राज्यपाल था।

जिले मे एक परामर्शदात्री परिषद् होती थी जिसके सदस्य नगरनिगम का अध्यक्ष (नगर-श्रेष्ठी), व्यापारियों की श्रेणियो का प्रतिनिधि (सार्थवाह), शिल्पियों की श्रेणियो का प्रतिनिधि (प्रथमकुलिक) और प्रधान लेखक (प्रथम-कायस्थ) होते थे।

धार्मिक अवस्था

अभिलेखों से पता चलता है कि इस समय लोग विष्णु, शिव, शक्ति, कार्तिकेय, सूर्य, बुद्ध और जिन की पूजा के लिए दान देते। गढवा अभिलेख से पता लगता है कि एक पुण्यशाला के लिए मनुष्यों ने दस, तीन और बारह दीनार दान में दिए।

सम्भवत नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना भी कुमारगुप्त ने ही की।

कुमारगुप्त प्रथम ने नौ प्रकार के सिक्के चलाए। ये थे—१ धनुष्य-बाण वाला, २. तलवार वाला, ३. अश्वमेध, ४ अश्वारोही, ५ सिंह को मारने वाला, ६. व्याघ्र को मारने वाला, ७. मोर, ८ प्रताप, और ९. हाथी पर चढ़े हुए। उसने अनेक प्रकार के चाँदी के सिक्के भी चलाये।

स्कन्दगुप्त

(४५५—४६७ ई०)

कुमारगुप्त के पश्चात् स्कन्दगुप्त [1] सिंहासन पर बैठा। उसका विरुद विक्रमादित्य था।

साम्राज्य का विस्तार और शासन

भितरी (गाजीपुर जिला, उत्तर प्रदेश) स्तम्भ-अभिलेख से हमे पता लगता है कि उसने गुप्तकुल की हीन अवस्था को अपनी विजयों द्वारा ठीक किया। सम्भवत: स्कन्दगुप्त ने इस अभिलेख को अपने राज्यकाल के अन्तिम दिनों में खुदवाया था क्योंकि उसमें उसकी सभी सफलताओं का उल्लेख है। जूनागढ शिला अभिलेख से हमे पता लगता है कि उसने अपने शत्रुओं को दबाया। कहौम स्तम्भ अभिलेख से हमे ज्ञात होता है कि सैकडो नरेशों ने उसके चरणो मे अपना सिर नवाकर उसका आधिपत्य स्वीकार किया। स्कन्दगुप्त का सबसे महान् कार्य श्वेत हूणो को हराकर साम्राज्य की रक्षा करना था। पुष्यमित्र जाति के राजाओं, जो सम्भवत नाग जाति के थे, और म्लेच्छों को भी उसने पराजित किया।

उसका साम्राज्य समस्त उत्तर भारत मे सौराष्ट्र से बंगाल तक फैला हुआ था। वाकाटक राजा नरेन्द्र सेन ने लिखा है कि मालवा-नरेश मेरी आज्ञा का पालन करता है। इससे यह अनुमान होता है कि मालवा गुप्त साम्राज्य से निकल गया। परन्तु मालवा के निकल जाने के पश्चात् भी गुप्त साम्राज्य का विस्तार कम न हुआ। साड की आकृति वाले उसके सिक्कों से कैम्बे के समुद्र तट पर और वेदिका की आकृति वाले सिक्कों से उसका कच्छ पर अधिकार होना स्पष्ट है। स्कन्दगुप्त अपने विस्तृत साम्राज्य का शासन राज्यपालो द्वारा चलाता। सौराष्ट्र मे पहले उसने पर्णदत्त को राज्यपाल नियुक्त किया। फिर शायद उसने सेनापति

१ रमेशचन्द्र मजूमदार और विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिन्हा के अनुसार पुरुगुप्त कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर बैठा, क्योंकि भितरी और नालन्दा की मुहरों में कुमारगुप्त के तुरन्त पीछे पुरुगुप्त के सिंहासन पर बैठने का उल्लेख है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ अभिलेख में लिखा है कि देवी लक्ष्मी ने अनेक राजकुमारों में से स्कन्दगुप्त को स्वयं चुना। इन दोनों बातों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवत पुरुगुप्त और स्कन्दगुप्त में सिंहासन के लिए युद्ध हुआ हो।

भटार्क को वहाँ राज्यपाल नियुक्त किया, जिसने गुप्त शक्ति के ह्रास के पश्चात् मैत्रक कुल का स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। भटार्क की सेना मे चार प्रकार के योद्धा थे—१. मौल (पैतृक), २. भृत (भाड़ैत), ३. मित्र (साथियों के), और ४ श्रेणियो के (सैनिक जातियों के)। शर्वनाग स्कन्दगुप्त का यमुना और नर्मदा के बीच के प्रदेश का और महाराज भीमवर्मा कौशाम्बी के आस पास के प्रदेश का राज्यपाल था। जिलो में कुछ विभागों के अधिकारी—१. आग्रहारिक (भूमि), २ शौल्किक (चुंगी विभाग), ३ गौल्मिक (वन विभाग) कहलाते थे। नगरो के मुख्य अधिकारी 'नगररक्षक' कहलाते थे। स्कन्दगुप्त के समय मे सुदर्शन झील का बाँध टूट गया। स्कन्दगुप्त के राज्यपाल पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने दो महीने मे इसकी मरम्मत कराई।

धार्मिक अवस्था

गिरिनगर में चक्रपालित ने कृष्ण का एक मन्दिर बनवाया। बिहार-स्तम्भ अभिलेख में लिखा है कि वहाँ एक यूप के चारो ओर अनेक देवताओ के मन्दिर बनवाए गये। इनमें स्कन्द और ब्राह्मी, महेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, महेन्द्री, वाराही और चामुण्डा आदि देवियो के भी मन्दिर थे। इंदौर ताम्रपत्र अभिलेख से पता लगता है कि वहाँ दो क्षत्रिय व्यापारियो ने सूर्य का मन्दिर बनवाया। कहौम स्तम्भ अभिलेख मे लिखा है कि जैन तीर्थंकर आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियाँ एक बड़ी चट्टान से खोदकर बनाई गई।

आर्थिक दशा

इंदौर (जिला बुलन्दशहर, उत्तर प्रदेश) ताम्रपत्र अभिलेख मे लिखा है कि इन्द्रपुर म तेलियो की एक सम्पन्न श्रेणी थी। एक ब्राह्मण ने कुछ स्थायी-निधि इस श्रेणी के पास जमा कराई थी जिसके ब्याज से एक मन्दिर मे सदा दीपक जलाया जाता था।

स्कन्दगुप्त ने तीन प्रकार के सोने के सिक्के चलाये—धनुष बाण वाले, राजा, लक्ष्मी और घुडसवार वाले। ये सख्या मे बहुत न थे। इनमे सोने की मात्रा भी कम थी। चाँदी के सिक्को पर एक ओर राजा की आकृति, दूसरी ओर गरुड, बैल या वेदी दिखाई गई है। ये अनेक प्रकार के थे और सख्या मे भी बहुत थे।

पुरुगुप्त[1] (४६७-४६९ ई०)

राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार स्कन्दगुप्त के पश्चात् पुरुगुप्त राजा हुआ। स्कन्दगुप्त के अन्तिम दिनो मे गुप्त साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ हो गई। यह अवनति उसके भाई पुरुगुप्त के राज्यकाल मे चलती रही। यह बात इससे स्पष्ट है कि उसने चाँदी के कोई सिक्के नही चलाये। सम्भवत सुराष्ट्र उसके अधिकार मे नही रहा। उसने सोने के सिक्के

१. विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिन्हा के अनुसार कुमारगुप्त के पुत्र पुरुगुप्त ने स्कन्दगुप्त से पूर्व लगभग १ वर्ष (४५५ ई० से ४५६ ई० तक) राज्य किया, क्योंकि वह कुमारगुप्त की महादेवी अनन्तदेवी का पुत्र और राज्य का अधिकारी था, किन्तु छोटे भाई स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों और श्वेत हूणों को हराकर यश प्राप्त किया था, इसलिए वह प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करके थोड़े दिन बाद स्वयं राजा बन बैठा।

भी बहुत कम चलाये। ये सिक्के केवल धनुष्य-बाण वाले हैं।

पुरुगुप्त ने बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु को अपनी रानी और युवराज बालादित्य का अध्यापक नियुक्त किया।

कुमारगुप्त द्वितीय[1] (४७३—४७६ ई०)

इस कुमारगुप्त का उल्लेख नालन्दा में मिली एक मुहर में है। उसमें महाराज गुप्त को कुमारगुप्त का आदि पूर्वज लिखा है और पुरु गुप्त को उसका पिता कहा गया है।

सारनाथ की बुद्ध की मूर्ति के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि ४७३ ई० में कुमारगुप्त द्वितीय राज्य कर रहा था। यह मूर्ति बहुत सुन्दर बनी है। इसे अभयमित्र यति ने बनाया। कुमारगुप्त द्वितीय के सिक्कों पर उसका विरुद 'क्रमादित्य' अंकित है। उसके सामन्तों में सबसे प्रमुख हस्ती था। वह बहुत धर्मात्मा और शक्तिशाली था। कुमारगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में मादसौर के सूर्य मन्दिर का जीर्णोद्धार किया गया। उसकी राजसभा में वत्सभट्टि नामक कवि था।

बुधगुप्त (४७६—५०० ई०)

बुधगुप्त के राज्यकाल में यति अभयमित्र ने बुद्ध की दो अन्य मूर्तियाँ बनवाईं। ४८२ ई० के दामोदरपुर ताम्रपत्र अभिलेख संख्या २ से ज्ञात होता है कि बुधगुप्त उस समय अपनी शक्ति और यश की पराकाष्ठा पर था। उसके समय में पूर्वी मालवा (एरण के आस-पास के प्रदेश) का शासक मातृविष्णु था और यमुना तथा नर्मदा के बीच के प्रदेश का शासक सामन्त सुरश्मिचन्द था। नागौद राज्य के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस प्रदेश में ४८३ ई० में परिव्राजक महाराज शासन करता था। पुण्ड्रवर्धन भुक्ति में उपरिक महाराज ब्रह्मदत्त और जयदत्त राज्य करते थे। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि बुधगुप्त ने गुप्त साम्राज्य की प्रतिष्ठा फिर से स्थापित की। उसके राज्य में यमुना से नर्मदा तक का सारा प्रदेश पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल), मालवा

[1] **नरसिंहगुप्त बालादित्य प्रथम** (४६७-६८—७३ ई०) ?

श्रीराम गोयल के अनुसार स्कन्दगुप्त के बाद नरसिंहगुप्त बालादित्य प्रथम ने राज्य किया। वह पुरुगुप्त का पुत्र और कुमारगुप्त प्रथम का पोता था। आर्य मंजुश्रीमूलकल्प में जिस बालादित्य का उल्लेख है उसने आत्महत्या कर ली थी और युवान-च्वांग ने जिस नरसिंहगुप्त बालादित्य का वर्णन किया है उसने हूणों पर विजय प्राप्त करके संसार को त्याग दिया। यदि श्रीराम गोयल का उपर्युक्त निष्कर्ष ठीक हो तो हमें मानना पड़ेगा कि नरसिंहगुप्त बालादित्य प्रथम ने ४६७- ४६८ ई० और ४७३ ई० के बीच बहुत थोड़े समय के लिए राज्य किया क्योंकि ४७३ में कुमारगुप्त तृतीय राज्य कर रहा था। श्रीराम गोयल इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'आर्य-मंजुश्री मूलकल्प' का नरसिंहगुप्त बालादित्य और युवान-च्वांग का नरसिंहगुप्त बालादित्य दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे और स्कन्दगुप्त के बाद नरसिंहगुप्त बालादित्य प्रथम ने राज्य किया न कि पुरुगुप्त ने। गोयल का मत है कि नरसिंह गुप्त बालादित्य प्रथम के बाद कुमारगुप्त द्वितीय ने राज्य किया। भितरी और नालन्दा मुहरों के अनुसार पुरुगुप्त के दो पुत्र बुधगुप्त और नरसिंह गुप्त थे किन्तु अभिलेखों में अन्य तीन गुप्त राजाओं का अभिलेख है—

४७३ ई० के सारनाथ का अभिलेख का कुमारगुप्त।

५०७ ई० के गुनयगढ़ अभिलेख का वैन्यगुप्त।

५१० ई० के एरण पाषाण अभिलेख का भानुगुप्त।

और एरण के आस-पास का प्रदेश भी सम्मिलित थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि बुधगुप्त का राज्य मालवा से बगाल तक फैला हुआ था।

बुधगुप्त ने मध्य भारत की शैली के चाँदी के सिक्के चलाये। इन पर उसका नाम अकित है। इनमे से एक पर गुप्त सवत् १७५ अर्थात् ४९४ ई० खुदा है।

वैन्यगुप्त—वह ५०७ ई० मे एक स्वतन्त्र शासक के रूप मे समतट (पूर्वी बगाल) में राज्य कर रहा था। गुनयगढ़ ताम्रपत्र अभिलेख से ज्ञात होता है कि वैन्यगुप्त शिव का पुजारी था। वैन्य ने सोने के सिक्के चलाये और 'महाराज' का विरुद धारण किया। सम्भव है वही चीनी लेखकों का 'तथागतराज' हो।

भानुगुप्त—वह ५१० ई० मे मालवा (एरण) का शासक था। उसका एक सामन्त गोपराज था जो हूणो के विरुद्ध लड़ता हुआ मारा गया और जिसकी पत्नी उसके शव के साथ सती हो गई। इस प्रकार भानुगुप्त के समय मे मालवा हूणो के हाथ मे चला गया। इसके बाद तोरमाण ने मगध तक आक्रमण किया और उसने नरसिंहगुप्त बालादित्य को बगाल में शरण लेने को विवश किया।

नरसिंहगुप्त बालादित्य (५१० ई० के बाद)—अभिलेखो और 'आर्यमजुश्रीमूलकल्प' नामक पुस्तक से ज्ञात होता है कि उसका राज्य विस्तृत था। उसने धनुष-बाण की आकृति वाले बहुत-से सोने के सिक्के चलाये। उसके सिक्को पर उसका विरुद 'बालादित्य' अंकित है। हूणों ने सबसे पहले कुमारगुप्त के राज्यकाल मे गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया था किन्तु स्कन्दगुप्त ने उन्हे रोक दिया। चीनी इतिहास से ज्ञात होता है कि लगभग ५०० ई० तक भारत मे हूणों ने केवल गन्धार और चित्राल प्रदेशो पर अधिकार किया था। तोरमाण के सिक्के पजाब ओर सतलुज और यमुना नदियो के प्रदेश मे मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तोरमाण ने पजाब पर अधिकार करके गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया। बरेली के निकट रामनगर मे हरिगुप्त नाम के एक शासक के सिक्के मिले है। जैन ग्रन्थ 'कुवलयमाला' में लिखा है कि वह तोरमाण का गुरु था। इसका यह अर्थ है कि इस समय हरिगुप्त पचाल प्रदेश मे स्वतन्त्र शासक के रूप मे राज्य कर रहा था और सम्भव है किन्ही कारणो से नरसिंहगुप्त बालादित्य से विरोध होने के कारण उसने तोरमाण को सहायता दी हो। तोरमाण की दो मुहरे कौशाम्बी मे मिली है। इसका यह अर्थ है कि पजाब से बढकर वह कौशाम्बी तक पहुँच गया था। तीन अभिलेखो से भी ज्ञात होता है कि हूणों ने बुधगुप्त के राज्यकाल के पश्चात् फिर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये। नरसिंहगुप्त बालादित्य ने उन्हे हराया किन्तु एरण के एक अभिलेख मे लिखा है कि राजाधिराज महाराज तोरमाण षाहि जऊबल्ल के राज्यकाल के प्रथम वर्ष मे धन्यविष्णु ने वहाँ एक मन्दिर का निर्माण कराया। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ५१० ई० के लगभग तोरमाण ने मालवा पर अधिकार कर लिया और वहाँ के राज्यपाल धन्यविष्णु को तोरमाण का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। परन्तु धन्यविष्णु का धार्मिक उत्साह कम नही हुआ, उसने विष्णु के बाराह अवतार का मन्दिर बनवाया। नरसिंहगुप्त बौद्ध धर्मावलम्बी था। उसने नालन्दा में एक सघाराम बनवाया।

कुमारगुप्त तृतीय—वह नरसिंहगुप्त का पुत्र था। ५४३-४४ ई० के दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख सख्या ५ में कुमारगुप्त को 'परमदैवत परमभट्टारक महाराजाधिराज पृथ्वीपति' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि गुप्त साम्राज्य की सीमा अभी काफी विस्तृत थी। पुण्ड्रवर्धन और अयोध्या अब भी गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित थे।

विष्णुगुप्त : वह कुमारगुप्त तृतीय का पुत्र था। वह इस वंश का अन्तिम सम्राट् था जिसने सम्भवतः लगभग ५५० ई० तक राज्य किया।

हूणों के आक्रमण

हूण लोग पहले चीन के पास के प्रदेश में रहते थे। पीछे इनमें से कुछ वक्षु नदी के आसपास के प्रदेश में आकर रहने लगे। वहाँ से कुछ ईरान चले गये और कुछ भारत आये। उनके प्रारम्भिक आक्रमण कुमारगुप्त के राज्यकाल के अन्तिम दिनों में हुए, परन्तु उनका पूरा मुकाबला स्कन्दगुप्त को करना पड़ा। ४५५ ई० से ४६० ई० के लगभग स्कन्दगुप्त ने उनको हराकर भारत की रक्षा की। हूणों की इस पराजय का बड़ा महत्त्व है। भारत में पराजित होकर हूणों ने अपनी सारी शक्ति पूर्वी यूरोप विजय करने में लगा दी। लगभग ५० वर्ष बाद जब उन्होंने फिर भारत पर आक्रमण किया तब उनकी शक्ति इतनी तीव्र नहीं रह गई थी। तोरमाण और मिहिरकुल के आक्रमण पहले हूण आक्रमणों की अपेक्षा बहुत निर्बल थे।

छठी शताब्दी के प्रारम्भ में हूणों का एक सरदार तोरमाण पंजाब की ओर बढ़ा और उसने पश्चिम भारत के बड़े भाग को जीत लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि तोरमाण ने पंजाब में अपनी स्थिति सुदृढ़ करके गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया। सम्भवतः उसने चिनाब नदी के किनारे पवैया, स्यालकोट, मध्यप्रदेश में एरण और मध्यभारत में मालवा में अपनी सत्ता स्थापित की। फिर उसने मगध, काशी और कौशाम्बी पर आक्रमण किया। धन्यविष्णु ने तोरमाण के राज्य-काल के प्रथम वर्ष में उसका आधिपत्य स्वीकार किया। सम्भवतः यह घटना ५०१ या ५०२ ई० में हुई। ५१० ई० में भानुगुप्त का सामन्त गोपराज हूणों के विरुद्ध लड़ता हुआ मारा गया। सम्भवतः इसी समय हूणों ने एरण पर अधिकार कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि भानुगुप्त ने तोरमाण को रोकने का प्रयत्न किया किन्तु वह असफल रहा। एरण की विजय के बाद ही सम्भवतः तोरमाण ने काशी, कौशाम्बी और मगध पर आक्रमण किया। उपेन्द्र ठाकुर के अनुसार इस समय नरसिंह गुप्त बालादित्य द्वितीय ने मगध से भाग कर बंगाल में शरण ली थी। परन्तु श्रीराम गोयल के अनुसार यह नरसिंहगुप्त बालादित्य प्रथम था। उपेन्द्र ठाकुर का मत है कि उसी नरसिंहगुप्त बालादित्य को तोरमाण ने हराया था और उसी ने उसके पुत्र मिहिरकुल को हराकर उसे बन्दी बनाया था। उनका मत है कि नरसिंहगुप्त बालादित्य एक ही था। सम्भवतः तोरमाण ने स्वयं गुप्त राजकुमारों को अपने अलग-अलग स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया हो जैसे कि वैन्यगुप्त पूर्वी बंगाल में, भानुगुप्त मालवा में और नरसिंहगुप्त बालादित्य मगध में राज्य कर रहा था। जिला सागर में एरण भी उसके राज्य में सम्मिलित था। उसके सिक्के उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पंजाब और कश्मीर में प्रचलित थे। यदि तोरमाण को जैनग्रन्थ 'कुवलय माला' का तोरराय मान लिया जाए तो यह सम्भावना भी हो सकती है कि वह जैन धर्म का अनुयायी था। उसके दो

१ विशेष विवरण के लिए देखिए—
Upendra Thakur—*The Second Phase of the Huna Invasion of India*
Dr Satkari Mookerji—*Felicitation Volume*, pp 181--205, Varanasi, 1969

शिलालेख मिले हैं। एक पश्चिमी पंजाब के 'कुरा' नाम के स्थान से जिसमें उसकी पदवी 'षाहि जऊव्ल' है और दूसरा एरण से जिसमें उसे 'महाराजाधिराज' पदवी से निर्दिष्ट किया गया है। इन दोनों अभिलेखों और सिक्कों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि पंजाब, राजस्थान और मालवा सम्भवतः उसके राज्य में सम्मिलित थे। कुछ विद्वान् 'मंजुश्रीमूलकल्प' के आधार पर बनारस को भी उसके राज्य के अन्तर्गत मानते हैं।

यदि हम 'मंजुश्रीमूलकल्प' के वर्णन को ठीक मानें तो हम कह सकते हैं कि तोरमाण ने अपने शौर्य और दूरदर्शिता से मध्य एशिया से पाटलिपुत्र तक अपने राज्य का विस्तार किया। उसने भारत में जो शासन-व्यवस्था थी उसमें विशेष परिवर्तन नहीं किया। धन्यविष्णु जैसे गुप्त अधिकारियों को उसने अपने वश में कर लिया। इतने थोड़े समय में सारे उत्तर भारत पर अधिकार कर लिया। धार्मिक मामलों में भी असहिष्णुता प्रदर्शित नहीं की। सम्भवतः अपनी कूटनीति के द्वारा उसने गुप्त साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े होने की प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया। उसके आक्रमणों के कारण ही गुप्त साम्राज्य की एकता समाप्त हो गई और ५५० ई० के लगभग वह लुप्तप्राय हो गया।

तोरमाण का पुत्र मिहिरकुल सम्भवतः ५१५ ई० के लगभग सिंहासन पर बैठा। चीनी ग्रन्थों और 'राजतरंगिणी' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह अपने समय का शक्तिशाली राजा था। चीनी यात्री शुंगयुन (Shung-yun) के कथनानुसार गन्धार का राजा अत्यन्त क्रूर स्वभाव का था। वह बुद्ध का पूजन नहीं करता था। सन ५१७ से ५२० ई० तक वह कश्मीर के राजा से लड़ता रहा। मिहिरकुल के पास ७०० हाथी थे। युवान्-च्वांग भी मिहिरकुल के विषय में बहुत लिखता है। उससे प्रतीत होता है कि मिहिरकुल प्रायः सारे उत्तर भारत का सम्राट् हो चुका था और शाकल (स्यालकोट) को उसने अपनी राजधानी बना लिया था। सिकन्दरिया के कॉस्मास (Cosmas) के वर्णन के अनुसार मिहिरकुल २,००० हाथियों और बहुत बड़ी अश्वसेना का स्वामी था। उसने भारतीय लोगों पर अत्याचार किया और उन्हें कर देने के लिए विवश किया। हूणों का निजी प्रदेश उस समय सिन्ध नदी के पश्चिम की ओर माना जाता था। कुछ दिन पूर्व कौशाम्बी से भी मिहिरकुल को एक मुहर मिली है जिससे कौशाम्बी के उसके राज्य के अन्तर्गत होने की सम्भावना हो सकती है। कल्हण के कथनानुसार उसने श्रीनगर में मिहिरेश्वर का मन्दिर बनवाया और गन्धार के ब्राह्मणों को अनेक प्रकार का दान दिया। मिहिरेश्वर सम्भवतः शिव का मन्दिर रहा हो क्योंकि यशोधर्मा के मन्दसौर अभिलेख और मिहिरकुल के ग्वालियर अभिलेख से यही सिद्ध होता है कि मिहिरकुल शिव का उपासक था।

युवान-च्वांग ने लिखा है कि जब मिहिरकुल ने बौद्धों पर अत्याचार किया तो बालादित्य ने उसे कर देना बन्द कर दिया। इस पर मिहिरकुल ने मगध पर आक्रमण किया। बालादित्य ने इस समय अपनी सेना-सहित एक टापू में शरण ली। जब मिहिरकुल उसका पीछा करता हुआ टापू पर पहुँचा तो बालादित्य की सेना के सिपाही छिप गये और उन्होंने सहसा उस पर आक्रमण करके उसे बन्दी बना लिया। बालादित्य की इच्छा मिहिरकुल को मारने की थी, किन्तु अपनी माता के कहने से उसने मिहिरकुल को जीवित छोड़ दिया। मिहिरकुल मालवा के राजा यशोधर्मा से भी हारा, किन्तु यह निश्चित नहीं कि उसकी हार पहले यशोधर्मा से हुई या बालादित्य (नरसिंहगुप्त) से। इस हार के बाद मिहिरकुल कश्मीर चला गया। कश्मीर के राजा ने उसे शरण दी, किन्तु मिहिरकुल ने उसी राजा को गद्दी से उतारकर कश्मीर पर

अधिकार कर लिया। गन्धार को भी उसने वापस जीता।

इस तरह मिहिरकुल की हार से हूणों की शक्ति सर्वथा नष्ट न हुई। अनेक राजवंशों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उन्हें समय-समय पर हूणवंशियों से युद्ध करने पड़े। दसवीं शती के आसपास हूण राजपूतों की एक जाति बन चुके थे और राजपूतों के अभिलेखों में उनके हूणों के साथ विवाह आदि सम्बन्धों का उल्लेख है।

हूणों के आक्रमण से गुप्त साम्राज्य की शक्ति जर्जर हो गई। हूणों के हार जाने पर भी बालादित्य और उसके उत्तराधिकारी फिर सबल न हो सके। ५५० ई० के आसपास गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। हूणों के राजपूतों में सम्मिलित होने का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं।

हूण जाति काफी बर्बर थी। इसलिए उनके आक्रमणों से भारतीय संस्कृति को बहुत धक्का लगा। कई विद्वानों का अनुमान है कि भारतीय संस्कृति के गुप्तकाल के बाद अवरुद्ध होने का एक प्रमुख कारण हूणों के आक्रमण ही थे।

यशोधर्मा

लगभग ५२५—५३५ ई०

हूणों और वाकाटक राजाओं के आक्रमणों के कारण मालवा के आस-पास के प्रदेशों पर गुप्त सम्राटों का पूरा अधिकार न रहा। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर एक स्थानीय शासक जैनेन्द्र यशोधर्मा विक्रमादित्य ने इस प्रदेश में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। यशोधर्मा की विजयों का वर्णन हमें मन्दसौर अभिलेख (५३३ ई०) से ज्ञात होता है। उसमें लिखा है कि उस राजा ने उन देशों को विजय की जिन्हें गुप्तों तक ने न भोगा था और जिनमें हूण राजाओं की आज्ञाएँ भी प्रचलित न थीं। उसका राज्य ब्रह्मपुत्र से पश्चिमी समुद्र तक और हिमालय से महेन्द्रगिरि तक फैला हुआ था। प्रसिद्ध हूण राजा मिहिरकुल ने उसके चरणों का मस्तक से स्पर्श कर उसका आधिपत्य स्वीकार किया। मन्दसौर के ५३३ ई० के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने अपने शत्रुओं की सेना को पराजित करके सारे वीरों के यश को नीचा दिखाया। इन अभिलेखों से स्पष्ट है कि मिहिरकुल की शक्ति इसी यशोधर्मा ने नष्ट की।

गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण

हम पहले कह आये हैं कि कुमारगुप्त प्रथम के समय में पुष्यमित्रों और हूणों से गुप्त साम्राज्य को बड़ा संकट पैदा हो गया। स्कन्दगुप्त ने उन्हें हराकर साम्राज्य की रक्षा की। भितरी अभिलेख में यह स्पष्ट उल्लेख है कि स्कन्दगुप्त इस युद्ध के पश्चात् सिंहासनारूढ़ हुआ। लगभग पचास वर्ष बाद फिर हूणों ने भारत पर आक्रमण किया और भारत के अनेक भागों पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार हूणों के आक्रमण गुप्त साम्राज्य को शक्तिहीन बनाने में सहायक हुए।

गुप्त साम्राज्य के पतन का दूसरा प्रमुख कारण योद्धाओं और सामन्तों की महत्त्वाकांक्षा थी। स्कन्दगुप्त के समय में सुराष्ट्र का गोप्ता पर्णदत्त था। उसके पश्चात् मैत्रक वंश के सरदार भटार्क ने वलभी में अपनी राजधानी बनाकर इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया। उसने और

उसके पुत्र धरसेन प्रथम ने अपने को सेनापति ही कहा, जिसका अर्थ यह है कि वे कम-से-कम नाम के लिए गुप्त राजाओं का आधिपत्य मानते रहे। परन्तु भटार्क के दूसरे पुत्र द्रोणसिंह ने 'महाराज' की उपाधि धारण कर मानो अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। मन्दसौर में ५३३ ई० के लगभग यशोधर्मा ने हूणों को हराकर स्तम्भों पर अपनी प्रशस्ति खुदवाई। यह स्पष्ट रूप से गुप्त-सत्ता की अवहेलना थी। उत्तर प्रदेश और मगध में ५५० ई० के लगभग मौखरि और परवर्ती गुप्त राजाओं ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। ये प्रदेश पहले गुप्त साम्राज्य के अधीन थे। बंगाल में भी इसी तरह अनेक स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। प्रान्तीय गवर्नर और सामन्त जब स्वतन्त्र हो गये तो गुप्त साम्राज्य का पतन बड़ी शीघ्रता से होने लगा।

गुप्त साम्राज्य के पतन का तीसरा कारण गुप्त राजाओं के वंश में आपसी फूट भी थी। कुछ विद्वानों के अनुसार कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् राजकुमारों में सिंहासन के लिए झगड़ा हुआ। यदि यह बात ठीक नहीं है तो भी यह निश्चय ही है कि पिछले गुप्त राजकुमारों में विशेष मेल नहीं था। सम्भव है कुछ असन्तुष्ट राजकुमारों ने हूणों की भी सहायता की हो। साम्राज्य के एक भाग में एक राजकुमार स्वतन्त्र शासक था तो दूसरे भाग में कोई दूसरा। भानुगुप्त मालवा का शासक था तो सम्भवतः उसी समय वैन्यगुप्त पूर्वी बंगाल का।

गुप्त साम्राज्य के पतन का अन्तिम कारण सम्भवतः गुप्त वंश के अन्तिम राजाओं की बौद्ध धर्म के प्रति अभिरुचि थी। बुधगुप्त, तथागतगुप्त और बालादित्य बौद्ध सिद्धान्तों में आस्था रखते थे। कहते हैं कि बालादित्य मिहिरकुल के आक्रमण का विरोध न कर अपने जघन्य शरीर को दलदल में छिपाने के लिए उद्यत हुआ था। इस प्रकार की भीरुता सम्भवतः उसके बौद्ध विचारों की ही प्रतिक्रिया हो। बालादित्य की माता की मिहिरकुल के प्रति दया भी इस बात की द्योतक है।

इस प्रकार इन सब कारणों से उस महान् गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ जिसकी स्थापना समुद्रगुप्त ने अपनी विजयों से की और चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में जो संस्कृति के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी	**प्राचीन भारत**, अध्याय १० अनुवादक—बुद्ध प्रकाश
राजबली पाण्डेय	**प्राचीन भारत**, अध्याय १५
H. C Raychaudhuri	*Political History of Ancient India*, Part II, Chapters 10, 11 & 12
R. C. Majumdar & A. S Altekar	*The Vakataka-Gupta Age*, Chapters 6, 7, 8, 9, 10 & 11
S. Chattopadhyaya	*Early History of North India*, Chapters 6 & 7.
R. C. Majumdar & A. D. Pusalkar	*The Classical Age*, Chapters 1, 2, 3, 4, 5 & 6
S. R. Goyal	*A History of the Imperial Guptas*.

अध्याय १४

गुप्तकाल में दक्षिण भारत के राज्य

(States of South India in the Gupta Age)

वाकाटक (२५०—५०० ई०)

सातवाहनों के पतन के पश्चात् दक्षिण भारत के शासकों में सबसे शक्तिशाली वाकाटक राजा थे। इस वंश का संस्थापक विन्ध्यशक्ति नामक ब्राह्मण था। सम्भवतः उसने तीसरी शती ई० में मालवा के आसपास अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेख अधिकतर मध्य प्रदेश और बरार में मिले हैं।

प्रवरसेन—विन्ध्यशक्ति के पुत्र प्रवरसेन प्रथम ने सम्राट् की उपाधि धारण की और अनेक अश्वमेध और वाजपेय आदि यज्ञ किये। अपने पुत्र गौतमीपुत्र का विवाह नागवंशीय राजा भवनाग की पुत्री से करके उसने अपनी शक्ति बढ़ा ली। उसके समय में वाकाटक राज्य की सीमा बुन्देलखण्ड से हैदराबाद राज्य तक थी। सम्भवतः प्रवरसेन ने लगभग २८० ई० से ३४० ई० तक राज्य किया। प्रवरसेन के पश्चात् उसके चार पुत्रों ने राज्य किया। गौतमीपुत्र की राजधानी नागपुर जिले में थी और उसके भाई सर्वसेन की अकोला जिले में वत्सगुल्म। इस प्रकार सम्भवतः प्रवरसेन के राज्य के दो भाग हो गए—एक मुख्य शाखा जिसकी राजधानी नागपुर जिले में थी और दूसरी वह शाखा जिसकी राजधानी वत्सगुल्म थी।

प्रवरसेन के बड़े पुत्र गौतमीपुत्र की मृत्यु सम्भवतः उसके पिता के जीवन-काल में ही हो गई। उसका पुत्र **रुद्रसेन प्रथम** (३४०—३६५ ई०) शैव था। अपनी शक्ति बढ़ाने में सम्भवतः उसे अपने मामा के भारशिव परिवार से पर्याप्त सहायता मिली। रुद्रसेन प्रथम का पुत्र **पृथ्वीषेण प्रथम** (३६५—३९० ई०) भी शैव था। वह बहुत धर्मात्मा था। उसके समय के दो अभिलेख बुन्देलखण्ड के आसपास मिले हैं।

महाराज रुद्रसेन द्वितीय—पृथ्वीषेण प्रथम का पुत्र था। उसका विवाह चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता से हुआ। रुद्रसेन ने सम्भवतः अपनी धर्मपत्नी के प्रभाव के कारण वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया। सम्भवतः गुप्त सम्राटों को शकों के विरुद्ध लड़ने में वाकाटक राजाओं से बहुत सहायता मिली हो। रुद्रसेन ने केवल ५ वर्ष राज्य किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रभावती गुप्ता ने अपने पुत्रों का अभिभावकत्व किया।

प्रवरसेन द्वितीय (४१०—४४५ ई०)—प्रवरसेन द्वितीय ने 'सेतुबन्ध काव्य' नामक एक ग्रन्थ की रचना की। कहते हैं कि इस ग्रन्थ का संशोधन कालिदास ने किया। उसने प्रवरपुर नामक एक नई राजधानी बनाई। उसके पुत्र नरेन्द्रसेन का विवाह अजित भट्टारिका नामक एक कदम्ब कुल की राजकुमारी से हुआ। प्रवरसेन शान्तिप्रिय नरेश था।

नरेन्द्रसेन (४४५—४६५ ई०)—नरेन्द्रसेन के राज्यकाल में बस्तर के नल राजा भवदत्त वर्मा ने उसके राज्य पर आक्रमण किया और कुछ समय के लिए पुरानी राजधानी नन्दिवर्धन पर भी अधिकार कर लिया। अन्त में उसने नल राजा को हरा दिया। इस समय गुप्त राजा

हूणो के विरुद्ध लड़ने मे व्यस्त थे। कुछ विद्वानो का मत है कि इस अवसर से लाभ उठाकर नरेन्द्रसेन ने मालवा के कुछ प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। कुछ समय के लिए मेकल और कोसल पर भी उसका अधिकार हो गया।

पृथ्वीषेण द्वितीय नरेन्द्रसेन का पुत्र था। सम्भवत: नलवंशीय और दक्षिण गुजरात के त्रैकूटक राजा उसके शत्रु थे। उनको हराकर उसने अपने राज्य की रक्षा की।

उसकी मृत्यु के पश्चात् इस शाखा के राज्य पर भी वत्सगुल्म शाखा के राजा हरिषेण ने अधिकार कर लिया।

वत्सगुल्म शाखा

हम ऊपर कह आए है कि प्रवरसेन प्रथम के पुत्र सर्वसेन ने वत्सगुल्म (बासिम) को राजधानी बनाकर अलग राज्य की नीव डाली। उसने 'हरिविजय' नामक एक प्राकृत काव्य लिखा। उसने कुछ प्रसिद्ध गाथाओं की भी रचना की जो 'गाथा सप्तशती' मे सम्मिलित हैं।

विन्ध्यसेन या विन्ध्यशक्ति द्वितीय सर्वसेन का पुत्र था। उसके राज्य मे बरार, उत्तरी हैदराबाद और नगर, नासिक, पूना और सतरा के जिले सम्मिलित थे।

इस शाखा का तीसरा **राजा प्रवरसेन द्वितीय** था। उसने लगभग १५ वर्ष राज्य किया। चौथे राजा का नाम ज्ञात नहीं है। उसने लगभग ४० वर्ष राज्य किया। इस शाखा का पाँचवाँ राजा **देवसेन** था। वह भोग-विलासी राजा था। उसका मन्त्री हस्तिभोज योग्य और लोकप्रिय था।

हरिषेण (४८०—५१५ ई०) इस शाखा का सबसे शक्तिशाली राजा था। उसने मुख्य शाखा के सारे राज्य पर अधिकार कर लिया। उसका राज्य उत्तर मे मालवा और दक्षिण मे कुन्तल (दक्षिणी मराठा प्रदेश), पूर्व में बगाल की खाडी और पश्चिम मे अरब सागर तक फैला हुआ था। दक्षिण मे उस समय इतना शक्तिशाली कोई अन्य राजा न था। उसका लोकप्रिय मन्त्री वराहदेव था। वह पाँचवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे राज्य करता था। हरिषेण की पुत्री का विवाह विष्णु-कुण्डी राजा महादेव वर्मा प्रथम से हुआ था।

५१५-५५० ई० के बीच वाकाटक शक्ति का पतन हो गया। सोमवंशियो ने कोसल (छत्तीसगढ) पर, कदम्बो ने दक्षिण महाराष्ट्र पर, कुलचुरियो ने उत्तरी महाराष्ट्र पर और यशोधर्मा ने मालवा पर अधिकार कर लिया। ५५० ई० के लगभग वातापी (बादामी) के चालुक्य राजाओ ने वाकाटक शक्ति को पूर्णतया समाप्त कर दिया।

वाकाटक राजाओ ने ईसा की चौथी और पाँचवी शताब्दी मे दक्षिण भारत के सांस्कृतिक विकास मे बहुत योग दिया, जिसका वर्णन हम गुप्त संस्कृति के साथ करेंगे।

दक्षिणपथ और सुदूर दक्षिण के कुछ अन्य राज्य

सातवाहन साम्राज्य की समाप्ति पर दक्षिण भारत मे अनेक छोटे राज्य स्थापित हो गए। उत्तर-पश्चिम मे आभीरो का राज्य था। उनके दक्षिण में चूटुकुल के राजा राज्य करते थे। आन्ध्र देश मे इक्ष्वाकु वंश का राज्य था और दक्षिण-पूर्व मे पल्लवो ने अपना राज्य स्थापित किया। इस प्रकार दक्षिणापथ की एकता समाप्त हो गई।

आभीर

यह एक विदेशी जाति थी। पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपों के राज्यकाल में आभीर शासक शकों के सेनापति थे। इस वंश का संस्थापक सम्भवत ईश्वरसेन था। उसने २४९-५० ई० में एक संवत् चलाया जो पीछे से कलचुरि या चेदि संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आभीर नरेश दक्षिण भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में राज्य करते थे। उनके राज्य में उत्तरी कोंकण और दक्षिणी गुजरात के प्रदेश सम्मिलित थे।

चूटुकुल

ये महाराष्ट्र और कुन्तल में राज्य करते थे। उनके सिक्के मैसूर के उत्तरी कनाडा और चीतलद्रुग जिलों में और कुछ अभिलेख कन्हेरी, बनवासी और मलवल्ली में मिले हैं। पल्लवों ने उन्हें हराकर उनके राज्य पर अधिकार कर लिया। कुछ विद्वान् उन्हें सातवाहनों की एक शाखा मानते हैं और कुछ उन्हें नागवंशीय समझते हैं।

इक्ष्वाकु

इक्ष्वाकु पहले सातवाहनों के सामन्त थे और महातलवर कहलाते थे। वे कृष्णा नदी और गुण्टूर के बीच के प्रदेश पर शासन करते थे। इस वंश के संस्थापक **वासिष्ठीपुत्र श्री शान्तमूल** ने कई वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ किये। उसके पुत्र **वीरपुरिसदात** ने उज्जयिनी के क्षत्रप कुल की राजकुमारी से विवाह किया। वीरपुरिसदात ने अपनी पुत्री का विवाह एक चूटुकुल वंशीय राजकुमार से किया। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। नागार्जुनीकोण्ड का बड़ा स्तूप और अनेक विहार और मण्डप उसके राज्य-काल में बनवाए गए। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा **एहुवल शान्तमूल** भी बौद्ध था। उसके राज्यकाल में देवी विहार बनकर पूरा हुआ और एक स्तूप और दो बौद्ध मन्दिर बने। उसके समय में आन्ध्र और लंका में बौद्ध धर्म में पर्याप्त सम्पर्क रहा। इक्ष्वाकु राजाओं ने सातवाहन शासन-प्रणाली को चालू रखा। परन्तु कुछ परिवर्तन हो गये जैसे राजा महाराजा कहलाने लगे और आहारों को राष्ट्र कहने लगे

इक्ष्वाकुओं के पश्चात् जयवर्मा नामक बृहत्फलायन राजा ने इस प्रदेश पर राज्य किया।

पल्लव

यह सम्भवत उत्तर भारत से आकर दक्षिण के पूर्वी भाग में तोण्डैमण्डल में जाकर बसे। इनका गोत्र भारद्वाज था। ये पल्लव राजा पहले सातवाहन राजाओं को अपना अधिपति मानते थे, फिर स्वतन्त्र हो गए। सबसे पहला स्वतन्त्र राजा **सिंहवर्मा** था। उसका एक शिलालेख गुण्टूर जिले के पलनाद तालुके में मिला है। यह प्राकृत में है और इसके अक्षर इक्ष्वाकुओं के अभिलेखों से मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि वह इक्ष्वाकुओं का समकालीन था।

स्कन्दवर्मा—स्कन्दवर्मा पहले युवराज हुआ फिर धर्म-महाधिराज। उसने अग्निष्टोम, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ किए। उसने कांची को अपनी राजधानी बनाया। उसका राज्य उत्तर में कृष्णा नदी से, दक्षिण में पेन्नर नदी और बेलारी जिले तक और पश्चिम में अरब सागर

तक फैला हुआ था। उसने तीसरी शताब्दी ई० के अन्तिम चरण मे राज्य किया। उसके पुत्र **बुद्धवर्मा** ने अपने पिता के राज्यकाल मे शासन-प्रबन्ध में प्रमुख भाग लिया।

इस वश का एक प्रसिद्ध राजा **विष्णुगोप** था। उसने अपने सामन्त पालक्क उग्रसेन की सहायता से समुद्रगुप्त का, जब वह अपनी दक्षिण विजय पर गया था, विरोध किया। परन्तु समुद्रगुप्त ने उसे हरा दिया। इन सब राजाओ के अभिलेख प्राकृत मे हैं। ३५० ई० के पश्चात् जो पल्लव राजा हुए उनके अभिलेख सस्कृत मे है।

शालंकायन

वे बृहत्फलायनो और पल्लवो को हराकर शक्तिशाली हो गए। इस वश का सबसे पहला स्वतन्त्र शासक **देववर्मा** था। उसका विरुद भट्टारक था। उसने अश्वमेध यज्ञ किया और ब्राह्मणो को आश्रय दिया। **हस्तिवर्मा** इस वश का एक प्रसिद्ध राजा था। उसकी राजधानी वेगी थी। उसने समुद्रगुप्त के विरुद्ध युद्ध किया। इस वश के राजा लगभग ४३० ई० तक राज्य करते रहे।

माठर, गग और विष्णुकुण्डी वंश

माठर वश के सात राजाओ ने ३७५ ई० से ५०० ई० तक कलिग में राज्य किया। इसके पश्चात् कलिग के उत्तरी भाग मे पूर्वी गग वश ने और दक्षिणी भाग मे विष्णुकुण्डी राजाओ ने राज्य किया।

माधववर्मा प्रथम (४७०-४९० ई०)--विष्णुकुण्डी वश का सस्थापक था। उसने जनश्रुति के अनुसार ११ अश्वमेध और असख्य अग्निष्टोम यज्ञ किए। उसकी रानी वाकाटक वश की राजकुमारी थी। उसके पोते **इन्द्रभट्टारक** (५१०--५४० ई०) ने अपने चचेरे भाई माधववर्मा द्वितीय को हराकर अपने अधीन कर लिया, किन्तु उसे त्रिकूट और मलय प्रदेश मे शासन करने दिया। पूर्वी गगराजा इन्द्रवर्मा को हराकर उसने अपने राज्य की सीमा बढाई। इस वश का सबसे प्रसिद्ध राजा **माधववर्मा द्वितीय** (५५६--६१६ ई०) था। गोदावरी को पार करके कलिग के कुछ भाग पर भी उसने अधिकार कर लिया और 'जनाश्रय' का विरुद धारण किया।

कदम्ब

जब समुद्रगुप्त के आक्रमण के पश्चात् पल्लव शक्ति क्षीण हो गई तो चौथी शताब्दी ई० के मध्य मे दक्षिण भारत के दक्षिण-पश्चिमी भाग में कदम्बो की शक्ति का उदय हुआ। वे ब्राह्मण जाति के थे और उनका गोत्र मानव्य था। **मयूर-शर्मा** ने इस वश की स्थापना की। एक पल्लव घुडसवार ने कांची मे उसका अपमान किया था, इसलिए उसने ब्राह्मणो के कार्य छोडकर क्षत्रियो का कर्त्तव्य अपनाया। पल्लवों के सामन्तो से उसने कर वसूल किया। उसकी बढ़ती हुई शक्ति को देखकर पल्लवो ने उससे सन्धि कर ली और बनवासी के आसपास का कुछ प्रदेश उसे दे दिया। उसने बनवासी को अपनी राजधानी बनाया। उसके पुत्र **कंग-वर्मा** ने वाकाटक राजा विन्ध्यशक्ति द्वितीय से युद्ध किया। किन्तु उससे हारकर अपने राज्य का कुछ भाग उसे देना पड़ा। कदम्ब कुल के राजा **ककुस्थ-वर्मा** ने गुप्त, वाकाटक और पश्चिमी गग राजाओ से अपनी पुत्रियो का विवाह कर अपनी शक्ति बढाई।

कुकुस्थवर्मा के पुत्र शान्तिवर्मा (४५०—४७५ ई०) को पल्लवों के आक्रमण का भय था। उसने पल्लवों से अपने राज्य की रक्षा करने के लिए अपने छोटे भाई **कृष्णवर्मा प्रथम** को अपने राज्य का दक्षिणी भाग दे दिया। इस प्रकार कदम्ब राज्य के दो भाग हो गए। एक भाग पर **शान्तिवर्मा** और उसके पुत्र **मृगेश्वर वर्मा** ने और दूसरे पर **कृष्णवर्मा** और उसके पुत्र **विष्णुवर्मा** ने राज्य किया। कृष्णवर्मा पल्लवों के विरुद्ध लड़ते हुए मारा गया। उसके पुत्र विष्णुवर्मा को पल्लवों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। शान्तिवर्मा के पुत्र मृगेश्वर वर्मा ने पल्लवों और गंग राजाओं के विरुद्ध सफलतापूर्वक युद्ध किया। वह एक विद्वान् था और अश्वविद्या और हस्तिविद्या में बहुत निपुण था। उसने अपने पिता की स्मृति में पालाशिका में एक जैन मन्दिर बनवाया।

मृगेश्वर वर्मा के पुत्र **रविवर्मा** ने एक युद्ध में विष्णुगुप्त को मारकर और पल्लव राजा चण्ड को खदेड़कर फिर कदम्ब राज्य की एकता स्थापित की। उसका पुत्र **हरिवर्मा** जो ५३८ ई० में सिंहासन पर बैठा, शान्तिप्रिय व्यक्ति था, किन्तु उसे वातापी के चालुक्य राजा पुलकेशी से युद्ध करना पड़ा। पुलकेशी प्रथम के पुत्र कीर्तिवर्मा प्रथम ने कदम्ब शक्ति का प्राय नष्ट कर दिया। इस प्रकार कदम्ब राजाओं को पहले अपनी शक्ति पल्लवों से लड़ने में लगानी पड़ी, फिर चालुक्यों ने उनकी शक्ति का अन्त कर दिया।

पश्चिमी गंग

पश्चिमी गंग राजाओं का राज्य कदम्बों और पल्लवों के राज्य के बीच में था। कदम्ब उनके पश्चिम में और पल्लव उनके पूर्व में थे। उनका राज्य मैसूर राज्य के दक्षिणी भाग में था और गंगवाड़ी कहलाता था। इस वंश के संस्थापक **कोगणि-वर्मा** (४०० ई०) का गोत्र काण्वायण था। उसकी राजधानी कोलर थी। उसका पुत्र महाराजाधिराज **माधव प्रथम** (४२५ ई०) राजनीति का पण्डित था। एक किंवदन्ती के अनुसार उसने शृंगार के एक काव्य 'दत्तकसूत्र' की रचना की। माधव का पुत्र **आर्यवर्मा** (४५० ई०) एक महान् योद्धा और विद्वान् था। आर्य वर्मा और उसके भाई कृष्णवर्मा में राज्य के लिए झगड़ा था। पल्लव राजा सिंहवर्मा प्रथम ने दोनों भाइयों में आधा-आधा राज्य बाँट दिया। आर्य-वर्मा के पुत्र माधव द्वितीय की रानी कदम्ब राजा कृष्णवर्मा की बहन थी। माधव द्वितीय का पुत्र अविनीत ५५० ई० तक राज्य करता रहा।

तामिल प्रदेश

अशोक के अभिलेखों में चोल, पाण्ड्य, केरल और ताम्रपर्णि का उल्लेख है। **संगम-युग** (ईसा की पहली और दूसरी शती) में तामिल प्रदेश में साहित्य, कला और विज्ञान की **बहुत** प्रगति हुई, किन्तु गुप्त काल वास्तव में इस प्रदेश के लिए अन्धकार का युग है। कलभ्र **नाम की जाति** ने सब राजाओं को मारकर सांस्कृतिक विकास की इतिश्री कर दी। कलभ्र **जाति** का राजा अच्युत-विक्रान्त चोल प्रदेश में राज्य करता था और बौद्ध धर्म का **पोषक था**। उसने चेर, चोल और पाण्ड्य के राजाओं को बन्दी बना लिया। छठी शताब्दी के मध्य में पाण्ड्यों और पल्लवों ने मिलकर कलभ्र राजाओं के शासन का अन्त कर दिया।

सहायक ग्रन्थ

राजबली पाण्डेय	प्राचीन भारत, अध्याय २१
राधाकुमुद मुकर्जी	प्राचीन भारत, अध्याय १३ अनुवादक—बुद्ध प्रकाश
K. A Nilakanta Sastri	*A History of South India*, Second Edition, Chapter VI.
K. A. Nilakanta Sastri	*History of India*, Part I—*Ancient India*
R C. Majumdar and A. S Altekar	*The Vakataka-Gupta Age*. Chaps. 4, 5 and 12.

अध्याय १५

गुप्तकालीन समाज व संस्कृति

(Society and Culture in the Gupta Age)

शासन-प्रबन्ध

चौथी शताब्दी ईसवी के प्रारम्भ में उत्तर भारत में अनेक गणराज्य थे। मध्य पंजाब में मद्र, कांगड़ा की घाटी में कुणिन्द, दक्षिण-पूर्वी पंजाब में यौधेय, आगरा-जयपुर क्षेत्र में अर्जुनायन और मध्य राजपूताना में मालव लोगों के गणराज्य थे। इनकी केन्द्रीय धारा-सभा में क्षत्रियों के सरदार भाग लेते थे। केन्द्रीय कार्यकारिणी का चुनाव केन्द्रीय धारा-सभा के सदस्य करते। पाँचवीं शताब्दी के अन्त तक ये सब गणराज्य समाप्त हो गये। इसका कारण गुप्त साम्राज्य का प्रसार नहीं, अपितु गणराज्यों में इस भावना का उदय था कि चुने हुए अधिकारी की अपेक्षा पैतृक अधिकारी के हाथ में राज्यों की सुरक्षा और उन्नति अधिक हो सकती है। कुमारदेवी लिच्छिवि गणराज्य की उत्तराधिकारिणी थी, किन्तु गुप्त राजाओं से विवाह होने के पश्चात् लिच्छिवियों का राज्य मगध साम्राज्य का भाग हो गया। मालव गणराज्य के नेता पहले चुने जाते थे, किन्तु पीछे से यह पद पैतृक हो गया। वे अपने को महाराज कहने लगे। इसी प्रकार यौधेय और सनकानिक गणराज्यों के नेताओं ने भी अपने को महाराज और महासेनापति कहना प्रारम्भ कर दिया और उन राज्यों का शासन भी राजतन्त्रात्मक हो गया।

केन्द्रीय शासन

राजतन्त्र राज्यों में राजा का दैवी सिद्धान्त बहुत लोकप्रिय हो गया। यह इस बात से स्पष्ट है कि गुप्त सम्राटों ने 'महाराजाधिराज' और 'परमभट्टारक' जैसे बड़े-बड़े विरुद्ध धारण किए। समुद्रगुप्त को उसके राजकवि हरिषेण ने देवता कहा है। किन्तु भारत में राजा को कभी भी देवता नहीं समझा गया। जो राजा जिद्दी, अधार्मिक, दुराचारी या अत्याचारी होते उन्हें सिंहासन से उतार दिया जाता। राजा लोक-कल्याण के लिए परिश्रम करते और संयम से काम लेते। युवराजा के उचित प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया जाता। उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण प्रशासन के कार्य भी सौंपे जाते। अन्य राजकुमारों को राज्यपाल नियुक्त किया जाता था जैसा कि कुमारगुप्त प्रथम ने अपने छोटे भाई गोविन्द गुप्त को मालवा का राज्यपाल नियुक्त किया था। स्त्रियाँ भी अपने पुत्रों की अभिभाविकाओं के रूप में या अपने पति के साथ शासन करतीं। कुमारदेवी ने चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ शासन किया। वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय की रानी प्रभावती गुप्ता ने अपने पति की मृत्यु के पश्चात् अपने पुत्रों की अभिभाविका के रूप में शासन किया।

राजा शासन का केन्द्रबिन्दु था। मन्त्रियों और बड़े-से-बड़े अधिकारियों की नियुक्ति वह स्वयं करता और जब चाहे वह उनका कार्यकाल समाप्त कर सकता था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह मनमानी कर सकता था। उसे अपने मन्त्रियों और उच्च पदाधिकारियों

की सम्मति से काम करना पड़ता । इसके अतिरिक्त उसे ऋषियों द्वारा निर्धारित नियमों का भी पालन करना पड़ता । पंचायतों और श्रेणियों को पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे । अपने को लोकप्रिय रखने के लिए भी उसे उचित न्याय करना पड़ता था । राजा की मौखिक आज्ञाएँ उसके सचिव लिखते और उन्हें ठीक रूप से लिपिबद्ध कर उचित अधिकारियों के पास भेजते थे।

मन्त्रियों के चुनाव में उनकी सैनिक योग्यता का भी ध्यान रखा जाता था । हरिषेण समुद्रगुप्त का सान्धि-विग्रहिक था, किन्तु साथ ही महादण्डनायक । प्रतिहार और महाप्रतिहार राजसभा के मुख्य अधिकारी थे । विदेश मन्त्री को महासान्धिविग्रहिक कहा जाता था । उसके अधीन बहुत-से सान्धि-विग्रहिक होते । पुलिस के अधिकारी दण्डपाशिक कहलाते । मुख्य दण्डपाशिक की पदवी शायद महादण्डपाशिक रही हो । साधारण कार्य मन्त्री स्वयं करते, किन्तु महत्त्वपूर्ण विषयों पर सम्भवतः मन्त्रिपरिषद् में विचार किया जाता और राजा इसका प्रधान होता ।

सेना के पैदल, अश्वारोही और हाथी तीन विभाग थे । अधिकतर योद्धा कवच पहनते और तीर-तलवार और फरसों से लड़ते थे । सेना विभाग के अनेक अधिकारियों के नाम अभिलेखों से ज्ञात हैं । इनमें महादण्डपाशिक का पद काफी ऊँचा था, किन्तु यह बात बहुत सम्भव है कि साम्राज्य में एक से अधिक महादण्डनायक हों, सेना के अन्य अधिकारी सम्भवतः बलाधिकृत, रणभाण्डाधिकृत, भटाश्वपति आदि रहे हों जिनका उल्लेख वैशाली की मुहरों में है।

कर-विभाग के अधिकारी भूमि का नकद और अन्न आदि के रूप में कर वसूल करते तथा जंगलों और खानों का भी प्रबन्ध करते थे ।

यह धन सैनिक अभियानों, सरकारी कर्मचारियों के वेतन, महलों की सज्जा सामग्री और संस्थाओं और योग्य व्यक्तियों को आर्थिक सहायता देने में व्यय किया जाता था । कभी-कभी वेतन की जगह जागीरें भी दे दी जाती थीं । परन्तु यह प्रथा इस काल में बहुत कम थी । फाहियान के अनुसार राजा के अंगरक्षकों को निश्चित वेतन दिया जाता था ।

नारद व बृहस्पति की स्मृतियों से ज्ञात होता है कि इस काल में न्याय-व्यवस्था पहले से अधिक विकसित थी । लिखित और मौखिक दोनों प्रकार का साक्ष्य लिया जाता था । न्याय-विभाग में मुख्य न्यायाधीश होते थे ।

मुख्य न्यायाधीश की सहायता के लिए नगरों में अनेक न्यायाधीश होते थे जैसा कि नालन्दा और वैशाली में मिली मुहरों से स्पष्ट है । फौजदारी के मुकदमों में तुरन्त दण्ड दिया जाता था किन्तु सजाएँ सख्त न थीं । साधारणतया प्राणदण्ड या अंग-भंग की सजा नहीं दी जाती थी, जुर्माने ही किये जाते थे । पुरोहित धर्मशास्त्र के अनुसार नैतिक मामलों में राजा को परामर्श देता था । धर्म विभाग के कुछ विशिष्ट अधिकारियों को शायद विनय-स्थिति-स्थापक कहते थे ।

मुख्य अधिकारी, आजकल के इण्डियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस के सदस्यों की भांति किसी भी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य पर लगाये जाते, सम्भवतः 'कुमारामात्य' कहलाते । वे कभी जिलाधीश के पद पर कार्य करते और कभी केन्द्र में सचिव के रूप में ।

प्रान्तीय शासन

गुप्त साम्राज्य में प्रान्तों को 'देश' या 'भुक्ति' कहा जाता । सौराष्ट्र, मालवा और अन्तर्वेदी (यमुना और नर्मदा के बीच का प्रदेश) के प्रान्तों का स्पष्ट उल्लेख है । इन प्रान्तों के प्रतिनिधि शासकों की नियुक्ति स्वयं सम्राट् करते । वे अपने प्रान्त की शत्रुओं से रक्षा,

आन्तरिक सुव्यवस्था और शान्ति का प्रबन्ध करते। वे लोक-कल्याण के निर्माण-कार्य भी करते, जैसे कि स्कन्दगुप्त के समय मे सुदर्शन झील की मरम्मत।

गुप्त शासन मे सामन्तो का भी विशिष्ट स्थान था। इन सामन्तो को उनकी शक्ति के अनुसार अधिकार प्राप्त थे। समुद्रगुप्त के राज्यकाल मे सीमान्त प्रदेशो के राजा सम्राट् को कर देते, उसकी आज्ञा का पालन करते और राजसभा मे उपस्थित होते थे। किन्तु परिव्राजक महाराजाओ ने अपने अधिकारपत्रो मे समकालीन गुप्त सम्राट् के नाम का भी उल्लेख नही किया है केवल यह लिखा है कि जब गुप्त सम्राट् अधिपति थे। कुछ अन्य सामन्तो ने तो गुप्त राजाओ के आधिपत्य का भी उल्लेख नही किया है।

जब गुप्त साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई तो ये सामन्त पूर्णतया स्वतन्त्र हो गए— जैसे कि वलभी के मैत्रक शासक भटार्क और उसके पुत्र धरसेन प्रथम ने अपने को गुप्त सम्राटो का सेनापति कहा था किन्तु भटार्क के दूसरे पुत्र द्रोणसिह ने अपने को 'महाराज' कहकर अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। इसी प्रकार मन्दसौर मे यशोधर्मा, उत्तर प्रदेश मे मौखरि, मगध मे परवर्ती गुप्त जो पहले गुप्त सम्राटो के अधीन थे, स्वतन्त्र हो गए। गुप्त सम्राटो के समय मे महाराज मातृविष्णु यमुना और नर्मदा के बीच के प्रदेश का शासक था। उसके भाई धन्यविष्णु को तोरमाण ने एरण का राज्यपाल नियुक्त किया था। इसका अर्थ यह है कि हूणो ने भी बहुधा गुप्त-शासन-व्यवस्था को पूर्ववत् चलने दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यपालो को अपने अधीन अधिकारियो को नियुक्त करने की पूरी छूट थी जैसे कि विष्णुवर्धन पश्चिमी मालवा मे राजा था। उसके अधीन अभयदत्त प्रतिनिधि शासक था उसने जिलो मे स्वय अपने सचिव नियुक्त किए थे।

स्थानीय शासन

भुक्तियो को विषयो या जिलो मे बाँटा जाता। प्रत्येक भुक्ति मे दो या तीन जिले या विषय होते। जैसे कि मगध भुक्ति मे गया और पटना के जिले सम्मिलित थे। भुक्ति के अध्यक्ष को उपरिक कहते थे और कभी-कभी ये अध्यक्ष 'उपरिक महाराज' कहलाते थे।

जिलो या विषयो के अध्यक्ष 'विषयपति' कहलाते। जिलो के अन्य अधिकारी युक्त, नियुक्त, व्यापृत, अधिकृत, शौल्किक, गौल्मिक आदि थे। विषयपति के कार्यालय मे सब आवश्यक कागजो के रखने की उचित व्यवस्था थी। इनका अधिकारी 'पुस्तपाल' कहलाता। उनमे सब प्रकार की भूमि के नाम व आँकडे लिखे होते।

जिला परिषद् जिले के अधिकारियो को परामर्श देती। प्रधान साहूकार (प्रथम श्रेष्ठी) प्रधान व्यापारी (प्रथम सार्थवाह), प्रधान शिल्पी, प्रधान कायस्थ भी इसके सदस्य होते थे।

गाँवो में मुखिया को 'ग्रामेयक' या 'ग्रामाध्यक्ष' कहते थे। उसके अधीन एक लेखक होता जो गाँव के सब आँकडे रखता था। नालन्दा मे कई जनपदो की मुहरे मिली है। जो पत्र बाहर के व्यक्तियों को भेजे जाते उन पर जनपदो की मुहर लगी होती थी। सम्भवत गाँव की परिषदें गाँव की सुरक्षा का प्रबन्ध करती, गाँवो के झगडो का फैसला करती, गाँव मे लोक-कल्याण के कार्य करतीं और सरकारी कर वसूल कर खजाने मे जमा करती थी।

गुप्त शासन केन्द्र और प्रान्तो दोनो मे सुव्यवस्थित था। शान्ति और सुव्यवस्था रखने के साथ-साथ इन सम्राटो ने अपने राज्य के साधनो का पूर्ण उपयोग करके जन साधारण की आर्थिक दशा सुधारने का भी पूर्ण प्रयत्न किया। निर्धनो और रोगियो की राज्य की ओर से

मुफ्त भोजन और औषधि दी जाती थी। राज्य प्रजा के लौकिक सुख का ही ध्यान नही रखता था, उसके नैतिक उत्थान के लिए उसने विशेष अधिकारी नियुक्त कर रखे थे जो 'विनय स्थिति स्थापक' कहलाते थे। शासन सत्ता का गुप्त शासन-व्यवस्था मे विकेन्द्रीकरण किया गया था। उसमे अनेक स्वत शासी जनजातीय राज्य थे और अनेक करद सामन्त थे। ये सामन्त बहुधा सम्राट् की ओर से प्रतिनिधि शासक नियुक्त किए जाते थे। राज्य प्रधानत ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर आधारित था। राज्य मे स्थानीय विभिन्नताओ का आदर किया जाता था। हिन्दू, बौद्ध और जैन सभी धार्मिक संस्थाओ को राज्य की ओर से आर्थिक सहायता दी जाती थी। जिले और गाँव की संस्थाओ को शासन सम्बन्धी बहुत अधिकार प्राप्त थे। ये संस्थाएं स्थानीय साधनो के विकास और शान्ति तथा सुव्यवस्था सम्बन्धी सभी कार्यों को पूरा करती थी।

गुप्त राजाओ ने उत्तर भारत को एक सूत्र मे बाँधकर राजनीतिक एकता स्थापित की। साम्राज्य मे सुव्यवस्था और शान्ति स्थापित होने से देशी और विदेशी व्यापार बढा। मनुष्यो को अपनी कलात्मक प्रवृत्तियो का विकास करने का अवसर मिला।

दक्षिण भारत मे सातवाहन राजाओ के उत्तराधिकारियो ने उनका शासन-प्रबन्ध थोड़ी-बहुत हेर-फेर करके चालू रखा। गग राजाओ के राज्य में '**विषय**', '**राष्ट्र**' और '**भोग**' प्रशासकीय इकाइयाँ थी। सैनिक और पुलिस का प्रबन्ध अच्छा था। नमक और खाँड बनाने का एकाधिकार सरकार को था। जो जमीन दान मे ब्राह्मणो को दी जाती उस पर कर नही लिया जाता था।

सामाजिक दशा

गुप्त सम्राट् हिन्दू धर्म के समर्थक थे। अत इस काल मे ब्राह्मणो ने पूरे भारतीय समाज को चार वर्गों मे बाँटने का प्रयत्न किया। इस काल मे पूर्व ही अनेक विदेशी जैसे यूनानी, पह्लव, शक और कुषाण भारतीय समाज का अभिन्न भाग बन चुके थे। वे अधिकतर प्रशासन मे प्रमुख भाग लेते थे अत उन्हे क्षत्रिय वर्ण मे स्थान दिया गया।

गुप्तकाल मे विवाह साधारणतया अपनी जाति मे ही होते, परन्तु अन्तर्जातीय विवाह भी प्रचलित थे। **वाकाटक** राजा रुद्रसेन ब्राह्मण था, उसने गुप्त-कुलोत्पन्न प्रभावती गुप्ता से विवाह किया। **कदम्ब** राजा भी ब्राह्मण थे। उन्होने भी गुप्त-वंशीय कुमारियो से विवाह किया। विदेशियों से भी वैवाहिक सम्बन्ध होते। **इक्ष्वाकु** राजा ब्राह्मण थे, उनमे से एक राजा ने उज्जयिनी की एक शक राजकुमारी से विवाह किया। याज्ञवल्क्य ने एक शूद्रा स्त्री के पुत्र को भी पैतृक सम्पत्ति मे भाग दिया है। इसका अर्थ है कि ब्राह्मणो और शूद्रो के भी विवाह होते थे।

खान-पान मे द्विजो मे कोई छुआछूत न थी। केवल शूद्रो का भोजन ग्राह्य न था। किन्तु अपने किसान, नाई, ग्वालिये आदि का भोजन खाने पर प्रतिबन्ध न था।

व्यवसायो में कोई प्रतिबन्ध न था। बहुत-से ब्राह्मण, व्यापारी, सरकारी नौकर व राजा थे। गुप्त राजा शायद वैश्य थे। क्षत्रिय भी व्यापार करते थे। किसानो, व्यापारियो, पशु-पालको, सुनारों, लुहारो, बढ़इयों, तेलियो, जुलाहो और मालियो ने अपनी-अपनी जातियाँ अलग-अलग बना ली थी। उन्हें इस बात का ज्ञान भी न था कि वे सब वैश्य थे।

इस काल की स्मृतियो मे कई संकर जातियों का भी उल्लेख है, जैसे ब्राह्मण पति और वैश्य पत्नी की सन्तान 'अम्बष्ठ' और वैश्य पति और शूद्र पत्नी की सन्तान 'करण' कहलाती।

ब्राह्मणो और क्षत्रियो मे आपस मे अच्छे सम्बन्ध थे। क्षत्रियो को द्विजो के सब अधिकार

प्राप्त थे। उनका उपनयन भी होता। वैश्यों की व्यवसायों के अनुसार श्रेणियाँ थीं। वे नगर परिषदों में प्रतिष्ठित और उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किए जाते थे। लेखकों के लिए कायस्थ शब्द प्रयुक्त है। परन्तु अभी उनकी अलग जाति नहीं बनी थी। शूद्र व्यापारी शिल्पी और किसान हो सकते थे। उनमें से बहुत-से सेना में भर्ती होते। अछूत शहरों के बाहर बस्तियों में रहते। जब वे शहर में घूमते तो एक लकड़ी बजाते जिसमें कोई उनसे छू न जाए।

नारद स्मृति से ज्ञात होता है कि जो व्यक्ति युद्ध में बन्दी हो जाते, जो ऋणी व्यक्ति अपना ऋण नहीं दे सकते, और जो जुआरी अपनी शर्त के अनुसार भुगतान नहीं कर सकते, उन्हें दास के रूप में काम करना पड़ता था।

परिवार में पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति में बराबर हिस्सा मिलता। विधवा को आजीविका-मात्र मिलती। कन्याओं के विवाह १२ या १३ वर्ष की अवस्था में हो जाते। उनका उपनयन संस्कार नहीं होता। कुछ स्मृतियों के अनुसार विधवा विवाह की आज्ञा थी। जो विधवा स्त्रियाँ विवाह नहीं करती उन्हें सादा जीवन बिताना पड़ता। सती का रिवाज बहुत कम था।

स्त्रियों को वेदमन्त्रों के उच्चारण का अधिकार न था किन्तु वे सम्पत्ति की स्वामिनी हो सकती थीं। सम्भवतः पर्दे का रिवाज भी न था।

बहुत सी वेश्याओं का उनके सौन्दर्य, बुद्धिमत्ता और अन्य गुणों के कारण समाज में बहुत आदर किया जाता था। कुछ कन्याओं को देवदासियों के रूप में मन्दिरों में भी रखा जाता था जैसे कि कालिदास ने लिखा है कि उज्जयिनी में महाकाल के मन्दिर में देवदासियाँ रहती थीं।

खाद्य और पेय

बौद्धों में मांस खाने का रिवाज न था। हिन्दुओं को श्राद्धों के समय और बीमारी में माँस खाने की आज्ञा थी। बृहस्पति स्मृति में लिखा है कि जिन स्त्रियों के पति विदेश गए हों उन्हें मांस-मदिरा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि अन्य परिवारों में माँस-मदिरा खाने पर प्रतिबन्ध न था। दक्षिण भारत में राजघरानों में माँसाहार बहुत लोकप्रिय था। भक्ति सम्प्रदाय और महायान सम्प्रदाय के माँसाहार के विरुद्ध प्रचार के फलस्वरूप बौद्धों और ब्राह्मणों में माँस का प्रयोग कम होता था। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' से ज्ञात होता है कि क्षत्रियों में मदिरा का प्रयोग बहुत होता था। दक्षिण भारत के राजघरानों में बढ़िया मदिरा विदेशों से मँगाकर काम में लाई जाती। ब्राह्मण साधारणतया शराब नहीं पीते। पान खाने का रिवाज बहुत था।

वेश-भूषा

जन साधारण की पोशाक चादर और धोती थी। शकों ने कोट, ओवरकोट और पाजामों का रिवाज प्रारम्भ किया। भारतीय राजाओं ने भी यह पोशाक अपनानी प्रारम्भ कर दी। सिर की पोशाक पर्वों के समय पहनी जाती। सब लोग जूते नहीं पहनते थे। स्त्रियाँ पेटीकोट के ऊपर साड़ी पहनती। छाती को ढकने के लिए आंगी पहनी जाती। शक-स्त्रियाँ जाकिट पहनती। माथे पर टीका, कर्णफूल, मोती की मालाएँ, केयूर, चूड़ी, अँगूठी और मेखलाएँ पहनी जाती।

जुआ, शतरंज, गेंद आदि के खेल लोकप्रिय थे। मेलों और नाटकों के अभिनय आदि से भी मनोरंजन होता था।

समाज में स्पष्ट रूप से इस काल मे दो वर्ग थे जिनके रहन-सहन में बहुत अन्तर था। धनी वर्ग चौमंजिले और पच-मंजिले मकानो में रहते थे। ग्रीष्म ऋतु मे वे धारागृहो मे रहते थे जिनके चारो ओर फव्वारे चलते रहते थे किन्तु जनसाधारण मिट्टी के कच्चे मकानो में रहते थे। भारतीय शासक और राजसभासद शको की भाँति कोट, पाजामे व ओवरकोट पहनने लगे थे किन्तु साधारण व्यक्ति एक धोती और एक चादर का ही प्रयोग करते थे। भोजन मे भी धनी वर्ग मे विशेष रूप से क्षत्रियो मे माँस और मदिरा का प्रयोग खूब होता था। कामसूत्र में जो नागरक का वर्णन दिया है उससे स्पष्ट है कि नगर के धनी नवयुवक हर प्रकार के भोग-विलास की सामग्री का उपभोग करते थे। शृगार साधन के लिए इस काल मे अनेक प्रकार के उबटन व लेपो आदि का प्रयोग किया जाता था। किन्तु साधारण व्यक्तियो को ये सब सुविधाएँ प्राप्त न थी।

आर्थिक दशा

गुप्तकाल मे सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था होने के कारण उद्योग, व्यापार और कृषि सभी आर्थिक क्षेत्रो मे आशातीत उन्नति हुई। धातुकला का इस काल मे बहुत विकास हुआ। मेहरौली की लोहे की कीली से स्पष्ट है कि लोहे की कला कितनी उन्नत थी। यह कीली लगभग ७ मीटर ऊँची है और इसका व्यास लगभग ४२ सेंटीमीटर है और इसका भार लगभग पाँच मन है। लगभग डेढ हजार वर्ष बीतने पर भी इस पर जग नही लगी है। सोने से आभूषण बनाए जाते थे। ताँबा और पीतल बर्तन बनाने मे काम मे लाए जाते थे। मणियाँ, मोती, मूगा आदि भी आभूषण बनाने मे काम मे लाए जाते थे। साँभर और सेंधा दोनो प्रकार का नमक काम मे आता था। इस काल में पक्की मिट्टी के बहुत सुन्दर खिलौने भी बनाए गए। पत्थर के स्तम्भो से स्पष्ट है कि सगतराशी की कला का भी इस काल मे बहुत विकास हुआ। लकडी और हाथीदाँत की भी बहुत सी सुन्दर वस्तुएँ बनाई जाती थी।

वस्त्र उद्योग का भी इस काल मे बहुत विकास हुआ। रेशमी, ऊनी और सूती तीनो प्रकार के कपडे बनाये जाते थे। रगने और कशीदाकारी का बहुत रिवाज था।

साधारणतया नए शिल्पी चतुर शिल्पियों के पास रहकर काम सीखते थे। इन चतुर शिल्पियो और काम सीखने वालो के पारस्परिक व्यवहार के विषय मे विस्तृत नियम इस काल की स्मृतियो मे दिए हैं।

इस समय मे मौर्यकाल की भाँति उद्योगो के विकास मे राज्य का प्रमुख भाग नही था। व्यापारी और शिल्पी स्वय ही उद्योगो के पूर्ण विकास के लिए पूर्ण प्रयत्न करते थे। समाज में भी शिल्पियो का बहुत आदर था।

श्रेणियाँ—गुप्तकाल मे व्यापारियो और साहूकारो की श्रेणियो के अतिरिक्त जुलाहो, तेलियो और सगतराशो की भी श्रेणियाँ थी। इन श्रेणियो की इतनी साख थी कि बहुत-से व्यक्ति उनके पास कुछ रुपया स्थायी कोष (अक्षयनीवी) के रूप मे जमा करते। इनका ब्याज दानी की इच्छानुसार बहुत-से परोपकार के कार्यों पर व्यय किया जाता। प्रत्येक श्रेणी का कार्य उसका 'प्रमुख' और चार या पाँच व्यक्तियो की कार्यकारिणी चलाती। वैशाली (बसाढ) में २७४ मुहरें मिली हैं जो प्रत्येक श्रेणी अपने पत्रों को बन्द करने में प्रयोग मे लाती। श्रेणियो

के अपने नियम थे। सरकार भी इन नियमो को मानती। श्रेणी के सदस्यो के झगडे श्रेणी का प्रमुख तय करता। साझे मे बहुत-से व्यापार चलते। नगर और ज़िले की परिषदो में वैश्य प्रमुख भाग लेते।

नारद और बृहस्पति स्मृतियो मे जो नियम श्रेणियो के लिए दिए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि समाज और सरकार दोनो मे इन श्रेणियो का बहुत आदर था। अभिलेखो से ज्ञात होता है कि ये श्रेणियाँ अपनी मुहरे काम मे लाती, सिक्के जारी करती और अपनी सैनिक टुकडियाँ भी रखती थीं।

व्यापार—व्यापार सडक व नदियो दोनो के द्वारा होता। देश के मुख्य नगर, जैसे भड़ोच, उज्जयिनी, पैठन, विदिशा, प्रयाग, बनारस, गया, पाटलिपुत्र, वैशाली, ताम्रलिप्ति, कौशाम्बी, मथुरा, अहिच्छत्र और पेशावर आदि सडको से जुडे हुए थे। सामान गाडियो मे और पशुओ की कमर पर ढोया जाता। नदियो मे नावो द्वारा भी सामान एक नगर से दूसरे नगर को ले जाया जाता। भारतीय लोग ऐसे जहाज़ भी बना सकते थे जिनमे ५०० आदमी एक साथ यात्रा कर सकते थे। इस काल के साहित्य और अभिलेखो मे दो प्रकार के व्यापारियो का उल्लेख है। 'श्रेष्ठी' अपना व्यापार करते थे और ब्याज पर रुपया उधार देते थे। 'सार्थवाह' व्यापारियो को मार्ग दिखलाते थे और मार्ग में व्यापारियो की सुरक्षा, ठहरने और भोजन-पानी आदि का प्रबन्ध करते थे। ये व्यापारी देश के अन्दर दैनिक उपभोग की सब प्रकार की वस्तुएँ जैसे दूध, मकान, शहद, मसाले, चावल, तिल, वस्त्र आदि बेचते थे। वस्तुओ के मूल्य उनकी माँग और उपलब्धि के अनुसार कम या अधिक होते रहते थे।

इस काल मे मिस्र, यूनान, रोम, ईरान, अरब, सीरिया और लका से भी खूब व्यापार होता था। पूर्व की ओर जहाज़ कम्बोडिया, स्याम, सुमात्रा, मलय प्रायद्वीप और चीन भी जाते थे। अनेक बौद्ध यात्री थल-मार्ग से मध्य एशिया मे होकर चीन से भारत आए थे। वे जल मार्ग द्वारा चीन गए। चीनी वर्णनो से ज्ञात होता है कि गुप्तकाल मे चीन के साथ व्यापार मे बहुत वृद्धि हुई।

आन्ध्र मे कडूर और घण्टशाल, चोल प्रदेश मे कावेरीपट्टनम् और तोण्डइ, पाण्ड्य प्रदेश मे कोरकइ और सलियूर और मलाबार तट पर कोटयम् और मुज़िरिस प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। पूर्वी द्वीपसमूह और पश्चिमी देशो से इन बन्दरगाहो से खूब व्यापार होता। गुजरात और पश्चिमी तट के प्रसिद्ध बन्दरगाह कल्याण, चौल, भडोच और कैम्बे थे। भारत से काली मिर्च और रेशम आदि रोम तक ले जाए जाते थे। इनके बदले मे रोम के सोने के सिक्के भारत आते थे। कॉस्मास ने लिखा है कि इस काल मे भारत का व्यापार ईथियोपिया, अरब और ईरान से भी होता था। किन्तु रोम साम्राज्य के पतन के कारण जो अव्यवस्था फैल गई थी उसके कारण अब पश्चिमी देशो के साथ भारत के व्यापार की मात्रा पहले की अपेक्षा कम थी। भारत से विदेशों को मोती, मणियाँ, कपडा, सुगन्धित पदार्थ, धूप, मसाले, नील, औषधियाँ, नारियल और हाथीदाँत की वस्तुएँ भेजी जाती। विदेशो से सोना, चाँदी, ताँबा, टीन, जस्ता, रेशम, कपूर, मूगा, खजूर और घोडे भारत लाए जाते थे।

दैनिक उपयोग की वस्तुओं के मूल्य सस्ते थे। नौ माशे सोने के मूल्य मे एक भिक्षु को एक वर्ष भोजन कराया जा सकता था। साधारण वस्तुओ के खरीदने के लिए कौड़ियो का भी प्रयोग होता था।

भूमि-व्यवस्था—बहुत-से जमीदार अपनी जमीन किसानों को जोतने के लिए दे देते। जमीन गाँव की परिषद् की आज्ञा से ही बेची जा सकती। ऊजड जमीन की मालिक सरकार होती, किन्तु उसे गाँव की पचायत की अनुमति से काम मे लाया जा सकता। कुछ खेती योग्य भूमि भी सरकारी होती। यह जमीन साधारणतया ऐसे लोगो की होती थी जो बिना सन्तान मर जाते। ऐसी भूमि को राजा बहुधा दान में दे देते थे।

इस काल के अधिकारपत्रो से ज्ञात होता है कि बगाल मे भूमि के स्वामी स्वय अपनी भूमि को ब्राह्मणो को दान मे दे देते थे। किन्तु मध्यभारत मे जब सामन्त लोग गाँवो को दान मे देते थे तो उन्हे केन्द्रीय सरकार के अधिकारियो की अनुमति लेनी होती थी। इन गाँवो को पाने वाले ब्राह्मणो को सरकार को भूमि कर भी नही देना पडता था। इस प्रकार यहाँ किसानो का सरकार से कोई सम्बन्ध न रहा। ये ब्राह्मण उन गाँवों के पूर्ण रूप से स्वामी बन जाते थे। उनके मरने के बाद उनके उत्तराधिकारी इनके स्वामी बन जाते थे किन्तु यदि राजा अप्रसन्न हो जाए तो इन गाँवो को जब्त कर सकता था।

भूमिकर ही राज्य की आय का मुख्य साधन था। साधारणतया उपज का छठा भाग कर के रूप मे लिया जाता था। तीन प्रकार के कर लिए जाते थे। समय-समय पर जो कर गाँव वालो से लिए जाते थे उन्हे 'कर' कहा जाता था। उपज के छठे भाग को सम्भवत 'भाग' कहा जाता था और सरकार को फल, फूल शाक, घास आदि की जो दैनिक भेट दी जाती थी उसे 'भोग' कहा जाता था। कभी-कभी शिल्पियो और मजदूरो को राज्य के लिए बेगार भी करनी पडती थी। इसे 'विष्टि' कहते थे। सम्भवत. धार्मिक कर 'बलि' कहलाता था। अस्थायी किसानो को सम्भवत 'उपरिकर' देना पडता था। नावो के पुलो आदि पर जो चुगी देनी पडती थी उसे 'शुल्क' कहते थे। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जनता पर राज कर का भार काफी था किन्तु इसके कारण प्रजा दुखी नही थी।

इस काल मे कृषि की बहुत उन्नति हुई। सरकार ने भी सिंचाई के लिए नहरे व झीले आदि बनवाई किन्तु दुर्भिक्ष भी पडते थे।

जगलो से ईंधन, इमारती लकडी, खाल, लाख, रग और कस्तूरी आदि लाकर बेची जाती थी जिससे सरकार को बहुत आय होती थी। हाथी भी जगलो से ही लाए जाते थे। उद्यानो से शाक व फूल प्राप्त होते थे।

पशुपालन की भी इस काल मे बहुत उन्नति हुई। हाथी और घोडे सेना के लिए बहुत आवश्यक थे। साधारण लोग भैंस, ऊँट, बकरी, भेड, गधे, कुत्ते, सूअर, मोर आदि पालते थे। बौद्ध और जैन अहिंसा पर बहुत जोर देते थे। इसलिए जीव रक्षा पर बहुत ध्यान दिया जाने लगा।

भारत मे दासो का उपयोग बडी मात्रा मे नही किया जाता था। गाँवो मे खेतों की रक्षा, कटाई आदि के लिए और शहरो मे उद्योगो मे साधारणतया वेतन लेकर मजदूर काम करते थे। घर का काम भी इसी प्रकार वेतन लेने वाले सेवक करते थे। ये मजदूर साधारणतया समाज के निर्धन वर्ग के व्यक्ति होते थे। उनको दैनिक जीवन की सभी पर्याप्त वस्तुएँ उपलब्ध नहीं होती थीं। कुछ व्यक्तियो से इस काल मे बेगार भी ली जाती थी। विशेष अवसरो पर प्रजा को राजा के लिए बेगार करनी पडती थी। सम्भवत मध्य प्रदेश मे बेगार की प्रथा बहुत थी क्योंकि वहाँ जो अभिलेख मिले हैं उनमे बेगार का बहुधा उल्लेख है।

सिक्के और साहूकार

प्रारम्भिक गुप्त सम्राटो के सोने के सिक्के कुषाण राजाओ के सिक्को के अनुरूप हैं। वे तोल मे ११८ से १२२ ग्रेन है किन्तु पिछले गुप्त सम्राटो के सिक्के तोल मे १४६ ग्रेन हैं। मनु ने भी सुवर्ण की तोल इतनी ही लिखी है। सम्भवत व्यापार में इन सोने के सिक्कों का प्रयाग किया जाता था। चाँदी के सिक्के सबसे पहले चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चालू किये। इनका प्रचलन पश्चिमी भारत में बहुत था जहाँ पहले शक क्षत्रप शासन करते थे।

नारद और बृहस्पति ने साहूकारो के लिए अनेक नियम दिए है। जैसे कि जब धन राशि ब्याज जुडने पर दूनी हो जाती और यदि ऋणी १५ दिन मे ब्याज न दे तो साहूकार उस वस्तु का स्वामी हो जाता था जो धरोहर रखी जाती थी। सब प्रकार के ऋणों के लिए लिखित दस्तावेज होते थे। साधारणतया १५ प्रतिशत प्रतिवर्ष ब्याज लिया जाता था किन्तु जिनमे धरोहर नही रखी जाती थी उन पर ब्राह्मणो मे २४ प्रतिशत, क्षत्रियो से ३६ प्रतिशत, वैश्यो से ४८ प्रतिशत और शूद्रो से ६० प्रतिशत तक ब्याज लिया जाता था। सम्भवत उद्योगो और व्यापार की वृद्धि होने के कारण गुप्तकाल मे बहुत से व्यक्तियों को साहूकारो से ऋण लेना पडता था।

गुप्तकाल मे धनी वर्ग की आर्थिक अवस्था बहुत अच्छी थी किन्तु सम्भवत किसानो और मजदूरो आदि की दशा बहुत अच्छी न थी। रामशरण शर्मा ने गुप्तकालीन आर्थिक व्यवस्था की दो विशेषताएँ बतलाई है। इस काल मे भूमि व्यवस्था मे सामन्तवाद का प्रारम्भ होता है और उद्योगो मे स्थानीय श्रेणियो की शक्ति मे वृद्धि। सम्भवत उत्पादन बढाने के लिए शिल्पियो ने अपने औजारो और उत्पादन के तरीको मे भी समय-समय पर सुधार किया। तभी उद्योगो का इतना विकास हुआ।

धार्मिक दशा

ब्राह्मणो और बौद्धो मे बहुधा शास्त्रार्थ होते, किन्तु साधारणतया सहिष्णुता की भावना हर जगह पाई जाती। हिन्दू लोग जैन अर्हतो को दान देते। समुद्रगुप्त स्वय हिन्दू था। उसने अपने पुत्र की शिक्षा के लिए वसुबन्धु को नियुक्त किया जो एक बौद्ध विद्वान् था। गुप्त राजाओ ने बौद्ध और जैन सस्थाओ को आर्थिक सहायता दी। उन्होने नालन्दा विश्व-विद्यालय को, जो बौद्ध शिक्षा का केन्द्र था, बहुत दान दिया। गुप्त राजाओं के बहुत से अधिकारी भी बौद्ध थे। कदम्ब राजा वैदिक धर्मावलम्बी थे, किन्तु उन्होने जैनो को आर्थिक सहायता दी। चौथी शताब्दी तक वैदिक, भागवत और शैव सम्प्रदायो का भेद भाव मिट गया था। सबमे पूर्णतया समन्वय स्थापित हो गया था। कुमारगुप्त भागवत सम्प्रदाय का अनुयायी था किन्तु उसने अश्वमेध यज्ञ किये।

हिन्दू धर्म--४०० ई० तक वैदिक धर्म बहुत लोकप्रिय था। गुप्त राजाओ और वाकाटक राजा प्रवरसेन प्रथम ने कई वैदिक यज्ञ किए। इस काल मे वैदिक धर्म के राजवशो मे इतने लोकप्रिय होने का मुख्य कारण यह था कि ब्राह्मण लेखक जिन्होने मनुस्मृति और महाभारत आदि ग्रन्थो का सम्पादन किया वे वैदिक धर्म के समर्थक थे और मीमासा दर्शन के प्रतिपादको का यह विश्वास था कि वैदिक यज्ञ करने से मनुष्य को मुक्ति मिलती है। राजा

लोग इन यज्ञो पर जो बडी धनराशि व्यय होती थी, वह खर्च कर सकते थे। परन्तु जनसाधारण मे यह भावना उत्पन्न होती जा रही थी कि यज्ञ करना आध्यात्मिक उन्नति और ईश्वरीय कृपा प्राप्त करने का सबसे अच्छा साधन नहीं है। पाँचवीं शताब्दी से वैदिक यज्ञ इतने लोकप्रिय न रहे। वैदिक देवताओं की अपेक्षा साधारण जनता को विष्णु और शिव की पूजा अधिक प्रिय हो गई। गुप्त सम्राट् स्वय विष्णु और लक्ष्मी के पुजारी थे। विष्णु का वाहन गरुड़ उनकी ध्वजा का चिह्न था। वे अपने को परम भागवत कहते। विष्णु के उपलक्ष्य मे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मेहरौली के निकट विष्णुध्वज नामक लोहे की कीली बनवाई। दक्षिण भारत मे आलवारो ने भक्ति से ओत-प्रोत भजनो की रचना की। गुप्तकाल मे महाभारत और पुराणो का वर्तमान रूप निर्धारित हुआ। यह पौराणिक धर्म इतना उदार था कि इसमे हिन्दू धर्म के सब मतो के विचारो का समन्वय हो गया। छठी शताब्दी ई० मे स्वय गौतम बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया गया। मत्स्य, भागवत और ब्रह्माण्ड पुराणो मे बुद्ध की हिन्दू धर्म के देवताओ मे पूर्ण प्रतिष्ठा पाई जाती है। अवतारवाद गुप्तकालीन धर्म की प्रमुख विशेषता है। उत्तर भारत मे पुराणो के कारण विष्णु की पूजा अधिक लोकप्रिय हो गई। उसके अवतारो में उस समय वराह और कृष्ण बहुत प्रिय थे।

दक्षिण भारत मे वैष्णव सन्त आलवारो ने तमिल भाषा में अपने भक्ति से ओत-प्रोत भजन लिखे। उनके कारण विष्णु की पूजा वहाँ बहुत लोकप्रिय हो गई। शिव की पूजा इतनी लोकप्रिय न थी जितनी विष्णु की। परन्तु भारशिव, वाकाटक, नल, मैत्रक, कदम्ब और परिव्राजक कुल के राजाओ मे बहुत-से शैव थे। कुछ लोग अपना नाम अमर करने के लिए मन्दिर बनवाते। पृथ्वीषेण और विष्णुवर्मा ने भी इस प्रकार के मन्दिर बनवाये। इस समय की शिव की मूर्तियो मे मनुष्य की आकृति और लिंग का सुन्दर समन्वय है। मथुरा मे पाशुपतो के लकुलीश सम्प्रदाय के लोग बहुत पाए जाते थे। गुप्त राजा युद्धो में विजय प्राप्त करने के लिए कार्तिकेय की भी पूजा करते थे। दक्षिण भारत के शैव सन्तो ने जिन्हें नायनार कहते हैं, अपने प्रदेश में शैव धर्म को बहुत लोकप्रिय बना दिया।

बगाल मे शक्ति की पूजा बहुत लोकप्रिय थी। उसके दो रूप थे—उग्र और सौम्य। उग्ररूप मे उसे महिषासुरमर्दिनी का नाम दिया गया है अर्थात् महिष नाम के राक्षस का सहार करने वाली देवी। महाबलिपुरम मे किस प्रकार देवी ने इस असुर का सहार किया इसके कई दृश्य भित्तिचित्रो मे उत्कीर्ण हैं। बगाल मे देवी के सौम्यरूप की अनेक मूर्तियाँ मिली है। ये अधिकतर देवी को शिव की अर्धांगिनी के रूप मे प्रदर्शित करती हैं।

इस काल मे मन्दसौर (मालवा), ग्वालियर, इंदौर (उत्तरप्रदेश) और बाघेलखण्ड मे आश्रमक मे सूर्य के मन्दिर बने। कुमारगुप्त प्रथम के समय मे दशपुर में जुलाहो की एक श्रेणी ने सूर्य मन्दिर बनवाया। अन्तर्वेदी विषय मे स्कन्दगुप्त के राज्यकाल मे दो क्षत्रिय व्यापारियो ने एक सविता (सूर्य) का मन्दिर बनवाया। इस काल मे कुछ लोग नाग और यक्षो की भी पूजा करते थे। इस काल मे हिन्दू मन्दिर हिन्दू धर्म और सस्कृति के केन्द्र हो गए।

हिन्दू लोग प्रातःकाल की संध्या के पश्चात् देव-पूजा और पितृपूजा करते थे। अधिकतर मनुष्य सोलह संस्कार नियमपूर्वक करते। हर महीने मे बहुत-से लोग एकादशी व्रत रखते और धार्मिक कृत्य करते थे। ग्रहण और सक्रान्ति के समय दान देते थे। प्रयाग मे मृत्यु से मुक्ति होती है, ऐसा बहुत-से लोगो का विश्वास था। इस काल से पूर्व ही अनार्य और आर्य धार्मिक विश्वासो का पूर्ण समन्वय हो चुका था।

गुप्तकाल से पूर्व ही यूनानी, शक, पह्लव और कुषाण हिन्दू समाज मे पूर्णतया घुल-मिल गए थे। इस काल मे हूणो ने भी हिन्दू धर्म को अपना लिया। यूनानी राजा मिनाण्डर एक शैव था। शको मे बहुत-से नामो का भारतीयकरण हो चुका था।

हिन्दू धर्म भारत की सीमा को पार करके जावा, सुमात्रा और बोर्नियो मे प्रचलित हो गया और मैसोपोटामिया और सीरिया में चौथी शताब्दी तक बहुत-से हिन्दू मन्दिर बन गए।

बौद्ध धर्म – कनिष्क के राज्यकाल मे महायान बौद्ध धर्म सारे उत्तर भारत मे फैल गया। इस काल मे बौद्ध धर्म की दोनो शाखाएँ महायान और हीनयान[1] देश के विभिन्न भागो मे उन्नति करती रही। लका मे हीनयान शाखा के विकास के लिए चौथी और पाँचवी शताब्दी ई० मे क्रम से दीप-वश और महावश की रचना हुई। पाँचवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे वही बुद्धघोष ने विसुद्धिमग्ग की रचना की। कश्मीर, गन्धार और अफगानिस्तान भी पाँचवी शताब्दी ई० तक हीनयान के केन्द्र रहे। हीनयान बौद्धो की सर्वास्तिवादी शाखा का कश्मीर मे बहुत प्रचार था। इनका विश्वास था कि सब चीजो का अस्तित्व है। कश्मीर और गन्धार के सर्वास्तिवादी वैभाषिक कहलाते थे, क्योकि वे विभाषाओ (भाष्यो) को प्रमाण मानते थे। इन्होने अपने धर्मग्रन्थ सस्कृत मे लिखे। वसुबन्धु ने अपने जीवन के प्रारम्भ मे सर्वास्तिवाद के सिद्धान्तो का भली प्रकार प्रतिपादन किया। उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अभिधर्म कोष' है। कश्मीर और गन्धार मे ही हीनयान की एक दूसरी शाखा सौत्रान्तिक उत्पन्न हुई। ये वैभाषिको के विरोधी थे और सूत्रो को प्रमाण मानते थे। वे विभाषाओ को नही मानते थे।

भारत मे नागार्जुन, आर्यदेव, असग, वसुबन्धु और दिङ्नाग ने महायान के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। महायान बौद्ध धर्म के सिद्धान्त इतने लोकप्रिय हो गए कि जनसाधारण ने महायान सम्प्रदाय अपना लिया। महायान मे बोधिसत्वो की कल्पना की गई जो दूसरो के निर्वाण के लिए अपने निर्वाण को स्थगित करने के लिए सदा उद्यत रहते। ज्ञान मार्ग की महायान शास्त्र मे प्रमुखता न रही। अब भक्तिमार्ग प्रमुख हो गया। स्तूप या बुद्ध की मूर्ति की पूजा करके ही भक्त निर्वाण प्राप्त कर सकता था। उसकी दो शाखाएँ हो गई। नागार्जुन और आर्यदेव ने माध्यमिक शाखा के और असंग और उसके भाई वसुबन्धु ने (जब वह बौद्धो की महायान शाखा का अनुयायी हो गया) योगाचार शाखा के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। माध्यमिको ने कहा कि वैकारिक जगत् सत्य नही हो सकता। ईश्वर और ससार दोनो आभास-मात्र हैं। जगत् मे शून्य का प्राधान्य है। उनके अनुसार ससार न तो वास्तविक है न अवास्तविक है, केवल सापेक्षतामात्र है। वे मध्यमा-प्रतिपत्[2] पर ज़ोर देते थे। योगाचार के प्रतिपादको ने विज्ञानवाद का सूत्रपात किया, विज्ञान (विचार) को ही सत्य ठहराया। उनके अनुसार परम सत्य या 'बोधि' वे ही प्राप्त कर सकते है जो योगाभ्यास करते है। प्रकृति एक विचारमात्र है। बाह्य वस्तुएँ स्वप्नो की भाँति अवास्तविक है। अश्वघोष ने दोनो शाखाओ के सिद्धान्तो मे समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया।

साँची गुप्त काल मे बौद्ध धर्म का मुख्य केन्द्र बना रहा। कुमारगुप्त प्रथम के समय मे यहाँ के 'काकनाद बोट' विहार को दान मे धन और एक गाँव मिला। इस विहार में बुद्ध की चार मूर्तियो की इसी काल में प्रतिष्ठा की गई। सारनाथ मे कुमारगुप्त द्वितीय के समय मे

१ हीनयान और महायान के अन्तर के लिए देखिए अध्याय १२, पृष्ठ १८५।
२ मध्यमा-प्रतिपत् का अर्थ है बीच का मार्ग।

अभयमित्र तपस्वी ने बुद्ध की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। उसी ने बुधगुप्त के समय में बुद्ध की दो अन्य मूर्तियो की प्रतिष्ठा की।

कश्मीर, अफगानिस्तान और पंजाब में सैकडों बौद्ध-मठ थे जिनमें हजारों बौद्ध भिक्षु रहते। उत्तर प्रदेश, बिहार और बगाल में बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म दोनो का प्रचार था। बौद्ध धर्म वहाँ अवनति पर न था। महाराष्ट्र मे भी बौद्ध मठो और दरीगृहो की पाँचवी शताब्दी तक अच्छी दशा थी। जनता से उन्हे पर्याप्त आर्थिक सहायता मिलती रही। पूर्वी महाराष्ट्र मे अजन्ता, एलोरा बौद्ध धर्म के केन्द्र थे। आन्ध्र देश मे अनेक बौद्ध स्तूप और विहार थे। इनमे से प्रसिद्ध नागार्जुनी-कोण्ड में थे। सम्भवत प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन इसी स्थान पर रहता था। तामिल प्रदेश मे काँची और काठियावाड मे वलभी बौद्ध संस्कृति के केन्द्र थे।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गुप्तकाल मे बौद्ध धर्म की भी बहुत उन्नति हुई। फ़ाहियान भारत मे बौद्ध धर्म के ग्रन्थ लेने आया था और बहुत से भारतीय बौद्ध विद्वान् इस काल मे यहाँ से चीन गए। इसका यह अर्थ है कि इस समय चीन मे भी बौद्ध धर्म की बहुत उन्नति हुई।

जैन धर्म—मथुरा और वलभी श्वेताम्बर जैनो के मुख्य केन्द्र बने रहे। बंगाल मे पुण्ड्र-वर्धन दिगम्बर जैनो का मुख्य केन्द्र था। दक्षिण भारत मे कर्णाटक और मैसूर में दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रचार था। कदम्ब और गग राजाओ ने जैन धर्म का संरक्षण किया। जैनों ने मथुरा मे वज्रनन्दी की अध्यक्षता मे एक सगम किया। काँची भी जैनो का मुख्य केन्द्र था।

३१३ ई० मे जैनो की दो सभाएँ एक मथुरा मे स्कन्दिल की अध्यक्षता में और दूसरी वलभी मे नागार्जुन की अध्यक्षता मे हुई। ४५३ ई० मे दूसरी जैन परिषद् वलभी में हुई। इसमे सब जैन ग्रन्थ लिखे गए। गुप्तकाल मे इन ग्रन्थो पर कई भाष्य लिखे गये। इन भाष्य-कारो मे सबसे प्रसिद्ध भद्रबाहु द्वितीय था। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी उन ग्रन्थों को प्रमाण नही मानते जो वलभी की सभा मे सम्पादित किये गये।

कुमारगुप्त प्रथम के समय में उदयगिरि के दरीगृह मे पार्श्व की एक मूर्ति बनाई गई। उसी के समय मे एक जैन मूर्ति की प्रतिष्ठा मथुरा मे की गई। स्कन्दगुप्त के समय मे पाँच जैन तीर्थंकरो की मूर्तियाँ बनाई गई। इस प्रकार इस काल मे जैन धर्म की भी पर्याप्त उन्नति हुई।

जनसाधारण में परोपकार की भावना का प्राचुर्य था। वे पूजा-कार्य के लिए या भिक्षुओ के वस्त्र, भोजन, औषधि और निवास की व्यवस्था के लिए पर्याप्त धन दान देते। फाहियान ने लिखा है कि सब धर्मशालाओ मे बिस्तर, भोजन, पानी, औषधि आदि की उचित व्यवस्था थी। निर्धन रोगियो के लिए नि.शुल्क चिकित्सालय थे।

शिक्षा—शिक्षण-संस्थाओ को गाँव, मजदूरी, बैल, धन आदि अनुदान के रूप में दिये जाते थे। अभिलेखो से ज्ञात होता है कि अध्यापक आचार्य और उपाध्याय कहलाते थे और छात्रो को शिष्य कहा जाता था। विद्वान् ब्राह्मण अध्यापको को 'भट्ट' की पदवी दी जाती। जो गाँव विद्वानों के उपयोग के लिए दान मे दिये जाते वे 'अग्रहार' कहलाते। गोदावरी ज़िले मे पिष्टपुर नामक अग्रहार गाँव के विद्वान् छठी शताब्दी मे अपने पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध थे। चारों वेदों के विद्वान् को चतुर्वेदी और एक वेद के विशेषज्ञ को उस वेद के नाम से पुकारते थे जैसे सामवेदी ब्राह्मण।

वेदो के अतिरिक्त वेदांग, पुराण, मीमांसा, न्याय, धर्म (व्यवहार), व्याकरण, महाभारत

आदि पाठ्य विषय थे। वेदों का अध्ययन मौखिक होता। लिखित पुस्तकें बहुत कम थी।

पाटलिपुत्र, वलभी, उज्जयिनी, पद्मावती, प्रवरपुर, वत्सगुल्म विद्या के मुख्य केन्द्र थे। अयोध्या मे वैदिक मन्त्रों और सूत्रों के प्रकाण्ड पण्डित रहते थे। काशी, मथुरा, नासिक और काँची मे भी बहुत-से विद्वान् रहते। दक्षिण भारत मे उच्च शिक्षा के विद्यालय 'घटिका' कहलाते थे। इस प्रकार की एक प्रसिद्ध घटिका काँची मे थी।

छठी शताब्दी मे नालन्दा का विश्वविद्यालय भी शिक्षा का केन्द्र बन चला था। इसमे विशेष रूप से महायान सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थों की शिक्षा का प्रबन्ध था, किन्तु हिन्दू और जैन दर्शन भी पढाये जाते थे। इस विश्वविद्यालय मे हजारो विद्यार्थियो का भरण-पोषण उन सैकडों गाँवों की आय से होता था जिन्हे गुप्त राजाओं ने इस विद्यालय को दान मे दिया था। यहाँ के बौद्ध विद्वान् अपनी विद्वत्ता और चरित्र के लिए प्रसिद्ध थे। युवान च्वाग ने लिखा है कि यहाँ की प्रवेशिका-परीक्षा इतनी कठिन थी कि दस विद्यार्थियो मे से दो या तीन ही यहाँ प्रवेश पा सकते थे। भिक्षु अपना समय अधिकतर स्वाध्याय और शास्त्रार्थ मे बिताते थे।

शिल्प-शिक्षा, शिल्पियों के परिवारो मे ही दी जाती थी। कभी-कभी कुछ विद्यार्थी शिल्पी के घर रहकर काम सीखते थे।

क्षत्रियों और वैश्यो मे उपनयन सस्कार का रिवाज छूट जाने के कारण उनमे शिक्षा का प्रचार कम हो गया। परन्तु कम-से-कम ६० प्रतिशत द्विज अब भी शिक्षित थे परन्तु शूद्र और अछूत मे अधिकतर अशिक्षित थे।

प्रारम्भिक शिक्षा देने वाले अध्यापकों को 'दारकाचार्य' कहा जाता था। प्रारम्भिक विद्यालय 'लिपिशाला' कहलाते थे। उनमे भाषा के लिखने-पढने और गणित के पढाने की उचित व्यवस्था थी। ऐसी लिपिशालाएँ प्राय सभी गाँवो मे थी।

भाषा और साहित्य—गुप्तकाल मे सस्कृत राष्ट्रभाषा हो गई। उसकी लोकप्रियता इस बात से स्पष्ट है कि गुप्तकाल से पूर्व अधिकतर अभिलेख प्राकृत मे होते थे। अभिलेखों के सस्कृत मे होने से यह अनुमान होता है कि जनसाधारण सस्कृत भाषा को अच्छी तरह समझते थे। गुप्त राजा स्वय सस्कृत के विद्वान् थे। हरिषेण ने समुद्रगुप्त को 'कविराज' कहा है और लिखा है कि उसने बहुत-सी कविताओं की स्वय रचना की थी। वह सत्काव्य को प्रोत्साहन देने के लिए विद्वत्परिषद् बुलाता था।

सम्भवत गुप्तकाल से पूर्व ही भास ने अपने १३ नाटकों की रचना कर ली थी। इनमे सबसे प्रसिद्ध 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण', 'स्वप्न वासवदत्त' और 'चारुदत्त' है। परन्तु गुप्तकल का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार कालिदास था। अनुश्रुति के अनुसार वह विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के नवरत्नो मे से एक था। कालिदास ने 'रघुवश' मे जो राजनीतिक चित्र उपस्थित किया है उससे भी यही अनुमान होता है कि वह गुप्तकाल मे ही हुआ। उसने लिखा है कि हूण वक्षु नदी के निकट रहते थे। 'मेघदूत' मे निर्वासित यक्ष का निवास-स्थान रामगिरि (रामटेक जो नागपुर के उत्तर मे है) लिखा है और कुमारसम्भव मे कुमारगुप्त प्रथम के जन्म की स्मृति निहित प्रतीत होती है। सम्भवत कालिदास मालवा प्रदेश का निवासी था, क्योंकि उसका इस प्रदेश का भौगोलिक वर्णन बहुत ही ठीक और सच है। यह परम्परा भी कि उसने वाकाटक राजा प्रवरसेन द्वितीय रचित 'सेतुबन्ध' नामक ग्रन्थ का सशोधन किया था,

ठीक हो सकती है। उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ 'ऋतुसंहार', 'मेघदूत', 'कुमारसम्भव,' 'रघुवंश', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' हैं। महाकाव्यों में उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'रघुवंश' और नाटकों मे 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' है। कालिदास की कविता मे सौन्दर्य, सरलता और रसो का सुन्दर समन्वय है। वह अपनी उपमाओ के लिए भी प्रसिद्ध है। उसकी कविता मे शृंगार और करुण रस की अभिव्यक्ति अनुपम है। उसका प्रकृति-वर्णन भी बहुत ही उत्तम है। उसके ग्रन्थो मे सुभाषितो का भी बाहुल्य है।

इस काल के अन्य दो प्रसिद्ध नाटककार शूद्रक और विशाखदत्त थे। शूद्रक ने चौथी शताब्दी मे अपना प्रसिद्ध नाटक 'मृच्छकटिक' लिखा। यह सामाजिक नाटक है। इसमे हम कई दृश्यो मे हास्य रस और कुछ दृश्यो में करुण रस की सुन्दर अभिव्यक्ति पाते हैं। विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' और 'देवी चन्द्रगुप्त' नामक दो राजनीतिक नाटक लिखे। 'मुद्राराक्षस' में उस राजनीतिक उथल-पुथल का वर्णन है जिसके पश्चात् मौर्य साम्राज्य का प्रारम्भ हुआ। 'देवी चन्द्रगुप्त' अब केवल उद्धरणो मे ही प्राप्य है। पूरी पुस्तक उपलब्ध नही है।

गुप्तकाल के अन्त की ओर भारवि ने 'किरातर्जुनीय' की रचना की। इसमे किस प्रकार शिव ने अर्जुन को पाशुपतास्त्र दिया, इसका वर्णन है। भट्टि नामक लेखक ने 'रावणवध' या 'भट्टिकाव्य' मे राम के जीवन का वर्णन किया है, उसने इस ग्रन्थ मे रामकथा के साथ ही व्याकरण के नियमो के उदाहरण प्रस्तुत किये। भर्तृहरि ने नीति, शृंगार और वैराग्य पर तीन शतक लिखे जो बहुत ही सुन्दर रचनाएँ हैं। प्रशस्ति लेखकों में हरिषेण की समुद्रगुप्त की प्रशस्ति, वसुल की यशोधर्मा की प्रशस्ति, और वत्सभट्टि की कुमारगुप्त की मन्दसौर प्रशस्ति काव्य की दृष्टि से अच्छी रचनाएँ हैं। विष्णुशर्मा ने सम्भवतः गुप्तकाल मे ही पञ्च-तन्त्र लिखा, जिसका ससार की पचास भाषाओ मे अनुवाद हो चुका है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ भी इस काल मे लिखे गए। छठी शताब्दी के पूर्वार्ध मे चन्द्रगोमी ने 'चन्द्र-व्याकरण' और अमरसिंह ने 'अमर-कोश' लिखे। वराहमिहिर की 'बृहत्सहिता' और अग्निपुराण मे छन्दो का विवेचन किया गया है और 'विष्णु-धर्मोत्तर-पुराण' मे चित्रकला का वर्णन है।

धार्मिक साहित्य—गुप्तकाल मे राम और कृष्ण को पूर्ण रूप से विष्णु का अवतार मान लिया गया इसलिए रामायण और महाभारत का वर्तमान रूप भी तीसरी या चौथी शती ईसवी मे ही दिया गया। परम्परा के अनुसार पुराण अठारह हैं। इनमे सम्भवतः मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड, वायु, विष्णु, भागवत और मत्स्य पुराणो मे स्मृतियो की भाँति धार्मिक कृत्यों और रीतियो के प्रकरण छठी शती ईसवी से पूर्व जोड़ दिए गए थे। इस प्रकार पुराणो का वर्तमान रूप भी गुप्तकाल मे ही दिया गया। इस काल मे उनमे कलियुग के राजाओ की वंशावलियाँ और शिव और विष्णु की महिमा बढ़ा दी गई। उनमें दान और व्रतो की महिमा बतलाई गई। इससे भक्ति-मार्ग को प्रोत्साहन मिला। याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन और बृहस्पति की स्मृतियो का सम्पादन भी इसी काल मे हुआ। याज्ञवल्क्य स्मृति मे आचार, व्यवहार (कानून) और प्रायश्चित का पूरा विवेचन है। कामन्दक ने अपने नीतिशास्त्र में कौटिल्य के अर्थशास्त्र के विषय का सक्षिप्त विवेचन किया है।

दर्शनशास्त्र का भी गुप्त युग में पूर्ण रूप से विकास और प्रतिपादन हुआ। गुप्तकाल से पूर्व ही ३०० ई० के लगभग शबर ने मीमांसासूत्र पर अपना भाष्य लिखा था। उसने मीमासा शास्त्र को केवल कर्मकाण्ड की पद्धति ही न रहने दिया, उसे एक दर्शन का रूप दे दिया।

ईश्वर-कृष्ण ने चौथी शताब्दी मे 'सांख्यकारिका' लिखकर साख्य दर्शन का प्रतिपादन किया। व्यास ने पतजलि के योगसूत्र पर अपना भाष्य लिखा। इसी शताब्दी के अन्त म वात्स्यायन ने न्याय भाष्य लिखा। इसके कुछ समय पश्चात् प्रशस्तपाद ने वैशेषिक सूत्र पर अपना भाष्य लिखा।

गुप्तकाल मे लका मे पालि साहित्य का भी बहुत विकास हुआ। ३५० ई० के लगभग 'दीपवश' का सम्पादन हुआ। इसमे लका की अट्ठकथाओ को महाकाव्य के रूप मे लिखा गया है। 'महावश' की रचना पाँचवी शती ईसवी मे हुई। इसमे लका का इतिहास है। यह काव्य के दृष्टिकोण से दीपवश से बहुत अच्छा है।

हीनयान बौद्ध धर्म के इस काल के प्रसिद्ध लेखक बुद्धघोष, बुद्धदत्त और वसुबन्धु थे। पाँचवी शती ईसवी के पूर्वार्ध मे बुद्धघोष ने 'विसुद्धिमग्ग' की रचना की। वसुबन्धु ने 'अभिधर्मकोश' मे हीनयान बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो का विवेचन किया। बाद मे वसुबन्धु, महायान सम्प्रदाय का अनुयायी हो गया। 'दिव्यावदान' और आर्यशूर की 'जातक-माला' भी इसी काल की रचनाएँ हैं। असग, वसुबन्धु और दिङ्नाग ने दूसरे धर्मों के सिद्धान्तो का खण्डन किया। असग और वसुबन्धु ने अपने ग्रन्थो मे महायान बौद्ध धर्म की योगाचार शाखा के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया।

इस समय जो जैन धर्म ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे सब श्वेताम्बर सम्प्रदाय के है। उनका सम्पादन पाचवी शती ईसवी के मध्य मे वलभी की एक परिषद् मे हुआ था। ये सब ग्रन्थ अर्ध-मागधी प्राकृत मे हैं। इन धर्मग्रन्थो मे १२ अगो, १२ उपागो, १० प्रकीर्णों, ६ छेद सूत्रो, ४ मूलसूत्रो और ४ फुटकर ग्रन्थो की गणना की जाती है। अगो मे जैन साधुओ के लिए आचार के नियम दिए गए हैं। अन्य धर्मों के सिद्धान्तो का खण्डन किया गया है और जैन धर्म के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। उनमे कुछ जैन व्यापारियो और साधुओ की कथाएँ भी है। प्रकीर्णों में भी जैन सिद्धान्तो का विवेचन है। छेद सूत्रो मे जैन साधुओ और मठवासिनियो के लिए नियम दिए हैं। मूल सूत्रो मे धर्म ग्रन्थो के महत्त्वपूर्ण अगो, कहावतो और कथोपकथनो का सग्रह है। जैन लेखको मे उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' और सिद्धसेन ने जैन सिद्धान्तो पर 'न्यायावतार' नामक ग्रन्थ लिखे।

इस काल मे तिरुवल्लुवर नामक लेखक ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुरल' तमिल भाषा मे लिखा। इसमे नीति, राजनीति और श्रृगार का विशद विवेचन है। इसके अतिरिक्त नैतिक विषयो पर कुछ अन्य ग्रन्थ भी इस काल मे और कुछ उसके पीछे लिखे गए। इनमे जो छन्द प्रयुक्त किए गए है वे छोटे हैं, इसलिए वे अठारह छोटे ग्रन्थ कहलाते है।[1]

विज्ञान

गणित—इस काल मे विज्ञान के क्षेत्र मे भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। बक्षाली (पेशावर के निकट) पाडुलिपि मे भिन्न, वर्गमूल और अकगणित और रेखागणित पर आधारित सख्याओ के योग की पद्धति का वर्णन है। पाँचवी शताब्दी के अन्त मे पाटलिपुत्र के निवासी आर्यभट ने अपनी पुस्तक 'आर्यभटीयम्' मे वृत्त, त्रिभुज आदि के सिद्धान्तो का वर्णन किया, दशमलव प्रणाली का प्रतिपादन किया और उसने बीजगणित और त्रिकोणमिति का भी विवेचन किया।

१. विशेष विवरण के लिए संगम साहित्य का विवेचन अध्याय ११ में देखिए।

गणित के क्षेत्र मे इस काल की सबसे प्रमुख देन दशमलव प्रणाली है । वराहमिहिर और आर्यभट दोनों ने अपने ग्रन्थों मे इस प्रणाली का प्रयोग किया है ।

ज्योतिष--आर्यभट ने अपनी पुस्तक 'आर्यभटीयम्' मे ज्योतिष के सिद्धान्तो का विवेचन किया है । उसका जन्म पाटलिपुत्र मे ४७६ ई० में हुआ था । आर्यभट सिकन्दरिया के यूनानी ज्योतिष के सिद्धान्तों से भी भली प्रकार परिचित था । उसने ग्रहण के कारण और पृथ्वी के अपनी कीली के चारो ओर घूमने के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया । वरामिहिर (५०५--५८७ ई०) ने 'पञ्च-सिद्धान्तिका' मे ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तो का विवेचन किया है । यह पाँच सिद्धान्त पैतामह, वशिष्ठ, पौलिश, रोमक और सूर्य थे । उसने स्वीकार किया है कि यूनानी लोग ज्योतिष विज्ञान के पण्डित थे ।

बृहत्सहिता तकनीकी विज्ञान का एक कोष है । इसे वराहमिहिर ने लिखा । इसमे वास्तुकला, धातु-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, गणित, ज्योतिष, वनस्पति-शास्त्र, जन्तु-विज्ञान, इजीनियरिंग आदि अनेक विषयो का विवेचन है । नागार्जुन रसायनशास्त्र और धातु विज्ञान का पण्डित था । कुतुबमीनार के पास स्थित लोहे की कीली गुप्तकालीन धातु विज्ञान की प्रगति का साक्षात् प्रमाण है । यह ७ मीटर लम्बी है और तोल मे पौने दो सौ मन है । इस पर किसी प्रकार की जग अभी तक नही लगी है ।

आयुर्वेद मे वाग्भट प्रथम ने 'अष्टाग-सग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमे चरकसहिता और सुश्रुतसहिता का सक्षेप किया गया है । पूर्वी तुर्किस्तान मे 'नावनीतकम्' नामक एक आयुर्वेद का ग्रन्थ मिला है । इसे बॉवर नामक व्यक्ति ने १८९० ई० मे खोज निकाला था । पालकाप्य ने हाथियो के रोगो पर 'हस्त्यायुर्वेद' नामक ग्रन्थ भी इसी युग में लिखा ।

गुप्तकाल मे जनता पूर्णतया सुखी थी, धनधान्य की कमी न थी और गुप्तकालीन राजाओ ने कलाकारो का सरक्षण किया । इसलिए इस काल मे कला के क्षेत्र मे अभूतपूर्व उन्नति हुई ।

कला

वास्तुकला

गुप्तकाल से पहले लगभग पहली शताब्दी ई० पू० मे एक विष्णु का मन्दिर बनाया गया । यह हेलियोडोरस के बेसनगर के स्तम्भ के निकट है । गुप्तकाल के मन्दिरो के अन्दर किसी प्रकार की सजावट नही होती थी जिससे भक्त अपना ध्यान इष्ट देव की आराधना मे केन्द्रित कर सके, किन्तु बाहर द्वार और स्तम्भो पर पर्याप्त सजावट की जाती थी । इस काल के मन्दिर जबलपुर जिले मे तिगावा, सांची, नागौद राज्य मे भूमरा और उदयगिरि मे पाये गए हैं ।

तिगावा के विष्णु-मन्दिर मे बीच मे गर्भगृह है । इसके द्वार के आगे जो दालान है उसके स्तम्भो के चार भाग हैं--नीचे चौकोर पीठिका, उसके ऊपर बहुकोणीय स्तम्भ, एक कलश या उलटे कमल के फूल के समान शीर्ष और कुछ निकली हुई छजली के ऊपर सिंहो की आकृति । ये स्तम्भ बेसनगर के गरुडध्वज से बहुत मिलते है । सिंहो की आकृति भी अशोक स्तम्भो के सिंहो की आकृति से बहुत मिलती है । द्वार के अलकरण मे मकर पर गगा देवी और कच्छप पर यमुना देवी की आकृतियाँ बनाई गई हैं जो इस काल के मन्दिरो मे बहुधा पाई जाती हैं ।

भूमरा का शिव मन्दिर और नचना कुठरा (अजयगढ राज्य) का पार्वती मन्दिर पाँचवीं शताब्दी ई० मे बनाये गए । उनके चारो ओर परिक्रमापथ है । द्वारो का अलकरण पहले से अधिक

सुन्दर है। भूमरा के मन्दिर मे छत को फूल-पत्तियाँ बनाकर सजाया गया है। उसकी दीवारो मे सुन्दर मूर्तियाँ बिठाई गई है। इनमे गणेश, ब्रह्मा, यम, कुबेर, कार्तिकेय, अपने वाहन बैल पर नाचते हुए शिव, सूर्य, कामदेव और महिषमर्दिनी की मूर्तियाँ हैं।

देवगढ (झाँसी जिला) के दशावतार मन्दिर में गर्भगृह के ऊपर १२ मीटर ऊँचा शिखर भी है और मन्दिर के चारो ओर चार खम्भो पर आधारित चार दालान है। इस मन्दिर की दीवारो मे भी सुन्दर मूर्तियाँ बिठाई हुई हैं। यह मन्दिर एक ऊँचे चबूतरे पर बना है।

भीतरी-गाँव (कानपुर जिला) का मन्दिर अपनी मिट्टी की मूर्तियो की कला के लिए प्रसिद्ध है। यह ईटो का बना है। इस पर शिखर भी हैं। इसके अन्दर सबसे पहली सच्ची डाट है।

इस काल के मन्दिरो में आसाम के डह पर्वतिया, नागौद राज्य मे खोह के शिव मन्दिर और साँची और बोधगया के बौद्ध मन्दिरो का भी उल्लेख किया जा सकता है।

इस काल के पत्थर के मन्दिर सबसे पहले देव-मन्दिर हैं। उनके बीच मे लगभग ३ मीटर लम्बी और ३ मीटर चौडी कोठरी (गर्भगृह) है और उससे भी छोटा एक दालान है। इनकी छत प्राय चौरस है। इनमे शिखर और मण्डपों (बडे कमरो) का अभाव है। देवगढ के दशावतार मन्दिर मे इस कला का विकसित रूप पाया जाता है। इसमे, जैसा हमने ऊपर कहा है, लगभग १२ मीटर ऊँचा शिखर है। इन मन्दिरो में अन्दर किसी प्रकार की सजावट नहीं है किन्तु द्वार पर गगा और यमुना की आकृतियाँ बनी है। यह गुप्त कला का विशेष लक्षण है। स्तम्भो पर पूर्ण कलश और चैत्य झरोखे भी इन मन्दिरो की विशेषताएँ है। ये सब लक्षण देवगढ के दशावतार मन्दिर मे पाए जाते है। इस काल के मन्दिर वस्तुत कला की सुन्दर कृतियाँ है। वे केवल पुराने भवनो की नकल नही है। उनमे कला की अभिव्यक्ति मे पर्याप्त रूप से नवसृजन दृष्टिगत होता है। पहले मन्दिर अधिकतर ईटो के बनते थे, परन्तु इस काल के अधिकतर मन्दिर पत्थर के बने।

दक्षिण भारत के मन्दिरो मे सबसे प्रसिद्ध चेजार्ला का कपोतेश्वर मन्दिर है। इसे चौथी शताब्दी मे आनन्द राजाओ ने बनवाया था। इसकी सामने की दीवार अर्धगोलाकार है। ऐहोले का दुर्गा मन्दिर और तेर का वैष्णव मन्दिर भी इसी प्रकार के है।

बौद्ध इमारतो मे राजगिरि मे जरासन्ध की बैठक का एक स्तूप और सारनाथ का धामेख स्तूप इस काल मे बने थे। धामेख स्तूप की ऊँचाई ३९ मीटर है और इसके चारो ओर बुद्ध की मूर्तियो के लिए चार देव कोष्ठ है। इस स्तूप की सजावट प्रशसनीय है। इस पर रेखागणित की आकृतियो से भी सजावट की गई है।

चट्टानो से काटकर बनाये हुए भवनो मे सबसे प्रसिद्ध अजन्ता के दरीगृह है। दरीगृह-विहार सख्या १६ और १७ वाकाटक राजा हरिषेण के मन्त्री और सामन्त की प्रेरणा पर पाँचवी शताब्दी ई० के अन्तिम चरण मे बनाए गए। ये अपने सुन्दर चित्रो के लिए प्रसिद्ध हैं। दरीगृह सख्या १६ मे लगभग २० मीटर चौकोर एक बीस स्तम्भो वाला भवन है। दरीगृह सख्या १९ मे बुद्ध की मूर्ति बहुत सुन्दर बनी है। यह कुछ पीछे की बनी है।

विष्णु-कुण्ड राजाओ के राज्यकाल मे मोगुल-राजपुरम् और उण्डविल्लि मे जो दरीगृह बनाये गए वे मध्यभारत के उदयगिरि के दरीगृहो से बहुत मिलते हैं। उण्डविल्लि के दरीगृह मे तीन मजिले हैं।

अमरावती और नागार्जुनी कोण्ड के महल भी शानदार इमारते थी जिनमे कई मजिले थी, परन्तु ये अब विद्यमान नही है।

स्तंभ—मेहरौली की लोहे की कीली का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। अन्य स्तंभ पत्थर की चट्टानो में से काटकर बनाये गये। समुद्रगुप्त ने एरण मे, चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मथुरा मे, कुमारगुप्त प्रथम ने बिलसद मे और स्कन्दगुप्त ने कहौम और भितरी में पत्थर के स्तंभ बनवाए। एरण का लगभग १३ मीटर ऊँचा स्तम्भ ४८४ ई० मे बुधगुप्त के राज्यकाल मे बनाया गया। इसकी छजली पर सिंह की आकृति और उसके ऊपर विष्णु की मूर्ति है। यशोधर्मा का एक स्तंभ मन्दसौर मे मिला है। इनमे अनेक स्तम्भो पर अभिलेख हैं जिनसे उनके बनाने वालों का पता चलता है।

मन्दिरों की मुहर—गया के विष्णुपाद मन्दिर की मुहर मे 'विष्णुपाद स्वामी नारायण' शब्द खुदे थे। उसमें ऊपर की ओर विष्णु के चिह्न गदा, शंख और चक्र की आकृति थी और नीचे शिव, सूर्य और चन्द्र के चिह्न। वैशाली के सूर्य मन्दिर की मुहर पर 'भगवतो आदित्यस्य' ये शब्द खुदे थे।

मुद्राएँ—गुप्तकालीन मुद्राओ का वर्णन हमने गुप्त शासको के साथ दिया है। उनकी स्वर्ण मुद्राएँ गुप्त शासको की समृद्धि और पराक्रम को तो प्रकट करती ही हैं साथ ही कला के सुन्दर उदाहरण है। समुद्रगुप्त की मुद्राएँ कला की दृष्टि से प्रारंभिक नमूने हैं। उनकी कला का पूर्ण विकास हम चन्द्रगुप्त की मुद्राओ मे पाते हैं। गुप्त राजाओ के सिक्के प्रारभ मे कुषाण राजाओ के सिक्कों से बहुत मिलते हैं, किन्तु पीछे उनको पूर्णतया भारतीय बना लिया गया। लेख यूनानी लिपि में न होकर ब्राह्मी लिपि मे अकित किया जाने लगा और देवी अदोक्ष के स्थान पर कमल के फूल पर लक्ष्मी की आकृति बनाई जाने लगी। समुद्रगुप्त के धनुषबाण, फर्म, तथा शख वाले, व्याघ्र को मारते हुए और अश्वमेध करते हुए सिक्को का वर्णन हम कर चुके हैं। चन्द्रगुप्त ने सिंह को मारते हुए, अश्वारोही और छत्र शली के सिक्के भी चलाये। ये सब मुद्राएँ कला की दृष्टि से पूर्णतया भारतीय हैं। समुद्रगुप्त के अश्वमेध शैली के सिक्के और चन्द्रगुप्त के सिंह को मारते हुए शैली वाले सिक्के कला की दृष्टि से अत्युत्तम हैं। किन्तु कुमारगुप्त प्रथम के समय से मुद्राएँ कला की दृष्टि से इतनी अच्छी नही रही। स्कन्दगुप्त की मुद्राओ मे सोने की मात्रा भी कम है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल के चाँदी के सिक्के शक क्षत्रपों के सिक्कों के अनुरूप हैं, किन्तु कुमारगुप्त प्रथम के चाँदी के सिक्कों मे लेशमात्र भी विदेशी प्रभाव नही है। उन पर कुमार (कार्तिकेय) के वाहन मोर की आकृति बनी है। स्कन्दगुप्त, बुधगुप्त, हूण, मौखरि और पुष्यभूति राजाओ ने भी इसी प्रकार के सिक्के चलाये।

मूर्तिकला

शैव मूर्तिया

भितरी गाँव के मन्दिर मे जो मिट्टी की मूर्तियाँ हैं वे शिव-सम्बन्धी हैं। देवगढ (जिला झाँसी) के दशावतार मन्दिर में भी शिव की कई कलात्मक आकृतियाँ हैं। इनमे एक मे शिव को योगी के रूप में दिखाया गया है। यह कला का उत्कृष्ट नमूना है। इलाहाबाद जिले मे कोसम मे ४५८ ई० की शिव-पार्वती की सुन्दर आकृतियाँ मिली हैं। खोह और भूमरा के एकमुख लिग भी कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर बने हैं। अजमेर और कामाँ मे भी शिव की अच्छी मूर्तियाँ दिखाई गई हैं। इस काल मे चतुर्मुखी शिवलिंग और अर्धनारीश्वर शिव की सुन्दर मूर्त्तियाँ बनाई गईं। इस काल की शिव की मूर्तियों मे लिग और मनुष्यरूप शिव के दोनो रूपो का सुन्दर समन्वय पाया जाता है।

विष्णु की मूर्तियां

मथुरा की विष्णु की मूर्ति गुप्त कला का श्रेष्ठ उदाहरण है। उसके मुख की आकृति मे दिव्य शान्ति और आध्यात्मिक चिन्तन के दर्शन होते हैं। ४०१ ई० मे उदयगिरि मे एक दरीगृह मन्दिर बनाया गया जिसमे विष्णु को वराह अवतार के रूप में अपने दाँत पर पृथ्वी को उठाये हुए दिखाया गया। यह मूर्ति बहुत सुन्दर बनी है। उदयगिरि के पास पथारी मे कृष्ण के जन्म का दृश्य बडा सुन्दर है। देवगढ मन्दिर मे विष्णु को अनन्त (शेषनाग) के ऊपर लेटे दिखाया गया है। मन्दौर (जोधपुर) में कृष्ण के जीवन से कई सुन्दर दृश्य दिखाये गए हैं। इनमें एक मे कृष्ण को गोवर्धन पर्वत उठाये हुए दिखाया गया है।

सूर्य की मूर्तियाँ

भूमरा मन्दिर मे सूर्य की एक सुन्दर मूर्ति है। अजमेर मे कामां मेसूर्य के सात घोडे दिखाये गये है।

बुद्ध की मूर्तियाँ

मन्कुवर (इलाहाबाद के निकट) की बुद्ध की पत्थर की मूर्ति ४४८ ई० मे बनाई गई। यह कुषाण शैली की है। सारनाथ की बैठे हुए बुद्ध की मूर्ति गुप्त कला का श्रेष्ठ नमूना है। मथुरा सग्रहालय में खडे हुए बुद्ध की सुन्दर मूर्ति है। सुल्तानगज मे लगभग २ मीटर ऊँची बुद्ध की एक विशालकाय ताँबे की मूर्ति मिली थी जो अब बर्मिघम के सग्रहालय मे है।

इन बुद्ध की मूर्तियो की कई विशेषताएँ है। उनकी शान्त और चिन्तनशील मुद्रा से आध्यात्मिकता टपकती है। इनमे बुद्ध के केश सुन्दर व घुघराले दिखाये गये है। बुद्ध की मूर्तियो के आभामण्डल मे सुन्दर अलकरण है और पोशाक पारदर्शी है। ये बुद्ध की मूर्तियाँ पूर्णतया भारतीय हैं। उन पर गन्धार शैली का कोई प्रभाव दिखाई नही देता।

इस काल मे दो बोधिसत्वो 'मैत्रेय' और 'अवलोकितेश्वर' की भी सुन्दर मूर्तियाँ बनाई गई। बौद्धो ने बहुत से हिन्दू देवी-देवताओ, जैसे वैश्रवण (धन का देवता), वसुधारा (बहुतायत की देवी), तारा, मरीची आदि की भी मूर्तियाँ बनाई।

इस काल की मूर्तिकला मे तीन शैलियो का उल्लेख करना आवश्यक है। मथुरा शैली मे बुदकीदार लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है। मथुरा की कला पर पहले गन्धार कला का कुछ प्रभाव पडा जो बुद्ध और बोधिसत्वो की मूर्तियो मे देखा जा सकता है। बनारस शैली मे चुनार का सफेद पत्थर काम मे लाया गया। वहाँ की शैली पूर्णतया भारतीय है। पाटलिपुत्र के कलाकारो ने धातु की मूर्तियाँ बनाने मे अपनी कुशलता दिखलाई। इसके सुन्दर उदाहरण नालन्दा और सुल्तानगज की बुद्ध की मूर्तियाँ है।

वासुदेवशरण अग्रवाल ने गुप्तकाल की मूर्ति-कला की दो विशेषताएँ बतलाई है। इसमे न तो कुषाण काल की मूर्तियो की भद्दी अश्लीलता है और न प्रारभिक मध्यकाल की कला की सकेतात्मक अव्यावहारिकता। दोनो का सुन्दर समन्वय इस काल की मूर्तियो मे पाया जाता है। नैतिक आदर्शों की रक्षा करने के लिए गुप्तक लीन कलाकार ने कहीं भी किसी पुरुष या स्त्री को नगा नही दिखाया है। उसके अगो को पारदर्शी वस्त्र से ढक दिया है। इस काल के कलाकारो ने जिन सकेतो का अपनी कला मे उपयोग किया है वे सभी ऐसे हैं जिनसे उस समय की साधारण जनता भली-

भाँति परिचित थी। इस काल की मूर्तियों की दूसरी विशेषता यह है कि देवता की आन्तरिक भावना का उसकी बाह्य मुद्रा मे स्पष्ट दर्शन होता है।

चित्रकला

अजन्ता के दरीगृह संख्या १६ व १७ के भित्ति-चित्रो से स्पष्ट है कि गुप्तकाल में चित्रकला की बहुत उन्नति हुई। ग्वालियर रियासत के बाग के दरीगृहों मे भी चित्रण-कला के सुन्दर नमूने हैं। अजन्ता के चित्रो मे महलो और घरो के सुन्दर दृश्य दिखाये गए हैं। उनमे हर्षोल्लास का वातावरण दिखाई देता है। बुद्ध के जीवन और जातक कथाओ के भी बहुत-से दृश्य दिखाये गये हैं।

गुप्तकाल की कला मे आध्यात्मिकता और कला का सुन्दर समन्वय है। इस काल की कला में सादगी है और साथ ही वह बहुत रमणीय है। गुप्त कलाकार की कला-कृतियाँ बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होती हैं। उनमे अलकरण की सीमा के अन्दर रखा गया है। गुप्त कला का उद्देश्य आत्मा मे आध्यात्मिक भावो को जागृत करना था जिससे मनुष्य स्थायी सुख का उपभोग कर सके। इस काल मे कला जनसाधारण के दैनिक जीवन का अभिन्न अंग बन गई। साँचो से सुन्दर मिट्टी की मूर्तियाँ बनाई जाती जो मकानो को बाहर और भीतर से सजाने मे काम में लाई जाती। इनमे बहुत-सी मूर्तियाँ देवी-देवताओ, पुरुष तथा स्त्रियो की हैं और कुछ पशुओ की हैं। इन मिट्टी की मूर्तियो मे विष्णु, कार्तिकेय, सूर्य, दुर्गा, गगा और यमुना की मूर्तियाँ हैं। इस प्रकार की मूर्तियाँ राजघाट और अहिच्छत्र में बड़ी संख्या में मिली हैं। उनका केश-विन्यास बहुत सुन्दर है और उन पर गुलाबी, लाल, पीले और सफेद रग मे जो चित्रकारी की गई है वह बहुत आकर्षक है। इस काल की मूर्तियाँ बहुत कलात्मक हैं। उनसे यह पता लगता है कि जनसाधारण में भी कला के प्रति बहुत रुचि थी।

गुप्तकाल मे राजनीतिक एकता और शान्ति-सुव्यवस्था स्थापित होने पर सभी क्षेत्रो मे असाधारण उन्नति हुई। साहित्य, विज्ञान, कला और धर्म की यह उन्नति भारत तक सीमित न रही। मध्य एशिया, चीन और दक्षिण-पूर्वी एशिया मे भी यह खूब फूली-फली।[1] जहाँ कही यह फैली वही प्रदेश भारत का एक भाग हो गया। भारतीय संस्कृति के इस चरमोत्कर्ष को ध्यान मे रखकर ही तो तत्कालीन कवि ने लिखा है—"देवता भी ये गीत गाते हैं कि निश्चय ही वे व्यक्ति धन्य हैं जो भारतवर्ष में निवास करते हैं।"

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी — **प्राचीन भारत**, अध्याय १०
अनुवादक—बुद्धप्रकाश

राजबली पाण्डेय — **प्राचीन भारत**, अध्याय १६, १७

[1]. विशेष विवरण के लिए देखिए अध्याय २४।

H. C Raychaudhuri — *Political History of Ancient India*, (6th Edition), Appendix D.

R. C Majumdar — *The Vakataka Gupta Age* Chapters 14, 16, 17, 18, 19, 20, 22

R. C Majumdar & A D. Pusalkar — ***The History and Culture of the Indian People,*** *The Classical Age*, Chapters. 15, 16, 18, 19, 20, 21 22, 23, 24

अध्याय १६

गुप्तकाल के पश्चात् उत्तर भारत

(Northern India in the Post-Gupta Period)

गुप्त साम्राज्य के उत्तराधिकारियो मे सब से प्रमुख परवर्ती गुप्त, मौखरि और मैत्रक थे। ये तीनो ही राजवश पहले गुप्त राजाओं के सामन्त थे परन्तु ५५० ई० के लगभग इन्होने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। इन तीनो राज्यो ने उत्तर भारत मे अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसी कारण परवर्ती गुप्तो और मौखरि राजाओ मे कई युद्ध हुए। अन्त मे ऐसा प्रतीत होता है कि इस सघर्ष मे मौखरि राजा सफल हुए और परवर्ती गुप्त राजाओं को मगध छोडकर मालवा जाना पडा। थानेश्वर के पुष्यभूति वंश के वर्धन राजाओ ने कन्नौज के मौखरिवंश से वैवाहिक सम्बन्ध करके अपनी शक्ति बढा ली। अन्त मे मौखरि राजा की मृत्यु के बाद कन्नौज का राज्य थानेश्वर के राजा हर्ष के राज्य का भाग हो गया और हर्ष ने उत्तर भारत के बडे भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। मैत्रक वश के राजा सौराष्ट्र मे राज्य करते थे। उनकी राजधानी वलभी थी। इन चारो राजवशो मे मैत्रक वश के राजा लगभग सातवीं शती ईसवी के मध्य तक सौराष्ट्र मे शासन करते रहे। अन्य राज्यों का प्रभुत्व सातवी शती में ही समाप्त हो गया। अब हम इन चारो राज्यो का वर्णन कुछ विस्तार से करेंगे।

परवर्ती गुप्त

कुछ अभिलेखो से गुप्त राजाओ के एक नये राजकुल का पता लगता है। उनका पहले गुप्त राजाओ से कोई पारिवारिक सम्बन्ध न था। वे मगध मे राज्य करते थे। उन्हे इतिहासकार परवर्ती गुप्त कहते है।

१ **कृष्णगुप्त (४९०—५०५ ई०)** इस वश का सस्थापक था। अफसाद (गया जिला) अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने सम्भवत हूणो के आक्रमण को रोका।

२ **हर्षगुप्त (५०५–५२५ ई०)** कृष्णगुप्त का उत्तराधिकारी हर्षगुप्त हुआ जिसकी बहन हर्षगुप्ता का विवाह मौखरि राजा आदित्यवर्मा से हुआ।

३ **जीवितगुप्त प्रथम (५२५—५४५ ई०)** इसने सम्भवत अपने अधिपति गुप्त सम्राट कुमारगुप्त तृतीय की ओर से हिमालय प्रदेश और दक्षिण-पश्चिमी बगाल पर आक्रमण किये। परवर्ती गुप्त वश के राजा जीवितगुप्त प्रथम और मौखरि वश के ईश्वरवर्मा ने गुप्त साम्राज्य की स्थिति ठीक करने मे सम्भवत गुप्त सम्राट् विष्णुगुप्त को भी सहायता दी।

४. **कुमारगुप्त (५४०—५६० ई०)**. उसके समय मे परवर्ती गुप्त राजाओ का कन्नौज के मौखरि राजाओ से युद्ध छिड गया, क्योंकि दोनो ही गुप्त साम्राज्य के उत्तराधिकारी होना चाहते थे। अनेक राज्यो पर विजय प्राप्त करने के बाद मौखरि वश के राजा ईशानवर्मा ने महाराजाधिराज का विरुद धारण किया किन्तु कुमारगुप्त के विरुद्ध युद्ध मे ईशानवर्मा की पराजय हुई और कुमारगुप्त का राज्य प्रयाग तक फैल गया।

५. **दामोदरगुप्त:** सम्भवत: दामोदरगुप्त मौखरि राजा शर्ववर्मा के विरुद्ध लड़ा। परवर्ती

गुप्तों की इस युद्ध मे विजय हुई, किन्तु दामोदरगुप्त उसी युद्ध मे मारा गया। इस कारण इस विजय से परवर्ती गुप्त विशेष लाभ न उठा सके।[1]

६. **महासेनगुप्त** : महासेनगुप्त ने मौखरि राजाओ के विरुद्ध अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए थानेश्वर के राजा आदित्यवर्धन से सन्धि की और उसके साथ अपनी बहन महासेनगुप्ता का विवाह कर दिया। महासेनगुप्त ने कामरूप के राजा सुस्थितवर्मा को परास्त किया। इस प्रकार उसका राज्य ब्रह्मपुत्र तक फैल गया। किन्तु कुछ समय के बाद स्थिति बदली। देववर्णार्क (आरा जिला) के ग्रामलेख से अनुमान होता है कि मौखरि शर्ववर्मा ने महासेनगुप्त को हराकर मगध के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। गौड राजाओ का भी उसी समय अभ्युत्थान हुआ और सम्भवत दक्षिण से भी महासेनगुप्त पर कुछ आक्रमण हुए।

इस प्रकार अपने शत्रुओ से चारो ओर से घिरकर सम्भवत महासेनगुप्त को मगध छोडकर मालवा जाना पडा। किन्तु यहाँ भी वह आराम से न रह सका।

कलचुरि राजा शंकरगण के अभोन अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने महासेनगुप्त को हराया (लगभग ५९५ ई०)। कुछ दिन पश्चात् चालुक्य राजाओ ने कलचुरि राजा बुद्धराज को परास्त किया। किन्तु इससे भी महासेनगुप्त को कोई लाभ न हुआ। उसी के एक सम्बन्धी देवगुप्त ने अपने को मालवा का स्वतन्त्र शासक घोषित किया और महासेनगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त और माधवगुप्त को मालवा छोडना पडा और उन्हे थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन के दरबार मे शरण लेनी पडी। उसने इन दोनो राजकुमारो को अपने पुत्र राज्यवर्धन और हर्षवर्धन का साथी बनाया। शशांक की मृत्यु के बाद हर्षवर्धन ने माधवगुप्त को मगध का शासक नियुक्त किया।[2]

मौखरि राजा

१. **हरिवर्मा** इस वश का सब से पहला राजा हरिवर्मा था। उसके पुत्र **आदित्यवर्मा** का विवाह परवर्ती गुप्त राजा हर्षगुप्त की बहन हर्षगुप्ता से हुआ।

२ मौखरि राजा **ईश्वरवर्मा** का भी परवर्ती गुप्तो से सम्बन्ध ठीक रहा, किन्तु जैसा हम ऊपर लिख चुके है गुप्त साम्राज्य की शक्ति कम होने पर दोनो वशो मे वैमनस्य उत्पन्न हो गया।

३ **ईशानवर्मा** ईशानवर्मा के जौनपुर अभिलेख से अनुमान किया जा सकता है कि उसने अपने राज्य को विस्तृत किया था। विशेष रूप से हमें सन् ५५४ ई० के हरहा अभिलेख से ज्ञात होता है कि ईशानवर्मा ने ३,००० हाथियो वाले आन्ध्रपति को, हजारो अश्वारोहियो वाले शूलिको को और समुद्र के निकट रहने वाले गौडो को हराया।

४ **शर्ववर्मा** ईशानवर्मा का पुत्र शर्ववर्मा मौखरि वश का सबसे प्रतापी राजा था। अपने राज्य के आरम्भ में शायद वह परवर्ती गुप्त राजा दामोदरगुप्त से हारा हो, किन्तु कुछ समय के बाद उसने दामोदरगुप्त के उत्तराधिकारी महासेनगुप्त को हराकर मगध पर अधिकार कर लिया। शर्ववर्मा का उल्लेख सन् ८२६ के वराह अभिलेख मे है, जिससे ज्ञात होता है कि बुन्देलखण्ड का कालिंजर मण्डल भी मौखरि राज्य मे सम्मिलित था। उसकी एक मुद्रा असीरगढ़ मे मिली है, किन्तु उसी के आधार पर असीरगढ़ को उसके राज्य के अन्तर्गत मानना ठीक नही। कुछ विद्वानो

१. उपर्युक्त विवरण डॉ० बी० पी० सिन्हा के निष्कर्ष पर लिखा गया है। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार इन युद्धों में मौखरि राजा सफल हुए।

२. माधवगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के लिए देखिए अध्याय १७।

का यह अनुमान है कि शर्ववर्मा का राज्य दक्षिण-पूर्वी पंजाब तक फैला हुआ था और थानेश्वर के पुष्यभूति वंश के राजा उसके अधीन थे। शर्ववर्मा ने अपने नाम से मुद्राएँ भी चलाई। उसकी उपाधि 'महाराजाधिराज परमेश्वर' थी।

५. **अवन्तिवर्मा** शर्ववर्मा का पुत्र और उसका उत्तराधिकारी अवन्तिवर्मा था। वह कन्नौज के सिंहासन पर ५८६ ई० के लगभग बैठा। देव वर्णार्क अभिलेख में उसे 'परमेश्वर' कहा गया है। अवन्तिवर्मा का कम-से-कम उसके राज्यकाल के प्रारम्भ मे मगध पर अधिकार था। अवन्तिवर्मा के बहुत-से सिक्के मिले हैं।

६. **ग्रहवर्मा** इसके कोई सिक्के नहीं मिले हैं। शायद मौखरियों में एक गृहयुद्ध हुआ हो। ग्रहवर्मा का अधिकार उस समय कन्नौज पर था तो अवन्तिवर्मा के दूसरे पुत्र सुव या सुचवर्मा का मगध पर।[1] ग्रहवर्मा और सुच या सुववर्मा की घरेलू लडाई मौखरि साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई। गौडो ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया। वहाँ के राजा जयनाग ने पहले ही मध्य बगाल पर अधिकार कर लिया था। शशाक ने सोन नदी तक अपना अधिकार विस्तृत कर लिया। इस प्रकार मौखरि राजाओ का राज्य सोन नदी के पश्चिम मे उत्तर प्रदेश तक ही सीमित रह गया। ग्रहवर्मा ने प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री से विवाह किया। किन्तु शशाक ने इसका उत्तर मालवा के राजा देवगुप्त से सन्धि करके दिया। मालवा-नरेश देवगुप्त ने ग्रहवर्मा को मार दिया और राज्यश्री को कन्नौज के बन्दीगृह मे डाल दिया। राज्यवर्धन ग्रहवर्मा की हत्या के लिए देवगुप्त को दण्ड देने के लिए कन्नौज गया। उसने देवगुप्त की सेना को हरा दिया, किन्तु शशांक ने उसे धोखा देकर मार दिया। इस प्रकार ६०६ ई० तक उत्तर कालीन गुप्त और मौखरि राज्यों का संघर्ष चलता रहा। इसके बाद इन दोनो राजवशो का इतना महत्त्व न रहा।

वलभी का राजवंश

इस राज्य का सस्थापक मैत्रक वंशी सेनापति **भटार्क** था। उसके पुत्र **धरसेन प्रथम** ने भी सेनापति की उपाधि धारण की, किन्तु ५०२ ई० के लगभग धरसेन प्रथम के भाई **द्रोणसिंह** ने 'महाराज' की उपाधि ग्रहण की। मलिय ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि 'द्रोणसिह स्वय अधिपति-स्वामी द्वारा अभिषिक्त हुआ था।' इन राजाओ की राजधानी वलभी थी। कुछ समय के बाद वलभी के राजाओ को हूणो का आधिपत्य स्वीकार करना पडा। परन्तु हूणो के पतन के बाद वे बिलकुल स्वतन्त्र हो गये। इस कुल के राजा **ध्रुवसेन द्वितीय** के राज्यकाल मे युवान-च्वाग वलभी आया। कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने ध्रुवसेन पर आक्रमण किया और उसने हारकर भडोंच के राजा दद्द द्वितीय के यहाँ शरण ली। अन्त मे हर्ष की पुत्री से विवाह करके ध्रुवसेन ने इस झगडे को समाप्त किया और वह प्रयाग के उत्सव मे शामिल हुआ। ध्रुवसेन द्वितीय के पश्चात् धरसेन चतुर्थ राजा हुआ। उसने परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, चक्रवर्ती आदि विरुद धारण किये। इससे अनुमान होता है कि वह शक्तिशाली राजा था। ६४८ ई० के भडोंच के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने गुर्जरो के प्रदेश को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया।

वलभी इस समय सस्कृति और व्यापार का मुख्य केन्द्र हो गया। इत्सिंग ने भी लिखा है कि जब वह वलभी गया, उसने इस नगर को विद्या का प्रमुख केन्द्र पाया। सम्भवत धरसेन चतुर्थ के समय मे भट्टि नामक सस्कृत के कवि ने अपना महाकाव्य लिखा।

१. नालन्दा से सुव या सुचवर्मा की मुहर मिली है।

ये राजा लगभग ३०० वर्ष तक राज्य करते रहे। सम्भवत अन्त मे सिन्ध के अरब आक्रमण कारियो ने उन्हें हराकर उनके राज्य पर अधिकार कर लिया।

थानेश्वर के वर्धन राजा

छठी शताब्दी ई० के अन्त मे हूणो ने सिन्धु नदी की घाटी के उत्तरी प्रदेश मे अपने पैर जमा लिए। बाण ने हर्षचरित में लिखा है कि थानेश्वर के राज्य का मस्थापक पुष्यभूति था। बाण के अनुसार वह शैव और तन्त्रशास्त्र मे श्रद्धा रखता था। मधुवन ताम्रपत्र अभिलेख से प्रतीत होता है कि वर्धनों के हाथ मे शक्ति सम्भवत गुप्त साम्राज्य की अवनति होने पर ही आई। मधुवन अभिलेख मे प्रभाकर वर्धन के केवल तीन पूर्ववर्ती राजाओ[1] के नाम हैं, जिनका समय ५२५ से ६०० ई० के बीच मे रखा जा सकता है। इनमें तीसरे राजा आदित्यवर्धन का विवाह परवर्ती गुप्त राजा महासेनगुप्त की बहन से हुआ। उनका पुत्र प्रभाकरवर्धन था।

प्रभाकरवर्धन—बाणके वर्णन मे ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्धन को हूणो, सिन्धु देश के राजा, गन्धार के राजा, गुर्जरो, लाटो और मालवो के राजाओं से लडना पडा। हम मौखरि राजाओ के वर्णन मे कह आये हैं कि ग्रहवर्मा ने स्वय प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री से विवाह किया। इससे स्पष्ट है कि थानेश्वर के राजकुल की प्रतिष्ठा अब बहुत बढ गई थी और मौखरि राजकुल अब पतनोन्मुख था। हर्षचरित मे हमें यह भी ज्ञात होता है कि परवर्ती गुप्त राजा महासेनगुप्त के पुत्र माधवगुप्त और कुमारगुप्त को मालवा छोडकर थानेश्वर मे शरण लेनी पडी थी। मालवा के नये राजा को प्रभाकरवर्धन अपना शत्रु मानता था, क्योंकि महासेनगुप्त की बहन प्रभाकरवर्धन की माँ थी। माधवगुप्त और कुमारगुप्त मालवा के सिहासन के अधिकारी थे और प्रभाकरवर्धन के ममेरे भाई थे। प्रभाकरवर्धन ने मालवा के इस नये राजा देवगुप्त को तग किया और उसने प्रभाकरवर्धन के मरते ही उसके दामाद ग्रहवर्मा को मारकर उससे बदला लिया। उसने प्रभाकर-वर्धन की पुत्री राज्यश्री को भी कन्नौज में बन्दी बना लिया। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु ६०६ ई० मे हुई।

प्रभाकरवर्धन के दो पुत्र राज्यवर्धन और हर्षवर्धन और एक पुत्री राज्यश्री थी, जिसका विवाह कन्नौज के मौखरि राजा ग्रहवर्मा से हुआ। प्रभाकरवर्धन के राज्यकाल के अन्त में हूणो ने उत्तर-पश्चिमी भारत पर आक्रमण किया। प्रभाकरवर्धन ने उनसे लडने के लिए अपने दोनो पुत्रो को भेजा। इसी समय प्रभाकरवर्धन बीमार पड़ा और उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका बडा पुत्र राज्यवर्धन थानेश्वर के सिहासन पर बैठा।

राज्यवर्धन—हम ऊपर कह आये है कि जब परवर्ती गुप्त राजाओ की शक्ति क्षीण हो गई तो पश्चिमी और उत्तरी बगाल अर्थात् गौड मे एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गया। छठी शताब्दी ई० के अन्त मे यहां का राजा **शशांक** था सम्भवत उसने धीरे-धीरे सारे बगाल पर अधिकार कर लिया और उडीसा को भी अपने राज्य मे मिला लिया। कोगोडा और गजम तक अपना आधिपत्य स्थापित करके उसने कन्नौज पर अधिकार करना चाहा जहाँ मौखरि राजा ग्रहवर्मा राज्य कर रहा था। **ग्रहवर्मा** ने प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री से विवाह कर अपनी शक्ति बढाई। शशाक ने इसके विपरीत मालवा के राजा **देवगुप्त** से सन्धि कर ली। जब **देवगुप्त** ने कन्नौज पर आक्रमण किया तो शशाक भी उसकी सहायता के लिए आया। जब देवगुप्त द्वारा ग्रहवर्मा की हत्या का समाचार

१. नरवर्धन, राज्यवर्धन और आदित्यवर्धन।

थानेश्वर पहुँचा तो राज्यवर्धन १०,००० घुडसवार लेकर कन्नौज पहुँचा। वहाँ उसने मालवा के राजा देवगुप्त की सेना को आसानी से हरा दिया। परन्तु वह स्वयं शशांक के हाथो मारा गया। हर्षचरित के टीकाकार शंकर ने लिखा है कि शशाक ने राज्यवर्धन को (अपनी मित्रता का) विश्वास दिलाने के लिए अपनी कन्या का विवाह उसके साथ करने का आश्वासन दिया। राज्यवर्धन भोजन करने उसके घर गया और शशाक ने धोखे से नौकर सहित राज्यवर्धन को वहीं मार दिया।

हर्षवर्धन—राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् ६०६ ई० मे उसका छोटा भाई **हर्षवर्धन** थानेश्वर के सिहासन पर बैठा। उसके सामने इस समय दो समस्याएँ थीं—अपनी बहन को छुडाना और अपने सब शत्रुओं को दण्ड देना। **बाणभट्ट** लिखित हर्षचरित से हमे ज्ञात होता है कि हर्ष अपनी सेना लेकर शशांक के विरुद्ध चला। मार्ग मे उसे कामरूप के राजा **भास्करवर्मा** का एक दूत मिला जिसने हर्षवर्धन से सन्धि करने का प्रस्ताव भेजा था। हर्ष ने भास्करवर्मा से सन्धि कर ली, किन्तु उसने शशाक का पीछा न किया। वह पहले अपनी बहन राज्यश्री को बचाने मे लगा जो कान्यकुब्ज के बन्दीगृह से निकलकर विन्ध्याचल के वनो मे ली गई थी। हर्ष ने राज्यश्री को ठीक उस समय पाया जब वह चिता मे जलने के लिए उद्यत थी। हर्षचरित मे इसके पीछे की हर्ष के जीवन की किसी घटना का वर्णन नही है।

इसके बाद की घटनाओ के लिए हमे युवान-च्वाग के वर्णन का आश्रय लेना पडता है। इन दोनो साधनो के अतिरिक्त हर्ष के राज्यकाल के कुछ अभिलेख और मुहरे भी मिली हैं जिनसे उस समय के उत्तरी भारत के राजनीतिक इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पडा है।

सम्भवत भास्करवर्मा और हर्ष की सन्धि के कारण शशाक को कन्नौज से गौड वापस जाना पडा, किन्तु उसकी सर्वथा पराजय नही हुई। सन् ६१९ ई० तक उडीसा के कुछ भाग उसके बडे राज्य के अन्तर्गत थे। शशाक की मृत्यु ६३७ ई० मे हुई। इसी के बाद हर्ष ने गौड के कुछ भाग पर अधिकार किया। ६४१ ई० मे वह राजमहल मे उपस्थित था। कामरूप (आसाम) के राजा भास्करवर्मा के भी कुछ अभिलेख मिले है, जिनसे यह अनुमान किया गया है कि भास्करवर्मा ने पूर्वी बगाल पर और हर्ष ने पश्चिमी बगाल पर अधिकार कर लिया था। यह भी सम्भव है कि गगा नदी इन दोनो के राज्य को विभक्त करती हो।

हर्षचरित मे लिखा है कि हर्ष ने सिन्ध के राजा को कुचल कर उसके धन को अपना बना लिया। परन्तु हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि हर्ष ने कभी सिन्ध के राजा को हराया। बाण ने यह भी लिखा है कि हर्ष ने हिमाच्छादित पहाडी प्रदेश से कर वसूल किया। इसका अर्थ कुछ विद्वानों ने यह लगाया है कि हर्ष ने नेपाल के राजा से कर वसूल किया किन्तु इस बात की पुष्टि मे भी कोई अन्य प्रमाण नही है।

महाराष्ट्र के चालुक्य राजा पुलकेशी के राजकवि रविकीर्ति ने अपने संरक्षक की प्रशसा मे ऐहोले प्रशस्ति लिखी। ऐहोले अभिलेख के अनुसार लाट, मालव और गुर्जर नरेशो ने चालुक्यो द्वारा विजित सामन्तो की तरह व्यवहार किया था। इससे रमेशचन्द्र मजूमदार ने अनुमान किया है कि लाट, मालव और गुर्जर नरेशो ने पुलकेशी द्वितीय के नेतृत्व मे हर्ष के विरुद्ध सघ बनाया था। गुर्जर अभिलेखों से यह भी निश्चित है कि वलभी के एक नरेश ने, जिसका नाम निर्दिष्ट नही है, हर्ष से पराजित होकर दद्द द्वितीय के यहाँ शरण ली थी। वह भी शायद हर्ष-विरोधी सघ मे रहा हो। किन्तु हर्ष ने वलभी नरेश ध्रुवसेन द्वितीय से अपनी कन्या का विवाह करके इस वैमनस्य की समाप्ति कर दी।

हर्ष के राज्यकाल में भारत
कपिश
पेशावर
कश्मीर
तक्षशिला
जालन्धर
हिमालय पर्वत
थानेश्वर
मतिपुर
नेपाल
अहिच्छत्र
बैराट
कपिलवस्तु
मथुरा
कन्नोज
श्रावस्ती
सिन्ध
गुर्जर
प्रयाग
सारनाथ
कामरूप
मालव
काशी
नालन्दा
मगध
राजगृह
प्राग्ज्योतिष
उज्जयिनी
वलभी
बोधगया
गुजरात
नर्मदा नदी
गौड़
ताम्रलिप्ति
भड़ोंच
उड़ीसा
कोंगोडा
गंजम
बंगाल
की
खाड़ी
कांचीपुरम
अरब सागर

हर्ष का साम्राज्य

पुलकेशी द्वारा हर्ष की पराजय का उल्लेख भी ऐहोले अभिलेख में है। पुलकेशी ने अपनी वीरता प्रदर्शित करने के लिए इस अभिलेख में हर्ष को 'सकलोत्तरपथनाथ' अर्थात् समस्त उत्तर भारत का स्वामी कहा है। कुछ विद्वानों के अनुसार हर्ष और पुलकेशी का यह युद्ध नर्मदा नदी के तट पर ६३०-६३४ ई० के बीच हुआ। ६४३ ई० मे हर्ष ने गंजम जिले में कोंगोडा पर आक्रमण किया। यह प्रदेश चालुक्य साम्राज्य का भाग था। हर्ष ने ६४३ ई० मे इस प्रदेश को जीत लिया। यह विजय शायद सन् ६४१ ई० मे पुलकेशी द्वितीय की मृत्यु हो जाने के कारण सम्भव हुई हो।

बहुत सम्भव है कि हर्ष ने अनेक और भी युद्ध किये हो। इसका केवलमात्र निर्देश युवान च्वांग के इन शब्दो मे है कि राजा होने के बाद हर्ष ने अपनी सेना सुसज्जित की और छः वर्ष के अन्दर भारत के पाँच खण्डो (Five Indies) को जीत लिया। सुधाकर चट्टोपाध्याय ने हर्ष की विजयों का समय ६१८ ई० से ६२४ ई० तक रखा है, परन्तु वास्तव मे हर्ष को समय-समय पर लड़ना ही पडा था और कोगोडा की सन् ६४३ ई० की विजय भी सम्भवत उसकी अन्तिम विजय न रही हो।

साम्राज्य विस्तार—हर्ष के पैतृक राज्य मे थानेश्वर और उसके आसपास का प्रदेश सम्मिलित था। ग्रहवर्मा की मृत्यु के पश्चात् हर्ष ने कन्नौज का शासन अपने हाथ में ले लिया। हर्ष ने अहिच्छत्र (बरेली के पास)[1] और श्रावस्ती भुक्ति[2] मे भूमि-दान मे दी। प्रयाग भी हर्ष के राज्य मे था। इस प्रकार उत्तर प्रदेश और पजाब का पूर्वी भाग निश्चय ही हर्ष के राज्य मे सम्मिलित थे। उसने अपने राज्यकाल के अन्तिम भाग मे मगध, पश्चिमी बगाल और उडीसा पर भी अधिकार कर लिया था। हर्ष सवत् के प्रचलन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि पूर्वी पजाब, उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और उडीसा के कुछ भाग हर्ष के राज्य में सम्मिलित थे। किन्तु नेपाल को उसके राज्य का भाग मानने के लिए कोई सबल प्रमाण नही है। कामरूप का राजा भास्करवर्मा हर्ष का मित्र था, अधीनस्थ राजा नही। वलभी नरेश ने भी सम्भवत कभी हर्ष का आधिपत्य स्वीकार नही किया हर्ष ने ध्रुवसेन को अपनी पुत्री देकर वलभी राज्य से केवल मैत्री स्थापित की थी। युवान च्वाग के वर्णन के आधार पर भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं उसके वर्णन में प्राय उन्ही राजाओं के नाम आए हैं जो स्वतन्त्र थे। इससे सिद्ध है कि कपिश, कश्मीर, सिन्ध, गुजरात, नेपाल, कामरूप, बैराट, मथुरा, मतिपुर, कपिलवस्तु, महाराष्ट्र, भडोंच, वलभी, उज्जैन, बुन्देलखण्ड और महेश्वर-पुर उसके राज्य में सम्मिलित न थे। किन्तु जालन्धर का राजा शायद हर्ष के अधीन रहा हो।

हर्ष के लिए 'सकलोत्तरपथ नाथ', 'चक्रवर्ती' आदि शब्द अवश्य प्रयुक्त हुए हैं। युवान-च्वाग ने भी लिखा है कि उसने भारत के पाँचो खण्डों को अधीन कर लिया था। किन्तु ऐसे शब्दों के आधार पर किसी राजा को समस्त उत्तरी भारत का भी अधीश्वर मानना ठीक न होगा। इसके लिए कुछ सबल प्रमाण चाहिए। रहा युवान-च्वाग का वर्णन, इससे तो अधिक-से-अधिक यही सिद्ध किया जा सकता है कि सरस्वती से बगाल तक का प्रदेश और उडीसा उसके अधिकार मे थे। ऐसा मानना अन्य प्रमाणो के विरुद्ध भी नही है।

शासन प्रबन्ध—हर्ष ने सम्राट् की उच्चता को प्रकट करने के लिए 'परमभट्टारक' और 'महाराजाधिराज' जैसे विरुद धारण किए। उसका शासन-प्रबन्ध प्राय. गुप्तकाल जैसा ही था और उसकी भलाई-बुराई किसी अश मे राजा के व्यक्तिगत चरित्र पर निर्भर थी।

१. देखिए हर्ष का बांसखेड़ा अभिलेख।
२. देखिए हर्ष का मधुबन अभिलेख।

हर्ष प्रजा के हित का पूरा ध्यान रखता। वह दिन-भर अथक परिश्रम करता। युवान-च्वांग के शब्दो मे दिन का सारा समय भी उसके कार्य के लिए सर्वथा स्वल्प था। अपनी प्रजा की दशा जानने के लिए वह सदा दौरा करता रहता, दण्डनीयों को दण्ड देता और भले व्यक्तियों को पुरस्कार देता था। जब कभी वह दौरे पर होता उसके लिए पेडों की शाखाओं और फूस आदि से महल बनाये जाते। वह प्रजा के कार्यों में इतना व्यस्त रहता कि सोना और खाना भी भूल जाता।

हर्ष के राज्यकाल मे मन्त्रिमण्डल का राज्य-प्रबन्ध पर पर्याप्त प्रभाव था। राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् कान्यकुब्ज के मुख्यमन्त्री ने राजा का चुनाव करने के लिए मन्त्रिमण्डल की बैठक बुलाई थी। राज्यवर्धन ने भी शशाक का निमन्त्रण अपने मन्त्रिमण्डल की अनुमति से स्वीकार किया। इससे यह स्पष्ट है कि विदेश-नीति का निर्णय भी मन्त्रिमण्डल की सलाह से किया जाता था।

हर्ष ने शासन-प्रबन्ध के लिए अपने राज्य को भुक्तियों (प्रान्तों), विषयो (जिलो) और गाँवों में बाँट रखा था। विषयों के अन्तर्गत 'पाठक' होते थे जो सम्भवत आजकल की तहसील या ताल्लुके के बराबर थे। गाँव के मुखिया का ग्रामाक्षपटलिक' कहते थे। उसके अधीन बहुत से लिपिक होते थे जो 'करणिक' कहलाते थे। मधुवन अभिलेख में हर्ष के निम्नलिखित अधिकारियो के नामों का उल्लेख है ---

महासामन्त या महाराज---सम्भवत स्थानीय सरदार जिन्होंने उसका आधिपत्य मान लिया था।

उपरिक ---राज्यपाल
विषयपति ---जिले का मुख्य अधिकारी
सर्वाध्यक्ष ---सब विभागों का निरीक्षक
पुस्तपाल ---सब कागजों का सुरक्षित रखने वाला
करणिक ---लेखक
ग्रामिक ---गाँव का मुखिया

हर्ष के अभिलेखों में कुछ ऐसे अधिकारियों के नाम आते है जिनके पदो को पहले 'सामन्त महाराज' या 'महासामन्त' पद जुड़े है। इसका यह अर्थ है कि हर्ष अपने साम्राज्य के शासन में कुछ सामन्तो की सेवाओं का भी उपयोग करता था। जहाँ सामन्त शब्द के आगे उपरिक आदि पद निर्दिष्ट नही है वहाँ उन सामन्तो से अभिप्राय है जो अपने प्रदेश में स्वय शासन करते थे किन्तु उन्होंने हर्ष को अपना अधिपति स्वीकार कर लिया था। प्रत्येक विभाग के कागजों को सुरक्षित रखना हर्ष के शासन-प्रबन्ध की एक विशेषता थी। अधिकारी सारी प्रमुख घटनाओं को लिखकर रखते थे। बांसखेड़ा अभिलेख में उसका पद 'महाक्षपटलाधिकृत' दिया है। सम्भवत बडे असैनिक अधिकारी 'कुमारामात्य' कहलाते थे। हर्ष चरित में सन्देशवाहकों का 'दीर्घाध्वग' कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष के समय मे अधिकतर राज-कर्मचारियों को वेतन के बदले में भूमि दे दी जाती थी। इस प्रकार हर्ष के राज्यकाल मे सामन्त प्रथा का प्रारम्भ हो गया। विदेश विभाग का अध्यक्ष 'महासन्धिविग्रहाधिकृत' कहलाता था।

हर्ष के शासन-प्रबन्ध मे निरकुश शासन और लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय

था। निरंकुश शासन पर ग्राम और नगर सभाओं के नियमों का पर्याप्त नियंत्रण रहता था। केन्द्रीय अधिकारियों और गाँव की लोकप्रिय संस्थाओं में बराबर ताल-मेल रखा जाता था।

सेना—सिंहासन पर बैठते ही हर्ष को अनेक शत्रुओं का सामना करना पड़ा। इसलिए उसने अपनी गज-सेना की संख्या बढ़ाकर ५,००० से ६०,००० और अश्व-सेना २०,००० से १,००,००० कर दी। अश्व सेना का अध्यक्ष 'बृहदश्ववार' और पैदल सेना के अधिकारी 'बलाधिकृत' या 'महाबलाधिकृत' कहलाते थे। सेना का सबसे बड़ा अधिकारी 'महासेनापति' कहलाता था। इस बड़ी सेना से उसने अपने राज्य की शत्रुओं से रक्षा की और देश में शान्ति और सुव्यवस्था रखी। सेना के लिए घोड़े ईरान और अफगानिस्तान से मँगाये जाते थे। सीमा की सुरक्षा का भी पूरा प्रबन्ध था।

मैत्री—हर्ष ने कामरूप के राजा **भास्करवर्मा** से सन्धि करके और वलभी नरेश ध्रुवसेन द्वितीय से अपनी पुत्री का विवाह करके भी अपनी शक्ति बढ़ाई। उसने चीन के राजाओं के पास ६४१ ई० में अपने राजदूत भेजकर उनसे भी मित्रता रखी। चीन के सम्राट् ने भी एक शिष्ट-मण्डल ६४३ ई० में और दूसरा हर्ष की मृत्यु के बाद ६४६ ई० में भारत भेजा। इस प्रकार उसने शक्तिशाली राजाओं से मित्रता करके अपने को शक्तिशाली बनाया।

फौजदारी कानून—हर्ष के समय में फौजदारी कानून गुप्तकाल की अपेक्षा अधिक सख्त था। सड़कें अब इतनी सुरक्षित न थीं जितनी गुप्तकाल में। गुप्तकाल में अधिकतर दण्ड देने के लिए हाथ-पैर नहीं काटे जाते थे, किन्तु अब हाथ-पैर भी काट लिये जाते। यातनाओं द्वारा भी अपराधों का पता लगाया जाता था।

आय के साधन—हर्ष के समय में आय का प्रमुख साधन भूमिकर था जो उपज का छठा भाग था। इसे सम्भवतः 'भाग' कहते थे और यह अधिकतर अन्न के रूप में ही लिया जाता था। जो धन करों के रूप में नकद दिया जाता था उसे 'हिरण्य' कहते थे। 'बलि' से सम्भवतः उन उपहारों से तात्पर्य है जो प्रजा स्वेच्छा से राजा को देती थी। इन तीन प्रकार के करों का उल्लेख हर्ष के ताम्रलेखों में मिलता है। इसके अतिरिक्त चुंगी, बिक्री-कर, पुलों आदि से भी सरकार को आय होती थी। जो व्यक्ति राजा से मिलने आते वे भी उपहार-रूप में कुछ धन राजा को देते थे। सब मिलाकर कर का भार प्रजा पर अधिक न था।

व्यय की मदें—अधिकारियों को वेतन के स्थान में जमीन दी जाती थी। यात्रियों की सुविधा के लिए शहरों और गाँवों में धर्मशालाएँ बनाई जातीं। इन धर्मशालाओं में यात्रियों के खाने-पीने और औषधि की भी व्यवस्था होती थी। बहुत-सा धन हिन्दू और बौद्ध धार्मिक संस्थाओं को दिया जाता। हर पाँच वर्ष के पश्चात् हर्ष अपने राजकोष का सारा धन प्रयाग में दान में दे देता। इस प्रकार हर्ष ने अपने राज्यकाल में छः बार अपना सारा धन प्रयाग में दान में दे दिया।

शिक्षा और साहित्य—हर्ष शिक्षा के प्रसार के लिए बहुत-सा धन दान में देता। उसने बहुत-से गाँव नालन्दा विश्वविद्यालय को दिये। वह जयसेन नामक विद्वान् को उड़ीसा के ८० नगरों की आय देने को उद्यत हो गया। वह अपनी आय का चौथाई भाग विद्वानों को दान के रूप में देता था। उसकी राजसभा में बाणभट्ट जैसे विद्वान् विद्यमान थे, जिसने 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' जैसे संस्कृत साहित्य के ग्रन्थ लिखे। मयूर भी उसकी राज्यसभा का एक रत्न

था। वह स्वयं एक अच्छा लेखक था। उसने 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' और 'नागानन्द' नाम के तीन नाटक लिखे।

पणिक्कर के अनुसार भारत इस समय सबसे अधिक शिक्षित देश था। नालन्दा विश्वविद्यालय के व्यय के लिए २७० गाँवों की आय आती थी और इसमें लगभग ५,००० विद्यार्थी निःशुल्क शिक्षा पाते थे। उनके भोजन और वस्त्र के लिए भी कुछ नहीं लिया जाता था। वह विश्वविद्यालय होने के साथ साथ एक बौद्ध मठ भी था। नालन्दा की स्थापना सम्भवतः गुप्त राजाओं ने की थी। हर्ष के समय नालन्दा विश्वविद्यालय अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र बन चुका था। यहाँ उन सब द्वीप-द्वीपान्तरों से विद्यार्थी पढ़ने आते जहाँ भारतीय संस्कृति फैल चुकी थी। इस विश्वविद्यालय में आठ महाविद्यालय थे। विश्वविद्यालय के चारों ओर ईंट की पक्की दीवार थी। इसमें तीन बड़े-बड़े पुस्तकालय थे। पहले इस विश्वविद्यालय का आचार्य धर्मपाल नामक विद्वान् था, फिर शीलभद्र ने इस पद को सुशोभित किया। धर्मपाल काँची का निवासी था और शीलभद्र सम्भवतः आसाम का। नालन्दा विश्वविद्यालय में भिक्षुओं का प्रशिक्षण भी होता। यहाँ से अनेक बौद्ध भिक्षु तिब्बत गये जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। नालन्दा के अनेक विद्वान् चीन और पूर्वी द्वीप समूह भी गये। यह उच्च शिक्षा और उच्च आचरण के लिए प्रसिद्ध था। इसमें लगभग १,००० अध्यापक और ४,००० विद्यार्थी रहते। प्रवेश पाना इतना कठिन था कि प्रत्येक दस विद्यार्थियों में से दो या तीन सफल होते थे। यह मुख्य रूप से बौद्ध दर्शन और साहित्य का केन्द्र था, किन्तु तीनों वेद, वेदान्त, सांख्य-दर्शन और हिन्दू धर्मशास्त्र की शिक्षा का भी यहाँ प्रबन्ध था। बहुत से ब्राह्मण भी अपने पुत्रों को शिक्षा के लिए नालन्दा भेजते। वलभी भी शिक्षा का बड़ा केन्द्र था। इत्सिंग ने लिखा है कि दूर-दूर से विद्वान् अपनी शंकाओं का निवारण करने, उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वलभी जाते थे।

बाण ने दिवाकर मित्र के आश्रम का भी वर्णन किया है। यह विन्ध्यवन में स्थित था, जहाँ अनेक विद्वान् शास्त्रार्थ द्वारा अपनी शंकाओं का समाधान करते। उस आश्रम में जैन, हिन्दू और बौद्ध सभी शिक्षा पाते थे।

धर्म—बाण के वर्णन से ज्ञात होता है कि हर्ष एक धर्मात्मा शैव था। किन्तु युवान च्वांग के वर्णन से ऐसा लगता है कि हर्ष महायान बौद्ध सम्प्रदाय का अनुयायी था और दूसरे धर्मों की परवाह न करके बौद्ध धर्म का ही प्रचार करना चाहता था। उसके अनुसार, वह दूसरे धर्मों का आदर नहीं करता था। परन्तु युवान-च्वांग का यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता। प्रयाग की सभा में हर्ष ने बुद्ध के साथ-साथ सूर्य और शिव की मूर्तियों की भी प्रतिष्ठा की थी। वह बौद्धों के साथ-साथ ब्राह्मणों को बहुत सा धन दान में देता था। हर्ष ने अपने राज्यकाल में कई धार्मिक सभाएँ कीं। महायान बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए उसने कन्नौज में एक सभा की। इस सभा में उसने दूसरे धर्मों के अनुयायियों को भी आमन्त्रित किया। इसमें आसाम के राजा भास्करवर्मा के अतिरिक्त १८ अन्य राजा उपस्थित थे। इसमें १,००० बौद्ध भिक्षुओं और ५०० ब्राह्मणों ने भाग लिया। नालन्दा के १,००० विद्वान भी इसमें सम्मिलित हुए। इसमें युवान-च्वांग ने अध्यक्षता की और महायान बौद्ध सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इस सभा में अनेक गूढ़ विषयों पर विचार किया गया। यह सभा २१ दिन तक चलती रही। पहले पाँच दिन किसी ने युवान-च्वांग का विरोध न किया। पीछे

हीनयान और ब्राह्मण धर्म के अनुयायी उससे अप्रसन्न हो गए। उन्होंने षड्यन्त्र करके अन्तिम दिन उस नगर और पण्डाल में आग लगा दी। उनमें से एक ने हर्ष की हत्या करने का भी प्रयत्न किया।

हर पाँच वर्ष के बाद हर्ष दान देने के लिए प्रयाग में एक सभा करता था। उसने छठी सभा ६३५ ई० मे की जब युवान च्वाग भारत में था। इसमे ठहरने और खाने की उचित व्यवस्था थी। इस सभा मे बुद्ध, सूर्य और शिव की मूर्तियो की प्रतिष्ठा की गई। हर्ष ने १०,००० बौद्ध विद्वानो मे से प्रत्येक को १०० सुवर्ण मुद्रा, वस्त्र और भोजन दिया और ब्राह्मणो और भिखारियो को भी बहुत-सा धन दिया। इस प्रकार राजकोष में पाँच वर्ष मे एकत्रित सब धन व्यय हो गया। उसे अपना शरीर ढकने के लिए भी एक वस्त्र अपनी बहन से लेना पड़ा।

युवान-च्वांग—युवान-च्वाग नामक चीनी यात्री बिना आज्ञापत्र लिये ६२९ ई० मे चीन से चला क्योंकि उस समय चीन सरकार और मध्य-एशिया के राज्यो के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण न थे। उस समय उसकी अवस्था २६ वर्ष की थी। उसने लिखा है कि तुर्फान, कारा शहर और कूची के निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। समरकन्द अच्छा व्यापारिक केन्द्र था। बामियान मे १० बौद्ध मठ और बुद्ध की २ बडी मूर्तियाँ थी। कापिश, नगरहार (जलालाबाद), पेशावर, उड्डियान और तक्षशिला मे भी बौद्ध धर्म के अनेक अनुयायी थे।

युवान-च्वाग ६३० ई० मे भारत पहुँचा और १४ वर्ष यहा रहा। वह कश्मीर गया और स्यालकोट, जालन्धर और मथुरा होता हुआ कन्नौज पहुँचा। नेपाल और बौद्ध तीर्थों की यात्रा करके वह नाव मे गंगा नदी मे यात्रा करता हुआ प्रयाग पहुँचा और वहाँ से बनारस गया। बनारस से वह बोधगया गया। नालन्दा महाविहार में वह १५ महीने ठहरा और उसने योगाचार के सिद्धान्त और संस्कृत पढी।

नालन्दा से युवान-च्वाग चम्पा होता हुआ ताम्रलिप्ति पहुँचा। वहाँ से वह उडीसा, महाकोशल, आन्ध्र और तेलगू प्रदेश मे होते हुए काँचीपुरम् गया। पहले उसका विचार श्रीलका जाने का था, किन्तु वहाँ अशान्ति होने के कारण उसने वहाँ जाने का विचार छोड दिया। इसके बाद वह भडौंच और वलभी गया। सिन्ध और मुल्तान की यात्रा के बाद वह फिर नालन्दा पहुँचा। कामरूप के राजा भास्करवर्मा के निमन्त्रण पर वह उसकी राजसभा मे भी गया। इसके बाद उसकी हर्ष से भेंट हुई। उसने हर्ष के द्वारा बुलाई गई कन्नौज और प्रयाग की सभाओ मे भाग लिया। कन्नौज से जालन्धर और तक्षशिला होते हुए युवान-च्वाग नगरहार पहुँचा। वहाँ से ६४४ ई० मे वह चीन चला गया।

युवान-च्वाग की राजनीतिक विषयो मे रुचि न थी अत उसका राजनीतिक घटनाओं का वर्णन कुछ भ्रमपूर्ण है। भारत की धार्मिक अवस्था के वर्णन मे उसने बौद्ध धर्म को बहुत उन्नत दशा मे दिखलाने का प्रयत्न किया है। वह इतना धर्मान्ध था कि असम्भव घटनाओ का भी उसने ऐसा वर्णन दिया है जैसे कि वे उसकी आँखो के सामने घटी हो। उसका दृष्टिकोण कट्टर बौद्धो का था। इसीलिए उसने यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि हर्ष केवल महायान बौद्ध धर्म का उपासक था और अन्य धर्मों का निरादर करता था। इसमे सन्देह नही कि हर्ष ने इस चीनी यात्री की विद्वत्ता और सदाचार से प्रभावित होकर उसका बहुत आदर किया। कामरूप के राजा भास्करवर्मा से भी उसकी घनिष्ठ मैत्री हो गई थी। साधारणतः उसका

वर्णन फ़ाहियान के वर्णन की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय, विस्तृत एव लाभप्रद है । उसके वर्णन से हमे सातवी शताब्दी ई० की भारत की सास्कृतिक अवस्था का बहुत ज्ञान प्राप्त होता है, क्योकि उसने समस्त भारत की यात्रा की और उसका ठीक-ठीक वर्णन किया । किन्तु युवान-च्वांग के वर्णन को पाठको को अक्षरश ठीक नही समझना चाहिए क्योकि वह प्रत्येक घटना को ठीक प्रकार से जानने का प्रयत्न नहीं करता था और न उनका वर्णन सही शब्दो म लिखता था । इसीलिए उसने अपने वर्णन मे बहुत-सी ऐसी घटनाओ का उल्लेख नही किया जो बहुत महत्त्वपूर्ण थीं और जिनका उसे उल्लेख करना चाहिए था । उसके वर्णन का उपयोग इतिहासकार को नीर-क्षीर विवेक से ही करना चाहिए ।

हर्षकालीन सस्कृति

सामाजिक दशा—जाति-प्रथा इससे पूर्व ही पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी । कुछ नई सकर जातियाँ भी सम्भवत इस समय बनी । अन्तर्जातीय विवाह होते रहे, किन्तु सम्भवत कुछ कम । बाण का एक पारशव भाई भी था । ब्राह्मणो का समाज मे आदर था । स्त्रियाँ साधारणतया राजनीति मे हस्तक्षेप न करती थी । सती प्रथा भी प्रचलित थी । राज्यश्री स्वय सती होना चाहती थी । भारतीय सादा भोजन खाते । मांस, लहसुन और प्याज का प्रयोग कम लोग करते थे । नालन्दा मे सब लोग अधिकतर चावल, दूध और घी आदि का प्रयोग करते थे । गायो को मारना अपराध समझा जाता था ।

आर्थिक दशा—युवान-च्वाग ने लिखा है कि मिहिरकुल के अत्याचारो के कारण पेशावर और तक्षशिला खण्डहर हो गये थे । श्रीनगर एक समृद्ध शहर था । जालन्धर और मथुरा की दशा अच्छी न थी । कन्नौज मे विदेशो से आई हुई वस्तुएँ भी प्रचुर मात्रा मे मिलती थी । प्रयाग और बनारस हिन्दू सस्कृति के केन्द्र थे । बनारस एक धनी नगर था । वैशाली के खण्डहर विद्यमान थे ; पाटलिपुत्र की भी दशा अच्छी न थी ।

व्यापार देश के अन्दर और विदेशो से भी होता था । यह अधिकतर वैश्यो के हाथ मे था । खेती के अतिरिक्त कपडे का व्यवसाय बहुत उन्नति कर रहा था । लोग सम्पन्न थे, इसलिए वे नालन्दा विश्वविद्यालय जैसी सस्थाओ को खूब दान देते थे ।

धार्मिक अवस्था

हिन्दू धर्म—इस समय ब्राह्मण धर्म की उन्नति हो रही थी । प्रयाग मे यात्रियो की भीड और साधुओ के तप को देखकर युवान-च्वाग आश्चर्य मे पड गया था । बनारस के मन्दिरो की चीनी यात्री ने मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है । बनारस मे शिव की पूजा बहुत लोकप्रिय थी । यहाँ साधु बहुत-सी योग-क्रियाएँ करते थे । उसने बनारस की मूर्ति-कला की भी प्रशसा की है । शिव की एक महान् सुन्दर मूर्ति देखकर युवान-च्वाग ने लिखा है कि मनुष्य उसे देखकर इतना भय और आदर से भर जाता था मानो वह स्वय ईश्वर के सामने खडा हो ।

सब शिष्ट समाज मे सस्कृत भाषा का प्रयोग किया जाता था । बौद्ध-विद्वान् भी सस्कृत मे ही अपने ग्रन्थ लिखते थे । इस समय हिन्दू धर्म मे बहुत-से धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदाय थे, जैसे—कृष्ण या कणाद के अनुयायी और न्याय, उपनिषद्, लोकायतिक आदि सिद्धान्तो के मानने वाले, पाराशर सन्यासी, जैन, श्रमण, शैव तथा शक्ति के उपासक आदि । ये सन्यासी ससार को त्यागकर ब्रह्मचर्य से रहते थे । वे यश और निन्दा की परवाह नही करते थे ।

जनता में सब जगह उनका आदर किया जाता था।

बौद्ध धर्म—हीनयान सम्प्रदाय की अपेक्षा महायान अब अधिक लोकप्रिय हो गया था। बौद्ध धर्म के इस समय १८ सम्प्रदाय थे। हर सम्प्रदाय के अलग-अलग धर्म-ग्रन्थ और मठ थे। युवान-च्वांग ने लगभग ५,००० मठो को देखा जिनमें लगभग दो लाख बौद्ध भिक्षु रहते थे। कश्मीर बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। जालन्धर, मतिपुर, कान्यकुब्ज, श्वेतपुर, नालन्दा, गया, पुण्ड्रवर्धन, मुगेर और कर्णसुवर्ण मे अनेक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् रहते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय ने बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय की योगाचार शाखा के विकास मे ऐसा योग दिया कि हिन्दू वेदान्त दर्शन और योगाचार के सिद्धान्तो मे कोई विशेष अन्तर न रहा।

भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार—हर्ष के समय में भारतीय संस्कृति का दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो मे और अन्य पडौसी देशो मे खूब प्रचार हुआ। नालन्दा के बहुत-से विद्वान् चीन व तिब्बत गये जहाँ उन्होने बहुत-से भारतीय ग्रन्थो का चीनी और तिब्बत देश की भाषा मे अनुवाद किया। तिब्बत मे कार्य करने वाले भारतीय विद्वानो मे सबसे प्रसिद्ध शान्त-रक्षित, पद्मसम्भव, कमलशील, स्थिरमति और बुद्धकीर्ति थे। चीन जाने वाले भारतीय विद्वानो मे कुमारजीव, परमार्थ, शुभाकर सिंह और धर्मदेव का उल्लेख करना आवश्यक है।

हर्ष का मूल्यांकन—गुप्त साम्राज्य की अवनति के पश्चात् उत्तर भारत मे अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये थे। हर्ष ने बडी योग्यता से ४१ वर्ष शासन किया। ६४७ ई० मे उसका देहान्त हुआ। कामरूप के राजा भास्करवर्मा से मित्रता करके उसने अपने शत्रुओ का दमन किया और पडौसी राज्यो पर अधिकार कर उत्तर भारत मे राजनीतिक एकता स्थापित की। शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित होने पर देश मे समृद्धि और सास्कृतिक उन्नति हुई। सब धर्मों का विकास हुआ। यद्यपि बौद्ध धर्म अवनति पर था, तो भी हर्ष के प्रयत्न से महायान सम्प्रदाय कुछ समय के लिए चमक उठा। वास्तव मे हर्ष मे बहुत-से गुणो का सुन्दर समन्वय था। वह युद्धभूमि मे कुशल योद्धा, राजसभा मे योग्य राजनीतिक, अपने राजप्रासाद मे कुशल कवि, देव-मन्दिर में अनन्य भक्त और योग्य शासक था। वह मौर्य और गुप्त राजाओं के वैभव का योग्य उत्तराधिकारी था।

हर्ष का उत्तराधिकारी—हर्ष का कोई उत्तराधिकारी न था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके मन्त्री अरुणाश्व अथवा अर्जुन ने कन्नौज के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् एक चीनी दूत वाग ह्वान्त्से के नेतृत्व मे भारत आया। अरुणाश्व ने उसे तग किया और उसके सैनिक रक्षको को मार डाला। यह चीनी नेता बचकर तिब्बत पहुँचा और वहाँ के राजा स्रोंगत्सन गाम्पो, नेपाल के राजा और कामरूप के राजा भास्करवर्मा की सहायता लेकर कन्नौज आया। वह अरुणाश्व को हराकर और उसे बन्दी बनाकर चीन ले गया।

सहायक ग्रन्थ

राजबली पाण्डेय — **प्राचीन भारत**, अध्याय १७, १८, १९

राधाकुमुद मुकर्जी — **प्राचीन भारत**, अध्याय ११
अनुवादक—बुद्धप्रकाश

पी० बी० बापट	बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष
R. K. Mookerji	*Harsha*
R C Majumdar and A. D. Pusalkar	*History & Culture of the Indian People, The Classical Age*, Chapters 8 & 9.
S. Chattopadhyaya	*Early History of North India*. Chapter 9.
B P Sinha	*The Decline of the Kingdom of Magadha* Chapters 5, 6 & 7
R S. Tripathi	*History of Kanauj*, Chapters 2 to 8

अध्याय १७

उत्तर भारत की राजनीतिक अवस्था

(६५०—१००० ई०)

(Political Condition of Northern India)

(650—1000 A. D)

हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत की राजनीतिक एकता समाप्त हो गई। उसके विस्तृत साम्राज्य के स्थान पर अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये। उत्तर भारत मे इस समय कन्नौज, मगध और कश्मीर के राज्य सबसे शक्तिशाली थे, पहले हम उनका वर्णन करेंगे फिर अन्य राजवशो का जो महमूद गजनवी के आक्रमण से पूर्व भारत में स्वतन्त्र रूप से अपने राज्यो का शासन करते रहे। इस काल मे राजस्थान के प्रतिहार और मगध और बगाल के पाल राजाओ ने कन्नौज पर अधिकार करके उत्तर भारत पर एकाधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसी समय मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजाओ ने उत्तर भारत पर अधिकार करके चक्रवर्ती सम्राट् होने की चेष्टा की। इन राजाओं ने उत्तर भारत को एक सूत्र मे बाँधकर फिर भारतीय संस्कृति के गौरव को उन्नति के शिखर पर ले जाना चाहा किन्तु विकेन्द्रीकरण की शक्तियाँ इस समय इतनी प्रबल हो गई थी कि उनके ये प्रयत्न १००० ई० के लगभग पूर्णतया निष्फल हो गए और भारत मे अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए जो विदेशी आक्रमणकारियो का सामना करने मे सर्वथा असमर्थ रहे।

कन्नौज

हम अध्याय १६ मे कह आये हैं कि हर्ष की मृत्यु के बाद उसके मन्त्री अर्जुन या अरुणाश्व ने राजसत्ता अपने हाथ मे ले ली। परन्तु सम्भवत. कन्नौज उसके अधिकार मे न था।[1] आठवी शताब्दी के प्रारम्भ मे सम्भवत. लगभग ७२५ ई० से ७५२ ई० तक यशोवर्मा नाम के एक शक्तिशाली राजा ने कन्नौज मे शासन किया। उसकी विजयों का वर्णन उसके राजकवि वाक्पति ने 'गौडवहो' नामक प्राकृत काव्य मे किया है। उससे हमें पता लगता है कि यशोवर्मा ने मगध के शासक को परास्त किया और समुद्र तक बगाल पर आक्रमण किया। यह कहना कठिन है कि इस कवि के वर्णन में कितनी सत्यता है, किन्तु यह सम्भव है कि इस महत्त्वाकांक्षी राजा ने मगध और बगाल की विजय की हो और वह आठवी शताब्दी के पूर्वार्ध के उत्तर भारत के शक्तिशाली राजाओं मे से रहा हो। उसने चीन के सम्राट् से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित

१ देखिए—S. Chattopadhyaya—*Early History of North India*, Chapter 9, Section 5.

भारत लगभग ६५० से १००० ईसवी

किये और ७३१ ई० में अपने एक मन्त्री को चीन भेजा। कश्मीर के राजा ललितादित्य की सहायता से उसने तिब्बत के राजा को हराया। कश्मीर का राजा ललितादित्य स्वयं उत्तर भारत का सम्राट् होना चाहता था, इसलिए उसने ७३३ ई० में यशोवर्मा को पराजित किया। वाक्पति के अतिरिक्त संस्कृत का प्रसिद्ध नाटककार भवभूति भी यशोवर्मा की राजसभा में था। स्वयं यशोवर्मा भी अच्छा कवि था।

आयुध-वंश—७७० ई० के लगभग कन्नौज में **इन्द्रायुध** राज्य कर रहा था। इस समय कन्नौज उत्तर भारत की राजधानी समझा जाता था। प्रतीहार राजाओं ने राजस्थान और मध्यभारत में अपनी शक्ति बढ़ा ली। वे पूर्व की ओर राज्य का विस्तार करके कन्नौज पर अधिकार करना चाहते थे। पाल राजा मगध और बंगाल में शक्तिशाली हो गये। वे भी पश्चिम की ओर बढ़कर कन्नौज पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते थे। इस प्रकार इन दोनों शक्तियों में संघर्ष होना अनिवार्य हो गया। इसी समय मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजाओं ने दक्षिण भारत में अपनी शक्ति दृढ़ करके उत्तर भारत जीतने का संकल्प किया। इस प्रकार इन्द्रायुध के राज्यकाल में प्रतीहार, पाल और राष्ट्रकूट राजाओं में त्रिदलीय संघर्ष प्रारम्भ हुआ। पहले प्रतीहार राजा वत्सराज ने और फिर राष्ट्रकूट राजा ध्रुव ने इन्द्रायुध को पराजित किया। ध्रुव के दक्षिण चले जाने के पश्चात् मगध और बंगाल के राजा धर्मपाल ने इन्द्रायुध को सिंहासन से उतारकर **चक्रायुध** को उसके स्थान पर कन्नौज का शासक बना दिया।

राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय ने पाल राजाओं की बढ़ती शक्ति को चुनौती दी। उसने चक्रायुध और धर्मपाल को पराजित कर दोनों को आत्मसमर्पण करने के लिए विवश किया। उसके कुछ समय बाद प्रतीहार राजा नागभट द्वितीय ने चक्रायुध को हराकर कन्नौज में प्रतीहार वंश के राज्य की नींव डाली।

प्रतीहार—कुछ विद्वानों का मत है कि पाँचवीं शताब्दी ई० के अन्त में गुर्जर लोग हूणों के साथ भारत में आये। वे पहले पंजाब में बसे और फिर राजस्थान में जोधपुर के निकट। थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन ने गुर्जरों के विरुद्ध युद्ध किया। गुर्जरों में से जो वंश जोधपुर के निकट मन्दौर में राज्य करता था वह प्रतीहार था। इसलिए यह राजवंश गुर्जर प्रतीहार या प्रतीहार कहलाता है। इस वंश की एक दूसरी शाखा उज्जयिनी में राज्य करती थी। उसने **नागभट प्रथम** के नेतृत्व में अरबों को पराजित किया। नागभट ने भारत के इस भाग को विदेशियों से मुक्त कर गुजरात से ग्वालियर तक अपना राज्य फैला लिया।

नागभट प्रथम का उत्तराधिकारी **देवराज** था। सजन अभिलेख से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग ने उसे हराकर अवन्ति पर अधिकार कर लिया और हिरण्यगर्भ महादान में उसे प्रतीहार का पद दिया।

वत्सराज—नागभट प्रथम के बाद उसके भतीजों कक्कुक और देवराज ने राज्य किया। उनके विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। देवराज का पुत्र वत्सराज शक्तिशाली राजा हुआ। मालवा और पूर्वी मध्य राजस्थान उसके राज्य में सम्मिलित थे। ग्वालियर अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने भण्डियों को पराजित कर उनका राज्य छीन लिया। उसने कन्नौज के राजा इन्द्रायुध को हराकर कुछ समय के लिए मध्य-देश में अपनी शक्ति की स्थापना की, फिर उसने बंगाल की ओर बढ़कर गोपाल या धर्मपाल को हराया और उसके दो सफेद छत्र छीन लिए। इसी समय राष्ट्रकूट राजा ध्रुव अपनी सेना लेकर उत्तर भारत पर चढ़ आया।

सम्भवत: दोआब मे प्रतीहार सेना उससे हारी और धर्मपाल से छीने हुए दो सफेद छत्र और बंगाल की लूट भी ध्रुव के हाथ लगी। वहाँ से भागकर वत्सराज को राजस्थान के रेगिस्तान में शरण लेनी पड़ी। यह घटना सम्भवत ७९२-९३ ई० के लगभग हुई। ध्रुव ने धर्मपाल को भी हराया, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस सघर्ष मे वत्सराज की अधिक क्षति हुई। सम्भव है उसका राज्य राजस्थान तक ही सीमित रह गया हो।

नागभट द्वितीय—वत्सराज के पुत्र नागभट द्वितीय ने प्रतीहार वश की शक्ति को फिर बढ़ाया। ग्वालियर प्रशस्ति मे लिखा है कि उसने आन्ध्र, सैन्धव, विदर्भ और कलिग के राजाओ को हराया। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मपाल और चक्रायुध ने, जब राष्ट्रकूट राजा गोविन्द ने दक्षिण भारत मे अपनी स्थिति ठीक करके उत्तर भारत पर आक्रमण किया तो उसका आधिपत्य स्वीकार करने में समझदारी समझी, किन्तु नागभट द्वितीय ने राष्ट्रकूट सेना का सामना किया और वह युद्ध मे हारा। यह घटना ८०२ ई० के लगभग हुई। गोविन्द को दक्षिण लौटना पड़ा किन्तु गुजरात और मालवा मे उसने अपने अधिकारी नियुक्त किये। नागभट द्वितीय ने धीरे-धीरे फिर अपनी शक्ति बढ़ाई और इधर-उधर के छोटे-छोटे राज्यो को अपने राज्य मे सम्मिलित करने के बाद ८१० ई० के आसपास उसने चक्रायुध को कन्नौज से निकाल बाहर किया। उसके बाद प्रतीहार सेना और आगे बढ़ी। मुगेर के युद्ध मे धर्मपाल पराजित हुआ और नागभट द्वितीय का राज्य इस तरह राजस्थान से लेकर बिहार तक पहुँच गया। नागभट ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) को अपनी राजधानी बनाया, किन्तु मालवा और गुजरात के प्रान्त अब भी राष्ट्रकूटों के हाथ मे रहे। नागभट द्वितीय की इन विजयो के कारण पाल राजाओ का प्रभुत्व मध्यप्रदेश (उत्तर प्रदेश) से हट गया और प्रतीहारो का साम्राज्य राजस्थान की पश्चिमी सीमा से लेकर प्राय बिहार की पश्चिमी सीमा तक फैल गया।

मिहिर भोज—नागभट द्वितीय का उत्तराधिकारी रामभद्र निर्बल शासक था। उसके समय में बगाल के शासक देवपाल ने आक्रमण किया और प्रतीहारो की शक्ति कम हो गई, किन्तु उसके पुत्र **मिहिर भोज** के समय मे (लगभग ८३६ से ८८२ ई०) यह फिर उन्नति के शिखर पर पहुँच गई। भोज ने ८३६ ई० से पूर्व ही कालजर (बाँदा जिला) पर अधिकार कर लिया था। यह भी सम्भव है कि उसने इससे पूर्व ही कन्नौज को अपनी राजधानी बना लिया हो। दौलतपुर ताम्रपत्र अभिलेख से ज्ञात होता है कि ८४३ ई० से पूर्व ही उसने मध्य और पूर्वी राजस्थान पर अधिकार कर लिया था। भोज ने अपने राज्य की वृद्धि चौहान, कलचुरि और आनन्द सामन्तो की सहायता से की, परन्तु इसी समय बगाल के पाल राजा देवपाल ने आक्रमण किया। इस युद्ध मे भोज हार गया। इस कारण इसके समय में प्रतीहार साम्राज्य पूर्व की ओर न बढ़ सका। फिर भोज ने दक्षिण भारत को जीतने का निश्चय किया। ८४५ से ८६० ई० के बीच उसने राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण किया, परन्तु इस युद्ध मे राष्ट्रकूटों के विरुद्ध भोज की हार हुई। इस प्रकार पाल और राष्ट्रकूट राजाओ ने प्रतीहारो के उत्कर्ष को रोक दिया। कलचुरि राजा कोक्कल ने भी भोज को हराया। इन पराजयो से प्रतीहार राज्य की बहुत क्षति हुई।

देवपाल की मृत्यु के बाद बगाल मे विग्रहपाल और नारायणपाल दो निर्बल और शान्तिप्रिय राजा हुए। राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष ध्रुव और गोविन्द के समान दिग्विजयी न था। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर भोज ने फिर प्रतीहार वश की प्रतिष्ठा बढाने का निश्चय किया।

उसने सम्भवत· बंगाल के राजा नारायणपाल को हराकर उसके राज्य का पश्चिमी भाग अपने राज्य में मिला लिया। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय ने उत्तर भारत पर आक्रमण किया और उज्जयिनी तक पहुँचा। नर्मदा नदी के तट पर भोज ने राष्ट्रकूट राजा को हराकर मालवा पर अधिकार कर लिया और वह फिर गुजरात की ओर बढा और प्रतीहार शक्ति भडोंच तक फैल गई। इस प्रकार भोज का राज्य पश्चिम मे सौराष्ट्र तक पहुँच गया। उत्तर मे दिल्ली, करनाल और सम्भवत पजाब का दक्षिण-पूर्वी भाग भी उसके राज्य मे सम्मिलित थे। पूर्व मे गोरखपुर जिले तक उसका राज्य फैला हुआ था। सम्भवत अवध और बुन्देलखण्ड के राजा भी उसे अपना अधिपति मानते थे। इस प्रकार उसने सारे उत्तर भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित किया।

८५१ ई० मे अरब यात्री सुलैमान उसके राज्य में आया। उसने भोज की सेना और शासन की बहुत प्रशंसा की है। उसने लिखा है कि "राजा की एक बडी सेना है। किसी भी भारतीय राजा के पास इतनी अच्छी अश्व-सेना नही है। वह अरब लोगो से मैत्री-भाव नही रखता, किन्तु वह यह मानता है कि अरब का राजा सबसे महान् राजा है। भारतीय राजाओ मे अरब के लोगो का उससे बडा कोई शत्रु नही है। उसके पास बहुत धन और असख्य घोडे और हाथी हैं। वस्तुओ का विनिमय सोने-चाँदी के द्वारा होता है। इन धातुओ की इस देश मे अनेक खाने है। इस प्रदेश से अधिक डाकुओ से सुरक्षित और कोई प्रदेश भारत मे नही है।"

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भोज एक योग्य शासक था। उसने अपने राज्य की विदेशी आक्रमणकारियो से रक्षा करके शान्ति और सुव्यवस्था रखी।

महेन्द्रपाल प्रथम—मिहिर भोज का उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल प्रथम (लगभग ८८५ ई० से ९१० ई०) था। अभिलेखो से ज्ञात होता है कि उसने मगध और उत्तरी बगाल पर अधिकार कर लिया। सौराष्ट्र भी उसके राज्य मे सम्मिलित था। करनाल भी उसके राज्य का एक भाग था। परन्तु कश्मीर के राजा शकरवर्मा ने उसके राज्य के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। प्रसिद्ध कवि राजशेखर उसकी राजसभा मे था। राजशेखर की प्रसिद्ध पुस्तके 'कर्पूरमजरी' और 'काव्य-मीमासा' है।

महीपाल (९१२—९४२ ई०)—महेन्द्रपाल प्रथम के पश्चात् भोज द्वितीय राजा बना। उसके भाई **महीपाल** ने उसे हराकर उसका राज्य छीन लिया। उसके समय में राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय ने कन्नोज और प्रयाग तक आक्रमण किया। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर मगध के पाल राजाओ ने अपने वे प्रदेश, जो उनसे पहले छिन गये थे, प्रतीहार राजाओ से वापस ले लिये। महीपाल की राजसभा मे क्षेमीश्वर नामक कवि था, जिसने 'चण्डकौशिक' नामक ग्रन्थ लिखा। राजशेखर भी उसकी राजसभा मे कई वर्ष रहा।

महीपाल के उत्तराधिकारियो का क्रम कुछ अनिश्चित है। महेन्द्रपाल द्वितीय सवंत १०४६ अर्थात् ९८९ ई० मे कन्नौज पर राज्य कर रहा था। उज्जैन उसके राज्य के अन्तर्गत था। इस वंश के अन्तिम राजा विजयपाल और राज्यपाल थे। फिरिश्ता के वर्णन से प्रतीत होता है कि सन् ९९१ ई० मे राज्यपाल ने ओहिन्द के शाही राजा जयपाल को सुबुक्तगीन के विरुद्ध सहायता देने के लिए अपनी सेना भेजी। १००८ ई० मे फिर उसने जयपाल के पुत्र आनन्दपाल को महमूद गजनवी के विरुद्ध सहायता दी। १०१८ ई० मे महमूद ने फिर उसके राज्य पर आक्रमण किया। इस समय वह एक कायर की भाँति कन्नौज से भाग निकला।

इस कायरता का फल देने के लिए चन्देल राजा गंड के पुत्र विद्याधर देव ने उसे मार दिया। उसके बाद उसका पुत्र त्रिलोचन-पाल राजा बना।

मुसलमानो की विजय से पूर्व प्रतीहार साम्राज्य उत्तर भारत का अन्तिम बडा साम्राज्य था। इसका सबसे महान् कार्य विदेशियो के आक्रमणो के विरुद्ध सघर्ष करना था। लगभग ३०० वर्ष तक प्रतीहार राजा मुसलमानो से लोहा लेते रहे। उन्होने उन्हे सिन्ध से पूर्व की ओर न बढ़ने दिया।

मगध और बंगाल

हर्षवर्धन ने परवर्ती गुप्तो के वशज **माधवगुप्त** को मगध मे अपना प्रतिनिधि शासक नियुक्त किया था। माधवगुप्त का पुत्र **आदित्यसेन** एक प्रबल शासक हुआ। उसने कम-से-कम ६१२ ई० तक मगध मे राज्य किया। समुद्रो तक राज्य करने का दावा करके उसने अपने को सम्राट् कहा और एक अश्वमेध यज्ञ किया। आदित्यसेन का उत्तराधिकारी **देवगुप्त तृतीय** था। सम्भवत उसका राज्य पश्चिम मे उत्तर प्रदेश तक फैला था। यह भी सम्भव है कि चालुक्य राजा विनयादित्य ने उसे हराया हो। देवबर्नार्क अभिलेख मे देवगुप्त को परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि वह भी एक शक्तिशाली राजा था। सम्भवत उसने अपने पैतृक राज्य की पूर्णरूप से रक्षा की।

देवगुप्त का पुत्र **विष्णुगुप्त** था। उसका राज्य शाहाबाद जिले तक फैला हुआ था। विष्णुगुप्त का पुत्र **जीवितगुप्त द्वितीय** सम्भवत मगध और बगाल दोनो पर राज्य करता था। वह भी एक शक्तिशाली सम्राट् था।

आठवी सदी के दूसरे चरण मे कन्नौज के यशोवर्मा ने मगध और गौड के राजा (सम्भवत जीवितगुप्त द्वितीय) को परास्त किया। इसके बाद कश्मीर के ललितादित्य, कामरूप के श्रीहर्ष तथा कुछ अन्य राजाओं ने इस प्रदेश को रौंदा। इस प्रकार जब यहाँ अधिक अराजकता फैल गई तो जनता ने गोपाल को अपना राजा चुना।

पालवंश—सम्भवत. गोपाल का पिता कोई प्रसिद्ध क्षत्रिय योद्धा था जिसने अपने शत्रुओ को हराकर ख्याति प्राप्त की थी। इसीलिए जनता ने गोपाल को अपना राजा चुना। अपने राज्यकाल मे गोपाल ने सम्भवत सारे बगाल पर अपना अधिकार कर लिया।

धर्मपाल—गोपाल का उत्तराधिकारी धर्मपाल था। धर्मपाल ने उत्तर भारत के सब प्रमुख राजाओ को अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया। इन्द्रायुध को हटाकर उसने चक्रायुध को कन्नौज की गद्दी पर बिठाया।[1] उसने कन्नौज मे एक दरबार किया जिसमे भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गन्धार और कीर के राजा उपस्थित हुए। इस दरबार मे उसका सम्राट के रूप मे राज्याभिषेक हुआ। तारानाथ के अनुसार पूर्व मे उसका राज्य समुद्र तक, पश्चिम मे दिल्ली और जालन्धर तक और दक्षिण मे नर्मदा नदी तक फैला हुआ था। उत्तर मे केदारनाथ पर भी उसकी सेनाओ ने धावे किये। धर्मपाल ने राष्ट्रकूट राजा परबल की पुत्री रण्णदेवी से विवाह करके भी अपनी शक्ति बढाई। परन्तु प्रतीहार राजा नागभट द्वितीय ने उसे मुंगेर में हराया। जब राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय अपनी उत्तर

१. देखिए पृष्ठ २७१।

भारत की विजय करके दक्षिण चला गया[1] तो धर्मपाल ने फिर उत्तर भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। धर्मपाल की मृत्यु ८१५ ई० मे हुई।

वह विद्वानो का आश्रयदाता था। उसके राज्यकाल मे हरिभद्र नामक बौद्ध विद्वान् हुआ। उसे धर्मपाल का संरक्षण प्राप्त था। धर्मपाल ने विक्रमशील विहार की स्थापना की जो बौद्ध-शिक्षा और सस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया।

देवपाल (८१५—८५४ ई०)—यह धर्मपाल का दूसरा पुत्र था। उसने लगभग ३९ वर्ष राज्य किया। उसने पाल शक्ति की काफी वृद्धि की। अभिलेखो से ज्ञात होता है कि अपनी दिग्विजय करते हुए वह पश्चिम में कम्बोज तक पहुँचा और दक्षिण में विन्ध्याचल तक। उसने उत्कल (उडीसा) के राजा को उखाड फेका, आसाम को जीता, हूणो को पराजित किया और द्रविड और गुर्जर देश के राजाओ को अपने अधीन किया। सम्भवत गुर्जर देश के राजा से नागभट द्वितीय से और द्रविड देश के राजा से राष्ट्रकूट राजा से अभिप्राय है। सम्भव है उसने पाण्ड्य राजा श्रीमान् श्रीवल्लभ को भी हराया हो। उसने ४० वर्ष राज्य किया। उसके राज्यकाल मे पाल शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। जावा के शैलेन्द्र राजा बालपुत्रदेव ने उसी के राज्यकाल मे अपने देश के विद्यार्थियो के लिए नालन्दा मे एक छात्रावास बनवाया। देवपाल ने इस छात्रावास के व्यय के लिए नालन्दा विश्वविद्यालय को पाँच गाँव दान मे दिए।

देवपाल एक प्रसिद्ध विद्वान् वीरदेव को नगरहार (जलालाबाद) से अपने साथ लाया और उसे नालन्दा विश्वविद्यालय मे रखा। उसका मन्त्री दर्भपाणि भी विद्वान् था। बौद्ध कवि वज्रदत्त ने उसी के राज्यकाल मे 'लोकेश्वर-शतक' नामक पुस्तक की रचना की।

नारायणपाल (८५४—९०८ ई०)—विग्रहपाल के उत्तराधिकारी नारायणपाल के राज्यकाल मे गुर्जर प्रतीहार राजा भोज प्रथम ने मगध सहित पाल साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर अधिकार करके कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। परन्तु मृत्यु से पूर्व नारायण-पाल ने अपने राज्य का अधिकतर भाग प्रतीहारो से वापस ले लिया। ८६६ ई० के लगभग राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष ने अग, वग और मगध पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसके उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय ने भी गौड प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित रखा।

इन प्रतीहार और राष्ट्रकूट आक्रमणो के कारण पाल-शक्ति क्षीण होती चली गई। नारायणपाल के उत्तराधिकारी राज्यपाल, गोपाल द्वितीय और विग्रहपाल द्वितीय सब निर्बल शासक थे।

महीपाल (लगभग ९९२—१०२६ ई०)—महीपाल एक शक्तिशाली राजा था। उसने अपने प्रतिद्वन्द्वियो से अपने पूर्वजो का कुछ राज्य वापस ले लिया। उसके राज्य मे गया, पटना, मुजफ्फरपुर के जिले सम्मिलित थे। सम्भवत त्रिपुरा का जिला भी शामिल था। १०२३ ई० के लगभग राजेन्द्र चोल, कलचुरि और चालुक्य राजाओ ने उस पर आक्रमण किया। उसने इन सबसे अपने राज्य की रक्षा की। उसका राज्यकाल सांस्कृतिक उन्नति के लिए प्रसिद्ध है। धर्मपाल आदि राजाओं के समय मे नालन्दा के कुछ विद्वानों के प्रचार के फल-स्वरूप भारतीय सस्कृति तिब्बत आदि पड़ोसी राष्ट्रो मे फैली।

१ देखिये अध्याय ११।

बंगाल के उन शासकों का, जिन्होंने महीपाल के पश्चात् राज्य किया, हम अध्याय २१ में वर्णन करेंगे ।

कश्मीर

दुर्लभवर्धन नाम के राजा ने कश्मीर में कर्कोट वंश की नींव डाली । जब युवानच्वांग कश्मीर पहुँचा (६३१—६३३ ई०) उसने बौद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने के लिए इस चीनी यात्री की अध्यक्षता में २० लेखक रखे । कश्मीर के बौद्धों को इस बात का गर्व था कि उनके राज्य में अशोक के बनवाये हुए सौ मठ और तीन स्तूप थे । दुर्लभवर्धन ने ३६ वर्ष राज्य किया । वह स्वयं बौद्ध विचारों का था, किन्तु उसके समय में कश्मीर में ब्राह्मण धर्म की बहुत उन्नति हुई । युवान च्वांग के अनुसार तक्षशिला, उरशा (हजारा), सिंहपुर, राजपुरी और पर्णोत्स के प्रदेश उसका आधिपत्य स्वीकार करते थे । सम्भव है कि हर्ष ने दुर्लभवर्धन को ही बुद्ध का दाँत देने के लिए विवश किया हो । दुर्लभवर्धन के बाद उसके पुत्र दुर्लभक ने लगभग ५० वर्ष राज्य किया ।

दुर्लभक के पुत्र **चन्द्रापीड** के समय सन् ७१३ ई० के लगभग अरब सेना कश्मीर की सीमा तक पहुँच गई । चन्द्रापीड ने उसे पराजित कर दिया । सन् ७२० ई० में चीन के सम्राट् ने चन्द्रापीड को राजा की पदवी प्रदान की, किन्तु इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि चीनी सम्राट् ने चन्द्रापीड को स्वतन्त्र राजा के रूप में स्वीकार किया । चन्द्रापीड अत्यन्त न्यायप्रिय और धार्मिक राजा था ।

ललितादित्य मुक्तापीड (७२४—लगभग ७६० ई०) – चन्द्रापीड के बाद उसका छोटा भाई ललितादित्य मुक्तापीड राजा हुआ । यशोवर्मा से सन्धि कर उसने तिब्बत वालों को हराया और तिब्बत वालों के विरुद्ध चीन से सन्धि करने का भी प्रयत्न किया । चीन वालों ने कुछ सहायता नहीं दी, तो भी ललितादित्य ने न केवल तिब्बत वालों को ही अपितु अपने राज्य के उत्तर और उत्तर-पश्चिम में बसने वाली दर्द, काम्बोज और तुरुष्क जातियों को पराजित किया । उसका सबसे महत्त्वपूर्ण अभियान कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा के विरुद्ध हुआ । उसे पराजित कर ललितादित्य ने कान्यकुब्ज और यशोवर्मा द्वारा शासित पूर्वी प्रदेशों पर भी अपना आधिपत्य स्थापित किया । कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में ललितादित्य की दिग्विजय का विस्तृत वर्णन दिया है, किन्तु उस वर्णन की पूर्ण सत्यता के विषय में सन्देह किया जा सकता है । उसने बंगाल और अवध को अवश्य जीता, किन्तु सुदूर दक्षिण तक वह शायद ही पहुँचा ।

ललितादित्य ने अपने राज्य में अनेक सुन्दर नगर, मन्दिर, मठ आदि का निर्माण किया । इनमें सबसे प्रसिद्ध मार्तण्ड मन्दिर है ।

ललितादित्य की मृत्यु सन् ७६० ई० के लगभग हुई ।

ललितादित्य के पोते जयापीड ने मध्य देश में कश्मीर के प्रभुत्व को जमाने का फिर प्रयत्न किया, किन्तु उसे विशेष सफलता न मिली । नवीं शती ई० मध्य के लगभग कर्कोट वंश की समाप्ति और उत्पल वंश की स्थापना हुई ।

उत्पल वंश का पहला राजा **अवन्तिवर्मा** (८५५—८८८ ई०) था । उसके राज्यकाल में उसके मन्त्री सुय्य ने सिंचाई के लिए बहुत-सी नहरें बनवाईं और सुय्यपुर नामक नगर बसाया । अवन्तिवर्मा ने अवन्तिपुर नामक नगर की स्थापना की ।

वह विद्वानो का आश्रयदाता था । दो प्रसिद्ध कवि रत्नाकर और आनन्दवर्धन उसकी राज्यसभा में थे । उसके राज्यकाल में कश्मीर की समृद्धि बढ़ी ।

अवन्तिवर्मा की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन के लिए युद्ध हुआ । इसमें शंकरवर्मा सफल हुआ । उसने गुर्जरराज अलखान को टक्क देश (चिनाब नदी के पूर्व का प्रदेश) देने के लिए विवश किया । प्रतीहार सम्राट् भोज ने कश्मीर के आसपास का कुछ भाग जीत लिया था । शकरवर्मा ने सम्भवत भोज के पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम से यह प्रदेश लेकर अपने थक्किय वश के प्रतीहार (द्वारपाल) को दे दिया । ९०२ ई० मे उसने उरशा पर आक्रमण किया । इस अभियान मे उसकी मृत्यु हो गई । शकरवर्मा के युद्धो में बहुत धन व्यय हुआ और प्रजा को इस कारण बहुत कर देने पडे । उसने मन्दिरो की सम्पत्ति को लूटकर और विद्वानों को आर्थिक सहायता कम करके अपने राजकोष को पूरा किया । शकरवर्मा की मृत्यु के बाद इस वश का कोई अच्छा राजा गद्दी पर न बैठा । भ्रष्टाचार बढता गया । मन्त्रियो ने मनमानी की । प्रजा पर अत्याचार हुए । इस वश के अन्तिम राजा शूरवर्मा की मृत्यु सन् ९३९ ई० मे हुई ।

९३९ ई० मे ब्राह्मणो की सभा ने यशस्कर नामक व्यक्ति को राजा चुना । उसके समय (९३९—९४८ ई०) मे कश्मीर को फिर समृद्धि हुई । उसके अल्पवयस्क पुत्र सग्रामदेव को मारकर उसका मन्त्री पर्वगुप्त राजा बना ।

पर्वगुप्त ने प्रजा पर अनेक प्रकार के अत्याचार कर बहुत धन का सग्रह किया । उसका पुत्र क्षेमगुप्त अत्यन्त अयोग्य था । उसकी मृत्यु के बाद लगभग ५० वर्ष तक राज्य उसकी विधवा रानी दिद्दा के हाथ में रहा । दिद्दा ने अनेक प्रकार से राज्य-शक्ति अपने हाथ में ही रखने का प्रयत्न किया । उसने अपने पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु के बाद अपने तीन पोतो को एक के बाद दूसरे को मरवाया और किसी मन्त्री या सेनापति को इतने अधिक समय तक न जमने दिया कि वह अधिक शक्तिशाली हो सके । दिद्दा अपने समय की अत्यन्त प्रभावशालिनी रानी थी । उसमें अनेक दोष भी थे । चरित्र अच्छा न था, तो भी जनता कुछ अधिक त्रस्त न थी । अपनी मृत्यु से पूर्व उसने लोहर-वशीय सग्राम को, जो उसका भानजा था, कश्मीर के राजपद के लिए मनोनीत किया । १००३ ई० मे दिद्दा की मृत्यु के पश्चात् लोहर-वश के राजाओ का शासन-काल प्रारम्भ हुआ, जिसका वर्णन हम अध्याय २१ मे करेंगे ।

नेपाल

गुप्तकाल मे लिच्छवियो से विवाह होने के पश्चात् नेपाल का भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ । लिच्छवि वश का अन्तिम राजा शिवदेव था जिसने सातवी शताब्दी ई० मे राज्य किया । उसके पश्चात् उसका मन्त्री अशुवर्मा राजा बना । उसने तिब्बत के राजाओ का आधिपत्य स्वीकार किया । ८७९ ई० तक नेपाल के राजा सम्भवत: तिब्बत के राजाओ का आधिपत्य मानते रहे ।

कामरूप (आसाम)

हर्ष के समय आसाम का भगदत्त वशी राजा भास्करवर्मा उसका मित्र था । युवान-

च्वांग कुछ समय तक उसके पास रहा था। गौड के राजा शशाक की मृत्यु के बाद सम्भवत. हर्ष ने बंगाल के पश्चिमी भाग पर और भास्कर वर्मा ने उसके पूर्वी भाग पर अपना आधिपत्य जमाया। भास्करवर्मा की मृत्यु के बाद आसाम मे शालस्तम्भ और प्रालम्भ वशो ने राज्य किया। प्रालम्भ वश के हर्जर वर्मा ने कुछ समय के लिए पालवशीय देवपाल की अधीनता स्वीकार की, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद राजा वनमाल वर्मा ने आसाम को फिर स्वतन्त्र कर लिया। इस वश का अन्तिम राजा त्यागसिंह लगभग १,००० ई० मे विद्यमान था।

सिन्ध

सिन्ध पर रायकुल के राजा राज्य करते थे। उन्होने १३७ वर्ष राज्य किया। इस वश का अन्तिम राजा रायसाहसी था। उसके राज्यकाल मे युवान-च्वाग सिन्ध गया। वह लिखता है कि यह राजा शूद्र और बौद्ध था। उसके पश्चात् उसके ब्राह्मण मन्त्री चच ने उसकी विधवा रानी से विवाह करके उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। उसका राज्य कश्मीर की सीमा तक फैला हुआ था। दह के पुत्र दाहिर के समय मे अरबो ने सिन्ध पर प्रबल आक्रमण किया।

आठवी शताब्दी के प्रारम्भ मे अरबो का एक दल दमिश्क के खलीफा वालिद और बसरा के गवर्नर हज्जाज के लिए बहुमूल्य भेट लेकर सिन्ध के निकट से जा रहा था। सिन्धु नदी के मुहाने पर कुछ समुद्री डाकुओ ने उसे लूटा। खलीफा ने दाहिर से हर्जाना देने की माँग की, किन्तु दाहिर ने यह कहकर बात टाल दी कि समुद्री डाकू उसकी शक्ति से बाहर थे। इस पर दाहिर को दण्ड देने के लिए अरब सेनाएँ भेजी गईं। इनमे दो सेनाएँ असफल रही, किन्तु सन् ७११ ई० मे मुहम्मद इब्न कासिम के नेतृत्व मे भेजी सेना को दाहिर के विरुद्ध विजय प्राप्त हुई। सिन्ध के ब्राह्मण शासक लोकाप्रय न थे, क्योकि यहाँ की प्रजा जाति से अधिकतर जाट और बौद्ध धर्म की मानने वाली थी। दह ने जाटो को हथियार रखने, घोड़ो पर चढने ओर रेशमी कपडे पहनने की भी अनुमति नही दी थी। इन कारणो से वे उससे अप्रसन्न थे। दाहिर के समय मे भी प्रजा इन ब्राह्मण राजाओ से असन्तुष्ट थी। प्रजा का पूर्ण सहयोग प्राप्त न होने के कारण ही सिन्ध के राजा दाहिर को सिन्धु नदी के पश्चिम का प्रान्त छोडकर पूर्व की ओर चला जाना पडा। पश्चिमी तट पर अरबो का अधिकार हो गया।

अरबो ने पहले देवल के बन्दरगाह के किले पर अधिकार किया। मुहम्मद इब्न कासिम के हाथ ७०० सुन्दर स्त्रियाँ पडी। तीन दिन तक वह १७ वर्ष से अधिक आयु वाले सब पुरुषो का वध करता रहा। स्त्रियो और बालको को दास बना लिया गया। नेरून (हैदराबाद) और सहवान के बौद्धो ने आत्म-समर्पण कर दिया।

इसके बाद सिन्धियो ने अरबो का डटकर सामना किया। दो महीने तक सिन्धु नदी के पश्चिमी तट पर पडे रहने के बाद मुहम्मद इब्न कासिम ने मोका नाम के देश द्रोही की सहायता

१ आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के अनुसार अरबों के आक्रमण का प्रमुख कारण उनके हृदय की राजनीतिक एवं क्षेत्रीय विस्तार की उत्कट अभिलाषा थी। समुद्री डाकुओं की लूट तो केवल बहाना मात्र था।

से सिन्धु नदी को पार किया। रावर के युद्ध में दाहिर इतनी वीरता से लड़ा कि उसने अरब सेना के छक्के छुड़ा दिये किन्तु एक दिन जब वह हाथी पर बैठ कर लड़ रहा था, एक तीर लगने से उसकी मृत्यु हो गई। इस हार के बाद दाहिर का पुत्र जयसिंह ब्राह्मणाबाद भाग गया। दाहिर की विधवा रानी ने रावर के किले की रक्षा करने पर प्रयत्न किया। जब उसने देखा कि किले पर मुहम्मद इब्न कासिम का अधिकार हो ही जायेगा, तो उसने अन्य स्त्रियों के साथ जौहर करके अपने सतीत्व की रक्षा की।

रावर पर अधिकार करने के बाद मुहम्मद इब्न कासिम ने ब्राह्मणाबाद पर आक्रमण किया। ब्राह्मणाबाद के निवासियों के साथ जयसिंह छः महीने तक बड़ी वीरता से लड़ा। किन्तु अन्त में कुछ देशद्रोहियों ने मुहम्मद को किले पर अधिकार करने का अवसर दे दिया।

मुहम्मद इब्न कासिम की मृत्यु के बाद दाहिर के पुत्र जयसिंह ने ब्राह्मणाबाद पर अधिकार कर लिया। अरब सेनापति हबीब ने कुछ प्रदेश वापस जीता। ७२७ ई० में खलीफ़ा उमर द्वितीय ने सिन्ध के शासकों को इस शर्त पर प्रायः स्वतन्त्रता देने का वचन दिया कि वे मुसलमान बनें। जयसिंह ने यह शर्त स्वीकार कर ली। किन्तु कुछ वर्ष बाद वह फिर हिन्दू बन गया। इस पर सिन्ध के गवर्नर जुनैद ने जयसिंह को हराया और कैद कर लिया। इस प्रकार सिन्ध के राजवंश का अन्त हुआ।

सिन्ध विजय के परिणाम––मुहम्मद इब्न कासिम ने पहले उन सब हिन्दुओं को मरवा दिया जो मुसलमान न बने। परन्तु कुछ दिन बाद उसने उन्हें जज़िया देने पर अपना धर्म मानने की अनुमति दे दी। हिन्दुओं को सेना और असैनिक पदों पर नियुक्त किया। जाटों पर पहले दद् के वंशजों का अत्याचार था, अब मुसलमानों का अत्याचार। इससे साधारण प्रजा की स्थिति में कोई लाभदायक अन्तर न हुआ।

सैनिक दृष्टि से भी सिन्ध विजय का कोई विशेष प्रभाव न हुआ। सिन्ध के गवर्नर जुनैद ने भिनमल, भड़ोच, मण्डलगढ़, गुर्जर आदि प्रदेशों पर कुछ समय के लिए अधिकार कर लिया और दक्षिण में नवसारी तक अरब सेना पहुँची। किन्तु सन् ७५६ ई० से पूर्व राष्ट्रकूट शासक दन्तिदुर्ग और प्रतीहार शासक नागभट प्रथम की अध्यक्षता में राजपूतों ने अरबों को पूरी तरह से पराजित किया और उन्हें सिन्ध और मुल्तान को छोड़कर सभी प्रदेशों से निकाल बाहर किया।

अरब लोगों ने सिन्ध में इमारतों या सड़कों के रूप में कोई अपनी देन भारत को नहीं दी। भारतीय भाषा, वास्तुकला और रीति-रिवाजों पर भी उनका कोई प्रभाव न पड़ा। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति का अरबों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। वे भारतीय दर्शन और कलाओं से बहुत प्रभावित हुए। शासन-प्रबन्ध में भी उन्होंने भारतीयों से बहुत-कुछ सीखा। जब मंसूर (७५३––७७४ ई०) खलीफ़ा था तो बहुत-से अरब विद्वान् भारत से बगदाद गये। वे ब्रह्मगुप्त की 'ब्रह्म-सिद्धान्त' और 'खण्डखाद्यक' नामक दो पुस्तकें अपने साथ ले गये। जब हारुन (७८६––८०८ ई०) खलीफ़ा हुआ तो उसने बहुत-से भारतीय विद्वानों को बगदाद बुलाया। उन्हें वहाँ के अस्पतालों में नियुक्त किया और उनसे आयुर्वेद, दर्शनशास्त्र और ज्योतिष आदि के अनेक ग्रन्थों का संस्कृत से अरबी में अनुवाद कराया। 'चरक-संहिता' और 'पञ्चतन्त्र' के अरबी अनुवाद इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार अरबों ने भारतीय संस्कृति और ज्ञान से बहुत लाभ उठाया।

काबुल और पंजाब के शाही राजा

अलबेरूनी के अनुसार काबुल नदी की घाटी और भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश मे नवी शताब्दी ई० तक कुछ विदेशी, जिन्होने भारतीय सस्कृति अपना ली थी, राज्य करते थे। वे अपने को कनिष्क के वशज बतलाते और तुर्की शाहीय कहते। इस वश के अन्तिम राजा लगतोरमान को उसके ब्राह्मण मन्त्री कल्लर ने मारकर एक नये वश की नीव डाली। वे अपने को हिन्दू ब्राह्मण शाहीय कहते थे। उनकी राजधानी उद्भाण्डपुर (ओहिन्द) थी। कल्लर के पुत्र तोरमान से किसी अन्य व्यक्ति ने राज्य छीन लिया। उसने कश्मीर के राजा की सहायता से अपना राज्य वापस लिया। कश्मीर की रानी दिद्दा तोरमाण के पुत्र भीमदेव की धेवती थी।

दसवी शती ईसवी के अन्त मे शाही वश का राजा जयपाल ओहिन्द मे राज्य करता था। उसके गद्दी पर बैठने की तिथि अनिश्चित है। किन्तु हमे ज्ञात है कि सुबुक्तगीन और महमूद गजनवी के समय वह सिंहासन पर विद्यमान था। सन् ९७७ ई० मे सुबुक्तगीन ने जयपाल के राज्य पर पहला जबर्दस्त हमला किया। अकस्मात् बर्फीला तूफान आ जाने के कारण हिन्दू सेना पराजित हुई और जयपाल को बहुत-से हाथी, दस लाख दिरहम और कई दुर्ग देने का वचन देकर सुबुक्तगीन से सन्धि करनी पडी। किन्तु यह सन्धि बहुत कम समय तक रही। सुबुक्तगीन ने अनेक बार शाही राज्य पर आक्रमण किये। प्रजा को उसने इतना दुखी कर दिया कि जयपाल को अन्तत सुबुक्तगीन के विरुद्ध फिर युद्ध करना पडा। फिरिश्ता के कथनानुसार अनेक भारतीय राजाओ ने भी जयपाल को सहायता दी। किन्तु उस समय के प्रमाणो के अभाव मे इस विषय मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। जयपाल की फिर पराजय हुई और सुबुक्तगीन ने शाही राज्य के लमगान से लेकर पेशावर तक के प्रदेश पर अधिकार कर लिया।

सन् ९९७ ई० मे सुबुक्तगीन की मृत्यु के बाद उसके पुत्रो मे राज्य के लिए सघर्ष रहा। किन्तु सात महीने मे ही इस सघर्ष को समाप्ति हो गई और विजयी महमूद ने आक्रमण के लिए अच्छी तरह तैयारी कर सन् १००० ई० मे फिर शाही राज्य पर आक्रमण किया। जयपाल ने अच्छी मुठभेड की और नगाडे बजाते हुए स्वय महमूद की सेना पर धावा बोल दिया। किन्तु हिन्दू सेना फिर हारी, जयपाल बन्दी हुआ और बहुत-से हाथी और लूट का सामान मुसलमानो के हाथ लगा।

महमूद ने ओहिन्द पर अधिकार कर लिया। जयपाल को महमूद के पास अपना एक पुत्र छोडना पडा। साथ ही उसे बहुत-सा धन भी देना पडा। उसने वार्षिक कर देने का भी वचन दिया। जयपाल को इस पर इतना पश्चात्ताप हुआ कि उसने अपने हाथो से अग्नि जलाकर चिता मे प्रवेश किया। यह घटना सन् १००१ ई० के अन्त मे या १००२ ई० के आरम्भ मे हुई होगी।

मालवा

मालवा के राज्य मे परमार वश के राजपूत राज्य करते थे। परम्परा के अनुसार परमार लोगो का मूल स्थान आबू पर्वत था। वहाँ वसिष्ठ ने एक यज्ञ किया। इस यज्ञकुण्ड से एक वीर योद्धा उत्पन्न हुआ जो वसिष्ठ की कामधेनु गाय को विश्वामित्र से छीनकर ले

आया। वसिष्ठ ने उस वीर का नाम परमार (शत्रु को मारने वाला) रखा। परन्तु परमारो के मूल के विषय मे इस कथा का उल्लेख उनके प्रारम्भिक अभिलेखो में नहीं है। सबसे पहले अभिलेखों मे उन्हे दक्षिण भारत के राष्ट्रकूटो का वंशज कहा गया है। यह सम्भव है कि परमार वश का सस्थापक उपेन्द्रकृष्णराज पहले राष्ट्रकूटो का सामन्त रहा हो।

परमार राजाओ की राजधानी मध्यभारत मे धारा थी। उपेन्द्र ने सम्भवत. नवीं शती ईसवी के प्रारम्भ मे राज्य किया। उपेन्द्रकृष्णराज के बाद वैरिसिंह, सीयक प्रथम, वाक्पति प्रथम और वैरिसिंह द्वितीय नाम के चार राजा हुए, जिनके राज्यकाल की घटनाओं के विषय मे कुछ ज्ञात नहीं है। इस वश का अगला राजा हर्षसिंह सीयक था। उसके समय मे परमार राज्य की काफ़ी वृद्धि हुई। उसने हूणो को पराजित किया और सन् ९७२ ई० मे मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा खोट्टिग द्वितीय को भी हराया।

हर्षसिंह सीयक का पुत्र मुञ्ज अत्यन्त प्रतापशाली और विद्वानो का आश्रयदाता था। उसने मेवाड को जीता और राजस्थान के अनेक स्थान अपने अधिकार मे कर लिए। इसी समय चालुक्यो ने राष्ट्रकूट राज्य पर अधिकार कर दक्षिणापथ मे अपने राज्य की स्थापना की थी। मुञ्ज भी उस प्रदेश पर अपना अधिकार जमाना चाहता था। इसलिए दोनो मे अनेक युद्ध हुए। अन्तिम युद्ध मे मुञ्ज मारा गया। यह घटना ९९३ ई० और ९९८ ई० के बीच हुई।

मुञ्ज की मृत्यु के बाद उसका भाई सिन्धुराज राजा बना। उसके राजकवि पद्मगुप्त ने उसका वर्णन 'नवसाहसाकचरित' मे किया है। उसके अनुसार सिंधुराज ने उत्तर मे हूण राजा को हराया। वागड के राजा को अपने आधिपत्य मे रखा। लाट राजा को अपने को अधिपति मानने के लिए विवश किया। परन्तु वह उत्तरी गुजरात पर अपना आधिपत्य स्थापित न कर सका, क्योकि मूलराज प्रथम के पुत्र चामुण्डराज ने उसे ऐसा न करने दिया। सिन्धुराज का राज्यकाल १००० ई० के लगभग समाप्त हुआ।

इस वश का सबसे प्रसिद्ध राजा भोज १०१० ई० मे राजा बना। उसका वर्णन हम अध्याय २१ मे करेंगे।

अन्हिलवाड़ के चौलुक्य

इस राज्य का सस्थापक चावडा कुल का जयशेखर का पुत्र वनराज था। उसने ७६५ ई० के लगभग अणहिलपाटन या अणहिलपत्तन को अपनी राजधानी बनाया। यह स्थान गुजरात में अब पत्तन कहलाता है। उसके वंशज ९६१ ई० तक राज्य करते रहे।

इसके बाद चौलुक्य या सोलकी वश के मूलराज ने इस राज्य पर अधिकार कर लिया। उसने कच्छ, काठियावाड, लाट और अजमेर को जीतकर अपने राज्य को प्रबल बनाया। उसने कई मन्दिर बनवाये। वह विद्वानो का आश्रयदाता था। मूलराज के पश्चात् चामुण्डराज ने ९९६ से १०१० ई० तक राज्य किया। उसने, जैसा हम ऊपर कह आए हैं, सिन्धुराज को गुजरात पर अपना आधिपत्य स्थापित करने दिया। चामुण्डराज के उत्तराधिकारियो का वर्णन हम अध्याय २१ मे करेंगे।

जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड)

यहाँ चंदेल वंश का राज्य था। स्मिथ का मत है कि चंदेल, भरो अथवा गोंड जाति के हैं। इस राज्य का सस्थापक नन्नुक था। ८३१ ई० के लगभग उसने अपना स्वतन्त्र राज्य

स्थापित किया । उसके उत्तराधिकारी **वाक्पति** ने अपना राज्य विन्ध्याचल तक फैलाया । उसके उत्तराधिकारी **जयशक्ति** और **विजयशक्ति** थे। विजयशक्ति ने सम्भवतः बंगाल के राजा देवपाल को दक्षिण विजय मे सहायता दी । इस वंश के राजा **हर्ष** ने गुर्जर राजा महीपाल को उसके शत्रु राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय के विरुद्ध सहायता की। त्रिपुरी का राजा कलचुरी कोकल्ल उसका मित्र था। हर्ष के पुत्र **यशोवर्मा** ने (९३०---९५४) राष्ट्रकूटो से कालजर छीनकर अपने राज्य की सीमा बढा ली। उसके पुत्र के एक अभिलेख मे लिखा है कि उसने गौडो, कोसलो, मालवो, चेदियों, गुर्जरो और कश्मीर-निवासियो के विरुद्ध लडाइयाँ लडी। उसने महाराजाधिराज का विरुद धारण किया। उसने खजुराहो का प्रसिद्ध विष्णु-मन्दिर बनवाया ।

यशोवर्मा का पुत्र **धंग** (लगभग ९५४ से लगभग १००२ ई०) चन्देल राजाओ मे सबसे प्रसिद्ध है। उसकी दो राजधानियाँ थी---खजुराहो और कालजर। उसके राज्य मे काशी और प्रयाग भी शामिल थे । खजुराहो के एक अभिलेख के अनुसार धग ने सिंहल, काँची, आध्र, कोसल, अग, राढा और कन्नौज के गुर्जर प्रतीहार राजा तक को हराया। धग ने ९९७ ई० मे शाही राजा जयपाल की सुबुक्तगीन के विरुद्ध सेना और धन से सहायता की।

धग विद्वानो का आश्रयदाता था । उसने न्याय सिद्धान्त के प्रतिपादक गौतम अक्षपाद को अपना मुख्य मन्त्री नियुक्त किया । माधव कवि ने विक्रम सवत् १०११ के खजुराहो अभिलेख की रचना की । राम कवि ने विक्रम सवत् १०५९ के खजुराहो अभिलेख की रचना की ।

धग ने जिननाथ, वैद्यनाथ और शम्भुदेव के प्रसिद्ध मन्दिर बनवाकर अपने राज्य की शोभा बढ़ाई। उसने ब्राह्मणो को बहुत-सा सोना और मकान दान मे दिये। धग के उत्तराधिकारियो का वर्णन हम अध्याय २१ मे करेगे।

चेदिराज्य के कलचुरि

कलचुरियो का राज्य चन्देलो के राज्य के दक्षिण मे स्थित था। नवी शताब्दी मे इस राज्य का राजा **कोक्कल** प्रथम था । उसके प्रतीहार और राष्ट्रकूट राजाओ से अच्छे सम्बन्ध थे । **हैहय**, चेदि अभिलेखो के अनुसार उसके अठारह पुत्र थे जिनमे सबसे बडा त्रिपुरी का राजा और दूसरे अन्य मण्डलो के शासक बने। कोक्कल के बाद **मुग्धतुंग** गद्दी पर बैठा। यह सम्भव है कि उसने कुछ विजय प्राप्त की हो। उसके बाद क्रम से **बालहर्ष** और **युवराज केयूरवर्ष** राजा हुए । युवराज की अनेक विजयो का वर्णन बिल्हडि शिलालेख मे है। युवराज और उसकी रानी नौहला शैव सिद्धान्त के अनुयायी थे। उनके पुत्र **लक्ष्मणराज** की सेनाएँ सम्भवतः सोमनाथ तक पहुँची। किन्तु उसकी दिग्विजय के शेष वर्णन को मानना ठीक नही प्रतीत होता। लक्ष्मणराज भी युवराज की भाँति ही शैव मत का अनुयायी था। लक्ष्मणराज के बाद **युवराज द्वितीय** और **कोक्कल द्वितीय** गद्दी पर बैठे ।

इस वश के अन्य राजाओ का वर्णन हम अध्याय २१ मे करेगे।

शाकम्भरी के चौहान

चौहानो के वशज सातवी शताब्दी मे गुजरात और राजपूताना के कुछ भागो मे राज्य करते थे । इनकी प्रमुख शाखा जयपुर राज्य मे शाकम्भरी (साँभर) मे राज्य करती थी।

थे प्रतीहार राजाओं को अपना अधिपति मानते थे। इस वंश के राजा दुर्लभराज ने अपने अधिपति प्रतीहार राजा वत्सराज के साथ गौड पर आक्रमण किया। उसके पुत्र गोविन्दराज ने नागभट द्वितीय के सामन्त के रूप में सिन्ध के अरब गवर्नर बशर के आक्रमण को रोका।

दसवी शताब्दी मे प्रतीहार राजाओं की शक्ति क्षीण हो जाने पर चौहान राजा स्वतन्त्र हो गए। सन् ९५६ ई० मे सिंहराज के समय चौहान सर्वथा स्वतन्त्र हो चुके थे। ९७३ ई० मे विग्रहराज द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसने चौलुक्य राजा मूलराज को हराया और लाट पर आक्रमण किया।

वाक्पति राज प्रथम के छोटे पुत्र लक्ष्मण ने जोधपुर राज्य में नोड्डुल (नाडोल) में एक स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली। इस राज्य के राजा कई शताब्दियो तक राज्य करते रहे।

चौहान वंश के कुछ अन्य राजा राजपूताना के अन्य प्रदेशों पर भी राज्य करते थे। वे प्रतीहारो को अपना अधिपति मानते थे। धौलपुर के एक राजा चण्डमहासेन के अधीन कुछ म्लेच्छ सरदार भी थे।

ग्यारहवी व बारहवी शताब्दी के चौहान राजाओ का वर्णन हम अध्याय २१ मे करेंगे।

मेवाड़ के गुहिल

प्रतीहार शक्ति के क्षीण होने पर गुहिल या सीसोदिया राजपूतो ने मेवाड़ में एक स्वतन्त्र राज्य की नीव डाली। आटपुर के ९७७ ई० के एक अभिलेख से इस वंश के बीस राजाओ का पता लगता है जिनमे गुहदत्त सबसे पहला और शक्तिकुमार अन्तिम राजा था। चारण परम्परा के अनुसार इस वश का सस्थापक बप्पा रावल था। उसने अरबों के विरुद्ध युद्ध किया और चित्तौड़ के म्लेच्छ शासक को ७२५ ई० मे पराजित करके यश प्राप्त किया। गुहिल वश की एक शाखा जयपुर मे राज्य करती थी। इन दोनो शाखाओ के शासक पहले प्रतीहार राजाओ को अपना अधिपति मानते थे, ९४३ ई० मे गुहिल वंश के राजा भर्तृपट्ट ने 'महाराजाधिराज' का विरुद धारण करके अपने को स्वतन्त्र राजा घोषित किया। उसके उत्तराधिकारी अल्लट ने प्रतीहार राजा देवपाल को एक युद्ध मे मारकर अपनी शक्ति बढ़ाई। परमार राजा मुञ्ज ने गुहिल राजाओ की राजधानी आघाट को नष्ट करके गुहिल राज्य को निर्बल बना दिया।

कलिंग का गंग-वंश

महानदी और गोदावरी के बीच का पूर्वी प्रदेश कलिंग कहलाता है। आठवी शती के प्रारम्भ मे गग-वश ने इस प्रदेश मे राज्य किया। इस वश का सस्थापक इन्द्रवर्मा प्रथम था। उसने गग सवत् चलाया, जिसका प्रारम्भ ४९६ ई० मे होता है। इन्द्रवर्मा ने ३९ वर्ष राज्य किया। इसी वश मे महाराज हस्तिवर्मा, इन्द्रवर्मा द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, देवेन्द्रवर्मा अनन्तवर्मा, नन्दवर्मा आदि अनेक राजा हुए, जिन्होने अपने शासन-पत्र जारी किए। आठवीं शताब्दी मे आसाम के राजा श्री हर्ष ने कलिंग पर अधिकार कर लिया। नवी शताब्दी मे पूर्वी चालुक्य राजा विजयादित्य तृतीय ने गग राजा से बहुत-से हाथी और सोना कर के रूप मे लिये।

ओड़ का केसरी वंश

कलिंग के उत्तर मे ओड़ प्रदेश था । इसकी राजधानी भुवनेश्वर थी । केसरी वंश के राजाओं ने ओड़ प्रदेश मे राज्य किया । वे शैव धर्म के अनुयायी थे । उनके समय में भुवनेश्वर मे अनेक सुन्दर मन्दिर बने ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हर्ष की मृत्यु के बाद प्रतीहार और पाल राजाओ ने उत्तरी भारत मे एक सगठित राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे अपने इस प्रयास मे सफल न हुए । जब महमूद गजनवी ने आक्रमण किए तो उत्तर भारत मे अनेक छोटे-छोटे राज्य थे, कोई शक्तिशाली सम्राट् न था । शाही राजाओ ने उसके विरुद्ध सघ बनाया, परन्तु वे भी उसको रोकने मे असफल रहे ।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी	**प्राचीन भारत**, अध्याय १२ अनुवादक—बुद्ध प्रकाश
राजबली पाण्डेय	**प्राचीन भारत**, अध्याय २०
R.C. Majumdar & A. D Pusalkar	*History and Culture of the Indian People, Classical Age*, Chapter 10
R. S. Tripathi	*History of Kanauj*, Chapters : 9, 10, 11.
R. C. Majumdar and A D Pusalkar	*History and Culture of the Indian People, The Age of Imperial Kanauj*, Chapters 2, 3 & 5.
B. P Sinha	*The Decline of the Kingdom of Magadha*, Chapters 10, 11, 12, 13, 14 & 15
H C Ray	*The Dynastic History of Northern India*, Vol I.
Dasharatha Sharma	*Early Chauhan Dynasties*
A C. Banerjee	*Lectures on Rajput History*.

अध्याय १८

उत्तर भारत की सांस्कृतिक अवस्था

(६५०—१००० ई०)

(Social Condition of Northern India)

(650—1000 A.D.)

पिछले अध्याय मे हम इस काल का राजनीतिक इतिहास दे चुके हैं। उससे स्पष्ट है कि इस काल में उत्तर भारत मे अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए। कुछ राज्यो जसे प्रतीहारो और पालो ने अपना साम्राज्य स्थापित करके राजनीतिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया किन्तु उनके प्रयत्न चिरस्थायी न हो सके। अधिकतर राज्य आपस मे लडते रहते थे। देश मे एकता का पूर्ण अभाव था।

शासन-व्यवस्था —इस काल मे सभी राज्यो मे प्राय' राजतन्त्र की व्यवस्था थी। गुप्त-काल की समाप्ति पर प्राय सभी गणतन्त्र राज्य, जो जनता मे राजनीतिक चेतना जागृत रखते थे, समाप्त हो चुके थे। अत अधिकतर राजा निरकुश हो गए। निरकुश होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि सिन्ध को छोडकर उत्तर भारत के अन्य प्रदेशो पर इस काल मे विदेशियो के कोई आक्रमण नहीं हुए। जब विदेशियो के आक्रमण का भय न रहा तो राजाओ को जनता के सहयोग की आवश्यकता न रही, वे मनमानी करने लगे।

राजा का पद इस काल मे पैतृक होता था। उसका अभिषेक अच्छे मुहूर्त मे किया जाता। बुरे प्रभाव को दूर करने के लिए इन्द्र, ग्रह और विनायक शान्ति नामक क्रियाएँ की जाती। उसके उपरान्त गणेश, ब्रह्मा, शिव और विष्णु की पूजा होती। राज्याभिषेक के समय अब शपथ लेने की प्रथा न थी। प्रतीहार शासकों को उनके सामन्त 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' आदि पदवियो से विभूषित करते थे किन्तु स्वय इन शासको ने प्राय अपने को 'महाराज' या 'महाराजाधिराज' ही कहा है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि ये शासक अपनी शक्ति और धन की अपेक्षा अपनी सास्कृतिक उपलब्धियो को अधिक महत्त्व देते थे। नागभट प्रथम तथा नागभट द्वितीय की तुलना नारायण से की गई है। भोज ने अपने को 'आदिवराह' कहा है। सम्भवत. वह मुसलमानो के विरुद्ध समस्त भारतीयों का सहयोग चाहता था इसीलिए उसने अपने को 'आदिवराह' कहा। ये शासक अपनी प्रजा को सुखी रखने का पूर्ण प्रयत्न करते थे। वे अपनी राजसभा के सदस्यों, मन्त्रियो और सामन्तो से परामर्श करके ही अपनी नीति निर्धारित करते थे। वृद्धावस्था मे कुछ राजा पुत्र को सिंहासन पर बिठाकर स्वय संन्यास ले लेते। पाल वश के राजा नारायणपाल के पिता विग्रहपाल प्रथम ने वृद्धावस्था मे ऐसा ही किया। स्वेच्छा से शरीर-त्याग करने की प्रथा भी राजाओ मे प्रचलित थी। धग ने त्रिवेणी के पवित्र जल मे प्राण-विसर्जन किया। रानियाँ साधारणतया शासक नहीं होती थीं। वे प्रशासन के कार्य में भी प्रमुख भाग नहीं लेती थीं। कश्मीर की

रानी दिद्दा, जिसने २२ वर्ष तक राज्य किया, इस नियम का अपवाद थी। राजा युवराज को मनोनीत करता था। वह राजा को प्रशासन मे पूर्ण सहायता देता था। राजसभा भवन के दो भाग थे—'महास्थान' और 'अभ्यन्तर स्थान'। अभ्यन्तर स्थान मे कुछ चुने हुए व्यक्ति जिन पर राजा को पूर्ण विश्वास होता था जा सकते थे जैसे कि रानी, युवराज, मन्त्री और सेनापति। महास्थान मे सभी वर्गों के प्रतिनिधि इकट्ठे होते थे जैसे मन्त्री, सेनानायक, महाप्रतीहार, महासामन्त, महापुरोहित, धर्मस्थेय, विद्वान् ब्राह्मण, महाकवि, चारण, वैद्य, अनेक शास्त्रों के विद्वान्, विदूषक और वेश्याएँ। जो विषय गोपनीय नही होते थे उन पर महास्थान मे विचार-विमर्श होता था।

मन्त्रिमण्डल का राजपूत शासन में विशेष महत्त्व था। उसी पर शासन की अच्छाई या बुराई निर्भर थी। राजा लोग अधिकतर मन्त्रियो की सलाह से ही कार्य करते थे। मुख्यमन्त्री 'प्रधानामात्य' कहलाता था। मन्त्री लोग राजा को मनमानी करने से रोकते थे। कश्मीर के राजा ललितादित्य ने तो मन्त्रियो को यह आज्ञा दे रखी थी कि यदि वे किसी आज्ञा को अनुचित समझे तो कार्यान्वित न करे। परन्तु कुछ राजा अपने मन्त्रियो के परामर्श की परवाह नही करते थे। जैसे—बगाल के राजा महीपाल ने मन्त्रियो की परामर्श की परवाह न की और उसका सर्वनाश हो गया। साधारणतया मन्त्री का पद पैतृक हो गया था। गर्ग और उसके चार वशज धर्मपाल और उसके उत्तराधिकारियो के मन्त्री रहे।

इस काल के कुछ अन्य प्रमुख अधिकारी निम्नलिखित थे —

(१) **सांधिविग्रहिक**—वह सम्भवत शान्ति और युद्ध मन्त्री था। उसे दानपत्र, अधिकारपत्र, घोषणाएँ और अन्य देशो के शासको को पत्र लिखवाने पडते थे।

(२) **अक्षपटलिक**—वह वित्त-विभाग का सर्वोच्च अधिकारी था। मेवाड के अभिलेखो मे भी अक्षपटलिको का उल्लेख है।

(३) **भण्डागारिक**—वे राजकोष और आभूषणो आदि के विभाग के अध्यक्ष थे।

(४) **महाप्रतीहार**—राजपूत शासन व्यवस्था मे 'महाप्रतीहार' का पद बहुत ऊँचा था। वह अधिक बोलने वालो को चुप कराता, सब अधिकारियो को अपना कर्त्तव्य पूरा करने के लिए सचेत करता, जिन्हे राजसभा मे आने का अधिकार नही था उन्हे बाहर निकालता और नये व्यक्तियो को प्रणाम करने का ढग बतलाता था। बिना उसकी अनुमति के कोई राजभवन मे प्रवेश नही पा सकता था।

(५) **महादण्डनायक**—राजा सैनिक विषयो पर महादण्डनायक और सेनापति से परामर्श करता था।

(६) **धर्मस्थ या धर्मस्थेय**—ये न्यायाधीश फैसला देते थे। धर्म के सम्बन्ध मे पुरोहित राजा को परामर्श देता था।

(७) **नियुक्तक**—वह सम्भवत एक विभाग का अध्यक्ष होता था।

प्रतीहार अभिलेखो मे राजकर्मचारियो के लिए प्राय 'पुरुष' या 'राजपुरुष' शब्द प्रयुक्त किया गया है।

गुप्तकाल की अपेक्षा इस काल के ताम्रपत्र अभिलेख अधिक सख्या मे उपलब्ध है। जब पहले ताम्रपत्रो के अक्षर अस्पष्ट हो जाते तो नये ताम्रपत्र जारी किये जाते थे। कुछ जाली ताम्रपत्र भी मिले हैं। जाली ताम्रपत्रो की जाँच कर सरकार उन्हे रद्द कर देती थी।

सैनिक संगठन

दण्डनायक—मुख्यरूप से सैनिक अधिकारी था किन्तु उसे नये जीते हुए प्रदेशो मे राज्यपाल बनाकर भी भेज दिया जाता था। प्रतीहार सेना की चार टुकडियाँ थी जो चार सेनापतियो के अधीन होती थी। इनमे उत्तर की टुकडी मुल्तान के विरुद्ध और दक्षिण की बल्हार के विरुद्ध लडाई के लिए उद्यत रहती थी। शेष दो टुकडियाँ साम्राज्य के किसी भी भाग में सुरक्षा रखने के लिए भेजी जा सकती थी।

नगर की सुरक्षा करने वाले सैनिक अधिकारी को 'बलाधिकृत' कहते थे। 'महायुद्धपति' सम्भवत शस्त्रागार का प्रमुख अधिकारी था। पीलुपति, अश्वपति, पैक्काधिपति क्रम से हाथी, घुडसवार ओर पैदल सेना के अध्यक्ष थे। किले के रक्षक को कोट्टपाल कहते थे जैसे कि ग्वालियर मे एक कोट्टपाल रहता था। कुछ सेना निजी, कुछ सामन्तों की और कुछ पैतृक होती। कुछ योद्धा अपने हथियार लाते और कुछ को सरकार देती। कुछ सेना की टुकडियो के अफसरो को स्वय सेना या जाति चुनती और कुछ टुकडियो मे सरकार अपने अफसर नियुक्त करती थी। भाडैत सिपाही बहुत थे। प्रशिक्षित सेना मे दस, सौ, हजार और दस हजार योद्धाओ पर अलग-अलग अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। किलो के बनाने पर भी पूरा ध्यान दिया जाता।

शिबिर

राजपूत शासकों को बहुधा शिविरो मे रहना पड़ता था। राजा का तम्बू शिविर के मध्य मे होता था। इसके चारो ओर अगरक्षक रहते थे। तम्बू के आगे एक मण्डप होता था जहाँ सम्भवत वह अपने अधिकारियो से मिलता था। राजा का हाथी और उसकी अश्वशाला राजा के शिविर के पास होती थी। वही माली रहते थे। भोगविलास की सामग्री बेचने वाले व्यापारी वही अपनी वस्तुएँ बेचते थे। उनके बाद सामन्तों और अमात्यो के डेरे होते थे। बडे सैनिक अधिकारी और सामन्त शिविरो मे अपनी पत्नियों को अपने साथ ले जाते थे। कुछ दूरी पर वेश्याओ के शिविर भी होते थे। सौदागर शिविर मे सैनिको को वे सब वस्तुएँ बेचते थे जिनकी उन्हे आवश्यकता होती थी।

प्रतीहार सैनिक धोती पहनते थे। उनके कटि प्रदेश पर सींग के हत्थां वाली कटारे लटकी रहती थीं। उनके दोनो और तरकश लटके होते थे। हाथियो का शरीर कवच से ढका रहता था। दाँतों के आगे शस्त्र लगे होते थे। घुडसवारो का इस काल मे बहुत महत्त्व था। उनके पास प्राय भाले होते थे। सम्भवत ऊँट पर लडने वाले सैनिकों की टुकडी अलग होती थी।

सामन्त प्रथा[1]

इस काल के शासकों ने 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'महाराजाधिराज', 'महासामन्ताधिपति', 'महसामन्त', 'महामाण्डलिक', 'राजा', 'राजकुल', 'ठक्कुर' और 'राणक', आदि उपाधियाँ धारण की। इन उपाधियों से यह स्पष्ट है कि सामन्तो का इस काल मे विशेष प्रभाव था।

१ विशेष विवरण के लिए देखिए—
Romila Thapar— *A History of India*, Vol I, Chapter 11.

हम ऊपर कह चुके हैं कि राजपूत सेनाओ मे अनेक सामन्तो की सेनाएँ सम्मिलित होती थी। जैसे कि नागभट द्वितीय की ओर से चाटसू के गुहिल, सौराष्ट्र के चौलुक्य, मण्डौर के प्रतीहार और शाकम्भरी और प्रतापगढ के चौहान सामन्तो की सेनाएँ लडी थी। इसी प्रकार रामभद्र और भोज प्रथम को अपने सामन्तो की सेनाओ से बहुत सहायता मिली। परमार, चौलुक्य, चौहान, और कलचुरि राजाओ के अनेक सामन्त थे।

राजपूत शासक अपने अधिकारियो और सम्बन्धियो को कुछ भूमि भाग दे देते थे। उन्हे नकद वेतन नही दिया जाता था। यह भूमि सामन्तो को जीवन भर के लिए दी जाती थी किन्तु सामन्तो के उत्तराधिकारी भी इसका उपभोग करते थे। खेती का काम शूद्रो के हाथ मे था जो जमीदार को उपज का एक निश्चित भाग कर के रूप मे देते थे। सामन्त इन किसानो से भूमिकर वसूल करते थे और इसमे से कुछ भाग राजा को कर के रूप मे देते थे। सामन्त सेना की टुकडियाँ भी रखते थे जो आवश्यकता के समय अपने अधिपतियो की सहायता के लिए भेजते थे। उन्हे कुछ विशेष अवसरो जैसे राजा के जन्म दिवस पर स्वय राज सभा मे उपस्थित होना पडता था। कभी-कभी सामन्त अपनी पुत्री का विवाह भी अपने अधिपति या उसके पुत्र से करता था। वह प्राय अधिपति के सिक्के ही काम मे लाता था। अपने अभिलेखो मे भी अपने अधिपति का नाम अकित कराता था।

कुछ सामन्तो को बहुत अधिकार प्राप्त होते थे और कुछ को बहुत कम। जो सामन्त युद्ध मे हार कर अधिपत्य स्वीकार करते थे उन्हे बहुत कम अधिकार थे किन्तु शक्तिशाली सामन्तो को बिना अधिपति की अनुमति प्राप्त किये भूमि दान मे देने का अधिकार था। ऐसे सामन्तो के बहुत से उप-सामन्त होते थे। छोटे सामन्तो को अपनी शासन-व्यवस्था मे परिवर्तन करने के लिए भी अपने अधिपति से अनुमति लेनी पडती थी। बडे सामन्त अपने को 'महासामन्त' या 'महामण्डलेश्वर' आदि कहते थे। छोटे सामन्त राजा, सामन्त, राणक, ठाकुर या भोग्ता कहलाते थे।

जब छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये तो अधिपतियो को इन सामन्तो की सेना की बहुधा आवश्यकता होने लगी। यह परिस्थिति विशेषरूप से १००० ई० के बाद उत्पन्न हुई।

शासन-व्यवस्था पर प्रभाव

सामन्त प्रथा मे केन्द्रीय अधिकारियो की आवश्यकता न रही। अधिकतर शासन का कार्य सामन्त और उनके नियुक्त किये हुए कर्मचारी चलाते थे। इन सामन्तो के अपने कार्यालय और न्यायालय थे। वे ही अपनी जागीर मे न्याय करते थे और शान्ति और व्यवस्था रखते थे। सम्भवत वह अधिकारी जो सामन्तो पर नियन्त्रण रखता था 'तन्त्रपाल' कहलाता था। वह अधिपति की ओर से अधिकार-पत्रो पर हस्ताक्षर कर सकता था।

राजस्व व्यवस्था

भूमिकर को 'उद्रग', 'भाग' या 'दानी' कहा जाता था। यह साधारणतया उपज का छठा भाग होता था। जब अन्न के बदले मे धन दिया जाता था तो उसे 'हिरण्य' कहते थे। अधिपतियो, सामन्तो या राजकर्मचारियो, को जो फल, दूध, शाक आदि उपहार रूप मे दिये जाते थे उसे 'भोग' कहते थे, चुंगी को 'शुल्क' या 'दान' कहते थे। जुर्मानो को 'दण्ड' कहते थे। इसके अतिरिक्त जो कर लिये जाते थे वे 'आभाव्य' कहलाते थे।

प्रशासकीय भाग

कुछ प्रदेश ऐसे थे जिनका शासन प्रतीहार राजाओ के अधिकारी चलाते थे। उनपर सामन्तो का कोई अधिकार न था। सबसे बडी प्रशासकीय इकाई 'भुक्ति' थी। उसके नीचे 'मण्डल' 'विषय' और 'पाठक' थे। बहुधा एक पाठक मे बारह गाँव होते थे। किलो के रक्षक 'कोट्टपाल' कहलाते थे। नगरो में एक गैरसरकारी परिषद् होती थी। सम्भवतः इसके मन्त्री को 'करणिक' कहते थे, यह गैरसरकारी परिषद् 'पचकुल' कहलाती थी। प्रतीहारो के समय मे 'पचकुलो' को भूमियो की रजिस्ट्री करने का अधिकार था। वे मुकद्मों का फैसला करती थी। कभी-कभी ग्रामवृद्ध भी जो महाजन कहलाते थे प्रशासन में अपना योगदान करते थे। चुगी की चौकी को सम्भवत 'मण्डपिका' कहा जाता था और उसके अध्यक्ष को 'कौष्ठिक'।

दण्ड और पुलिस व्यवस्था

चोरो को यातनाएँ दी जाती थी। कम नापने वालो की जीभ, हाथ या पैर काट लिये जाते थे। परस्त्रीगामी को एक स्त्री की लोहे की तपी हुई प्रतिमा से बाँध दिया जाता था। जेलो मे भी सख्ती की जाती थी।

पुलिस का सिपाही 'तलार', 'दण्डपाशिक' या 'आरक्षिक' कहलाता था। सम्भवतः सरकारी वकील को 'साधनिक' कहते थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जब देश मे कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो केन्द्र से देश का शासन चलाती राजपूत शासको ने एक ऐसी शासन-व्यवस्था स्थापित की जो देश मे शान्ति और सुव्यवस्था रख सकी और जिसके अन्तर्गत साहित्यकारो और कलाकारो को अपनी ईश्वर प्रदत्त शक्तियो का विकास करने का पूर्ण अवसर मिला।

सामाजिक अवस्था—इस काल मे वर्ण-परिवर्तन प्राय असम्भव हो गया। हिन्दू समाज मे सकीर्णता आ गई। विदेशियो को अपने मे मिलाने की शक्ति नही रह गई। राजपूत राजाओ ने वर्णाश्रम धर्म को प्रोत्साहन दिया। ब्राह्मणो का समाज मे सबसे अधिक सम्मान था। शिक्षा और विद्या मे ये ही सबसे बढ़े-चढे थे। इस कारण मन्त्री आदि के पदो पर उनकी नियुक्ति होती थी। कभी-कभी वे सेनापति भी होते थे। ब्राह्मण अब क्षत्रियो और वैश्यो का भी काम करने लगे। 'पराशर स्मृति' मे सब वर्णों को कृषि करने की अनुमति दी गई है। प्राण-रक्षा के लिए ब्राह्मणो को शस्त्र ग्रहण करने का भी अधिकार दिया गया। कुछ ब्राह्मण शिल्प, व्यापार और दुकानदारी भी करते। राजनियमो मे शास्त्रनिष्ठ ब्राह्मणो को बहुत रियायत दी जाती थी। इस काल मे ब्राह्मणो मे मुख्य भेद शाखा और गोत्र का ही था।

क्षत्रिय जाति मे हम अनेक राजपूत जातियो को परिगणित कर सकते हैं। वे अधिकतर शासक, सेनापति और योद्धा थे। उनमे भी वैदिक शिक्षा का अच्छा प्रचार था। बहुत से राजा बडे विद्वान् थे। राजा भोज ने वास्तुविद्या, व्याकरण, अलकार, योगशास्त्र और ज्योतिष आदि विषयों पर कई विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे। क्षत्रियों ने भी ब्राह्मणो की भाँति कृषि आदि अन्य व्यवसाय करना प्रारम्भ कर दिया।

राजपूतों की उत्पत्ति—राजपूतो का वर्णन हमे हर्ष के राज्यकाल तक नही मिलता। उनकी उत्पत्ति के विषय मे विद्वानो के विभिन्न मत हैं।

राजपूत लोगो ने स्वय अपने को वैदिककाल के सूर्यवशी और चन्द्रवशी क्षत्रियो की सन्तान कहा और ब्राह्मणो ने, जिनका राजपूत आदर करते थे, उनको ऐसा ही माना। गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने अपने राजपूताने के इतिहास मे और चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने मध्यकालीन भारत के इतिहास मे राजपूतो को वैदिककालीन क्षत्रियो की ही सन्तान माना। 'राजपुत्र' शब्द बाण के 'हर्षचरित' और पुराणो मे मिलता है। हम यहाँ विभिन्न राजपूत वशो के मूल पर विचार करके इस समस्या पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करेगे।

राजपूतो मे गुर्जर प्रतीहारो का वर्णन कालक्रम मे सबसे पहले मिलता है। भोज प्रथम के ग्वालियर के शिलालेख मे इस वश के पूर्वजो को राम के भाई लक्ष्मण की सन्तान कहा है। इस अभिलेख की तिथि ८९३ ई० से पूर्व होनी चाहिए। बउक के जोधपुर अभिलेख मे लिखा है कि रामभद्र के भाई ने प्रतीहार का कार्य किया था, इसलिए इस वश का नाम प्रतीहार पडा। परन्तु इसमे भी प्रतीहारो को सूर्यवशी कहा है। राजशेखर ने भी महीपाल और महेन्द्रपाल प्रतीहार राजाओ को रघुवंशी कहा है।

उपर्युक्त अभिलेखो और साहित्य मे यह कहीं नही लिखा है कि ये गुर्जर क्यो कहलाए, किन्तु मठन देव के ९५९ ई०के रजौर शिलालेख से ज्ञात होता है कि गुर्जर मध्य एशिया की एक जाति थे, जो हूणो के साथ भारत आये। कन्नड भाषा के कवि पम्पा ने भी महीपाल को गुर्जर-राज लिखा है। रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि उसका अभिप्राय गुर्जर राष्ट्र के निवासी से नही हो सकता, क्योकि गुर्जर राष्ट्र तो महीपाल के राज्य का एक भाग था, उसका राज्य तो बहुत विस्तृत था। इससे यह प्रतीत होता है कि उसका अभिप्राय गुर्जर जाति के महीपाल से है।[१]

दशरथ शर्मा ने इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया है कि सातवीं से दशवी शती के भारतीय साहित्य मे भारत के अन्य देशो के साथ गुर्जर प्रदेश का उल्लेख है।[२] प्रतीहार पहले गुर्जर प्रदेश के शासक थे इसलिए जब वे उत्तर भारत के बडे भाग के स्वामी हो गये तब भी वे गुर्जरराज कहलाते थे। जैसे सिन्धु नदी के नाम पर कुल देश का नाम 'हिन्द' पडा उसी प्रकार गुर्जर प्रदेश के नाम पर समस्त उत्तर भारत को गुर्जरराष्ट्र कहा जा सकता है। प्रतीहारो सम्बन्धी सभी अभिलेखों और साहित्य की समीक्षा करके दशरथ शर्मा इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उन सभी राजवशों का मूल एक नही था जो अब प्रतीहार कहलाते है। न तो सभी प्रतीहार राजवश वैदिक क्षत्रियो की सन्तान थे और न सब विदेशी।

अग्निकुण्ड से उत्पन्न क्षत्रिय— चारण परम्परा के अनुसार गुर्जर प्रतीहार उन चार राजपूत वशो मे से एक था जिनकी ऋषि वसिष्ठ के आबू पर्वत के अग्निकुण्ड से उत्पत्ति हुई थी। इस परम्परा के अनुसार इस यज्ञ मे गुर्जरो ने द्वारपाल का कार्य किया, इसलिए वे प्रतीहार कहलाए। अन्य तीन राजवश परमार, चौलुक्य और चाहमानो के थे। इस परम्परा का मुख्य आधार

१. गूजर लोग उत्तर-पश्चिम में पेशावर से लेकर पूर्व मे रुहेलखण्ड तक, जम्मू-कश्मीर, पूर्वी मध्यप्रदेश और राजस्थान तक में रहते हैं। इससे यही अनुमान होता है कि वे विदेशी जाति थे जो खैबर दर्रे से होकर भारत आये और इन प्रदेशों मे फैल गये।

२. विशेष विवरण के लिए देखिये—Dasharatha Sharma *Lectures on Rajput History and Culture Lecture* 1

चन्दरबरदाई का 'पृथ्वीराजरासो' है। उसकी मूल प्रति बीकानेर के किले के पुस्तकालय मे सुरक्षित है। उसमे अग्निकुल का वर्णन नही है, इसलिए इस सिद्धान्त को मानना ठीक नही प्रतीत होता। प्रतीहार और चौहानो के अभिलेखो मे भी इस सिद्धान्त का उल्लेख नही है। चौलुक्य भीम द्वितीय के राज्यकाल के अभिलेखो मे परमारो के सम्बन्ध मे इस कथा का वर्णन मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी में पद्मगुप्त ने 'नव-साहसाक-चरित' लिखा, उसमे भी परमारो की उत्पत्ति अग्निकुण्ड से बतलाई है। इसके बाद चौलुक्यो के बारहवीं और तेरहवी शती के अभिलेखो मे भी इसका वर्णन मिलता है। इस प्रकार से यह अनुमान होता है कि पृथ्वीराजरासो मे अग्निकुण्ड से उत्पत्ति की कथा पीछे से जोड दी गई। जिन चार वशो की उत्पत्ति आबू पर्वत के अग्निकुण्ड से बतलाई गई है, उनके राज्यो का आबू पर्वत के आसपास के प्रदेश से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसलिए उनकी उत्पत्ति इस पर्वत के अग्निकुण्ड से बतलाना अनुचित नही दीखता। अग्निकुल परम्परा को ऐतिहासिक तथ्य नही माना जा सकता। यह तो चारणो की कल्पना की उपज थी जिसका मूल रूप वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड मे मिलता है।

गुर्जर प्रतीहारो के अभिलेखो से प्राय यह निश्चित है कि उनमे से कुछ विदेशी थे, जो भारत मे आकर बसे और जिन्होने मुसलमानो से देश की रक्षा की। इसलिए वे क्षत्रिय कहलाए।

चौहानो के अभिलेखो मे उन्हे वत्सगोत्र के ब्राह्मणो की सन्तान कहा है।[1] परन्तु यह कहना कठिन है कि वे वास्तव मे विदेशी जाति थे। इसके विषय मे कोई निश्चित प्रमाण नही है। बिजौलिया अभिलेख के बारहवी शती के लगभग ३०० वर्ष बाद 'क्याम खा रासो' नाम के ग्रन्थ की रचना हुई। उसमे लिखा है कि जिस 'सामन्त' नाम के चौहान का उल्लेख उपर्युक्त अभिलेख मे है उसके वशज मुसलमान होने के बाद भी यह कहते थे कि उनकी उत्पत्ति एक ब्राह्मण से है। ऐसी दशा मे अन्य प्रमाणो के अभाव मे चौहानो को ब्राह्मणो की सन्तान मानना अनुचित न होगा

हरसोला अभिलेख (९४८ ई०) मे लिखा है कि परमार वाक्पतिराज प्रथम राष्ट्रकूट अकाल वर्ष (कृष्ण तृतीय) की सन्तान था। इससे यह बात प्राय निश्चित हो जाती है कि वे विदेशी नही थे। पद्मगुप्त ने 'नवसाहसाकचरित' मे उनकी उत्पत्ति अग्निकुल से बतलाई है। यदि वे लोग दक्षिण के राष्ट्रकूटो के वशज होते तो तो पद्मगुप्त निश्चिय ही इसका उल्लेख अपने ग्रन्थ मे करता क्योकि राष्ट्रकूट वश की ग्यारहवी शती ईसवी मे इतनी ख्याति थी। इसलिए यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि वे दक्षिण के राष्ट्रकूटो के वशज थे। इस अभिलेख मे राष्ट्रकूटो का उल्लेख इसलिए है कि वे परमारो के अधिपति थे। हलायुध ने मुज को ब्रह्मक्षत्र लिखा है। इसलिए परमारो को 'ब्रह्मक्षत्र' मानना न्यायसगत होगा।

चौलुक्य मूलराज का सम्बन्ध पहले गुर्जरो के राष्ट्र (गुजरात) से नहीं था। उसने अपने बाहुबल से इस प्रदेश पर अधिकार किया था। इसलिए उसके वश को भी निश्चित रूप से विदेशी नही कहा जा सकता।

चन्देलो को महोबा-खण्ड और उनके अभिलेखो मे चन्द्रवशी कहा है। परन्तु महाभारत के समय के क्षत्रियो से जेजाकभुक्ति के चन्देलो का सम्बन्ध नही जोडा गया है। कुछ यूरोपीय

१ देखिए बिजोलिया शिलालेख (लगभग ११६९ ई०)।

लेखकों के अनुसार वे गोंड और भार आदिम जातियों की सन्तान थे, जो मध्य भारत में रहती थीं। परन्तु इस बात को सिद्ध करने के लिए कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

गहड़वालों के अभिलेखों में उन्हें क्षत्रिय कहा गया है। यह सम्भव है कि प्रारम्भ में गहड़वाल गजनवी के शासकों के आधिपत्य में रहे हों, इसलिए अन्य राजपूत वंश उन्हें नीच समझते हों। टॉड ने उन्हें दूषित रक्त वाला कहा है। यह भी सम्भव है कि वे मध्य-भारत की आदिम जातियों की सन्तान रहे हों।

कलचुरि अभिलेखों में उन्हें प्राचीन चन्द्रवंशी क्षत्रियों की सन्तान कहा है। वे सम्भवतः न तो विदेशी थे और न आदिम जातियों की सन्तान।

डॉ० आर० भण्डारकर के अनुसार गुहिल राजपूत नागर ब्राह्मण थे। उनके कई अभिलेखों में भी उन्हें ब्राह्मण कहा गया है, इसलिए उन्हें वैदिक क्षत्रियों की सन्तान कहना कठिन है।

मारवाड़ और बीकानेर के राठौर राजपूत अपने को गहड़वालों की सन्तान बतलाते हैं। राठौर और गहड़वाल जातियों के गोत्र अलग-अलग है। इसलिए यह सम्भव है कि उनका मूल एक न रहा हो। सम्भव है वे बदायूं के राठौर राष्ट्रकूट राजा के वंशज रहे हों, क्योंकि चारण परम्परा से ज्ञात होता है कि वे १२१२ ई० में मारवाड़ पहुँचे और १२०२ ई० में कुतुबुद्दीन ने बदायूं के राष्ट्रकूट राज्य पर अधिकार किया था।

कछवाह राजपूत नरवर और ग्वालियर में राज्य करते थे। यह नहीं कहा जा सकता कि उनका मूल वंश कहाँ का था।

मुख्य राजपूत वंशों के मूल के विषय में किये गए उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस समस्या का निर्विवाद हल अब भी सम्भव नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि सभी साहित्यिक ग्रन्थों और अभिलेखों में परम्परागत वर्णन मिलता है और उसमें बहुत-से अनैतिहासिक तथ्य मिले हुए हैं, इसलिए वह विश्वसनीय नहीं हो सकता। चारणों ने प्रशस्तियों में परम्पराओं को ही दोहराया है, कोई नए तथ्य नहीं दिये हैं।

भण्डारकर और विलियम क्रुक का अनुमान था कि अग्निकुल परम्परा का यह अर्थ है कि ब्राह्मणों ने अग्नि द्वारा विदेशियों को शुद्ध करके हिन्दू समाज में क्षत्रियों का स्थान दे दिया। उनके मतानुसार ब्राह्मणों ने यह इसलिए भी किया कि राजपूत राजा ब्राह्मणों के आश्रयदाता थे। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार टॉड का मत है कि राजपूत उन शकों की सन्तान थे जो छठी शती ई० में भारत आये। विंसेण्ट स्मिथ के अनुसार कुछ राजपूत गोंड, भार आदि आदिम जातियों की सन्तान भी थे।

हम यह नहीं मानते कि राजपूतों में विदेशियों की सन्तान बिलकुल नहीं है। यह सम्भव है कि कुछ विदेशी भी जिन्होंने देश की रक्षा में प्रमुख भाग लिया क्षत्रिय कहलाने लगे। परन्तु यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता कि सभी राजपूत विदेशी थे। क्या भारत में कोई भी ऐसा वीर इस समय उपलब्ध न था जो सभी वीरों को विदेशों से बुलाना पड़ा। यदि सभी राजपूत विदेशी होते तो वे वैदिक परम्पराओं की रक्षा के लिए क्यों लड़ते। क्या ब्राह्मण उनको समाज में उच्च स्थान दिला देंगे केवल इसी आशा से कोई विदेशी वैदिक परम्पराओं के लिए लड़ता? निश्चय ही राजपूतों में कुछ राजवंश ऐसे होने की सम्भावना हो सकती है जो वैदिक क्षत्रियों की सन्तान थे।

सब राजपूतों को वैदिककालीन सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रियों की सन्तान कहना तो

किसी प्रकार युक्तिसंगत है ही नहीं, क्योंकि जैसा हमने ऊपर लिखा कि प्रारम्भ में गुहिल अपने को ब्राह्मण कहते थे। परमारो के लिए ब्रह्म-क्षत्रिय शब्द प्रयुक्त है। इससे सिद्ध होता है कि वे सब वैदिक क्षत्रियो की सन्तान नहीं हो सकते। सत्य तो यह प्रतीत होता है कि वे सभी राजवश, जो चाहे वैदिक क्षत्रियो की सन्तान थे, चाहे विदेशी थे, चाहे भारत के आदि निवासी, राजपूत कहलाने लगे जिन्होने विदेशियो से देश की रक्षा की और स्वतन्त्र राज्य स्थापित करके एक अव्यवस्था के काल मे कुछ व्यवस्था स्थापित की। सुरेन्द्रनाथ सेन का यह मत सत्य के अधिक निकट प्रतीत होता है कि राजपूतो ने अपने को सूर्यवशी और चन्द्रवशी क्षत्रिय कहने का दावा तभी किया जब उन्होने इस देश के प्राचीन विचारो और परम्पराओ को पूर्ण रूप से अपना लिया। उन्होने भारतीयो के नेता होने का दावा तभी किया जब वे (देश की रक्षा मे) अपने हृदय का रक्त बहा चुके थे। उनका अपने को वैदिक क्षत्रियो की सन्तान कहना कोई अनधिकार चेष्टा न थी।

वैश्यो के मुख्य कर्तव्य पशुपालन, वाणिज्य और कृषि थे। जैनियो ने कृषि करना पाप माना। इसलिए जैन मत से प्रभावित बहुत-से वैश्यो ने सातवी सदी के प्रारम्भ मे कृषि को नीच कार्य समझकर छोड दिया। बहुत-से वैश्य भी मन्त्री, सेनापति और योद्धा होने लगे। वैश्यो और शूद्रो को वेद पढने का अधिकार न रहा।

जब वैश्यो ने कृषि कार्य छोड दिया तो शूद्रो ने इसे सँभाला। शूद्र ही इस काल मे किसान, लुहार, राज, रगरेज, धोबी, जुलाहे और कुम्हार आदि थे। अलग-अलग पेशो से उनकी अलग उपजातियाँ बन गईं। मदारी, मल्लाह, धीवर, जगली पशु-पक्षियो का शिकार करने वाले अन्त्यज कहलाते थे। ये शहरो और गाँवो के बाहर रहते थे।

कायस्थ शब्द पहले केवल लेखक के लिए प्रयुक्त था। कायस्थो मे ब्राह्मणो की सख्या पर्याप्त थी, किन्तु अनेक बुद्धिजीवी वर्ग भी इनमे सम्मिलित हुए। दसवी शताब्दी तक कायस्थ जाति का रूप धारण कर चुके थे। दसवी शती के चन्देल अभिलेखो मे श्रीवास्तवो का अनेकश उल्लेख है।

इस काल मे ब्राह्मणो और क्षत्रियो के विवाह के कई उदाहरण मिलते है। गुर्जर प्रतीहार हरिश्चन्द्र ब्राह्मण था। उसने क्षत्रिय कन्या भद्रा से विवाह किया था। ब्राह्मण कवि राजशेखर ने चौहान कन्या अवन्ति-सुन्दरी से विवाह किया। क्षत्रिय साधारणतया वैश्य या शूद्र कन्या से विवाह करते, ब्राह्मण से नहीं। इसी प्रकार वैश्य शूद्र की कन्या से विवाह करते थे। इस काल मे क्षत्रिय कन्या से उत्पन्न ब्राह्मण का पुत्र क्षत्रिय माना जाने लगा। इससे प्रतीत होता है कि हिन्दू समाज में अब भी कुछ लचीलापन विद्यमान था।

खान-पान मे कोई छूत-छात न थी। व्यासस्मृति से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण चारो वर्णों के हाथ का खाना खाते थे।

रोमिला थापर का मत है कि इस काल मे समाज मे प्राय उन्ही व्यक्तियो का आदर किया जाने लगा जिनके पास भूमि होती। धनीवर्ग भूमि की आय पर निर्वाह करता था परन्तु उत्पादन मे उसका कोई योगदान नही था। ब्राह्मणो के पास भी भूमि थी इसलिए उनका भी समाज मे बहुत आदर था। क्षत्रिय वर्ग का राजाओ से सम्पर्क रहता था अत उनकी भी समाज मे प्रतिष्ठा थी। हाँ शूद्रो की अवस्था बहुत हीन हो गई थी।

आमोद-प्रमोद—रत्नावली से पता चलता है कि वसन्तोत्सव और होली पर पिचकारी द्वारा

रंग फेंकने का रिवाज इस समय भी था। वर्षा ऋतु में दोलोत्सव होता और शतरंज, चौपड़ आदि खेल खेले जाते। जुआ भी बहुत खेला जाता था। क्षत्रिय शिकार के बहुत शौकीन थे। साहित्य-गोष्ठियाँ भी होती थीं।

इस समय मध्यदेश की स्त्रियाँ साड़ी पहनती थीं। बाहर जाते समय चादर ओढ़ती थीं। नाचते समय वे लहँगा पहनतीं तथा इसके ऊपर ओढ़नी ओढ़ती थीं। स्त्रियाँ छीट के कपड़े भी पहनती तथा प्रायः रंगीन कपड़े पसन्द करती थीं। कान, गले, हाथ, पैर में अनेक आभूषण पहने जाते थे। हार, अंगूठियाँ, कड़े, मालाएँ, बाजूबन्द, कर्णफूल सभी प्रचलित थे। नथ का प्रयोग न था। व्यापारी कुर्ते पहनते थे। कश्मीर के लोगों में कच्छा प्रचलित था।

अधिकतर लोग निरामिषाहारी थे। उच्च जातियों के लिए प्याज और लहसुन का प्रयोग वर्जित था। ब्राह्मण प्रायः शराब नहीं पीते थे। क्षत्रियों में भी इसका अधिक प्रचार न था।

दास-प्रथा विद्यमान थी, किन्तु दासों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। ऋण चुकाकर दास मुक्त हो सकते थे। युद्ध में पकड़े हुए दास भी मुक्त हो सकते थे। भारत में दास विश्वास-पात्र निजी सेवक समझे जाते थे।

'मालती माधव' और 'गौडवहो' से ज्ञात होता है कि देवी की तुष्टि के लिए मनुष्यों और पशुओं की बलि दी जाती थी। लोग भूत-प्रेत, जादू-टोना, डाकिनी आदि में विश्वास करते। फलित ज्योतिष में अधिक लोग विश्वास करते थे।

इस काल में भी कुछ स्त्रियाँ अच्छी पढ़ी-लिखी थीं। राज्यश्री ने बौद्ध सिद्धान्त पढ़े थे। कहा जाता है कि मण्डन मिश्र की पत्नी इतनी विदुषी थी कि उसने शास्त्रार्थ में शंकराचार्य को निरुत्तर कर दिया। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी ने प्राकृत कविता में आनेवाले देशी शब्दों का एक कोष बनाया।

पर्दे की प्रथा न थी। स्त्रियाँ राजसभा और महाभारत की कथा सुनने के लिए निःसंकोच मन्दिरों में जातीं और पुजारियों और ब्राह्मणों से मिलतीं। राज्यश्री स्वयं युवान-च्वांग से मिली थी। कुलीन घरों में बहु विवाह की प्रथा विद्यमान थी। कन्याओं का विवाह अधिकतर १४ वर्ष की अवस्था में होता था। स्वयंवरों में कन्याएँ अपने वर चुनती थीं। विधवा विवाह भी होते, परन्तु कम। सती प्रथा प्रचलित थी परन्तु अधिक नहीं। सब विधवाओं के लिए सती होना आवश्यक न था।

आर्थिक दशा

रोमिला थापर का मत है कि साधारणतया प्रत्येक ग्राम में उतना ही उत्पादन किया जाता था जितने की वहाँ आवश्यकता होती थी। किसान भी अधिक अन्न नहीं उपजाते थे क्योंकि यदि वे अधिक उपजाते तो यह सब जमींदार के पास चला जाता। सामन्त भी अपना धन अपने महल और मन्दिर बनवाने में खर्च करते थे। उनसे उद्योगों या व्यापार की कोई उन्नति नहीं होती थी।

जब सामन्तों की संख्या बहुत बढ़ गई तो धन की बड़ी मात्रा बिचौलियों के हाथ में चली जाती थी। इससे अधिपति और किसान दोनों की हानि हुई। कभी-कभी जिन मन्दिरों को भूमि दान में दी जाती थी उनके अधिकारी अतिरिक्त कर लगाते थे। ब्राह्मणों को जो भूमि

दी जाती थी उससे सरकार को कोई आय नही होती थी। इस प्रकार किसानों को कर अधिक देना पडा और सरकार की आय कम हो गई।

परन्तु इस काल मे भी कृषि की व्यवस्था ठीक रखने के लिए राजाओ ने सिंचाई आदि का उचित प्रबन्ध किया। कश्मीर मे बाढ आने पर राजा अवन्तिवर्मा ने सुय्य नामक अपने मन्त्री इजीनियर से इसका प्रबन्ध करने को कहा। उसने झेलम नदी के तट पर बहुत-से बाँध-बाँधकर नहरें निकलवाईं और प्रत्येक गाँव मे यथोचित जल देने की व्यवस्था की गई। इसका यह परिणाम हुआ कि उपज बहुत हुई और एक खारी परिमाण चावल का दाम २०० दीनारो से ३६ दीनार तक उतर आया। बुन्देलखण्ड के चन्देल राजाओ ने पहाडियो को काटकर बहुत-सी झीलें बनवाई जो सिचाई के लिए बहुत उपयोगी हुई।

कृषि के अतिरिक्त वस्त्र व्यवसाय ने भी बहुत उन्नति की थी। महीन-से-महीन कपडा बनाया जाता। अरब यात्री सुलेमान ने लिखा है कि नवी शताब्दी मे बगाल मे ऐसा बारीक कपडा बनता था जैसा अन्यत्र कही तैयार नही हो सकता था। कपडे रगने की कला भी बहुत विकसित थी। नील की खेती रग के लिए बहुत होती थी। लोहे का व्यवसाय भी काफी विकसित था। हाथीदाँत की चूडियाँ आदि बनाई जाती थी। व्यवसायो की अलग-अलग श्रेणियाँ थी। श्रेणियाँ व्यवसायियो के हितो की रक्षा करती।

व्यापार जल और स्थल दोनो मार्गो से होता था। स्थल मार्ग से चीन, बेबीलोन, अरब और ईरान के साथ भारत का व्यापार होता था। भारत और चीन के व्यापार से अरब के व्यापारियो ने भारतीयो को निकालना चाहा। इसलिए वे भारत के बन्दरगाहो पर न आकर सीधे दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन जाने लगे। पश्चिमी तट पर प्रसिद्ध बन्दरगाह देबाल, कैम्बे, थाना, सोपारा और किलोन थे। इनसे भारतीय वस्तुएँ पश्चिमी देशो को जाती थी। इस काल मे चीन के साथ व्यापार थल मार्ग से बहुत कम होने लगा।

भारत से रेशम, छीट, मलमल, मोती, हीरे, मसाले, मोरपख, हाथीदाँत विदेशो को भेजे जाते थे। नवी सदी के यात्री इब्न खुर्दाजबा ने लिखा है कि चन्दन, कपूर, लौग, जायफल, नारियल, कबाबचीनी, सूती कपडे, मखमल, हाथीदाँत, मोती तथा मणियाँ भारत से अरब तथा इराक भेजी जाती थी। निर्यात अधिक होने के कारण भारत की सम्पत्ति दिन-दिन बढती जाती थी।

गुप्तकाल मे सोने और चाँदी के सुन्दर सिक्के प्रचलित हुए। गुप्तो के इस काल मे श्रेणियो का इतना महत्त्व न रहा क्योंकि अधिकतर शक्ति भूमिपतियो के हाथ मे चली गई। हा दक्षिण भारत मे अब भी श्रेणियो के हाथ मे पर्याप्त शक्ति थी। साहूकारो की दशा अच्छी थी वे साधारणतया १५ प्रतिशत प्रति-वर्ष ब्याज लेते थे। परन्तु इससे अधिक ब्याज के भी अनेक उदाहरण मिलते है। ब्याज भी जाति की उच्चता या नीचता के कारण कम या अधिक लिया जाता था जैसे कि ब्राह्मण से २ प्रतिशत तो शूद्र से ५ प्रतिशत।

गुप्तकाल मे सोने और चाँदी के सुन्दर सिक्के प्रचलित हुए। गुप्तो के पीछे हूण और सासानी राजा अपने सिक्के अपने साथ लाये। ये सिक्के राजपूताना, गुजरात, काठियावाड, मालवा आदि प्रदेशों मे चलने लगे। सातवी शताब्दी मे गुहिल, प्रतीहार, उद्भाण्डपुर (ओहिन्द) के राजाओं ने नाम वाले सोने-चाँदी और ताँबे के सिक्के चलाये।

धार्मिक अवस्था

बौद्ध धर्म की अवनति

बौद्ध धर्म की अवनति के अनेक कारण थे । पाँचवी शताब्दी ई० के अन्त मे हूणो के आक्रमण ने उत्तर-पश्चिमी भारत मे बौद्ध धर्म को बहुत हानि पहुँचाई । हूणो ने बौद्ध मन्दिरो और मठो को नष्ट किया और बौद्ध भिक्षुओ का वध किया । जब बौद्ध मठ नष्ट हो गये तो बौद्ध धर्म की अवनति होने लगी । जब युवान च्वांग (६२९—६४५) भारत आया तो उसने इस प्रदेश मे हजारो बौद्ध मन्दिरो और मठो के खडहर देखे । गुप्तकाल मे महायान सम्प्रदाय की पर्याप्त उन्नति हो गई थी । पीछे हिन्दू धर्म और महायान बौद्ध धर्म मे बहुत भिन्नता न रही । हिन्दुओ ने बुद्ध को विष्णु का नवाँ अवतार मान लिया । हिन्दू धर्म मे व्यक्तियो को बौद्ध धर्म की अपेक्षा विचारो की अधिक स्वतन्त्रता थी । इसलिए बहुत-से बौद्ध भी हिन्दू धर्म की ओर आकर्षित होने लगे । भारतीयो को बौद्धो का ईश्वर और वेदो मे अविश्वास बहुत खटकता था, इसलिए वे हिन्दू धर्म को अच्छा समझने लगे ।

कुमारिल (७०० ई०) और शकराचार्य (७८८—८२० ई०) ने बौद्ध सिद्धान्तो का खण्डन किया । शकराचार्य ने बौद्ध धर्म के कुछ सिद्धान्तो का भी समावेश हिन्दू धर्म मे कर दिया । इसीलिए उसे प्रच्छन्न-बौद्ध कहते है । धीरे-धीरे बौद्ध धर्म की सभी अच्छी बाते हिन्दू धर्म का अग बन गई । इससे भी बौद्ध धर्म की अवनति हुई ।

बौद्ध भिक्षुओ का गुह्य साधनाओ के कारण नैतिक स्तर बहुत गिर गया । बौद्ध भिक्षुओ मे सदाचार की कमी और बाह्याडम्बर ने भी बौद्ध धर्म को पतनोन्मुख बना दिया । अब बौद्ध भिक्षुओ मे वह धार्मिक उत्साह और पवित्रता नही रह गई थी जो पहले थी ।

इस प्रकार उपर्युक्त कारणो से ग्यारहवी शताब्दी तक बौद्ध धर्म की बहुत अवनति हो गई थी । जब मुसलमानो ने उनके मठो को नष्ट किया तो बौद्ध धर्म भारत से लुप्तप्राय हो गया ।

राजाओ का प्रोत्साहन भी हर्ष के पश्चात् बौद्ध धर्म को कम मिला । राजपूत राजाओ पर बौद्ध धर्म का कोई विशेष प्रभाव नही था । केवल मगध और बगाल मे बौद्ध धर्म की उन्नति पाल राजाओ के आश्रय मे होती रही । बोधगया, नालन्दा, ओदन्तपुरी (बिहार) और विक्रमशील मे प्राचीन बौद्ध विद्वत्ता की परम्पराएँ चलती रही । यहाँ से बौद्ध भिक्षु बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए तिब्बत गए ।

इसी काल मे मन्त्रयान का उदय हुआ । इसमे बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए मन्त्र का उपयोग किया गया । तान्त्रिक बौद्ध धर्म के विकास को वज्रयान कहते है, जिसमे मन्त्र के साथ मुद्रा को भी अपनाया गया । नवी तथा दसवी शताब्दी मे ८४ सिद्धो ने वज्रयान का बहुत प्रचार किया । तान्त्रिक बौद्ध धर्म और हिन्दू तन्त्र मे कोई विशेष अन्तर न था । वे मास, मदिरा, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन पाँच मकारो का प्रयोग करते थे ।

जैन धर्म

जैन धर्म मे आडम्बर बहुत आ गया । इस कारण इसका इस काल मे उत्तर भारत मे इतना प्रचार न रहा । परन्तु राजस्थान के गुर्जर प्रतीहार और महोबा के चन्देल राजा जैन थे । मालवा मे जैन धर्म के दो आचार्य अमितगति और धनेश्वर हुए । अभयदेव का जन्म धारा

में हुआ। राजस्थान में ही हरिभद्रसूरि का जन्म हुआ। चौहानो ने जैन मन्दिर बनवाया। बंगाल के पुण्ड्रवर्धन क्षेत्र मे जैन विहारो की कमी न थी। युवान-च्वांग ने जैन विहारो का पर्याप्त विवरण दिया है। जैन देवताओ की पूजा के निमित्त दान देने का बहुत रिवाज था। इस काल मे जैन धर्मावलम्बी भी सरस्वती तथा गणेश की पूजा करने लगे।

दक्षिण भारत मे कई राजाओ ने जैन धर्म को प्रोत्साहन दिया। उनका वर्णन हम अध्याय १९ मे करेंगे।

हिन्दू धर्म

हिन्दू धर्म मे ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनो को एक ही शक्ति के भिन्न रूप समझा जाता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि इस काल मे राजस्थान मे हरि-हर की अनेक मूर्तियाँ बनाई गई। ओसिया मे हरि-हर के दो मन्दिर हैं। अजमेर और बाडौली के संग्रहालयो मे हरि-हर पितामह की मूर्तियाँ विद्यमान है जिनमे विष्णु और शिव के साथ ब्रह्मा को भी दिखाया गया है। हर्षनाथ के शिव मन्दिर मे सूर्य की एक ऐसी मूर्ति है जिसमे सूर्य मुख्य देवता है और उसके साथ शिव, ब्रह्मा और विष्णु को उसी के भिन्न रूपो मे दिखलाया गया है। यह समन्वय की भावना इतनी प्रबल थी कि एक देवता का मन्दिर अन्य देवताओ के उपासको के लिए भी पूजा का स्थान बन जाता था। इसी भावना के कारण पचायतनो का निर्माण हुआ जिनमे प्रमुख देवता की मूर्ति मन्दिर के केन्द्र मे स्थापित की जाती थी और अन्य देवताओं की चार कोनो मे। तीर्थस्थान भी अनेक देवताओ के लिए पवित्र समझे जाने लगे जैसे पद्मपुराण के अनुसार इन्द्रप्रस्थ मे सब देवताओं का निवास है। इस काल के राजाओ मे भी यह समन्वय की भावना पूर्ण रूप से विद्यमान थी। प्रतीहार राजाओ ने हर पीढी मे अपनी रुचि के अनुसार अपने इष्ट देवता को चुना। देवशक्ति विष्णु का उपासक था, उसका पुत्र वत्सराज शिव का और पोता नागभट द्वितीय भगवती का। रामभद्र सूर्य का उपासक था। भोज भी भगवती का उपासक था किन्तु उसने अपने महल मे विष्णु का एक मन्दिर बनवाया। सम्भवत: वह विष्णु को देवी का ही एक रूप समझता था। जनसाधारण को भी पूरी छूट थी कि वे किसी भी देवी या देवता की पूजा करे।

इस काल मे वैष्णव और शैव सम्प्रदायो की बहुत उन्नति हुई। ये दोनो सम्प्रदाय ज्ञान या कर्मकाण्ड पर इतना बल नही देते जितना भक्ति मार्ग पर। इस काल मे धनी हिन्दू ब्राह्मणो को और शिक्षा सस्थाओ, मठो तथा मन्दिरो के प्रबन्ध के लिए दान देते थे। हिन्दू राजा बौद्ध धर्म के लिए तथा जैनो के विहारो को भी दान देते थे। दान पर्व के अवसरो पर अधिक दिये जाते थे। धनी व्यक्तियो को प्राय यह विश्वास हो गया कि भूमिदान से स्वर्ग प्राप्त होता है।

शैव सम्प्रदाय

इस काल के बहुत-से राजा और विद्वान् शिव के पुजारी थे। शशांक और बाणभट्ट शैव थे। युवान-च्वांग ने लिखा है कि बहुत-से पाशुपत सिन्ध मे रहते थे। वत्सराज शिव का उपासक था और महेन्द्रपाल महेश्वर का। चौहान राजा भी शैव थे। बनारस तो शैवो का मुख्य केन्द्र था ही। वहाँ बहुत-से शैव मन्दिर थे। कालजर मे भी शिव-पूजा लोकप्रिय थी। शैव लोग संध्या, पूजा, जप, यज्ञ मे आहुति, प्राणायाम, मनन, समाधि, तप और प्रायश्चित पर बहुत बल देते थे।

राजस्थान मे शिव की पूजा बहुत लोकप्रिय थी। यहाँ के कई शासको ने शिव मन्दिरो का निर्माण कराया। मेवाड का सबसे प्रसिद्ध शिव मन्दिर एकलिगजी का मन्दिर है। उसके दक्षिण मे लकुलीश का मन्दिर है। लकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय का संस्थापक कहा जाता है। शिव की अनेक सुन्दर मूर्तियाँ भी मिली है जिनसे शैव सम्प्रदाय की लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है।

कापाल और कालमुख नाम के शैव खोपडी मे भोजन करते, शवो की चिताओं से ली हुई राख शरीर पर लपेटते। राख खाते, गदा धारण करते, शराब का घडा रखते और देवता की स्थिति उसमे मानते थे। यह शैव सम्प्रदाय का विकृत रूप था।

कश्मीर मे शैव धर्म का प्रचार विशुद्ध रूप मे था। **वसुगुप्त** ने इस सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ '**स्पन्दशास्त्र**' लिखा। उसके शिष्य **कल्लट** ने अवन्तिवर्मा (८५४ ई०) के राज्यकाल मे उसकी टीका लिखी। दसवीं सदी मे **सोमानन्द** ने कश्मीर मे **प्रत्यभिज्ञा** सम्प्रदाय नाम की शैव सम्प्रदाय की शाखा का प्रचार किया। इनका मुख्य सिद्धान्त था कि परमात्मा मनुष्यो के कर्मफल की अपेक्षा अपनी इच्छा से ही सृष्टि को पैदा करता है।

देश के कुछ भागो मे शक्ति की पूजा भी होती थी। शवर, भील और अन्य आदिवासी अधिकतर शक्ति के उपासक थे। इस काल के साहित्य और अभिलेखो मे इसका उल्लेख मिलता है।

वैष्णव सम्प्रदाय

नागभट, भोज और महीपाल वैष्णव थे। विष्णु देवता स्वय पुण्यात्माओं को पुरस्कृत करने और दुष्टों को दण्ड देने के लिए पृथ्वी पर अवतार लेते है यह विश्वास जनसाधारण मे विद्यमान था। इसलिए विष्णु के सभी अवतारों की पूजा की जाती थी। राजस्थान मे कृष्ण-वासुदेव की पूजा बहुत लोकप्रिय थी। पहले विष्णु के केवल चार या छ अवतार माने जाते थे। पीछे से यह सख्या १० और कभी-कभी २४ तक पहुँच गई। **ऋषभ, बुद्ध, कृष्ण, राम** और **दत्तात्रेय** सब विष्णु के अवतार मान लिये गये। इस सम्प्रदाय मे नवी शती मे कृष्ण की ग्वालों के बीच मे बाल-लीलाएँ और उनकी गोपियो के साथ **रास-लीला** पर विशेष जोर दिया गया। इन लोगो मे ससार से पलायन और परलोक को अधिक महत्त्व देने की भावना को प्रोत्साहन मिला।

वैदिक सम्प्रदाय

मीमासा दर्शन के समर्थक प्रभाकर और कुमारिल भट्ट ने (७०० ई०) कहा कि वेद ईश्वर-प्रणीत है और यदि वैदिक कर्मकाण्ड को ठीक प्रकार से किया जाये तो ईश्वर-कृपा की आवश्यकता नही है। ये मीमासक आचार्य बौद्ध और उपनिषदो के सिद्धान्तो के विरुद्ध थे। वे पौराणिक धर्म के भी पूर्णतया विरोधी थे। भक्ति मार्ग मे उनकी आस्था न थी। उनका विश्वास था कि वैदिक यज्ञ और कर्मकाण्ड से ही मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है। मीमासको के सिद्धान्त अधिक लोकप्रिय न हो सके। परन्तु कुछ गुर्जर प्रतीहार तथा चन्देल राजाओं ने वैदिक यज्ञो का अनुष्ठान कराया।

शकराचार्य (७८८–८२० ई०) ने अपने अद्वैत दर्शन का प्रचार किया। शकर का जन्म त्रावणकोर रियासत मे एक नम्बूदिरी परिवार मे हुआ। शिक्षा-समाप्ति के बाद शकर उत्तर

भारत आये। बादरायण के ब्रह्मसूत्रो की व्याख्या करके और भगवद्गीता का भाष्य लिखकर उन्होने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। शकर का मत था कि विश्व मे एक ही आत्मा है, वह सब जीवो मे व्याप्त है। शकर ने वैदिक कर्मकाण्ड के समर्थक मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ किया। मीमासको ने शकर पर यह दोषारोपण किया कि वह प्रच्छन्न-बौद्ध है। यह दोषारोपण किसी अश मे सत्य है, क्योंकि बौद्धो की भाँति शकर भी कोरे कर्मकाण्ड के विरोधी थे। बौद्ध लोग शकर को अपने धर्म का विरोधी मानते है, क्योकि शकर के प्रभाव के कारण बौद्ध-दर्शन को बहुत क्षति पहुँची। अद्वैत सिद्धान्त मे बौद्ध धर्म की माध्यमिक शाखा के दार्शनिक तत्वों की झलक स्पष्ट दिखाई पडती है।

शकर ने अपने सिद्धान्तो का परम्परागत हिन्दू धर्म से समन्वय स्थापित करके हिन्दू धर्म मे नवीन जीवन का सचार किया। देवी की पूजा मे तान्त्रिक लोगो ने जो अनैतिकता लादी थी उसने उसे निकाल फेका। शकर ने उत्तर मे बदरिकाश्रम मे, पूर्व मे पुरी मे, पश्चिम मे द्वारका मे और दक्षिण मे श्रृगेरी मे चार मठो की स्थापना की। इनके मठाधीशो ने औपनिषदिक विचारधारा और अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने का प्रण किया। शकर ने कुछ सन्यासियो को भी प्रशिक्षित किया। ये सन्यासी दशनामी कहलाते हैं। इन्होने घूमघूम कर शकर के सिद्धान्तो का प्रचार किया। शकर की विद्वत्ता और तर्क का इतना प्रभाव हुआ कि उस समय अधिकतर लोग उसके सिद्धान्तों को ठीक समझने लगे।

पीछे वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यो ने शकर के अद्वैत सिद्धान्त का डटकर सामना किया। इस कारण जनसाधारण मे उसके सिद्धान्त इतने व्यापक न रह सके। भक्ति मार्ग अधिक लोकप्रिय हो गया।

इस काल मे जनसाधारण का यह विश्वास बन गया था कि तीर्थयात्रा करने से मनुष्य कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। उत्तर भारत के प्रसिद्ध तीर्थ गया, वाराणसी, हरिद्वार, पुष्कर, प्रभास, नैमिष क्षेत्र, केदार, कुरुक्षेत्र, उज्जयिनी और प्रयाग थे। कुछ पुराणो मे कान्यकुब्ज और इन्द्रप्रस्थ को भी तीर्थ कहा है। राजशेखर ने लिखा है कि प्रयाग मे आत्महत्या करने से मोक्ष मिलता है। अनेक प्रकार के प्रायश्चित भी किये जाते थे।

सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि दसवी शताब्दी के अन्त तक सारे भारत मे हिन्दू धर्म का प्रभाव सबसे अधिक व्याप्त था। इसमे सारे लोकप्रिय धार्मिक विश्वासो का समावेश हो गया था परमात्मा, जीवात्मा, माया और अवतारवाद के सिद्धान्तो को सारे हिन्दू-समाज मे मान लिया और शिव, विष्णु और देवी की पूजा सबसे अधिक लोकप्रिय हो गई।

तान्त्रिक सम्प्रदायों की इस काल मे बहुत उन्नति हुई। ब्राह्मण धर्म के सबसे प्रसिद्ध दो तान्त्रिक सम्प्रदाय 'कापालिक' और 'कौल' थे। कापालिकों का वर्णन हम शैव सम्प्रदाय मे कर चुके है। कौल सम्प्रदाय के अनुयायी सब नैतिक और सामाजिक बन्धनो की उपेक्षा करते और शराब पीते थे। इन सब क्रियाओ से वे अद्वैत सिद्धान्त मे पूर्णरूप से अपनी आस्था प्रकट करते थे।

हम ऊपर कह चुके है कि बौद्ध तान्त्रिकों ने मन्त्र, मुद्रा और मण्डलो का प्रयोग किया। उन्होने मत्स्य, मद्य, मास, मुद्रा और मैथुन पाच मकारो का भी प्रयोग किया। तान्त्रिक सम्प्रदाय का जनसाधारण पर कुछ अच्छा प्रभाव नही पडा। इससे समाज का नैतिक पतन ही हुआ।

शिक्षा

सभी बड़े गाँवों मे मन्दिरो मे साधारण शिक्षा का प्रबन्ध होता था । शैव तथा वैष्णव मठों मे उच्च शिक्षा दी जाती थी ।

नालन्दा विश्वविद्यालय का वर्णन हम अध्याय १५ में कर चुके हैं। यह विद्यालय जनता और राजाओ की पुष्कल आर्थिक सहायता से चलता था। वहाँ के विद्यार्थी धन-सम्पत्ति यश-अपयश किसी की परवाह न करके ज्ञान-प्राप्ति मे लगे रहते थे। इसका यह परिणाम हुआ कि साधारणतया सभी भारतीय सदाचार और सादगी का जीवन बिताते, न्यायप्रिय होते और ईमानदारी का व्यवहार करते ।

इस काल मे पाल राजा धर्मपाल ने **विक्रमशील** का महाविद्यालय स्थापित किया । यह महाविहार चार सौ वर्ष तक चलता रहा। इसमे सम्भवत छ कालेज थे और प्रत्येक मे २०८ शिक्षक थे। इसके सभा-भवन मे ८००० विद्यार्थी बैठ सकते थे। इसके विद्यार्थी अपने पाडित्य के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे ।

शकर के सिद्धान्तो की शिक्षा देने के लिए हिन्दू मन्दिरो मे बहुत-से विद्यालय स्थापित किए गये । इन विद्यालयो मे बौद्ध-दर्शन की शिक्षा बिलकुल नही दी जाती थी ।

इस काल मे पठन-पाठन का मुख्य माध्यम सस्कृत थी । नागरी लिपि का विकास भी इसी काल मे हुआ। नालन्दा और विक्रमशील के महाविद्यालयो के अतिरिक्त **ओदन्तपुरी** का विश्वविद्यालय भी इस काल का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था । इसकी स्थापना पाल वश के राजा गोपाल ने की थी। इसमे हजारो आचार्य व विद्यार्थी निवास करते थे। यहाँ एक विशाल पुस्तकालय था ।

काशी, नवद्वीप, वलभी और धारा नगरी भी मध्ययुग मे शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे । परमार राजा भोज ने अपनी राजधानी धारा नगरी मे एक महाविद्यालय की स्थापना की जिससे विद्वानो और साहित्यिको को बहुत प्रोत्साहन मिला ।

भाषा और साहित्य

इस काल मे राजाओ ने कवियो और लेखको को संरक्षण देकर सस्कृत साहित्य और विज्ञान की उन्नति मे बहुत योग दिया । कश्मीर मे ललितादित्य मुक्तापीड ने विद्वानो को सरक्षण देकर सस्कृत साहित्य की उन्नति की । इस कारण इस काल मे अनेक काव्यो की रचना हुई। हर्षवर्धन और बाणभट्ट के ग्रन्थो का वर्णन हम हर्षकालीन साहित्य और शिक्षा मे कर चुके हैं । इस काल के साहित्य मे विविधता तो बहुत है किन्तु मौलिकता कम है ।

सातवी शताब्दी के प्रारम्भ मे भट्टि ने 'भट्टिकाव्य' या 'रावण वध' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। उसे वलभी के राजा श्रीधर सेन का सरक्षण प्राप्त था। उसने व्याकरण जैसे शुष्क विषय को साहित्यिक रूप देकर सरस बना दिया। कुमारदास ने हमारे काल मे 'जानकी-हरण' नामक काव्य लिखा। उसके विषय तथा शैली दोनो पर कालिदास का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पडता है। सातवीं शती के उत्तरार्द्ध मे माघ कवि ने 'शिशुपाल-वध' नामक काव्य की रचना की। सस्कृत के विद्वानो का मत है कि माघ की रचना मे उपमा, अर्थगौरव और पदलालित्य तीनो गुण विद्यमान हैं।

कविराज ने ८०० ई० के लगभग 'राघव-पाण्डवीय' नामक ग्रन्थ रचा, जिस में राम

और पाण्डवों की कथा साथ-साथ कही गई है। वे ही शब्द दो अर्थ देने से दोनो कथाओ का अर्थ देते हैं। नवम शताब्दी की समाप्ति से पहले अवन्तिवर्मा के राज्यकाल मे कश्मीर मे शिवस्वामी ने 'कफ्फणाभ्युदय' नाम का रोचक बौद्ध महाकाव्य लिखा। जैन विद्वानों मे रविषेण ने ६७८ ई० मे 'पद्मपुराण' की रचना की और जिनसेन ने 'पार्श्वाभ्युदय' और 'आदि पुराण' के पहले ४२ अध्यायो की रचना की। असग ने 'वर्धमान-चरित' या 'महावीर-चरित' महाकाव्य रचा। इसी समय रत्नाकर नामक कश्मीरी महाकवि ने 'हरविजय' नाम का काव्य लिखा, जिस पर माघ का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। नवी शती के अन्त मे कश्मीर मे ही अभिनन्द ने 'कादम्बरीकथासार' लिखा जो बाण के ग्रन्थ 'कादम्बरी' का संक्षिप्त रूप है। अभिनन्द नामक एक दूसरे लेखक ने 'रामचरित' नामक महाकाव्य लिखा। वासुदेव ने 'युधिष्ठर-विजय', 'शौरिकथोदय' और 'त्रिपुरदहन' नाम के तीन महाकाव्यो की रचना की गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थो मे 'नल-चम्पू' एक उत्कृष्ट रचना है जिसे ९१५ ई० के लगभग त्रिविक्रम भट्ट ने रचा। ९९३ ई० के लगभग अमितगति ने 'सुभाषित रत्न सन्दोह' नामक ग्रन्थ की रचना की।

इस काल का सबसे प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य 'नवसाहसाकचरित' है। इसकी रचना पद्मगुप्त ने की, जिसका समय १००० ई० के लगभग है। इस काल मे कुछ स्तोत्र भी लिखे गये, जैसे आनन्दवर्धन का 'देवी शतक'।

प्राकृत के काव्यो मे 'गौडवहो' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसकी रचना कन्नौज के राजा यशोवर्मा के राज्य मे आठवी शताब्दी के प्रारम्भ मे वाक्पति नामक विद्वान् ने की। इसमे यशोवर्मा की गौड-विजय का वर्णन है।

नाटक—आठवी शताब्दी मे भवभूति ने तीन प्रसिद्ध नाटक लिखे। 'मालती-माधव' मे शृगार रस, 'महावीरचरित' मे वीर रस और 'उत्तररामचरित' मे करुण रस प्रधान है। इसी काल मे भट्टनारायण ने अपना प्रसिद्ध नाटक 'वेणीसहार' रचा। भीम के 'प्रतिभाचाणक्य' और 'दशानन-स्वप्न' नामक नाटक नवी शती मे लिखे गए। 'प्रतिभा-चाणक्य' पर विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। सम्भव है भीम चन्देल-राजा हर्ष के राज्य-काल मे रहा हो। इसी काल मे मुरारि ने 'अनर्घ-राघव' नामक नाटक लिखा। इसमे राम के वन से लौटने तक की कथा है। भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ अच्छा है, किन्तु इसमे नाटकीय तत्वो की कमी है। शक्तिभद्र ने इसी काल मे 'आश्चर्य-चूडामणि' नामक नाटक लिखा। हस्तिमल्ल नामक जैन लेखक ने भी इस काल मे कई नाटक लिखे।

इस काल के नाटककारो मे राजशेखर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने चार नाटक लिखे। 'बालरामायण' मे राम की कथा है। 'बालभारत' मे महाभारत के एक प्रसग को आधार माना गया है। 'विशालभजिका' एक नाटिका है जिसमे चार अक हैं। 'कर्पूरमजरी' प्राकृत मे है। राजशेखर प्रतीहार राजा महेन्द्रपाल और महीपाल का राजकवि था।

क्षेमीश्वर ने इसी काल मे 'चण्डकौशिक' नामक नाटक लिखा। इसमे राजा हरिश्चन्द्र की कथा है। उसने अपने दूसरे नाटक 'नैषधानन्द' मे नल की कथा को आधार माना है। दसवीं शताब्दी मे किसी अज्ञात लेखक ने 'हनुमन्नाटक' रचा। इसमें हनुमान की कथा को आधार माना गया है। यह एक शुद्ध नाटक ग्रन्थ नहीं है। इसमे काव्य और नाटक का सम्मिश्रण है। यह ग्रन्थ अभिनय के लिए नही लिखा गया।

इस काल मे चार भाण भी लिखे गए। इनका सग्रह 'चतुर्भाण' नाम से प्रकाशित हुआ है। इन नाटको मे पात्र आप-ही-आप सब-कुछ कहता है।

गल्प-साहित्य—इस काल के गल्प-साहित्य मे आनन्द की 'माधवानलकामकन्दला कथा' और धनपाल की 'तिलक-मजरी' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

वैज्ञानिक साहित्य—'धन्वन्तरि निघण्टु' आयुर्वेदिक कोश, और हलायुध का 'अभिधान रत्नमाला' नामक कोश भी इसी काल की रचनाएँ हैं। व्याकरण के ग्रन्थो मे शाकटायन का 'शब्दानुशासन' उल्लेखनीय है।

इस काल के अलकार-ग्रन्थो के लेखको मे उद्भट का नाम सबसे प्रसिद्ध है। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'अलकार सग्रह' है। इसी काल मे रुद्रट ने 'काव्यालकार' की रचना की। रीति-ग्रन्थो के लेखको मे सबसे प्रसिद्ध वामन है, जिसने 'काव्यालकार सूत्र वृत्ति' नामक पुस्तक की रचना की। आनन्द-वर्धन ने 'ध्वन्यालोक' मे ध्वनि पर विशेष बल दिया। राजशेखर-कृत 'काव्य-मीमासा' किसी भी कवि के लिए बहुत उपयोगी ग्रन्थ है।

माधवकर ने आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'माधवनिदान' सम्भवत नवी शती मे रचा। धन्वन्तरि के कोश 'धन्वन्तरि-निघण्टु' का उल्लेख तो हम ऊपर कर ही चुके है। गणित के लेखको मे सबसे प्रसिद्ध आर्यभट द्वितीय है जिसने 'आर्य-सिद्धान्त' नामक पुस्तक की रचना की।

इस काल के सस्कृत के ग्रन्थो मे पाण्डित्य का प्रदर्शन अधिक है। अधिकतर विषय रामायण, महाभारत या पुराणो मे लिए गए है। प्रत्येक लेखक ने विषय पर विशेष ध्यान न देकर भाषा मे कृत्रिम सौन्दर्य जुटाने का प्रयत्न किया है।

धार्मिक साहित्य

इस काल मे लिग, वराह, गरुड, कूर्म आदि पुराणो मे अनेक नए प्रकरणो मे दान, व्रत, ग्रह-शान्ति, सस्कार और तत्कालीन कर्मकाण्ड का वर्णन है। इस काल मे विश्वरूप ने याज्ञ-वल्क्य-स्मृति पर 'बाल-क्रीडा' नाम की और मेधातिथि ने मनुस्मृति पर अपनी टीकाएँ लिखी। इन टीकाओ मे तत्कालीन समस्याओ पर विशेष प्रकाश डाला गया है। धर्म-शास्त्र के कोई उल्लेखनीय मौलिक ग्रन्थ नही लिखे गए।

दर्शन-शास्त्र के लेखको मे सबसे प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र है। सम्भवत उसका काल नवी शती का पूर्वार्ध है। उसने सभी दर्शनो पर अपने भाष्य लिखे। इस काल मे तन्त्र पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गए। इनमे वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्ध तन्त्र की सभी शाखाओ के ग्रन्थ हैं।

प्राकृत साहित्य—वाक्पति के 'गौडवहो' नामक काव्य और राजशेखर की 'कर्पूरमजरी' का हम वर्णन कर चुके है। इस काल के प्राकृत के प्रारम्भिक लेखको मे हरिभद्र का नाम उल्लेख-नीय है। उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'समरैच्चकहा' और 'धूर्ताख्यान' है। 'समरैच्चकहा' मे नायक समरादित्य के नौ जन्मो का वर्णन है। 'धूर्ताख्यान' मे अनेक हास्यापद कहानियाँ हैं। उद्योतन सूरि ने 'कुवलयमाला' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसकी नायिका कुवलयमाला है। इस काल मे प्राकृत के दो कोश भी रचे गए। धनपाल ने 'पाइयलच्छीमाला' और राजशेखर की पत्नी अवन्ति-सुन्दरी ने प्राकृत कविता मे आने वाले शब्दो के कोश की रचना की।

अपभ्रंश साहित्य—स्वयभूदेव ने 'पौमचरिउ' और 'हरिवश पुराण' नाम के दो ग्रन्थो की रचना की। ये दोनो रामायण और महाभारत के जैन रूप हैं। अपभ्रंश मे कुछ कथा-

साहित्य भी लिखा गया, जैसे हरिषेण की 'धम्मपरिक्खा'। इसमें अनेक नैतिक कहानियों का संग्रह है।

कला

वास्तुकला—उत्तर भारत के मन्दिरो मे इस काल मे नागर शैली का विकास हुआ। इनमें गर्भ गृह (छोटी कोठरी) के ऊपर टेढी रेखाओ से आवेष्टित शिखर बनाए जाते थे, जो नीचे कुछ चौडे और ऊपर पतले होते जाते थे। सबसे ऊपर गोलाकार आमलक होता तथा आमलक के ऊपर कलश होता था। गर्भ गृह के आगे मण्डप (बरामदा) होता था। उत्तर भारत की उडीसा शैली के मन्दिरो के श्रेष्ठ उदाहरण भुवनेश्वर के मन्दिर हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध मुक्तेश्वर, राजरानी और लिंगराज के मन्दिर है। लिंगराज मन्दिर का शिखर ४८.८ मीटर ऊँचा है। अधिकतर विद्वानो का मत है कि यह नवी या दसवी शताब्दी ई० मे बनाया गया। ये मन्दिर आधार से सिरे तक अलंकृत किए गए है। यह दसवी सदी के मन्दिरों की विशेषता है। उडीसा के मन्दिरो मे स्तम्भो का अभाव है जो दक्षिण भारत के मन्दिरो की विशेषता है। यहाँ के मन्दिर विशालता के लिए भी प्रसिद्ध हैं।

उडीसा के भुवनेश्वर मन्दिरो के बाद महत्त्व की दृष्टि से खजुराहो के मन्दिर हैं। खजुराहो मध्यभारत मे चन्देल राजाओ की राजधानी थी। उनके राज्यकाल मे ९५० ई० से १०५० ई० के बीच यहाँ अनेक जैन, शैव तथा वैष्णव लोगो ने मन्दिर बनवाए। इन मन्दिरो मे कन्दर्य महादेव का मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है। यह ३५.३ मीटर ऊँचा है, इसमे गर्भगृह के सामने स्तम्भयुक्त तीन मण्डप है। सभी मण्डपो पर वृत्ताकार गुम्बद हैं। इस मन्दिर मे बडे शिखर को अलकृत करने के लिए छोटे शिखर बनाये गए हैं। 'चतुर्भुज वैष्णव मन्दिर' और 'आदि नाथ का जैन मन्दिर' इसी शैली के बने हैं। इन सब मन्दिरो को कुराई करके आधार से ऊपर तक अलकृत किया गया है।

बगाल के पाल राजाओ ने बहुत-से मन्दिर बनवाए। बर्दवान जिले मे बरकर मे चार मन्दिर मिले हैं, इनमे सम्भवत. एक दसवी शताब्दी का है। इसकी शैली भुवनेश्वर के मन्दिर के अनुरूप है। इस प्रकार के दो मन्दिर मनभम और बाकुरा जिले मे भी मिले है।

जोधपुर मे ओसिया के निकट १६ मन्दिर मिले हैं। इनमे से ११ मन्दिर आठवी-नवी शताब्दी के बने है। इनमे सबसे सुन्दर सूर्य मन्दिर है। हरिहर के तीन मन्दिर भी सुन्दर बने हैं। परन्तु ओसिया का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर 'महावीर मन्दिर' है जिसका जीर्णोद्धार दसवी शताब्दी मे हुआ।

कश्मीर मे ललितादित्य (७२४—७६० ई०) और अवन्तिवर्मा (८५५—८८८ ई०) के राज्यकाल मे सुन्दर मन्दिर बने। इनमे सबसे पहला श्रीनगर के निकट लुदोव मे रुद्रेश मन्दिर है। इसके बाद का तख्तेसुलैमान का शकराचार्य का मन्दिर है। कश्मीर शैली का पूर्ण विकास 'मार्त्तण्ड के सूर्य मन्दिर' मे पाया जाता है जिसे ललितादित्य ने बनवाया था। अवन्तिवर्मा के समय मे एक शिव मन्दिर और एक विष्णु मन्दिर बना। कश्मीर शैली का विकसित रूप 'पाटन के शिव मन्दिर' मे भी पाया जाता है जो शकरवर्मा के समय मे बना था।

नागर शैली के अन्य मन्दिर उदयपुर राज्य मे नागदा, बाडौली और चित्तौडगढ मे और ग्वालियर मे, झालावाड मे और चन्द्रावती मे मिले हैं। बाडौली के मन्दिर मे तक्षण कार्य

बहुत बारीकी से किया गया है।

जैन मन्दिरो के सुन्दर नमूने खजुराहो के अतिरिक्त आबू, नागदा, मुक्तगिरि और पालीताना मे मिले हैं। आबू के निकट दिलवाडा मे एक ऋषभनाथ का मन्दिर है और यह आदिनाथ मन्दिर कहलाता है। दूसरा नेमिनाथ का मन्दिर है। इन दोनो मन्दिरो के गर्भगृह प्राचीन प्रतीत होते हैं। पहले मन्दिर के मण्डप का निर्माण १०३१ ई० मे चौलुक्य भीम प्रथम के एक अधिकारी विमल ने करवाया था। दूसरे मन्दिर के मण्डप १२३० ई० मे तेजपाल नाम के साहूकार ने बनवाए थे। इन दोनो मन्दिरो की तक्षण कला बहुत ही सुन्दर है।

इस काल के दो दरीगृह मन्दिर एक झालर-पाटन के निकट दमनर मे और दूसरा कांगडा जिले मे मसरूर मे मिले हैं।

मूर्ति कला—पाल युग मे यद्यपि कलाकार अपने कार्य मे स्वतन्त्र था, पर वह शास्त्रीय तत्त्वो से मुक्त होकर कार्य नही कर सकता था। इस काल मे जितनी मूर्तियाँ बनाई गई वे 'साधन-माला' मे कथित नियमो के अनुसार बनाई गई।

मध्यकाल की अधिकतर मूर्तियाँ मन्दिरो मे मिलती है। उनमे धार्मिक प्रभाव अधिक है। वे अधिकतर कला की दृष्टि से इतनी उत्कृष्ट नही है। उत्तर भारत की बुद्ध और ब्राह्मण धर्म के देवी-देवताओ की कुछ मूर्तियाँ सुन्दर बनी है। परन्तु उनमे भी मौलिकता की कमी है। मूर्तियाँ केवल धर्म का मूर्त्त रूप है, उनमे कला की भावना का प्राय अभाव है। इस काल के उत्तरार्ध मे जो मूर्तियाँ बनी, उन पर तान्त्रिक विचार-धारा का प्रभाव अधिक है।

इस काल मे पूर्वी उत्तर भारत मे पाल शैली का विकास हुआ। इसमे काले चिकने पत्थर का प्रयोग किया गया। इस कला मे एक विशिष्ट सादगी है। पाल शैली की पत्थर की और काँसे की मूर्तियो मे कोई अन्तर नही पाया जाता। नालन्दा की अष्टधातु की 'अवलोकितेश्वर' को और कुर्किहार की 'तारा' की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से श्रेष्ठ है। उडीसा के मन्दिरो की मूर्तियाँ और तक्षण-कला भी उत्कृष्ट है।

इस काल की बहुत-सी मूर्तियाँ बहुभुजी है। विष्णु की चतुर्भुज मूर्तियाँ सर्वत्र मिली हैं। कुछ मूर्तियो मे अधिक हाथ न दिखलाकर देवताओ के चिह्न शख, चक्र, गदा और पद्म दिखाए गए हैं। विष्णु के दस अवतारो की मूर्तियाँ बहुलता से बनी। शिव, गणेश, कार्तिकेय और शक्ति की भी अनेक प्रतिमाएँ इस काल मे बनी। शिव की लिंग मूर्तियो की प्रधानता थी, बगाल मे सबसे महत्त्वपूर्ण शिव प्रतिमा 'उमा-महेश्वर' के नाम से पुकारी जाती है। पाल शैली की सुन्दर मूर्तियो मे 'अर्धनारीश्वर' की भी गणना की जाती है। अधिकतर प्रतिमाएँ दोहरे कमलासन पर खडी या बैठी दिखलाई गई है।

उत्तर भारत मे इस काल की बोधिसत्व की अनेक मूर्तियाँ मिली है। इत्सिग ने लिखा है कि बगाल के कलाकार मिट्टी की बुद्ध की लाखो मूर्तियाँ बनाते थे।

चित्रकला—कैलाश के दरीगृह के मन्दिर की छत मे जो चित्र बने है वे अजन्ता और बाग के चित्रो से भिन्न है। भारतीय चित्रकला रूप-प्रधान न होकर भाव-प्रधान है। हमारे चित्रकार बाहरी अग-प्रत्यगो की सूक्ष्मता तथा सुन्दरता पर उतना ध्यान नही देते जितना आन्तरिक मानसिक भाव व्यक्त करने मे। व्यक्त के भीतर जो अव्यक्त की छाया छिपी हुई है, उसको प्रकाशित करना ही भारतीयो का मुख्य उद्देश्य रहा है।

सातवीं व आठवी सदी तक बगाल मे भी भित्ति-चित्र बनाए गए किन्तु वे अब कही नही मिलते। जो चित्र बचे है वे ताड-पत्र पर हस्तलिखित ग्रन्थो मे विद्यमान है। आठवी सदी के बाद देवी-देवताओं की छोटी आकृतिया हस्त-लिखित पुस्तको मे बनाई जाने लगी। ऐसे चित्रो मे बौद्ध ग्रन्थो मे 'प्रज्ञापारमिता' का चित्र बहुनायत से मिलता है।

सहायक ग्रन्थ

राजबली पाण्डेय — **प्राचीन भारत**, अध्याय २२

वासुदेव उपाध्याय — **पूर्वमध्यकालीन भारत**, भाग २

ए० बी० कीथ — **सस्कृत साहित्य का इतिहास**, भाग २, अनुवादक—मगलदेव शर्मा

A S Altekar — *State and Government in Ancient India*

Dasharatha Sharma — *Early Chauhan Dynasties*, Chapter 1

A. C Banerji — *Lectures on Rajput History*, Lectures 1 and 2

R. C. Majumdar and A. D. Pusalkar — *The History and Culture of the Indian People, The Age of Imperial Kanauj.* Chapters 9, 10, 11, 12, 13, 14

R C Majumdar and A D Pusalkar — *The History and Culture of the Indian Pepole, The Struggle for Empire*, Chapter 20.

Dasharatha Sharma — *Lectures on Rajput History and Culture*, Lectures 1, 5, 6

Romila Thapar — *A History of India*, Vol I, Chapter 11.

अध्याय १९

दक्षिणापथ की राजनीतिक व सांस्कृतिक अवस्था

(५५०—१००० ई०)

(Political and Cultural Conditions in the Deccan)

(550—1000 A D)

राजनीतिक अवस्था

नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार दक्षिण भारत के इतिहास में लगभग ५५० ई० से ८५० ई० तक का ३०० वर्ष का काल तीन बड़ी शक्तियों के संघर्ष का समय है। छठी शताब्दी के मध्य में बादामी के चालुक्यों, कांची के पल्लवों और मदुरा के पाण्ड्य राजाओं ने अपनी शक्ति बढ़ा ली। सबसे पहले चालुक्यों और पल्लवों का संघर्ष आरम्भ हुआ। ७५० ई० के लगभग चालुक्य राजा इस संघर्ष से अलग हो गए और मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजाओं ने चालुक्य राजाओं का स्थान ले लिया। इसी प्रकार पल्लवों का स्थान चोलों ने ले लिया। दोनों का बराबर संघर्ष चलता रहा।

चालुक्य—जिस समय उत्तर भारत में हर्षवर्धन ने अपना साम्राज्य स्थापित किया, उसी समय बादामी के चालुक्य राजाओं ने छठी शताब्दी ई० के मध्य में दक्षिण भारत में एक महान् राज्य की स्थापना की। उन्होंने लगभग दो सौ वर्षों तक दक्षिण भारत पर अपना आधिपत्य रखा।

इस वंश का पहला प्रमुख राजा **पुलकेशी प्रथम** (५३५-६६ ई०) था। उसने ५४३-४४ ई० में बीजापुर जिले में बादामी का मजबूत किला बनाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। उसकी शक्ति का अनुमान इससे किया जा सकता है कि उसने अश्वमेध आदि कई श्रौत यज्ञ किये।

कीर्तिवर्मा प्रथम (५६६-६७—५९७-९८ ई०) ने भी कई श्रौत यज्ञ किये और बादामी को अनेक सुन्दर इमारतें बनाकर सुशोभित किया। उसने बनवासी के कदम्बों, कोकण के मौर्यों और दक्षिण के नल राजाओं को हराकर अपना राज्य विस्तृत किया।

मंगलेश (५९७-९८ से ६१०-११ ई०)—कीर्तिवर्मा की मृत्यु के समय राज्य का उत्तराधिकारी पुलकेशी द्वितीय बालक था, इसलिए उसके चाचा मंगलेश ने ६१०-११ ई० तक राज्य किया। उसने कलचुरिवंश के राजा बुद्धराज को परास्त किया और रेवतीद्वीप (गोआ) पर भी अधिकार कर लिया। जब पुलकेशी द्वितीय वयस्क हो गया तो मंगलेश ने शासन-कार्य उसको न सौंपा, इस पर मंगलेश और पुलकेशी का युद्ध हुआ। इसमें मंगलेश मारा गया। सन् ६१० ई० के लगभग पुलकेशी राजा बना।

पुलकेशी द्वितीय (६१०-११—६४२ ई०)—जब वह सिंहासन पर बैठा, राज्य में बहुत गड़बड़ी थी। गोविन्द और अप्पायिक नाम के दो राजा उसके राज्य पर आक्रमण करने की

योजना बना रहे थे। पुलकेशी ने उनमे फूट डालकर पहले को अपनी ओर मिला लिया और दूसरे को पराजित किया। इसके बाद उसने बनवासी के कदम्बो को हराया और दक्षिण मैसूर के गग राजाओं और मैसूर के आलूपो को अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया। गग राजा दुर्विनीत ने अपनी पुत्री का विवाह शायद पुलकेशी द्वितीय के साथ किया। कोकण के मौर्यों को हराकर उसने उनकी राजधानी पुरी या राजपुरी (एलफेण्टा) पर भी अधिकार कर लिया। उत्तर मे लाट, मालव और गुर्जर राजाओ ने पुलकेशी का आधिपत्य स्वीकार किया। कन्नौज के शक्तिशाली राजा हर्ष को भी उससे पराजित होकर लौटना पडा।[1] इसके बाद सम्भवतः नर्मदा नदी हर्ष और पुलकेशी के राज्य की सीमा रही। पूर्व मे उसने कलिगो को पराजित किया और पिष्टपुर के राजा को हराकर उसके स्थान पर अपने छोटे भाई विष्णु-वर्धन को वहाँ का राज्यपाल बनाया। विष्णुवर्धन ने वेगी के पूर्वी चालुक्य राजवश की नीव डाली। पुलकेशी के समय मे चालुक्य-पल्लव सघर्ष का आरम्भ हुआ। इस सघर्ष का मुख्य कारण यह था कि पल्लवो ने सुदूर दक्षिण मे अपनी शक्ति बढा ली थी और उनके उत्तर में चालुक्य शक्तिशाली हो गए थे। दोनो ही अपने राज्य का विस्तार करना चाहते थे। पुलकेशी ने पल्लव राजा महेन्द्रवर्मा को पराजित करने के लिए चोल, केरल और पाण्ड्य राजाओ से भी मित्रता की। महेन्द्रवर्मा हारा। वह अपनी राजधानी कांची की रक्षा तो कर सका किन्तु उसके राज्य के उत्तरी भाग को पुलकेशी ने अपने राज्य मे मिला लिया।

पुलकेशी ने एक बार फिर पल्लवो के विरुद्ध युद्ध छेडा। पल्लव राजा नरसिंहवर्मा (६३०—६६८ ई०) ने कई युद्धो मे पुलकेशी को पराजित किया। अन्त मे नरसिंहवर्मा ने चालुक्य राजाओ की राजधानी वातापी (बादामी) पर भी अधिकार कर लिया। सम्भवत ६४२ ई० के लगभग इन्ही युद्धो मे पुलकेशी की मृत्यु हो गई।

पुलकेशी द्वितीय ने ईरान के राजा खुसरु द्वितीय के पास ६२५-२६ ई० मे एक शिष्ट-मण्डल भेजा। इससे स्पष्ट है कि उसकी प्रसिद्धि भारत से बाहर भी फैल गई थी। सम्भवतः वह बादामी के चालुक्य वश का सबसे महान् राजा था।

पुलकेशी के राज्यकाल मे ६४१ ई० मे युवान-च्वांग महाराष्ट्र गया। उसने उस समय का महाराष्ट्र का सुन्दर वर्णन किया है। उसके अनुसार प्रजा पुलकेशी के आदेशो का पूर्णतया पालन करती। अपने राज्य मे वह सर्वत्र परोपकार के कार्य करता। भूमि उपजाऊ थी, मनुष्य ईमानदार, सादे और विद्याप्रेमी थे।[2]

विक्रमादित्य प्रथम (६५४–५५–८१ ई०)—पुलकेशी के पुत्र विक्रमादित्य प्रथम ने पल्लव राजा महेन्द्रवर्मा द्वितीय को हराकर उससे अपने राज्य का दक्षिणी भाग वापस ले लिया। पल्लव राजा महेन्द्रवर्मा द्वितीय और परमेश्वरवर्मा प्रथम को हराकर उसने कांची पर भी कुछ समय के लिए अधिकार कर लिया। उसने चोल, पाण्ड्य और केरल के राजाओं को भी हराया। किन्तु पीछे से पल्लव राजा परमेश्वरवर्मा ने पेरुवल नल्लूर नामक स्थान पर विक्रमादित्य को पूर्णतया पराजित किया। इसके बाद विक्रमादित्य को पल्लव राज्य को

१. देखिए ऐहोल अभिलेख। इसकी रचना पुलकेशी के राज कवि कीर्ति रवि ने की थी। इस प्रशस्ति में उत्तम कविता के सभी गुण विद्यमान हैं।
२. देखिए पूर्ण विवरण पृ० २६७ पर।

छोड़कर अपने राज्य की सीमाओं के अन्दर लौटना पड़ा।

विनयादित्य (६८१—९६ ई०)—विनयादित्य को अपने पिता के राज्यकाल में पल्लवों और तीन अन्य पड़ौसी राष्ट्रों के साथ लड़ना पड़ा था। स्वयं उसके राज्यकाल में शान्ति रही। उसने उत्तरी भारत पर भी आक्रमण किया जिसमें उसके पुत्र **विजयादित्य** (६९६—७३३ ई०) ने बड़ी वीरता दिखाई। परन्तु इस अभियान के कोई स्थायी परिणाम न हुए। विजयादित्य ने शिव का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया और जैन विद्वानों को कई गाँव दान में दिये।

विक्रमादित्य द्वितीय (७३३—७४४ ई०)—विक्रमादित्य द्वितीय ने गंग राजाओं से मित्रता करके पल्लव राजा परमेश्वरवर्मा के विरुद्ध युद्ध किया और कांची पर अधिकार कर लिया। पल्लव राजा ने बहुत से हाथी, रत्न और सेना विक्रमादित्य को देकर अपना पीछा छुड़ाया। उसके राज्य काल में अरबों ने आक्रमण किया। विक्रमादित्य के उत्तरी प्रदेशों के गवर्नर अवनिजनाश्रय पुलकेशी ने उन्हें हराया।

विक्रमादित्य की रानी महादेवी ने लोकेश्वर का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया।

कीर्तिवर्मा द्वितीय (७४४—७५३ ई०)—इसके राज्यकाल में चालुक्य साम्राज्य की अवनति होने लगी। आठवीं शताब्दी के मध्य में राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग ने, जो पहले चालुक्यों का सामन्त था, चालुक्यों के राज्य पर अधिकार कर लिया। चालुक्य-पल्लव संघर्ष ने चालुक्यों की शक्ति क्षीण कर दी। वे अपने राज्य के उत्तरी प्रदेशों पर अपना पूर्ण नियन्त्रण भी न रख सके। इस प्रकार ७५३ ई० के लगभग चालुक्य साम्राज्य की इतिश्री हो गई।

वेंगी के पूर्वी चालुक्य राजा

हम ऊपर कह आए हैं कि ६३१ ई० में पुलकेशी द्वितीय ने अपने छोटे भाई **विष्णुवर्धन** को उत्तरी मराठा क्षेत्र में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा। कुछ समय पश्चात् पुलकेशी ने उसे विजगापट्टम जिले से नैलोर जिले के उत्तरी भाग तक के प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया। थोड़े दिन बाद वह एक स्वतन्त्र शासक हो गया। पूर्वी चालुक्य राजाओं की राजधानी वेंगी थी। पुलकेशी द्वितीय या उसके पुत्रों को, जब उनके राज्य पर पल्लव राजाओं ने आक्रमण किया, विष्णुवर्धन के पुत्र जयसिंह ने कोई सहायता न दी।

राष्ट्रकूट राजाओं ने बादामी के चालुक्य राजाओं के राज्य पर अधिकार करके पूर्वी चालुक्यों के राज्य पर भी कब्जा करना चाहा। ७६९ ई० में पूर्व राष्ट्रकूट राजा कृष्ण प्रथम ने अपने पुत्र गोविन्द द्वितीय के नेतृत्व में पूर्वी चालुक्यों के विरुद्ध एक सेना भेजी। इस सेना ने पूर्वी चालुक्यों को हराकर राष्ट्रकूटों का आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया। इस प्रकार राष्ट्रकूटों और पूर्वी चालुक्यों के बीच संघर्ष प्रारम्भ हुआ।

विष्णुवर्धन चतुर्थ (७७२—७९९ ई०)—विष्णुवर्धन चतुर्थ ने राष्ट्रकूट राजा गोविन्द द्वितीय को उसके भाई ध्रुव के विरुद्ध सहायता दी थी। इस बात से अप्रसन्न होकर पीछे से ध्रुव ने विष्णुवर्धन से अच्छी तरह बदला लिया। विष्णुवर्धन चतुर्थ के पुत्र विजयादित्य द्वितीय (७९९—८४७ ई०) और उसके भाई भीम सालुक्की में सिंहासन के लिए झगड़ा हुआ। राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय की सहायता से भीम ने विजयादित्य से राज्य छीन लिया। पीछे से विजयादित्य ने गोविन्द और भीम को हराकर अपना राज्य वापस ले लिया। वह १२ वर्ष तक राष्ट्रकूट और गंग राजाओं के विरुद्ध लड़ता रहा। अन्त में राष्ट्रकूट राजा

अमोघवर्ष ने पूर्वी चालुक्य सेना को हराकर वेंगी पर अधिकार कर लिया।

विजयादित्य तृतीय (८४८—८९२ ई०)—इस वंश का सब से शक्तिशाली राजा था। उसने दक्षिण में पल्लवो, पाण्ड्यो और पश्चिमी गंगों को हराया। इसके अतिरिक्त दक्षिण कोसल और कलिंग देश के राजाओ पर भी उसने विजय प्राप्त की। किरणपुर (बालाघाट, मध्य प्रदेश) के युद्ध मे उसने राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय और कलचुरि राजा शकरगण को बुरी तरह हराया।

भीम प्रथम (८९२—९२२ ई०)—इसके समय मे राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय ने पूर्वी चालुक्यो के राज्य के एक भाग को लूटकर इसका बदला लिया। किन्तु कृष्ण द्वितीय ने भीम को अपने सामन्त के रूप मे वेगी का शासक नियुक्त किया। भीम ने फिर विद्रोह किया और सम्भवत अपने राज्यकाल के अन्त मे राष्ट्रकूट सेनाओ को हराकर अपने राज्य से खदेड दिया। भीम प्रथम की मृत्यु के बाद भी राष्ट्रकूटो से युद्ध चलता रहा। इसके बाद पूर्वी चालुक्य राजाओ मे सिंहासन के लिए अनेक युद्ध हुए। इस प्रकार इन राजाओ की शक्ति क्षीण हो गई।

९९९ ई० मे इस वश के उत्तराधिकारी **शक्तिवर्मा प्रथम** ने चोल राजा राजराज महान् की सहायता से राज्य पर अधिकार कर लिया। इसके बाद चालुक्य राजा चोल राजाओ की कठपुतली बनकर राज्य करते रहे। उनकी स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो गई।

राष्ट्रकूट—हम अध्याय १६ मे कह आए है कि हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात आठवी शताब्दी ई० के मध्य मे उत्तर भारत के आधिपत्य के लिए जो त्रिदलीय सघर्ष प्रारम्भ हुआ उसमे पाल, प्रतीहार और राष्ट्रकूटो ने भाग लिया। पाल और प्रतीहार राजाओं की सफलताओ का वर्णन हम उक्त अध्याय मे कर चुके है। इस अध्याय मे अब हम राष्ट्रकूटो की उन्नति और पतन का अध्ययन करेगे।

७५२ ई० के लगभग चालुक्य सम्राटो के **सामन्त दन्तिदुर्ग** ने राष्ट्रकूट साम्राज्य की नीव डाली। इसके वशज हैदराबाद राज्य मे उस्मानाबाद ज़िले के रहने वाले थे। वे ६२५ ई० के लगभग बरार के पास एलिचपुर आकर रहने लगे और वही उन्होने अपना एक छोटा-सा राज्य बना लिया। वे चालुक्यो को अपना अधिपति मानते थे। दन्तिदुर्ग ७३३ ई० के लगभग सिंहासन पर बैठा। सम्भवत पहले वह अपने अधिपति विक्रमादित्य द्वितीय की ओर से **अवनिजनाश्रय पुलकेशी** के साथ अरबो के विरुद्ध लडा और उसने उन्हे बुरी तरह से हराया। ७४३ ई० मे दन्तिदुर्ग विक्रमादित्य के साथ पल्लवो के विरुद्ध लडने गया और उन्हे पराजित किया। ७४४ ई० मे विक्रमादित्य की मृत्यु हो गई। इसके पश्चात दन्तिदुर्ग ने नन्दीपुरी के गुर्जर राज्य को समाप्त किया। मालवा को जीतकर उसने उज्जयिनी मे हिरण्यगर्भ दानोत्सव किया। इसके पश्चात् उसने मध्यप्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। ७५३ ई० के लगभग उसने चालुक्य राजा कीर्तिवर्मा को हराकर कुल महाराष्ट्र पर अधिकार कर लिया। ७५८ ई० से कुछ पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई।

कृष्ण प्रथम (७५८—७७३ ई०)—७६० ई० के लगभग कृष्ण प्रथम ने चालुक्य राज्य को पूर्णतया समाप्त कर दिया। इसके पश्चात् उसने मैसूर के गग राजा पर आक्रमण किया। अपने पुत्र गोविन्द को उसने वेंगी के चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ के विरुद्ध भेजा। उसको हराकर गोविन्द ने आधुनिक हैदराबाद राज्य के सारे प्रदेश को राष्ट्रकूट साम्राज्य मे मिला लिया। उसने राहप्प नाम के राजा को हराया और दक्षिण कोकण पर भी अपना आधिपत्य

स्थापित किया। कृष्ण के राज्य मे मध्यप्रदेश का वह सब प्रदेश, जिसमे मराठी बोली जाती है, सम्मिलित था। उसने एलौरा का प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर बनवाया।

गोविन्द द्वितीय--वह सफल शासक न हो सका। भोग-विलास मे ही अपना सारा समय बिताता था। शासन का सब कार्य उसने अपने छोटे भाई ध्रुव के हाथ मे छोड दिया। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर ७८० ई०के लगभग ध्रुव ने गोविन्द को हराकर राज्य पर अधिकार कर लिया।

ध्रुव (७८०--७९३ ई०)--ध्रुव अपनी विजयो के लिए प्रसिद्ध है। उसने गग राजा श्रीपुरुसमुत्तरस को हराया। जब ध्रुव ने पल्लव राजा दन्तिवर्मा पर आक्रमण किया तो पल्लव राजा ने उसको कुछ हाथी देकर अपना पीछा छुडाया। वेगी के चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (७३३--७९९ ई०) को भी उसने हराया। इस प्रकार वह दक्षिण भारत का सम्राट् बन गया। इसके पश्चात् ध्रुव ने उत्तर भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की योजना बनाई।

इस समय गुर्जर प्रतीहार राजा वत्सराज और मगध और बगाल के पाल राजा धर्मपाल मे उत्तर भारत पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए सघर्ष चल रहा था। इसी समय ध्रुव अपनी सेना लेकर उत्तर भारत पर चढ़ आया। सम्भवत दोआब मे प्रतीहार सेना उससे हारी और धर्मपाल से छीने हुए दो सफेद छत्र और बगाल की लूट भी ध्रुव के हाथ लगी। धर्मपाल भी सम्भवत ध्रुव से हारा। उसने अपने पुत्र गोविन्द तृतीय को अपना युवराज बनाया।

गोविन्द तृतीय (७९३--८१५ ई०)--उसके राज्यकाल मे प्रारम्भ मे उसके बडे भाई स्तम्भ ने विद्रोह किया। गोविन्द ने उसे और उसके साथियो को हराया। उसके साथियो को दण्ड दिया, किन्तु स्तम्भ को गग राज्य मे अपना प्रतिनिधि बनाकर भेज दिया। पल्लव राजा दन्तिग को उसने दण्ड-रूप मे बहुत-से हाथी देने के लिए विवश किया।

ध्रुव के दक्षिण चले जाने के बाद गौडराज धर्मपाल ने इन्द्रायुध को हराकर उसके स्थान पर चक्रायुध को कन्नौज का राजा बनाया। प्रतीहार राजा वत्सराज के पुत्र नागभट द्वितीय ने भी कई अन्य जनपदो पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार सन् ८०० ई० के लगभग राष्ट्रकूटो का उत्तर भारत मे प्रभाव प्राय नही के बराबर रह गया। इस स्थिति का प्रतिकार करने के लिए गोविन्द तृतीय ने उत्तर भारत पर धावा किया। धर्मपाल और चक्रायुध ने गोविन्द का आधिपत्य स्वीकार करने मे समझदारी मानी, किन्तु नागभट द्वितीय ने राष्ट्रकूट सेना का सामना किया और वह युद्ध मे हारा। यह घटना ८०२ ई० के लगभग हुई। गोविन्द को दक्षिण लौटना पडा, किन्तु गुजरात और मालवा मे उसने अपने अधिकारी नियुक्त किये। नागभट द्वितीय ने धीरे-धीरे फिर अपनी शक्ति बढ़ाई और इधर-उधर के छोटे-छोटे राज्यो को अपने राज्य मे मिलाने के बाद सन् ८१० ई० के आसपास उसने चक्रायुध को कन्नौज से निकाल बाहर किया। उसके बाद प्रतीहार सेना और आगे बढी। मुगेर के युद्ध मे धर्मपाल पराजित हुआ और नागभट द्वितीय का राज्य इस प्रकार राजस्थान से बिहार तक पहुँच गया। नागभट ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया किन्तु मालवा और गुजरात के प्रदेश अब भी राष्ट्रकूटो के हाथ मे रहे।

गोविन्द ने वेंगी के चालुक्य राजा विजयादित्य द्वितीय के विरुद्ध उसके छोटे भाई भीम सालुक्की को सहायता देकर वहाँ अपना आधिपत्य स्थापित किया।

पल्लव, पाण्ड्य, केरल और गग राजाओ ने गोविन्द के विरुद्ध एक संगठन बनाया था। किन्तु ८०२ ई० से पूर्व ही गोविन्द ने उसे तितर-बितर कर दिया। लका के राजा ने भी गोविन्द की कांची विजय से डरकर गोविन्द से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया।

गोविन्द अनुपम साहसी, कुशल योद्धा और चतुर राजनीतिज्ञ था। उसकी सेनाओ ने कन्नौज से कुमारी अन्तरीप तक के प्रदेश पर विजय प्राप्त की। बनारस से भड़ोंच तक सारे प्रदेश पर उसने अधिकार किया। उसके राज्यकाल मे राष्ट्रकूट शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई।

शर्व या अमोघवर्ष (८१४—८७८ ई०)—अमोघवर्ष जब सिंहासन पर बैठा उसकी अवस्था १३ या १४ वर्ष की थी। इस समय गुजरात के गवर्नर कर्क्क ने राज्य की अच्छी सेवा की। जब ८१७ ई० मे वेंगी के शासक विजयादित्य द्वितीय ने एक भयकर विद्रोह किया, कर्क्क ने राष्ट्रकूट साम्राज्य की रक्षा की। ८३० ई० मे अमोघवर्ष ने वेगी के चालुक्य राजा विजयादित्य द्वितीय को बुरी तरह परास्त किया और वेंगी पर अधिकार कर लिया।

राष्ट्रकूटो और गग राजा राचमल्ल प्रथम मे लगभग बीस वर्ष तक युद्ध चलता रहा। अन्त मे गग राजाओ ने अपने प्रदेश को राष्ट्रकूटो से स्वतन्त्र कर लिया। अमोघवर्ष ने फिर इस प्रदेश पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयत्न न किया। उसने ८६० ई० मे अपनी पुत्री का विवाह गग वश के राजा बूतुग के साथ करके इस कलह को समाप्त किया।

८५० ई० के लगभग पूर्वी चालुक्य राजा विजयादित्य और अमोघवर्ष मे युद्ध छिड गया। इस युद्ध मे अमोघवर्ष ने विजयादित्य तृतीय को हराकर उसे अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया।

अमोघवर्ष के राज्यकाल के अन्तिम दिनो मे अनेक विद्रोह हुए। अमोघवर्ष स्वय चतुर सैनिक नेता न था। किन्तु उसने सारे प्रदेशो को जीतकर शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित की थी। उसने मान्यखेट का नगर बसाया। उसने 'कविराज-मार्ग' नामक ग्रन्थ स्वयं लिखा। इससे उसकी विद्वत्ता प्रकट होती है। अनेक हिन्दू और जैन विद्वानो को उसने राज्याश्रय दिया। उसके राज्यकाल मे जिनसेन ने 'आदिपुराण', महावीराचार्य ने 'गणितसारसग्रह' और शाकटायन ने 'अमोघवृत्ति' की रचना की। उसने सब धर्मों के साथ सहिष्णुता की नीति अपनाई। वह महावीर और महालक्ष्मी दोनो की पूजा करता था।

कृष्ण द्वितीय (८७८—९१४ ई०)—उसे पूर्वी चालुक्यों और गुर्जर प्रतीहार राजा भोज के साथ कई युद्ध लडने पडे। वेंगी के राजा विजयादित्य तृतीय ने अमोघवर्ष के राज्यकाल मे अपने राज्य को राष्ट्रकूटों के आधिपत्य से मुक्त कर लिया था। कृष्ण द्वितीय के राज्यकाल मे विजयादित्य तृतीय ने राष्ट्रकूटो पर आक्रमण किया और कृष्ण को हरा दिया। अन्त में कृष्ण ने चालुक्य राजा भीम को हराया और बन्दी बना लिया। पीछे से उसने भीम को अपने सामन्त के रूप मे वेंगी मे राज्य करने का अधिकार दे दिया। इसके बाद भीम ने विद्रोह किया और कृष्ण द्वितीय ने शायद उसे हरा दिया। इस प्रकार उसने पूर्वी चालुक्यों

के विरुद्ध कई शानदार विजयें प्राप्त की।

कृष्ण द्वितीय प्रतीहार राजा भोज के विरुद्ध सफल न हो सका। भोज ने मालवा और काठियावाड पर अधिकार कर लिया और ८८८ ई० के लगभग गुजरात पर राष्ट्रकूटो का अधिकार न रहा।

कृष्ण ने चोल राज्य पर भी आक्रमण किया परन्तु उसकी हार हुई।

इन्द्र तृतीय (९१४—९२२ ई०)—उसने गुर्जर प्रतीहार राजा महीपाल के विरुद्ध युद्ध छेडा और कन्नोज पर अधिकार कर लिया। जब महीपाल भागा तो इन्द्र ने अपने चालुक्य सामन्त नरसिंह द्वितीय को उसका पीछा करने के लिए भेजा। परन्तु इन्द्र का भी राज्य उत्तर भारत पर न जम सका। उसके समय मे भी वेगी के चालुक्यो के विरुद्ध युद्ध चलता रहा, किन्तु इन्द्र को इसमे विशेष सफलता न मिली।

गोविन्द चतुर्थ—अपने बडे भाई अमोघवर्ष द्वितीय को हराकर वह सिंहासन पर बैठा। अनेक विद्वानो का मत है कि वह हर समय भोग-विलास मे पडा रहता, इसलिए उसका शासन अत्याचारपूर्ण हो गया और उसकी प्रजा उसके विरुद्ध हो गई।

अमोघवर्ष तृतीय (९३६—९३९ ई०)—जब वह मान्यखेट पहुँचा तो प्रजा ने उसका स्वागत किया। इस समय उसकी अवस्था ५० वर्ष की थी। उसने अपने पुत्र कृष्ण को गगवाडी और बुन्देलखण्ड पर आक्रमण करने भेजा।

कृष्ण तृतीय (९३९—९६५ ई०)—उसने अपने बहनोई गग राजा बूतुग की सहायता से चोल राज्य पर आक्रमण किया। उन्होने ९४३ ई० मे काँची और तजोर पर अधिकार कर लिया। ९४९ ई० मे टक्कोल के युद्ध मे चोल सेना बुरी तरह हारी। कृष्ण ने अपनी विजय के उपलक्ष्य मे रामेश्वर मे एक स्तम्भ बनवाया। उसने तोण्डैमण्डल पर भी अधिकार कर लिया।

९६३ ई० मे उसने उत्तर भारत पर आक्रमण किया। पहले वह बुन्देलखण्ड गया और फिर परमार राजा सीयक को हराकर उसने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया। उसने वेगी पर भी अपना आधिपत्य स्थापित किया।

कृष्ण तृतीय अपनी उत्तर भारत की विजय मे इतना सफल न हुआ जितने गोविन्द तृतीय और इन्द्र तृतीय। परन्तु वह समस्त दक्षिण भारत का स्वामी था। किसी भी राष्ट्रकूट राजा ने इतनी पूरी तरह से दक्षिण भारत पर रामेश्वरम् तक अधिकार नही किया था।

खोट्टिग—९६७ ई० मे जब सिंहासन पर बैठा, वह वृद्धावस्था में था। उसके समय मे परमार राजा सीयक ने मान्यखेट पर आक्रमण किया और उसे खूब लूटा।

कक्कं द्वितीय—उसका शासन-प्रबन्ध ठीक न था। उसके राज्यकाल मे बीजापुर जिले मे तर्दवाडी के सामन्त चालुक्यवशीय तैल द्वितीय ने विद्रोह किया। कक्कं उसका दमन न कर सका और ९७५ ई० मे तैल दक्षिण भारत का अधिपति बन बैठा।

राष्ट्रकूट राजाओ ने लगभग (७५३—९७५ ई०) २२५ वर्ष राज्य किया। इस वश के राजा ध्रुव, गोविन्द तृतीय और इन्द्र तृतीय ने उत्तर भारत की विजय करके अनुपम सफलताएँ प्राप्त की। उनसे पूर्व किसी दक्षिण भारत के राजा ने उत्तर भारत की विजय करने का साहस न किया था। कृष्ण तृतीय ने रामेश्वरम् तक समस्त भारत पर अपना एकाधिपत्य स्थापित किया। राष्ट्रकूट राजाओ का सिक्का उनके समकालीन सभी महान् राजाओ, उत्तर

के प्रतीहारो और पालो ने और दक्षिण के पूर्वी चालुक्यों और चोलो ने माना। उन्होंने सब को हराकर अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया।

सांस्कृतिक अवस्था (७५० ई० से १००० ई०)

यद्यपि दक्षिण भारत मे इस काल मे राजनीतिक संघर्ष चलता रहा, किन्तु इस संघर्ष के कारण सांस्कृतिक उन्नति मे बाधा न पडी। हिन्दू धर्म मे नए धार्मिक सुधार आन्दोलन के कारण जैन और बौद्ध धर्म का प्रचार अपेक्षाकृत कम हो गया। भक्ति-साहित्य और दर्शन-शास्त्र की बहुत उन्नति हुई। इस धार्मिक प्रेरणा के फलस्वरूप वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्र-कला और संगीत-कला की बहुत उन्नति हुई। यह सांस्कृतिक पुनरुत्थान भारत तक ही सीमित न रहा। अनेक हिन्दू उपनिवेशो पर भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। पहले हम दक्षिण भारत के शासन-प्रबन्ध का वर्णन करेंगे और फिर सांस्कृतिक पुनरुत्थान का।

शासन-प्रबन्ध

चालुक्य राजा 'परमेश्वर', 'महाराज', 'महाराजाधिराज' और 'परमभट्टारक' आदि विरुद धारण करते थे। उनके विदेश मन्त्री 'महासान्धिविग्रहिक' कहलाते थे। जिले के अधिकारी को 'विषयपति' और गाँव के मुखिया को 'ग्रामकूट' कहते थे। ग्रामसभा की कार्यकारिणी को 'महत्तराधिकारिन्' कहते थे। कुछ नगर सम्राट् से अपनी स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त करते थे। परिवारो पर उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार कर लगाये जाते थे। अन्य बातो मे चालुक्यो का शासन प्रबन्ध गुप्त-वाकाटको के समान ही था।

दक्षिण भारत के शासन-प्रबन्ध का चित्र राष्ट्रकूटो के अभिलेखो के आधार पर हम भली प्रकार प्रस्तुत कर सकते है। राज्य के सभी अधिकार राजा के हाथ मे थे। राष्ट्रकूट राजा अपने को चक्रवर्ती, महाराजाधिराज, परमभट्टारक, धारावर्ष, अकालवर्ष, सुवर्णवर्ष, विक्रमावलोक और जगत्तुंग आदि विरुदो से विभूषित करते थे। युवराज अपने पिता के शासन-कार्य मे सहायता करता और वह युद्धो मे भी अपने पिता के साथ जाता। दूसरे राजकुमार राज्य के अनेक कार्यों मे नियुक्त किये जाते। राजकार्य अनेक मन्त्रियो की सहायता से होता और इस बात का ध्यान रखा जाता कि मन्त्री सुयोग्य सेना-नायक के गुणो से भी विभूषित हो। इसलिए सभी मन्त्री सैनिक अधिकारी भी होते।

राष्ट्रकूट साम्राज्य में कुछ प्रदेश ऐसे थे जिन पर पुराने राजा राष्ट्रकूट राजाओ का आधिपत्य स्वीकार करके शासन चलाते। कुछ प्रदेश ऐसे थे जिन पर राष्ट्रकूट राजाओ के अपने अधिकारी शासन चलाते। ये प्रदेश शासन के लिए राष्ट्रो और विषयों में बँटे थे। 'राष्ट्र' आजकल की कमिश्नरियो और 'विषय' जिलो के बराबर थे। विषय भुक्तियों मे बँटे थे। प्रत्येक भुक्ति में ५० से ७० तक गाँव होते थे। भुक्तियाँ भी २०-२० गाँवों की छोटी इकाइयो (भागो) मे बँटी थी। राष्ट्र का मुख्य अधिकारी राष्ट्रपति था। वह सैनिक और असैनिक दोनो प्रकार के शासन कार्मों को चलाता। वह भूमि-कर भी इकट्ठा कराता। कुछ पैतृक माल के अधिकारी, जो 'नाड्गावुण्ड' या 'दशग्रामकूट' कहलाते, भूमिकर इकट्ठा करने मे विषयपतियों की सहायता करते। इन अधिकारियों को सरकार की ओर से कर-मुक्त भूमि वेतन के रूप मे दी जाती।

गाँवो में गाँवों का मुखिया और लेखा रखने वाला अधिकारी शासन चलाते थे। इनके पद पैतृक होते। प्रत्येक गाँव की सभा मे प्रत्येक परिवार का नेता भाग लेता था। ये सभाएँ स्थानीय विद्यालयो, तालाबो, मन्दिरो और सडको का प्रबन्ध करने के लिए उपसमितियाँ नियुक्त करती थी। वे दान की सम्पत्ति का भी दानियो की शर्तों के अनुसार प्रबन्ध करती थी। गाँव की सभाएँ दीवानी के झगडो का भी निर्णय करती थी। सरकार भी इनके निर्णयो को मान्यता देती थी। नगरो मे भी ऐसी सभाएँ थी।

राष्ट्रकूट राजा शक्तिशाली सेना रखते। ये सेनाएँ राज्य की रक्षा करती और शत्रुओ के विरुद्ध युद्ध करतीं। सुलैमान ने लिखा है कि राष्ट्रकूट राजा नियम से अपनी सेना को वेतन देते थे। उनकी सेना मे बहुत से हाथी भी थे, किन्तु पैदल सेना की सख्या अधिक थी। सामन्त और प्रान्तीय राज्यपाल भी युद्ध के समय सेना की कुछ टुकडियाँ भेजतें थे। राष्ट्रकूट राजाओ ने जल-सेना की ओर बिलकुल ध्यान नही दिया।

आय के मुख्य साधन सामन्तो की भेट, सरकारी जगलो और खानो से आय और करो की आय थे। भूमि-कर उपज का २५ प्रतिशत अन्न के रूप मे ही लिया जाता।

सामाजिक अवस्था—खुर्दद्बा के अनुसार दक्षिण भारत मे हिन्दू समाज के ये विभाग थे—

१. **सत्क्षत्रिय**—इसमे राजा और उसके वश के लोग शामिल थे। ये ब्राह्मणो से श्रेष्ठ समझे जाते थे।

२ **ब्राह्मण**—ये क्षत्रियो से श्रेष्ठ समझे जाते, यज्ञ करते, शिक्षा देते और न्याय करते थे। इनमे से बहुत-से ज्योतिषी, गणितज्ञ, कवि, दार्शनिक, शासक और व्यापारी भी होते। साधारणतया ब्राह्मणो को अपराधो के लिए प्राण-दण्ड नही दिया जाता था।

३. **क्षत्रिय**—इन्हे चोरी करने के अपराध मे अग-भग की सजा दी जाती थी। क्षत्रिय वैदिक साहित्य का अध्ययन कर सकते थे।

४ **वैश्य**—इस समय वैश्यो का समाज मे अधिक आदर न था, क्योकि उनका शूद्रो से बहुत निकट का सम्बन्ध था। वैश्य अब कृषि कार्य के स्थान पर प्राय वाणिज्य-व्यवसाय ही करते थे।

५. **शूद्र**—ये अस्पृश्य न थे, परन्तु इन्हे वेद पढ़ने का अधिकार न था।

६. **चाण्डाल**—ये अस्पृश्य समझे जाते थे।

७ **लहूड**—इनमें नर्तक, नाटक करने वालो और ढोल बजाने वालो की गणना की जाती थी।

इस काल के अन्त मे अन्तर्जातीय विवाह अच्छे नही समझे जाते। अन्तर्जातीय भोज भी नही होते। लड़को का विवाह साधारणतया १६ वर्ष की अवस्था मे और लडकियो का १२ वर्ष की अवस्था मे किया जाता था। दक्षिण मे ममेरी बहन से विवाह करना बुरा नही समझा जाता था। सती-प्रथा और पर्दे का रिवाज दक्षिण भारत मे न था। शहरो और गाँवो मे सभी जातियो के लोग अपने-अपने मुहल्लो मे रहते थे। उनमे किसी प्रकार का वैमनस्य न था। चाण्डाल, जो अस्पृश्य समझे जाते थे, शहर से बाहर रहते थे।

युवान च्वांग ने लिखा है कि महाराष्ट्र के निवासी बहुत अभिमानी थे और युद्ध प्रिय थे। जो व्यक्ति उनके साथ सद्व्यवहार करते उनके प्रति वे कृतज्ञता प्रकट करते थे किन्तु जो

उन्हें हानि पहुँचाते उनसे वे बदला लेते थे। जो व्यक्ति उनकी शरण में आ जाते उनके लिए वे अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए उद्यत हो जाते थे।

मनोविनोद—राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय जंगली सूअरों के शिकार का प्रेमी था। इन्द्र चतुर्थ घोड़े पर चढ़कर पोलो की भाँति गेंद का एक खेल खेलता था। अन्य व्यक्ति जुआ खेलकर, दौड़ों मे भाग लेकर, और मुर्गे और मेंढ़े लड़ाकर मनोविनोद करते थे।

आर्थिक अवस्था—गाँवो मे कृषि ही मुख्य व्यवसाय था। खेती योग्य भूमि का बँटवारा कुछ समय पश्चात् हर गाँव मे किया जाता। जमींदारो के साथ-साथ बहुत-से भूमिहीन मजदूर भी गाँवो मे रहते। इन्हे उपज का कुछ भाग दिया जाता। गाँव के कारीगरो को भी उपज का कुछ भाग दिया जाता।

कातना-बुनना मुख्य उद्योग थे। जुलाहो की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। बारीक कपडा विदेशों को भेजा जाता था। नमक बनाने मे सरकार का एकाधिकार था। सब उद्योगो की अपनी-अपनी श्रेणियाँ थी, जो उनको ठीक प्रकार से चलाती थी। श्रेणियो को सरकारी आज्ञा-पत्र लेने पडते थे। ये श्रेणियाँ बैंको का भी काम करती थीं। ब्याज की दर १५ से २५ प्रतिशत तक थी। वस्तुओ के मूल्य कम थे। ३ माशे सोने मे १५० सेर चावल, १२ सेर घी या १२ सेर तेल खरीदा जा सकता था।

सुलेमान ने लिखा है कि राष्ट्रकूट राजा व्यापार को प्रोत्साहन देते थे। वे इस काल के सबसे शक्तिशाली राजा थे और दूसरे राजा उनका आतक मानते थे। राष्ट्रकूटों क राज्यकाल में दक्षिण मे वाणिज्य और व्यापार की बहुत उन्नति हुइ। भडोच से धागा, कपड़ा, मलमल, चमडा, नील, सुगन्धित सामग्री, इत्र, सुपारी, नारियल, चन्दन, सागौन की लकडी, तिल का तेल और हाथीदाँत विदेशो को भेजे जाते थे। विदेशो से सोना, दास, खजूर, इटली की मदिरा, ताँबा, टीन, जस्ता, मणियाँ, शीशा आदि भारत लाये जाते थे।

साधारणतया व्यापार मे वस्तुओं का विनिमय होता था। परन्तु द्रम्म, सुवर्ण, गद्याणक, कलंजु और कसु नाम के सिक्के भी काम मे लाये जाते थे। द्रम्म सोना और चाँदी दोनो के सिक्के के लिए प्रयुक्त होता था।

धार्मिक अवस्था—इस काल मे भारत मे सब जगह धार्मिक सहिष्णुता थी। पाँचवीं शताब्दी ईसवी से पुराणो ने सर्वत्र इस भावना का प्रचार किया था कि सब देवता एक ही शक्ति की अभिव्यक्ति करते हैं। उनके अनुयायियो को आपस मे लड़ना नही चाहिए। बादामी के चालुक्य राजा ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे, किन्तु उनके समय मे जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता थी। रविकीर्ति, जिसने ऐहोले प्रशस्ति लिखी, जैन था, किन्तु पुलकेशी द्वितीय ने उसे राज्याश्रय दिया। विजयादित्य ने पण्डित उदयदेव को एक जैन मन्दिर का व्यय चलाने के लिए गाँव दान मे दिया। विक्रमादित्य द्वितीय ने एक जैन मन्दिर की मरम्मत कराई और अयपण्डित नामक जैन विद्वान् को अनुदान दिया। बौद्ध धर्म की अवनति हो रही थी, किन्तु चालुक्यो के राज्य मे बहुत-से मठ और स्तूप विद्यमान थे। युवान च्वाग ने लिखा है कि इनमे ५,००० बौद्ध भिक्षु रहते थे।

राष्ट्रकूटो की गुजरात शाखा का राजा कर्क सुवर्ग स्वयं एक कट्टर शैव था। किन्तु उसने नवसारी मे जैन विहार के लिए कुछ भूमि दान मे दी थी। अमोघवर्ष प्रथम जैन धर्म का अनुयायी था, किन्तु वह हिन्दू देवी महालक्ष्मी की पूजा करता था। राष्ट्रकूटो की गुजरात

शाखा का दन्तिदुर्ग हिन्दू धर्मावलम्बी था, किन्तु उसने बौद्ध बिहार के लिए एक गाँव दान मे दिया था। हिन्दू धर्म के विभिन्न मतो मे भी पूर्ण समन्वय था। राष्ट्रकूट ताम्रपत्र अभिलेखो के पहले श्लोक मे शिव और विष्णु दोनो की आराधना की गई है। उनकी मुहरो पर गरुड की आकृति या शिव को योगी के रूप मे अंकित किया गया है। बीजापुर जिले मे साल्तोगी के एक मन्दिर मे ब्रह्मा, शिव और विष्णु की साथ-साथ पूजा होती थी। करगुद्रि के एक मन्दिर मे शकर, विष्णु और भास्कर की पूजा की जाती थी।

मुसलमानो के साथ भी धार्मिक सहिष्णुता का व्यवहार किया जाता था। उन्हे अपने धर्म का अनुसरण करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वे पूजा के लिए सब जगह मस्जिद बना सकते थे। मुसलमानो के धार्मिक और न्यायसम्बन्धी झगडो का निर्णय मुसलमान काजी करते थे। अरब के मुसलमान व्यापारी राष्ट्रकूटो की सेना के लिए अरबी घोडे लाकर देते थे। परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नही है कि राष्ट्रकूट राजाओ ने गुर्जर प्रतीहारो से लडने के लिए सिन्ध के मुसलमान शासको से मित्रता की।

इस काल मे हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान चरम सीमा पर पहुँच गया। कुमारिल ने निर्भीकता से पवित्र वैदिक धर्म का प्रतिपादन किया। परन्तु जनसाधारण पर उसके उपदेशो का विशेष प्रभाव न पडा। जनसाधारण ने पशु-हिंसा वाले यज्ञो को न अपनाया। ब्राह्मण अधिकतर स्मृति धर्म का प्रतिपादन करते थे न कि श्रौत धर्म का। परन्तु प्रारम्भिक चालुक्य राजाओ ने राजसूय, वाजपेय और अग्निष्टोम आदि वैदिक यज्ञो का अनुष्ठान कराया। हमे ज्ञात है कि चालुक्य राजा पुलकेशी प्रथम ने अश्वमेध और वाजपेय आदि कई श्रौत यज्ञ किये। इन राजाओ का कुल चिह्न वराह था और उनके कार्य विष्णु के वराहावतार की वन्दना से प्रारम्भ होते थे।

शकराचार्य ने हिन्दू धर्म के दार्शनिक रूप का समर्थन किया। परन्तु शकर ने सन्यास लेने का जो उपदेश दिया उससे समाज मे कोई उथल-पुथल न हुई। उन्होने जो मठ स्थापित किये उनका भी इस समय के हिन्दू समाज पर कोई व्यापक प्रभाव न पडा। हाँ शकर के अद्वैत सिद्धान्त का बौद्ध धर्म पर अवश्य प्रभाव पडा। शकर के उपदेशो के कारण बौद्ध धर्म के अनुयायी अधिकतर हिन्दू धर्मावलम्बी हो गये।

इस समय हिन्दू समाज मे स्मृतियो और पुराणो द्वारा प्रतिपादित हिन्दू धर्म का बहुत प्रचार हुआ। परन्तु इस समय के स्मृतिकारो ने हिन्दू धर्म को बहुत जटिल बना दिया। उसमे पहले-जैसी सरलता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता न रही। दक्षिण भारत मे व्रत बहुत लोकप्रिय हो गये। हिन्दू समाज मे कुछ लोग प्रायश्चित भी करते थे। शिव और विष्णु की पूजा प्राय सब जगह प्रचलित थी। चालुक्य राजाओ ने बहुत-से विष्णु और शिव के मन्दिर बनवाये। कुछ लोग अपने पूर्वजो की स्मृति मे शिव मन्दिर बनवाते। जनसाधारण कुछ अनार्य देवी-देवताओ की भी पूजा करते थे। जैसे म्हसोब नाम के पवित्र पत्थर, पेडो और साँपो की पूजा भी की जाती थी। मन्दिरो मे मूर्तियो, उनके आभूषणो और पूजा पर बहुत धन व्यय किया जाता था। कृष्ण प्रथम ने एलोरा मन्दिर की शिव की मूर्ति के लिए बहुत-से सोने और मणियो के आभूषण दिये। गोविन्द चतुर्थ ने विभिन्न मन्दिरो को कुछ भूमि और गाँव दान मे दिये। बेलारी के आसपास के प्रदेश मे कार्तिकेय की पूजा बहुत लोकप्रिय थी।

साधारणतया मन्दिरो मे पुजारी ब्राह्मण होते थे, परन्तु कहीं-कहीं अब्राह्मण गुरव पुजारी

भी होते थे। इन गुरवों को आजन्म ब्रह्मचारी रहना पड़ता था। मन्दिरों में नृत्य करने वाली कन्याएँ भी रहतीं, जिन्हें देवदासी कहते थे।

बहुत-से मनुष्य तीर्थ-यात्रा करने जाते और गाय पूज्य समझी जाती थी। बहुत-से लोग तप भी करते। पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक के सिद्धान्तों में जनसाधारण का विश्वास था। दान करना पुण्य का कार्य समझा जाता।

दक्षिणापथ में बौद्ध धर्म की अवनति हो रही थी। इस प्रदेश में बौद्ध धर्म के तीन मुख्य केन्द्र—बम्बई के पास कन्हेरी, शोलापुर जिले में काम्पिल्य और धारवार जिले में डम्बल थे।

जैन धर्म की इस काल में दक्षिणापथ में बहुत उन्नति हुई। चालुक्य राजा विक्रमादित्य (६८०—६९६ ई०) का धार्मिक परामर्शदाता दिगम्बरों का प्रख्यात उपदेशक था। अमोघवर्ष (८१५—८७० ई०), इन्द्र तृतीय और इन्द्र चतुर्थ जैन धर्मावलम्बी थे। इनमें से कई ने जैन संस्थाओं के लिए बहुत-सी भूमि दान में दी।

हिन्दू धर्म के इतिहास में यह युग एक परिवर्तन का युग था। इस काल के अन्त में हिन्दू धर्म में पर्याप्त संकीर्णता आ गई। विधर्मी हो जाने वाले हिन्दुओं का फिर से हिन्दू धर्म में आना, अन्तर्जातीय भोज और विवाह आदि करना धर्म-विरुद्ध घोषित किया गया। व्रतों का प्रचलन, विधवाओं का मुण्डन, प्रान्तीय उपजातियाँ, मन्दिरों में देवदासियों की प्रथा, सती-प्रथा, स्मृति-धर्म की जटिलता आदि इस काल की नवीनताएँ हैं जो हम इससे पहले नहीं पाते।

शिक्षा—शिक्षा-प्रसार के लिए राजा लोग पुष्कल दान देते थे। उच्च शिक्षा का प्रबन्ध मठों और मन्दिरों में था। कन्हेरी में एक बौद्ध मठ था जिसे पुस्तकें खरीदने के लिए अमोघवर्ष प्रथम के राज्यकाल में भद्रविष्णु ने पुष्कल धन दिया था। सालोगी में एक महाविद्यालय था जिसमें २७ छात्रावास थे। इसमें ६० एकड़ भूमि की आय प्रकाश करने पर और २५० एकड़ भूमि की आय आचार्य का वेतन देने में व्यय की जाती थी। ब्राह्मणों को अग्रहार गाँवों की आय मिली हुई थी जिससे वे अपना निर्वाह करते थे। विशेष शिक्षा के लिए अलग संस्थाएँ थीं। इन संस्थाओं का व्यय कुछ तो सरकारी सहायता से और कुछ दानियों के दान से चलता था। श्रेणियाँ भी कुछ विद्यालय चलाती थीं।

अधिकतर विद्यार्थी वेद, वेदांग, इतिहास, पुराण, व्याकरण, मीमांसा, तर्कशास्त्र, निरुक्त और धर्मशास्त्र का अध्ययन करते थे। सबसे अधिक विद्यार्थी व्याकरण पढ़ते थे।

साहित्य—अमोघवर्ष संस्कृत साहित्य का प्रेमी था। उसने 'कविराज-मार्ग' नामक पुस्तक कन्नड काव्य की विवेचना पर लिखी। यह मुख्य रूप से दण्डी-रचित 'काव्यादर्श' पर आधारित है। राष्ट्रकूट राजाओं के अभिलेखों से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन राजाओं के शासन (आज्ञापत्र) के रचयिता सुबन्धु और बाण की काव्य-शैली से भली प्रकार परिचित थे। इन्द्र तृतीय के राज्यकाल में त्रिविक्रम भट्ट ने 'नलचम्पू' और सोमदेव ने 'यशस्तिलक' और 'नीतिवाक्यामृत' ग्रन्थों की रचना की। इसी काल में हलायुध ने 'कविरहस्य' नामक ग्रन्थ लिखा। राष्ट्रकूटों के समय में ही जिनसेन ने 'हरिवंश' और 'पार्श्व की जीवन-कथा' लिखी। शाकटायन ने 'अमोघवृत्ति' नामक व्याकरण, वीराचार्य ने 'गणितसारसंग्रह' नामक ग्रन्थ लिखे। परन्तु इस काल का सबसे प्रसिद्ध संस्कृत का कवि भारवि था जिसने 'किरातार्जुनीय' नामक ग्रन्थ की रचना की। भारवि की कविता अर्थगौरव के लिए प्रसिद्ध

है। भारवि का समय सातवी सदी का प्रारम्भ है। भारवि दक्षिण के चालुक्यवंशी नरेश विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे। दर्शन-शास्त्र के लेखको मे कुमारिल और शंकर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भागवत पुराण की रचना नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार दक्षिण भारत मे दसवीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ मे हुई। इसमे कृष्ण-भक्ति और शकर के अद्वैत सिद्धान्त का सुन्दर समन्वय है।

नवी व दसवी शताब्दी मे जैन धर्म के कारण कन्नड साहित्य की भी बहुत उन्नति हुई। पम्प नामक कवि का सरक्षक विमुलवाड का अरिकेसरी द्वितीय था। पम्प ने 'आदिपुराण' और 'पम्पभारत' नामक दो ग्रन्थ लिखे। वीरशैव सम्प्रदाय के 'वचन' भी कन्नड-साहित्य की निधि हैं। रुद्रभट्ट ने 'जगन्नाथ-विजय' नामक वैष्णव काव्य लिखा।

कला—दक्षिण भारत मे इस काल मे गुफा-निर्माण की कला मे बहुत उन्नति हुई। एलौरा की गुफा मे खोदकर बडा कमरा बनाया गया है जिसमे मूर्तियो की बहुत-सी पट्टियाँ हैं। यहाँ **दस अवतारों** और बहुत-से देवी-देवताओ की सुन्दर मूर्तियां बनाई गई हैं। कैलाश मन्दिर मे शिव का ताण्डव नृत्य दिखाया गया है। इसमे भाव-प्रदर्शन बहुत अच्छा है। एक दूसरी मूर्ति मे शिव सात लोको को तीन चरणो मे नापते दिखाए गये हैं। ऐलिफेंटा टापू मे शिव की अर्धनारीश्वर मूर्ति अत्यन्त सुन्दर बनी है। महेश-मूर्ति मे तो स्वच्छता और सजीवता की पराकाष्ठा है।

चालुक्य राजाओं ने दरीगृह मन्दिरो का निर्माण किया। मगलेश के राज्यकाल मे बादामी मे विष्णु का एक सुन्दर दरीगृह मन्दिर बनाया गया। यह छठी शताब्दी ई० के अन्त मे बनाया गया। अजन्ता के भित्ति-चित्र मे पुलकेशी द्वितीय को फारस के राजा खुसरू द्वितीय के एक राजदूत का स्वागत करते हुए दिखाया गया है। अजन्ता की कुछ गुफाएँ सम्भवत चालुक्य राजाओ की बनवाई हुई है।

चालुक्य राजाओ ने पत्थर के कई सुन्दर मन्दिर भी बनवाये। यहाँ के मन्दिरो पर उत्तर भारत की नागरशैली और दक्षिण भारत की द्राविड शैली दोनो का प्रभाव पडा। इन मन्दिरो की शैली बेसर शैली कहलाती है जिसका सबसे प्राचीन उदाहरण ऐहोले का लाध खा मन्दिर है। इसका निर्माण लगभग ४५० ई० मे हुआ। दुर्गा मन्दिर का निर्माण छठी शती ई० मे हुआ। पट्टडकल मे दस मन्दिर है जिनमे चार नागरशैली के और छ. द्राविड शैली के हैं। नागर शैली के मन्दिरो मे सर्वश्रेष्ठ 'पापनाथ' मन्दिर है। इसका निर्माण लगभग ६८० ई० मे हुआ। द्राविड शैली के सर्वश्रेष्ठ दो मन्दिर है। सगमेश्वर मन्दिर का निर्माण ७२५ ई० मे और विरूपाक्ष मन्दिर का निर्माण ७४० ई० मे हुआ था। मेगुति में ६३४ ई० के लगभग शिव का एक सुन्दर मन्दिर बनाया गया। इसमे रविकीर्ति द्वारा रचित पुलकेशी द्वितीय की प्रशस्ति खुदी है। ऐहोले का विष्णु मन्दिर इस काल की श्रेष्ठ रचना है। यह बौद्ध चैत्य की शैली मे बना है। इसमे मूर्तिकला अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है। दो उडते हुए देवो की आकृतियाँ बहुत ही सुन्दर बनी हैं।

सम्भवत अजन्ता की गुफाओ के कुछ भित्ति-चित्र भी प्रारम्भिक चालुक्य राजाओ के राज्यकाल मे बनाये गये।

राष्ट्रकूट राजाओ ने कला के विकास मे कोई नया आविष्कार नही किया। उन्होने भी बहुत-से मन्दिर बनवाये। उनके समय की सबसे प्रसिद्ध इमारत एलौरा का कैलाश मन्दिर है।

यह द्राविड शैली का उत्कृष्ट नमूना है । यह आठवी शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध मे कृष्ण प्रथम के राज्यकाल मे बनवाया गया था। यह मन्दिर एक पहाड की चट्टान को ऊपर से काटकर बनाया गया है। इसमे तक्षण कला के सुन्दर नमूने हैं। आनन्द कुमारस्वामी ने 'गगावतरण' और 'कैलाश पर्वत को उठाते हुए रावण' नाम के दृश्यो की मुक्त-कण्ठ से प्रशसा की है।

गग राजा जैन धर्म के अनुयायी थे। ९८४ ई० मे राजा राचमल्ल चतुर्थ के राज्यकाल मे श्रवण बेलगोला नामक स्थान पर जैन साधु गोमतेश्वर की विशालकाय मूर्ति इस राजा के मन्त्री चामुण्डराय ने बनवाई। इसकी ऊँचाई ५६ फुट है। यह मूर्ति कला का उत्कृष्ट उदाहरण है।

सहायक ग्रन्थ

राजबली पाण्डेय — **प्राचीन भारत**, अध्याय २१ व २२

राधाकुमुद मुकर्जी — **प्राचीन भारत**, अध्याय १३
अनुवादक—बुद्ध प्रकाश

A. S. Altekar — *Rashtrakutas and their Times*

K A. Nilakanta Sastri — *A History of South India*, Chapter 8.

R C Majumdar and A D Pusalkar — *The History and Culture of the Indian People. The Classical Age*, Chapter 12.

R C. Majumdar and A D Pusalkar — *The History and Culture of the Indian People. The Imperial Kanauj*, Chapter 1.

अध्याय २०

सुदूर दक्षिण की राजनीतिक व सांस्कृतिक अवस्था

(५७५ ई० से १००० ई०)

(Political and Cultural Condition of the South)

(575—1000 A.D)

राजनीतिक अवस्था

काची के पल्लव राजा--हमने अध्याय १९ के प्रारम्भ मे कहा था कि ५५० ई० से ८५० ई० तक का युग दक्षिण भारत मे तीन साम्राज्यो के सघर्ष का काल था। इसमे चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओ का वर्णन तो हम उक्त अध्याय मे कर चुके है। इस अध्याय मे हम पल्लवो और पाण्ड्यो का वर्णन करेगे। उसके पश्चात् सुदूर दक्षिण मे चोल साम्राज्य की स्थापना हुई जो इस काल के अन्त मे अर्थात् १००० ई० के लगभग सुदूर दक्षिण मे सबसे शक्तिशाली हो गया। चोलो का राष्ट्रकूट राजाओं के साथ सघर्ष चलता रहा, जिसमे अन्त मे चोलो की विजय हुई।

छठी शताब्दी के अन्तिम चरण मे पल्लव कुल मे **सिंहविष्णु** नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ। उसके राज्यकाल से पल्लवो की शक्ति फिर बढी। चोल प्रदेश पर अधिकार करके उसने अपने राज्य का विस्तार किया। उसका राज्य कृष्णा से कावेरी नदी तक फैला हुआ था। वह सस्कृत के प्रसिद्ध कवि भारवि का आश्रयदाता था। उसके राज्यकाल मे महाबलिपुरम् कला का मुख्य केन्द्र बन गया।

महेन्द्रवर्मा प्रथम (६००--६३० ई०)—उसके राज्यकाल मे पल्लवो का चालुक्यो के विरुद्ध सघर्ष प्रारम्भ हुआ। चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय ने वेंगी पर अधिकार करके महेन्द्रवर्मा को हराया। उन्होने पल्लव राज्य के उत्तरी भाग पर भी अधिकार कर लिया।

महेन्द्रवर्मा ने बहुत-से एक चट्टान से कटे मन्दिर बनवाये। पहले वह जैन था, तत्पश्चात् शैव हो गया। कहा जाता है कि शैव होने पर उसने जैनो पर कुछ अत्याचार किया। किन्तु उसके 'मत्तविलास-प्रहसन' के देखने से तो प्रतीत होता है कि वह विशेष रूप से दम्भ का विरोधी था, चाहे वह कही हो, शैवो मे या जैनो मे।

वह विद्वानो का आश्रयदाता ही न था, उसने स्वय अनेक पुस्तके लिखी। सगीत पर लिखी उसकी पुस्तक उपलब्ध है। उसने चित्रकला को भी प्रोत्साहन दिया।

नरसिंहवर्मा प्रथम महामल्ल (६३०--६६८ ई०)—उसने चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय को तीन युद्धो मे परास्त किया। ६४२ ई० मे चालुक्य राजाओं की राजधानी बादामी पर अधिकार कर लिया। लका के राजा मानवर्मा को गद्दी पर बिठाने के लिए एक समुद्री सेना लका भेजी, जो अपने उद्देश्य मे सफल हुई। नरसिंहवर्मा ने चोल, चेर और कलभ्रो को भी हराया। निश्चय ही नरसिंहवर्मा के राज्यकाल मे पल्लवो की शक्ति तथा प्रतिष्ठा बहुत

बढ गई किन्तु ६६५ ई० के लगभग चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने नरसिंहवर्मा को पराजित किया।

पहाडो की चट्टानो को काटकर महाबलिपुरम् मे उसने कई मन्दिर बनवाये जो रथ मन्दिर कहलाते है।

उसके राज्यकाल मे युवान च्वाग ६४० ई० के लगभग काँची आया। उसने लिखा है कि काँची मे १०० बौद्ध मठ थे जिनमे दस हजार बौद्ध भिक्षु रहते थे। वहाँ दिगम्बर जैनो के ८० मन्दिर थे।

महेन्द्रवर्मा द्वितीय (६६८—६७० ई०)—चालुक्य राजा विक्रमादित्य प्रथम ने मैसूर के गग राजा और मदुरा के पाण्ड्य राजा के साथ मिलकर महेन्द्रवर्मा के विरुद्ध एक सघ बनाया और उसके राज्य पर आक्रमण किया। सम्भवत महेन्द्रवर्मा द्वितीय की इस युद्ध मे मृत्यु हो गई।

परमेश्वरवर्मा प्रथम (६७०—६९२ ई०)—कुछ विद्वानो के अनुसार उसके राज्यकाल मे चालुक्य राजा विक्रमादित्य प्रथम ने काँची पर अधिकार कर लिया। राज्यकाल के आरम्भ मे परमेश्वरवर्मा को दक्षिण के पाण्ड्य राजाओ से भी हारना पडा, किन्तु अन्तत हरेक क्षेत्र मे उसकी विजय हुई। उसने चालुक्य तथा पाण्ड्य राजाओ की सम्मिलित सेनाओ को पेरुवलनल्लूर नामक स्थान पर बुरी तरह हराया। इस पराजय के फलस्वरूप विक्रमादित्य को पल्लवो के प्रदेश को छोडकर अपने राज्य मे वापिस लौटना पडा।

नरसिंहवर्मा द्वितीय (६९५—७२२ ई०)—उसके राज्यकाल मे शान्ति रही। उसने ७२० ई० मे चीन के सम्राट् के पास एक शिष्टमण्डल भेजा जिसका चीन के सम्राट् ने बहुत स्वागत किया। उसने काँची के निकट कूरम मे एक शिव-मन्दिर बनवाया। काँची मे कैलाशनाथ मन्दिर और महाबलिपुरम् मे समुद्रतट पर कई सुन्दर मन्दिर बनवाये। उसके राज्यकाल मे यह प्रदेश बहुत समृद्ध था। वह विद्वानो का आश्रयदाता था। उसके समय मे सबसे प्रसिद्ध लेखक दण्डी विद्यमान था, जिसने 'दशकुमारचरित' नामक काव्य-ग्रन्थ लिखा।

परमेश्वरवर्मा द्वितीय (७२२—७३० ई०)—उसके राज्यकाल के अन्त मे चालुक्य युवराज विक्रमादित्य द्वितीय ने पल्लव राज्य पर आक्रमण किया और परमेश्वरवर्मा द्वितीय ने बहुत-सा धन उसे भेट मे देकर अपना पीछा छुडाया।

नन्दिवर्मा द्वितीय (७३१—७९६ ई०)—नन्दिवर्मा परमेश्वरवर्मा द्वितीय का सम्बन्धी था, पुत्र नही। उसके राज्यकाल के प्रारम्भ मे पाण्ड्य राजा राजसिंह प्रथम ने राज्य के एक दूसरे दावेदार का साथ दिया। यह सघर्ष कई वर्ष तक चलता रहा, अन्त मे नन्दिवर्मा की विजय हुई। इस सफलता का मुख्य श्रेय उदयचन्द्र नामक उसके सेनापति को है जिसने अपने स्वामी के लिए उत्तर मे भी कुछ प्रदेश जीते। पाण्ड्य राजाओ की बढती हुई शक्ति को रोकने के लिए नन्दिवर्मा ने कोगु और केरल के राजाओ से मिलकर एक सगठन भी बनाया, किन्तु पाण्ड्य राजा जटिल परान्तक ने उसे हराया और कोगु को अपने राज्य मे मिला लिया।

चालुक्य राजा विक्रमादित्य द्वितीय ने कुछ समय के लिए काची पर अधिकार कर लिया। ७५० ई० के लगभग राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग ने काँची पर आक्रमण किया। इन सब आक्रमणो का नन्दिवर्मा ने वीरता से सामना किया। उसने गग राजा श्रीपुरुष को हराकर उसके राज्य का कुछ भाग भी अपने राज्य मे मिला लिया। सम्भवत उसने गोविन्द द्वितीय (राष्ट्रकूट

राजा) को ध्रुव के विरुद्ध सहायता दी। ध्रुव के राजा बनने पर नन्दिवर्मा को बहुत-सा धन देकर उसे प्रसन्न करना पडा।

दन्तिवर्मा (लगभग ७९६—८४० ई०)—उसके राज्यकाल मे उत्तर से राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय ने और दक्षिण से पाण्ड्य राजा वरगुण प्रथम ने पल्लव राज्य पर आक्रमण किये। इस युद्ध के फलस्वरूप दन्तिवर्मा को कावेरी क्षेत्र से हाथ धोना पडा। इस क्षेत्र पर पाण्ड्य राजा ने अधिकार कर लिया।

नन्दिवर्मा तृतीय (८४०—८६२ ई०)—नन्दिक्कलम्बकम् नामक तमिल ग्रन्थ नन्दिवर्मा तृतीय की सफलताओ पर पूर्ण प्रकाश डालता है। उसने तेल्लरु नामक स्थान पर पाण्ड्य राजा को हराकर अपना राज्य वापस ले लिया। उसने शक्तिशाली जहाजी बेडा भी बनाया। इसकी सहायता से उसने मलय प्रायद्वीप पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। वहाँ उसने विष्णु का मन्दिर और जलाशय बनवाया। राज्यकाल के अन्त मे पाण्ड्य राजा ने उसे हराया।

नृपतुंग वर्मा (८६२-९०३ ई०)—उसने पाण्ड्य राजा श्रीमार को पराजित किया। उसके एक मन्त्री ने एक वैदिक महाविद्यालय को तीन गाव दान मे दिये। इस महाविद्यालय मे विद्या की चौदह शाखाएँ अर्थात् चार वेद, छ अग, मीमासा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र पढाई जाती थी।

अपराजित—सम्भवत नृपतुग वर्मा के राज्यकाल मे ही पल्लव राज्य के कुछ भाग पर अपराजित शासन करता था। चोल सामन्त आदित्य प्रथम की सहायता से उसने पाण्ड्य राजा वरगुण द्वितीय को ८८० ई० के लगभग कुम्भकोणम् के पास श्री पुरम्बियम् नामक स्थान पर पराजित किया। इससे प्रसन्न होकर अपराजित ने पाण्ड्यो के प्रदेश आदित्य प्रथम को दे दिये। परन्तु आदित्य प्रथम अपराजित की निर्बलता को भली-भाँति जान गया। उसने कुछ समय बाद ही अपने अधिपति पल्लव राजा अपराजित को हरा कर ८९१ ई० के लगभग तोडेमण्डल पर अधिकार कर लिया।

दसवी शताब्दी ईसवी के प्रारम्भ मे पल्लव वश की समाप्ति हो गई और इस वश के राज्य पर चोलो का अधिकार हो गया।

पाण्ड्य साम्राज्य

छठी शताब्दी के अन्तिम चरण मे कुडुगन ने पाण्ड्य शक्ति का पुनरुत्थान किया। इस वंश के चौथे राजा **अरिकेसरी मारवर्मा** (लगभग ६७०—७१० ई०) ने केरल और अन्य राज्यो को विजय करके अपने राज्य का विस्तार किया। उसने पल्लवो के विरुद्ध चालुक्य राजा विक्रमादित्य प्रथम से सन्धि की। यद्यपि मारवर्मा ने एक बार पल्लव राजा परमेश्वरवर्मा को हरा दिया, किन्तु वह पल्लवो के विरुद्ध स्थायी सफलता प्राप्त न कर सका। **कोच्चडयन** (७१०—७३५ ई०) ने कोगु राज्य का अधिकतर भाग जीत लिया। **मारवर्मा राजसिंह प्रथम** (७३५—६५ ई०) भी पल्लवो के विरुद्ध कोई उल्लेखनीय सफलता प्राप्त न कर सका, किन्तु उसने गग राजाओ और उनके अधिपति चालुक्य राजाओ की सम्मिलित सेनाओ को ७५० ई० के लगभग वेण्बाई के स्थान पर पराजित किया। **जटिल परान्तक उपनाम वरगुण प्रथम** (७६५—८१५ ई०) ने कइ युद्ध जीत कर अपने राज्य का विस्तार किया। उसके राज्य मे त्रिचनापल्ली, तजोर, सलीम और कोयम्बटूर के जिले शामिल थे। उसने पल्लव राजा नन्दिवर्मा द्वितीय के बनाये मघ को भी पराजित किया।

श्रीमार श्रीवल्लभ (८१५—८६२ ई०)—उसने गग, पल्लव, चोल, कलिग और मगध के

राजाओं के संगठन को कुम्भकोणम् के स्थान पर हराया। लका पर भी उसने आक्रमण किया और वहाँ की राजधानी को लूटा। पीछे उसके पुत्र वरगुणवर्मा ने विद्रोह किया। वरगुणवर्मा के निमन्त्रण पर लका के राजा ने पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण किया। इसी समय पल्लव राजा नृपतुग ने भी पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण किया। श्रीमार की हार हुई और उसकी राजधानी पर लका नरेश ने अधिकार कर लिया। श्रीमार ने अपनी राजधानी वापस लेने का प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात **वरगुण वर्मा द्वितीय** राजा बना। उसने पल्लव नरेश नृपतुग का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। वरगुण ने कुछ समय पश्चात् पल्लवो के आधिपत्य से स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया, किन्तु पल्लवा ने उसे ८८० ई० के लगभग श्रीपुरम्बियम् के स्थान पर बुरी तरह हराया।

उसकी मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई **परान्तक उपनाम वीरनारायण सडयन** (८८०–९०० ई०) राजा बना। उसके और उसके उत्तराधिकारी **मारवर्मा राजसिंह द्वितीय** (९००–९२० ई०) के राज्यकाल मे पाण्डय राजाओ को चोल राजाओ के विरुद्ध युद्ध करना पडा। अन्त मे आदित्य चोल के पुत्र परान्तक ने ९१० ई० से पूर्व ही पाण्ड्य राजाओ की राजधानी पर अधिकार कर लिया। पाण्ड्य राजा ने लका के राजा से मिलकर चोलो के विरुद्ध एक सगठन बनाया। चोलो ने उनकी सगठित सेना को ९२० ई० के लगभग मदुरा के निकट हराया। इनके बाद काफी समय तक चोलो का पाण्ड्य राज्य पर अधिकार बना रहा।

चोल साम्राज्य

चोल इतिहास के साधन

चोलो के इतिहास को हम ऐतिहासिक साधनो का विचार करते समय चार भागो मे बाँट सकते है।

(१) सगम साहित्य का युग।

(२) सगम युग की समाप्ति से विजयालय कुल के प्रारम्भ तक का काल।

(३) विजयालय वश जो नवी शती ईसवी मे प्रमुख बन गया।

(४) चालुक्य—चोल वश के शासक, अर्थात् कुलोतुग प्रथम और उसके उत्तराधिकारी।

सगम युग के व्यापार का पता हमे 'पेरिप्लस ऑफ दि एरिथ्रियन सी' नामक पुस्तक और टॉलमी के भूगोल से लगता है। सगम साहित्य से भी ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो के नगरो, बन्दरगाहो और व्यापार की दशा ज्ञात होती है। इस काल के ग्रन्थो की पुष्पिकाओ से अनेक राजाओ के नामो का पता लगता है।

दूसरे काल मे पाण्ड्य और पल्लव-राजाओं की शक्ति बहुत बढ़ गई। चोलो के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही हैं।

तीसरे काल का इतिहास जानने के पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं। इस काल के अधिकतर अभिलेख पत्थरों पर और कुछ ताम्रपत्रो पर उत्कीर्ण हैं। राजराज ने सब से पहले अपने अभिलेखो के प्रारम्भ मे मुख्य ऐतिहासिक घटनाएँ लिखवाने की परिपाटी चलाई। उसके अभिलेख उसके राज्यकाल के द्वितीय वर्ष से इक्तीसवें वर्ष तक के मिलते है। उसके समय की घटनाएँ जानने का अन्य कोई समसामयिक साधन हमारे पास नही हैं। उसके उत्तराधिकारियो ने भी इस परिपाटी

को जारी रखा। ये अभिलेख इस समय के राजाओ के कालक्रम तथा इस काल की घटनाओ पर पर्याप्त प्रकाश डालते है।

इस काल के ताम्रपत्र अभिलेखो को हम दो वर्गों मे बाँट सकते है। पहले वे जिनमे किसी धर्मकार्य के लिए राजा, राजकर्मचारी, निगम, श्रेणी, जातिसभा, सैनिकवर्ग, ग्रामसभा अथवा व्यक्ति-विशेष द्वारा दिये गये दान का उल्लेख है।

दूसरे राज-शासन है जिनमे कर या भूमिकर के विषय मे राजा, या ग्रामसभा के निर्णय हैं। विवादास्पद विषयों पर ग्रामसभा के निर्णयों का भी इनमे उल्लेख है। ये अभिलेख अधिकतर तमिलभाषा मे है किन्तु कुछ सस्कृत मे भी है। कुछ अभिलेखो मे दोनों भाषाओं का प्रयोग किया गया है।

दसवी शती ईसवी के बाद अनेक मन्दिरो का निर्माण हुआ। उनकी दीवारों और खम्भो पर अनेक अभिलेख उत्कीर्ण हैं। उन पर हमे तिथिया भी मिलती है। उनसे ज्ञात होता है कि चोल राजा अपने राज्यकाल मे ही अपने उत्तराधिकारी नियुक्त कर देते थे। ग्रामसभाएँ अक्षयनीवी जमा करने के अतिरिक्त गाँव के सभी सार्वजनिक कार्य भी करती थी, ऐसा इन अभिलेखों से पता चलता है।

चोलों के पडोसी राष्ट्रकूट, पूर्वी चालुक्य, पूर्वी गग और पश्चिमी चालुक्यों के अभिलेखों से भी चोल इतिहास पर कुछ प्रकाश पडता है।

चोल राजाओ के समय मे जिन मन्दिरों का निर्माण हुआ उनमे उत्कीर्ण मूर्त्ति वाले जो मण्डप है या मीनारे है उनसे चोल कला के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। चोल राजाओं के सिक्को से उनके इतिहास पर विशेष प्रकाश नही पडता।

आलवार और नायनार सन्तो ने जिस साहित्य की रचना की उसमे परम्पराएँ अधिक हैं और ऐतिहासिक तथ्य कम।

इस काल मे जो धर्मेतर ग्रन्थ लिखे गये उनसे इस काल के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। बुद्धमित्र रचित 'वीरशोलियम' व्याकरण ग्रन्थ है। इसकी रचना वीर राजेन्द्र के काल मे हुई। जयगोंदार ने 'कलिंग तुप्परणी' नामक अपने ग्रन्थ मे कलिंग की विजय का वर्णन दिया है। ओट्टकूत्तन ने अपने तीन ग्रन्थो मे विक्रम, कुलोतुग द्वितीय और राजराज द्वितीय की सफलताओ का वर्णन किया है।

चीनी लेखको ने अपने वर्णन मे उन बातो का उल्लेख किया है जिन्हे साधारण बात समझकर भारतीय नहीं लिखते थे। इसलिए उनके वर्णन भी बहुत मूल्यवान् है। अरब यात्रियों, मुस्लिम इतिहासकारों और मार्कोपोलो जैसे यूरोपीय यात्रियों के वर्णन से भी कुछ आवश्यक तथ्यों का पता चलता है।

इस प्रकार सभी ऐतिहासिक साधनो का उपयोग करके दक्षिण भारत के इतिहासकारो ने चोल राजाओं के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। चोलकालीन दक्षिण भारत के इतिहास को भली-भाँति समझे बिना हम दसवी से तेरहवी शती तक के भारतीय इतिहास को ठीक प्रकार नही समझ सकते।

नवी शती ई० के मध्य मे **विजयालय** ने पल्लव और पाण्ड्य राजाओं के सघर्ष से लाभ उठाकर तंजोर पर अधिकार कर लिया और उसे अपने राज्य की राजधानी बनाया।

विजयालय के पुत्र **आदित्य प्रथम** ने (८७१–९०७ ई०) अपने पल्लव अधिपति अपराजित

को पाण्ड्य राजाओं के विरुद्ध सहायता दी। इससे प्रसन्न होकर अपराजित ने उसे उनके प्रदेश दिये। परन्तु आदित्य प्रथम अपराजित की निर्बलता को भली-भाँति जान गया। इसलिए शीघ्र ही उसने स्वतन्त्र होने का निश्चय कर लिया। ८९१ ई० से पूर्व ही आदित्य प्रथम ने अपराजित को हराकर तोण्डैमण्डल अपने राज्य मे मिला लिया।

परान्तक प्रथम—आदित्य का पुत्र परान्तक ९०७ ई० मे चोलो के सिंहासन पर बैठा। उसने लका के राजा और पाण्ड्य राजा राजसिंह की सगठित सेना को हराकर राजसिंह के राज्य को अपने राज्य मे मिला लिया। उसने पल्लव शक्ति का अन्त किया, बाणो को उखाड फेका और वैदुम्बो को भी पराजित किया। इस प्रकार ९३० ई० से पूर्व ही चोल राजा उत्तर पैनर नदी से कुमारी अन्तरीप तक सारे दक्षिण भारत का स्वामी हो गया। केवल पश्चिमी तट पर केवल वशीय राजा राज्य करते रहे। परन्तु उनकी इस बढती शक्ति को राष्ट्रकूट राजा सहन न कर सके। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय ने ९४९ ई० मे तक्कोलम् के स्थान पर चोल सेनाओ को हराकर तोण्डैमण्डल को अपने राज्य म मिला लिया। इस पराजय के थोडे दिन बाद सम्भवत ९५३ ई० के लगभग परान्तक की मृत्यु हो गई।

इसके बाद ३२ वर्ष का चोल राज्य का इतिहास स्पष्ट नही है। **सुन्दर चोल या परान्तक** द्वितीय (९५७—९७३ ई०) ने वीर पाण्ड्य और उसके साथी लका के राजा को हराया, परन्तु उसे उनके विरुद्ध कोई स्थायी सफलता न मिल सकी। राष्ट्रकूट राजाओ को हराकर उसने उनसे तोण्डैमण्डल वापस ले लिया।

राजराज प्रथम (९८५—१०१४ ई०)—९८५ ई० मे सुन्दर चोल का पुत्र राजराज सिंहासन पर बैठा। उसके राज्यकाल मे चोल राज्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई। उसने अपने शासनो के प्रारभ मे अपनी विजयो का वर्णन लिखवाना प्रारभ किया। उनसे हमे उसके साम्राज्य विस्तार का पता चलता है। उसने पश्चिमी गग राजा को पराजित करके उसके राज्य को अपने राज्य मे मिला लिया। फिर उसका बहुत समय तक पश्चिमी गग राजाओ से युद्ध चलता रहा। वेगी के पूर्वी चालुक्य राजा, मदुरा के पाण्ड्य राजा और मलाबार तट के सरदारो को हराकर उसने अपने आधीन किया। कलिंग के गग राजा को हराया और लका के कुछ भाग को भी उसने जीता। एक शक्तिशाली जहाजी बेडा बनाकर उसने समुद्रतट पर अपना अधिकार रखा। उसने केरल के शासक को हराकर उसके जहाजो को त्रिवेन्द्रम् के निकट कान्दलूरशालय के स्थान पर नष्ट किया और किलो पर भी आक्रमण किया। उसने कुडमलय (कुर्ग) मे उदय पर भी अधिकार कर लिया इससे उसकी शक्ति पाण्ड्य और केरल शासको के विरुद्ध प्रबल हो गई। लकदीव और मालदीव टापुओ पर उसने अपनी विजय-पताका फहराई और पूर्वी द्वीप समूहो पर आक्रमण किया। उसने वेगी को जीत कर अपने पक्ष के शक्तिवर्मा को वहाँ का राजा बनाया। उसके साथ घनिष्ठ मैत्री करने के लिए उसने अपनी पुत्री कुन्दवइ का विवाह शक्तिवर्मा के छोटे भाई विमलादित्य से किया। इस प्रकार उसके राज्यकाल मे चोल राज्य मे समस्त सुदूर दक्षिण सम्मिलित था। किन्तु उसके राज्यकाल के अन्तिम दिनो मे दक्षिण के चालुक्य राजा सत्याश्रय ने चोल राज्य पर आक्रमण किया राजराज प्रथम के पुत्र राजेन्द्र चोल ने सत्याश्रय को पराजित किया। राजराज प्रथम ने श्री-विजय सम्राट् के मारविजय तुग वर्मा स मित्रता रखी।

तजोर मे राजराज प्रथम ने शिव का प्रसिद्ध मन्दिर 'राजराजेश्वर' बनाया। अपने राज्य मे उचित भूमि-कर व्यवस्था स्थापित करने के लिए उसने सारी भूमि की नाप कराई। राजराज प्रथम इस वश का सबसे प्रसिद्ध राजा था। उसके समय मे स्थानीय स्वराज्य सस्थाओ का

भी विकास हुआ।[१] युवराज राजेन्द्र चोल को भी उसने शासन-व्यवस्था मे प्रमुख भाग लेने का अवसर दिया, जिससे वह अनुभव प्राप्त करके भविष्य मे योग्य शासक बन सके।

केरल—पाण्ड्य और चोल राज्यो की तरह केरल राज्य भी बहुत प्राचीन था। आठवी शताब्दी मे पल्लव राजा परमेश्वर पोतवर्मा ने केरल के राजा को दो बार हराया। उसी समय पाण्ड्य राजा जटिलपरान्तक ने दक्षिण केरल को जीत कर अपने राज्य मे मिला लिया। पीछे केरल के राजा **स्थाणुरवि** ने चोल राजा आदित्य से सन्धि करके दक्षिण केरल प्रदेश पर फिर अपना अधिकार कर लिया। ९१८ ई० के लगभग जब चोल राजा परान्तक प्रथम ने पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण किया, तो पाण्ड्य राजा राजसिह ने केरल मे शरण ली। उसने केरल की एक राजकुमारी से विवा भी किया। राजसिह के उत्तराधिकारी परान्तक द्वितीय ने भी केरल की एक राजकुमारी मे विवाह किया। केरल के राजा **भास्कर रविवर्मा** के समय मे भारत का रोम के साथ बहुत व्यापार होता था, उसने क्रैंगेनोर नामक स्थान पर यहूदियो की एक बस्ती बसाई। अन्त मे चोल राजा राजराज ने केरल के समुद्री बेडे को नष्ट करके केरल प्रदेश को अपने राज्य मे मिला लिया।

पश्चिमी गंग राजा

हरिवर्मा (४३५—४६० ई०) वह प्रारभ मे पल्लवो का सामन्त था। उसने तलकाड को अपनी राजधानी बनाया। दुर्विनीत (५४० — ६०० ई०, ने पल्लवो से स्वतन्त्र होकर मैसूर के दक्षिणी प्रदेश और कोगुदेश पर अधिकार कर लिया। उसने चालुक्यो के साथ मैत्री-भाव रखा। वह सस्कृत साहित्य का भी प्रेमी था। उसने स्वय भी कई ग्रन्थ रचे। **श्रीपुरुष** (७२९—७८८ ई०) पाण्ड्य राजाओ का मित्र था। उसने नन्दिवर्मा पल्लवमल्ल को पराजित किया। उसके राज्य मे प्रजा की सुख-समृद्धि बहुत बढी।

शिवमार द्वितीय (७८८-—८१४ ई०) को राष्ट्रकूट राजा ध्रुव और गोविन्द तृतीय ने पराजित किया। अमोघवर्ष के समय मे गग राजा फिर स्वतन्त्र हो गये। ९३७ ई० मे राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय ने गग राजाओ के सिहासन पर अपने बहनोई **बुतुग द्वितीय** को बिठाया। इस काल में गगो ने पाण्ड्य राजाओ के विरुद्ध पल्लव राजाओ की सहायता की और चोलो के विरुद्ध राष्ट्रकूटों की सहायता की। १००५ ई० मे चोलो ने तलकाड पर अधिकार कर लिया और गग राजाओ को चोलो का आधिपत्य स्वीकार करना पडा।

सांस्कृतिक अवस्था

शासन-प्रबन्ध—सुदूर दक्षिण के राज्यो मे भी राजा के कर्त्तव्य और अधिकार प्राय वही समझे जाते थे जो उत्तर भारत मे। शासक से यह आशा की जाती थी कि वह प्रजा को आन्तरिक अव्यवस्था और विदेशी आक्रमणो से रक्षा करे। पडोसी राज्यो को जीत कर राज्य का विस्तार करना भी राजा का कर्तव्य समझा जाता था। इस आदर्श के कारण ही पल्लवो और चालुक्यो, पल्लवो और पाण्ड्यो और राष्ट्रकूटो और चोलो के अनेक युद्ध हुए। राजा राज्य मे सबसे प्रमुख अधिकारी, प्रधान न्यायाधीश और मुख्य सेनापति समझा जाता था। पल्लव राजा 'भट्टारक' का विरुद धारण करते थे। युवराज 'युवमहाराज' कहलाते और अन्य राजकुमारो को शासन के अन्य कार्यों मे प्रमुख भाग दिया जाता।

१ देखिए पृष्ठ ३३०।

राजकुमारों को साहित्य, विधि, दर्शन तथा सैनिक कलाओ की शिक्षा दी जाती थी। जब राजा का पुत्र नहीं होता तो भाई के पुत्र को राजा बनाया जाता था। जैसे कि नन्दिवर्मा द्वितीय परमेश्वर वर्मा द्वितीय का भतीजा था। रानियो को भी समान आदर दिया जाता था।

यद्यपि राजा निरकुश थे किन्तु बहुत-सी बाते ऐसी थी जिनके कारण वे निरकुश नही हो पाते थे। राजवश के अन्य सदस्य भी शासन मे भाग लेते थे और उन्हे राजा की नीति को प्रभावित करने का पर्याप्त अवसर मिलता था। राजा सामन्तो की सम्मति का भी पर्याप्त आदर करता था। कुछ पदाधिकारी पैतृक होते थे। उनकी राय का भी महत्त्व था। राजा को जाति, धर्म, व्यवसाय और प्रशासकीय स्थानीय सस्थाओ के नियमो का भी ध्यान रखना पडता था।

चोल राजाओ ने बडी अच्छी शासन-व्यवस्था स्थापित की। राजा स्वयं सरकार के प्रत्येक विभाग की देखभाल करता और उसके आदेशो को विभागीय सचिव लिखकर प्रतिनिधि शासको को भेजते थे।

पल्लव राजाओ का मन्त्रिमण्डल पर्याप्त प्रभावशाली था। पल्लव राजा नन्दिवर्मा के मन्त्रि-मण्डल का उल्लेख वैकुण्ठ पेरुमल अभिलेख मे है। राजा के मौखिक आदेशो को लिखने वाला अधिकारी दक्षिण भारत मे तिरुवक्केलवि और राजा सहित मन्त्रि-परिषद के आदेशो को लिखने वाला तौम्मन्दिर ओलय कहलाता था।

पल्लवो के राज्यकाल मे प्रान्तीय शासन-व्यवस्था स्थापित नही हुई थी। चोल राजाओ ने अपने साम्राज्य को छ प्रान्तो मे बाँटा जो 'मण्डल' कहलाते थे। प्रत्येक प्रान्त या मण्डल 'कोट्टमो' (कमिश्नरियो) मे और कोट्टम् ज़िलो मे बँटा था जो 'नाडु' कहलाते थे। गाँवों के सगठन 'कुर्रम' या 'ताल कुर्रम' कहलाते थे।

प्रत्येक मण्डल का शासन राज-प्रतिनिधि के हाथ मे होता था। ये प्रतिनिधि या तो वे राजा होते जो चोल राजाओ का आधिपत्य स्वीकार कर लेते थे या राजा के सम्बन्धी। ये राजा की आज्ञाओ का पालन करते और राजा को उसकी सूचना भेजते थे। प्रत्येक प्रतिनिधि के अधीन बहुत-से अधिकारी होते, जो उसके आदेशो का पालन करते थे। सब सरकारी कागज़ो के रखने की उचित व्यवस्था थी। मण्डल के शासको की अपनी सेनाएँ और न्यायालय होते थे।

सरकार की आय का मुख्य साधन भूमि-कर था। व्यापार व व्यवसायो पर भी उपकर लगाये जाते थे। पल्लव राज्य मे नमक और चीनी बनाने का सरकार को एकाधिकार था। जब सरकारी कर्मचारी दौरे पर जाते, तो गाँव वाले उनके ठहरने और खाने-पीने की पूरी व्यवस्था करते थे। कुछ ब्राह्मणो को भूमि-कर से मुक्त कर दिया जाता। चोल राज्य मे नमक-कर, पानी-कर, जुर्मानो और चुगी से भी सरकारी आय होती। हर गाँव के सघ या कुर्रम मे सरकारी खज़ाना होता था। कर सोने मे या अन्न आदि मे चुकाए जाते थे। मुख्य सिक्का सोने का 'कासु' था जो तोल मे लगभग ५ माशे का होता।

चोलो के राज्यकाल मे थोड़े-थोडे समय पश्चात् भूमि की नाप की जाती थी। चोल राजा सडक, पुल आदि बनवाने मे पर्याप्त धन खर्च करते। सिचाई की पूर्ण व्यवस्था थी। नदियों मे बाँध बाँधकर नहरें निकाली जाती और कृत्रिम तालाबो और कुओ से भी सिचाई की जाती थी।

चोल राजाओ ने अपने बडे साम्राज्य की रक्षा के लिए शक्तिशाली सेना बनाई जिसमे धनुष-बाण वाले योद्धा, वनो मे लडने वाले योद्धा, चुने हुए घुडसवार और हाथी सेना शामिल थी। चोल राजाओ ने एक शक्तिशाली जलसेना भी तैयार की। राजराज प्रथम ने इसकी सहायता से चेर

राजाओं के जहाजी बेडे को नष्ट करके उन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। पूर्वी द्वीप समूह के कुछ द्वीपो पर भी उसने आक्रमण किया और उनके उत्तरी भाग मे चोल साम्राज्य स्थापित किया। लकद्वीप पर भी उसने अधिकार किया। राजेन्द्र प्रथम ने इसी जल-सेना की सहायता से १०१७ ई० के लगभग लका पर अधिकार कर लिया और उसने अपने पिता के जीते हुए द्वीपो पर अपना अधिकार स्थापित रखा।

स्थानीय शासन

आठवी व नवी शती ईसवी के तमिल अभिलेखो मे तीन प्रकार की ग्राम सभाओ का उल्लेख मिलता है। सभी ग्रामवासियों की साधारण सभा को 'ऊर' कहते थे। जो गाँव ब्राह्मणो को दान मे दे दिये गये थे उनके ब्राह्मण निवासियो की सभा को 'सभा' कहते थे। नगरो की ऐसी सभा जिसमे व्यापारियो और दुकानदारो का विशेष प्रभाव होता था 'नगरम्' कहलाती थी। ग्रामसभाए सिंचाई के अधिकारो का पालन कराती, दान की सम्पत्ति का प्रबन्ध करती, सडक और तालाबो की मरम्मत कराती और मन्दिरो का प्रबन्ध करती थी।

चोल शासन-व्यवस्था मे स्थानीय शासन का विशेष महत्त्व है। प्रत्येक कुर्रम शासन की पूर्ण इकाई थी। कुर्रम की महासभा शासन चलाती थी। इसके सदस्यो का चुनाव जनता करती। इसकी आठ उपसमितियाँ होती, जो बागो, सिंचाई के तालाबो, खेतो, गाँवो, शिक्षा, सडको तथा हिसाब की देखभाल के अतिरिक्त भूमि के बँटवारे का प्रबन्ध करती।

सारे कर गाँव की महा-सभा इकट्ठा करती। व्यय करने के पश्चात् जो शेष धन बचता वह सरकारी खजाने मे जमा कर दिया जाता। जिस भूमि का कोई स्वामी न होता महासभा उसकी स्वामिनी मानी जाती। राजा के सम्बन्धियो और राज-कर्मचारियो को भी गाँव की भूमि मन्दिरो को दान मे देने के लिए गाँव की महासभा के नियमो का पालन करना पडता। गाँव की सभा कृषि-योग्य भूमि मे खेती कराती और उसके बडे या छोटे टुकडे काटती थी। वही सिंचाई का प्रबन्ध करती, सडके बनाती, गाँव मे शान्ति-व्यवस्था रखती और अपराधियो को दण्ड देती थी। मृत्यु दण्ड की दशा मे अपराधी को अपील करने का अधिकार था।

इस प्रकार केन्द्रीय सरकार को गाँवो के शासन मे बहुत कम हस्तक्षेप करने की आवश्यकता पडती।

नगरो को तालकुर्रम कहा जाता था। प्रत्येक तालकुर्रम मे बहुत से वार्ड होते थे, जैसे कि आधुनिक नगरपालिकाओ मे होते हैं। उत्तरमेरूर नामक तालकुर्रम मे ३० वार्ड थे।

९२१ ई० के उत्तरमेरूर की महासभा के प्रस्ताव के अनुसार प्रत्येक वार्ड निम्नलिखित योग्यता रखने वाले व्यक्तियो को महासभा की कार्यकारिणी का सदस्य होने के लिए मनोनीत कर सकता था—

(१) लगभग डेढ़ एकड भूमि का स्वामी हो।
(२) अपने मकान मे रहता हो।
(३) ३५ वर्ष से ७० वर्ष तक की अवस्था हो।
(४) वैदिक मन्त्रो और ब्राह्मणो का ज्ञाता हो। या ¾ एकड भूमि का स्वामी हो और एक वेद और उसके भाष्य का विद्वान् हो।

निम्नलिखित व्यक्ति मनोनीत नही किये जा सकते थे —

(१) जो किसी भी उपसमिति मे ३ वर्ष सदस्य रह चुके हो।

(२) जो किसी उपसमिति के सदस्य रहे हो और हिसाब न दे सके हो।

(३) जिन्होने कौटुम्बिक व्यभिचार अथवा चोरी की हो।

जो व्यक्ति मनोनीत किये जाते थे उनमे से प्रत्येक वार्ड के लिए एक सदस्य चुना जाता था। इन ३० सदस्यो मे से १२ वार्षिक उपसमिति के, १२ उपवन उपसमिति के और ६ तालाब उपसमिति के सदस्य चुने जाते थे। इनके चुनाव के लिए लॉटरी डाली जाती थी।

कुछ अन्य स्थानो पर न्याय, मोहल्ला, और खेतो की भी उपसमितियाँ थी। साधारणतया महासभा की बैठक गाँव के मन्दिर, किसी पेड के नीचे या तालाब के किनारे होती थी।

सामाजिक तथा धार्मिक दशा

राजा और राज सभासद् बहुत भोग-विलास का जीवन तथा साधारण व्यक्ति अपेक्षाकृत बहुत सादा जीवन बिताते थे। ब्राह्मण दान मे प्राप्त धन से अपना निर्वाह करते थे और उनका समाज मे बहुत आदर था। वर्ण-व्यवस्था सब जगह प्रचालित थी। प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति से अपने कर्त्तव्य पूरा करने की आशा की जाती थी। कोई भी अधिकारो के लिए नही लडता था। गाँवो और शहरो मे हर वर्ण के व्यक्ति अलग-अलग मोहल्लो मे रहते थे और वहाँ वे अपने रीति-रिवाजो का अनुसरण करते थे।

सस्कृत का अध्ययन अधिकतर ब्राह्मण ही करते थे। अनेक विद्याओ मे प्रवीण ब्राह्मण राजगुरु नियुक्त किये जाते थे और विद्वान् ब्राह्मण प्रत्येक नगर और गाँव मे बसकर वहाँ के निवासियो के जीवन को उच्च बनाते थे। कुछ स्थानो पर ब्राह्मणो की सघटित सस्थाएँ थी जैसे कि काञ्ची की 'घटिका'। नृपतुग के राज्यकाल के कावेरीपाक्कम नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख मे एक वैष्णव मठ और उसके विद्वानो का उल्लेख है। पाडेचेरी के निकट बाहूर मे एक अच्छा महाविद्यालय था।

मन्दिर केवल मात्र पूजा के स्थान ही न थे। दक्षिण भारत के निवासियो के सास्कृतिक तथा आर्थिक जीवन मे मन्दिरो का विशेष महत्त्व था। मन्दिरो के निर्माण मे अनेक वास्तुकारो तथा शिल्पियो को जीवन निर्वाह के लिए धन कमाने का अवसर मिलता था। दैनिक प्रक्रिया मे अनेक पुरोहितो, सगीतज्ञो, नर्तकियो, फूल बेचने वालो, रसोइयो तथा नौकरो को आजीविका अर्जन करने का अवसर मिलता था। त्यौहारो के अवसर पर मेले होते थे जिनमे साहित्य गोष्ठियो, मल्ल-युद्धो तथा अन्य मनोविनोद के साधनो का आयोजन किया जाता था। मन्दिरो मे पाठशालाएँ और चिकित्सालय भी होते थे। स्थानीय सार्वजनिकस सस्थाओ पर विचार करने के लिए सब व्यक्ति मन्दिरो मे ही इकट्ठे होते थे।

चोलो के शासन-काल मे ब्राह्मणो ने अपनी बस्तियाँ अलग बसानी शुरू कर दी थी। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो के कारण कुछ मिश्रित जातियाँ उत्पन्न हो गई। समाज मे स्त्रियो का स्थान ऊँचा था। वे सम्पत्ति की स्वामिनी होती थी और इच्छानुसार उसे बेच सकती थी। कुछ स्त्रियाँ सती भी होती थी, किन्तु यह प्रथा अधिक प्रचलित न थी। मन्दिरो मे देवदासियाँ रहती थी किन्तु उनका स्तर गिरा हुआ न था। अधिकतर जनता गाँवो मे रहती थी और कृषि ही उनका मुख्य व्यवसाय था। विशेष सुविधा देकर और करो मे छूट देकर राजा कृषि को प्रोत्साहन देते थे। ये प्रोत्साहन उन व्यक्तियो को दिये जाते थे जो नई भूमि को खेती योग्य बनाते थे। चोल राजाओ ने सिंचाई की पूर्ण व्यवस्था की थी, इसलिए दुर्भिक्ष कम होते थे। अधिकतर उद्योगो मे शिल्पी

स्थानीय आवश्यकता के अनुसार ही उत्पादन करते थे। कताई और बुनाई मुख्य उद्योग थे। जुलाहो की श्रेणियाँ बहुत सम्पन्न थी। काञ्ची का कपडे का उद्योग बहुत प्रसिद्ध था। नमक बनाने पर सरकार का एकाधिकार था। सब शिल्पियो का सगठन या तो उनकी विशेष जातियो मे था, या उनको अपनी श्रेणियो मे।

व्यापारियो की श्रेणियाँ भी बहुत शक्तिशालिनी थी। इनमे सबसे प्रसिद्ध 'मणिग्रामम्' थी जिसका उल्लेख अनेक तमिल अभिलेखो मे है। तमिल प्रदेश के निवासी कुशल नाविक थे। उनमे से अनेक ब्रह्मा, चीन और दक्षिण पूर्व एशिया के देशो मे जाकर व्यापार करते थे।

उच्च परिवारो मे एक व्यक्ति की औसत आय लगभग सोलह रुपये और निम्न वर्गों की एक व्यक्ति की आठ रुपये थी। खेतो मे काम करने वाले मजदूरो का जीवन इस समय दासो के जीवन से अच्छा न था। सातवी शताब्दी मे युवान च्वाग चोल प्रदेश मे गया। उसने लिखा है कि लोग स्वाभाविक रूप से निर्दयी है और उनका विश्वास सद्धर्म (बौद्ध धर्म) के विरुद्ध है। चोल राजाओ के राज्यकाल मे कावेरीपदम् से बहुत से जहाज ब्रह्मा, लका और पूर्वी द्वीप समूह जाते थे। दक्षिण भारत से व्यापारी अरब, काबुल, लका आदि देशो से भी व्यापार करते थे।

शिक्षा और साहित्य—पल्लव राजा सस्कृत साहित्य के पोषक थे। उनके समय मे काञ्ची विद्या का केन्द्र बन गया था। पल्लव राजाओ ने बाहूर (पाण्डेचेरी के निकट) की शिक्षा-सस्थाओ को दान दिया। यहाँ वेदो, वेदागो, मीमासा, न्याय, पुराणो और धर्मशास्त्र के अध्ययन की व्यवस्था थी। नृपतुग वर्मा के एक मन्त्री ने एक महाविद्यालय को तीन गाँव दान मे दिये। इस महाविद्यालय मे वैदिक विद्या की चौदह शाखाएँ पढाई जाती थी। पल्लव राज्य के ब्राह्मण सस्कृत साहित्य का अध्ययन करते। कालिदास, भारवि और वराहमिहिर के काव्यो से यहाँ के लोग भली प्रकार परिचित थे। महाभारत का पाठ गाँवो मे किया जाता। कुरम गाँव मे १०८ परिवार चारो वेदो का स्वाध्याय करते थे। सस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् दण्डी काँची मे पल्लव नरेश नरसिह वर्मा द्वितीय के यहाँ रहते थे। उन्होने 'दशकुमारचरित' नामक प्रसिद्ध संस्कृत का गद्य-काव्य लिखा। इसमे ऐन्द्रिजालिक साधुओ, राजकुमारियो, कष्टापन्न राजाओ, वेश्याओ, कुशल चोरो और अनुरक्त प्रेमियो का स्पष्ट और चित्रात्मक वर्णन मिलता है।

ईसा की सातवी शताब्दी के अन्त और आठवी के प्रारम्भ मे तमिल देश मे कई प्रसिद्ध नायनार (शैव सन्त) हुए। उनके भजनो का सग्रह ग्यारह 'तिरमुरै' नामक ग्रन्थो मे है। सन्त माणिक्क-वाचगर-रचित 'तिरुवाचकम्' मे तमिल शैव मत का उत्कृष्ट निरूपण है। यह भक्तिप्रधान ग्रन्थ है, किन्तु दार्शनिक भाग हिन्दू धर्म के पूर्णतया अनुरूप है। यह तमिल प्रदेश के शैवो की सर्वप्रिय पुस्तक है। 'पेरियपुराणम्' नामक ग्रन्थ मे ६३ शैव सन्तो की जीवनकथाएँ है।

वैष्णव सन्त 'आलवार' कहलाते। उनका समय ईसा की सातवी शताब्दी से नवी शताब्दी तक है। उनके ४००० पदो का सग्रह 'नालयिर प्रबन्धम्' नामक ग्रन्थ मे है। दक्षिण भारत के वैष्णव नम्मालवार की चार कविताओ को वेदो का सार और तिरुमगय की छ कविताओ को छ. वेदाग समझते हैं।

नवी शताब्दी के प्रारम्भ मे शक्तिभद्र ने 'आश्चर्यचूडामणि' नामक नाटक लिखा। दसवी शताब्दी के आरम्भ मे ही 'जीवकचिन्तामणि' नामक प्रसिद्ध तमिल महाकाव्य की रचना हुई। इसमे जीवक नाम के नायक की प्रेम-कथाओ का वर्णन है।

९५० ई० के लगभग केरल के राजा कुलशेखर ने 'तपतीसंवरण' और 'सुभद्रा-धनजय' नामक

दो नाटक लिखे। उसने 'नलोदय' के लेखक वासुदेव को भी राज्याश्रय दिया। परान्तक प्रथम (९०७—९५५ ई०) के राज्यकाल मे वेंकट माधव ने 'ऋग्वेदार्थदीपिका' नामक ऋग्वेद का प्रसिद्ध भाष्य लिखा। दसवी शताब्दी मे सम्भवत दक्षिण भारत मे 'भागवत-पुराण' की रचना हुई, जिसमे कृष्ण-भक्ति और अद्वैत का सुन्दर समन्वय है। यह वैष्णवो का महाग्रन्थ है।

धार्मिक अवस्था—पल्लव युग मे दक्षिण भारत मे शैव और वैष्णव मतो का प्रचार हो चुका था। पल्लव शासक महेन्द्रवर्मा पहले जैन धर्म का अनुयायी था बाद मे वह शिव का उपासक बन गया। नरसिंहवर्मा महामल्ल के राज्यकाल मे युवान च्वाग कांची गया था। उसने लिखा है कि वहाँ १०० बौद्ध विहार और ८० जैन मन्दिर थे। इसका यह अर्थ है कि वहाँ इस काल तक बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायी विद्यमान थे। नरसिंहवर्मा ने द्वितीय कूरम और कांची मे शिव के मन्दिर बनवाए। चोल और पाण्ड्य राजा कट्टर शैव थे और कहा जाता है कि उन्होंने जैनो के साथ अत्याचार किया। कहा जाता है कि पाण्ड्य राजा सुन्दर ने ८००० जैनो को शूली पर चढ़ा दिया। परन्तु साधारणतया धर्म के विषय मे सब जगह सहिष्णुता थी।

दक्षिण भारत मे शैव धर्म का भक्ति-प्रधान रूप बहुत प्रचलित था। ६३ नायनार सन्तो ने अपने भजनो मे उच्च आध्यात्मिक विचारो का प्रतिपादन किया। वे भक्ति से ओतप्रोत हैं। चोल राजाओ ने शैव धर्म का बहुत प्रचार किया। उन्होने बहुत-से शैव मन्दिर बनवाये।

दक्षिण भारत मे वैष्णवधर्म का प्रचार आलवार सन्तो ने किया। उनके भजन गहरी भावनाओ और सच्ची पवित्रता से ओतप्रोत हैं। इन सन्तो का वहाँ इतना आदर है कि विष्णु और उसके अवतारो के साथ इन सन्तो की प्रतिमाओ की भी पूजा की जाती है।

कला

पल्लव राजाओ ने कला का बहुत विकास किया। उनकी वास्तुकला की चार मुख्य शैलियाँ महेन्द्र शैली, मामल्ल शैली, राजसिंह शैली और अपराजित शैली हैं.—

दक्षिण भारत की कला के इतिहास मे पल्लवो के राज्यकाल का विशेष महत्त्व है। **महेन्द्रवर्मा** ने चट्टानो को काटकर अनेक '**मण्डप**' बनवाये जिनमे अनेक खम्भे हैं। इन मण्डपो के पीछे की ओर एक या अधिक कोठरियाँ हैं, महेन्द्रवर्मा ने सातवीं शती ईसवी के प्रथम चरण मे बिना ईंट, लकडी, धातु और चूने के इस प्रकार के अनेक मन्दिर बनवाये। इस प्रकार के गुफा मन्दिर दक्षिणी अर्काट जिले मे मन्दपगट्टु मे, त्रिचनापली, मोगलराजपुरम् और गुण्टूर जिले मे उन्दवल्ली मे और उत्तरी अर्काट जिले मे भैरवकाण्ड मे देखे जा सकते हैं।

नरसिंह वर्मा महामल्ल ने भी कुछ गुफा मन्दिर बनवाए। उसने चट्टानो को ऊपर से काटकर महाबलिपुरम् के कई रथ मन्दिर बनवाए। इस नगर का निर्माण नरसिंहवर्मा ने समुद्रतट पर स्वय कराया था। उसके राज्यकाल के गुफा-मन्दिरो के श्रेष्ठ उदाहरण मामल्लपुरम् मे वराह, त्रिमूर्ति, महिषमर्दिनी और पाण्डव मण्डप हैं। इनमे महेन्द्रवर्मा के समय की कला से अधिक विकसित कला का रूप पाया जाता है।

चट्टानो को काटकर जो रथ मन्दिर बनाए गये हैं वे लकडी के मन्दिरो के पूर्णतया अनुरूप हैं। आठ रथो मे से पाँच द्रौपदी, अर्जुन, भीम, धर्मराज और सहदेव के नाम पर हैं, शेष तीन गणेश, पिजरि और वलैयन कुट्टै हैं। द्रौपदी रथ एक छोटी कोठरी है जिसके ऊपर छप्पर जैसी छत है जो पशुओं पर आधारित है। इनमे क्रम से सिंह व हाथियो की आकृतियाँ हैं। अन्य रथ मन्दिर विहारों

या चैत्यो के अनुरूप हैं। धर्मराज रथ का शिखर पिरामिडाकार है। यह विहारो के अनुरूप है। भीम, सहदेव और गणेश रथ चैत्यो के अनुरूप है। ये आयताकार हैं और इनकी छत मे दो या दो से अधिक मंजिले हैं और सबसे ऊपर की छत पीपे की आकृति की है।

राजसिंह (लगभग ७००—८०० ई०) के समय के चिने हुए मन्दिर मामल्लपुरम् और काँची मे देखे जा सकते हैं। समुद्रतट का महाबलिपुरम् का मन्दिर सबसे प्राचीन है। काँची के कैलाशनाथ मन्दिर मे पल्लव वास्तुकला की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। किन्तु पल्लव वास्तुकला का पूर्णतया विकसित रूप काँची के वैकुण्ठ पेरुमल मन्दिर मे मिलता है। इसके विमान मे चार मंजिले हैं। **नन्दिवर्मा** (लगभग ८००—९०० ई०) के समय के मन्दिर आकार मे छोटे हैं और उनकी वास्तु-कला राजसिंह के राज्यकाल की वास्तुकला से अच्छी नही है। अपराजित के समय (लगभग ९०० ई०) के मन्दिरो की वास्तुकला चोल राजाओ की वास्तुकला से बहुत मिलती है। इसमे हमे पल्लव कला का पूर्णतया विकसित रूप मिलता है।

पल्लव वास्तुकला का विवेचन समाप्त करने से पूर्व द्राविड मन्दिरो की शैली की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करना असगत न होगा। द्राविड मन्दिर का शिखर पिरामिडाकार होता है जिसमे सबसे ऊपर एक गुम्बदाकार छत होती है। इसे विमान कहते हैं। मण्डप मे बहुत खम्भे होते हैं। मन्दिरो की सब दीवारो पर शिखर से आधार तक मूर्तियाँ खुदी होती है। मन्दिर के मुख्य भवन से कुछ दूरी पर एक इतना अधिक ऊँचा द्वार होता है कि उसे दो या तीन मील की दूरी से देखा जा सकता है। इसे गोपुरम् कहते है। दक्षिण के मन्दिर एक बडे आहते मे बनाए जाते हैं जिसके चारो ओर दीवार होती है जिसे प्राकार कहते हैं। इस आहते का क्षेत्रफल दो या तीन वर्गमील तक होता है। इसमे स्नान करने के लिए बहुधा एक तालाब होता था। द्राविड शैली चोल राजाओ के राज्यकाल मे पूर्णतया विकसित होकर अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई।

पल्लव कला दक्षिण भारत के प्रायद्वीप के लिये ही आदर्श नही रही इसका प्रभाव सुदूर पूर्व के भारतीय उपनिवेशो की कला पर भी पडा। द्राविड शिखर, जावा, कम्बोडिया और अन्नम् के मन्दिरो मे आज भी देखे जा सकते है।

पल्लव मूर्तिकला का श्रेष्ठ उदाहरण महाबलिपुरम् मे गगावतरण का दृश्य है। इसमे प्रत्येक वस्तु का निरूपण पूर्णतया स्पष्ट है। कैलाशनाथ मन्दिर की मूर्तिकला भी प्रशसनीय है। यह कला महाबलिपुरम् की कला की अपेक्षा अधिक बारीक और नाजुक है।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी — **प्राचीन भारत**, अध्याय १४
अनुवादक—बुद्धप्रकाश

राजबली पाण्डेय — **प्राचीन भारत**, अध्याय २१, २२

नरेन्द्रनाथ घोष — **भारत का इतिहास**, अध्याय १६

R C. Majumdar and A. D. Pusalkar — *The History and Culture of the Indian People Classical Age*, Chapter. 13

R. C. Majumdar and A. D. Pusalkar — *The History and Culture of the Age of Imperial Kanauj,* Chapters 7, 11

R. C. Majumdar and A. D. Pusalkar — *The History and Culture of the Indian People. The Struggle for Empire,* Chapter 20.

K. A. Nilakanta Sastri — *The History of South India,* Chapters *9, 13, 14, 15, 16.*

मुसलमानों की विजय से पूर्व भारत

अध्याय २१

उत्तरी भारत की राजनीतिक व सांस्कृतिक अवस्था

(लगभग १०००—१२०० ई०)

(Political and Cultural Condition of Northern India)

(From C. 1000—1200 A.D.)

राजनीतिक अवस्था

सुल्तान महमूद के आक्रमण—दसवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे उत्तर मे छोटे-छोटे अनेक स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये थे। प्रतीहार राजा केवल कन्नौज और उसके आस-पास के प्रदेश मे राज्य करते थे। प्रतीहार साम्राज्य का स्थान खजुराहो, शाकम्भरी-अजमेर, दिल्ली, नाडोल, अणहिल्ल पाटक, उज्जैन और त्रिपुरी के राजपूतो ने लेना चाहा। इन राजपूत राज्यो में उत्तर भारत के आधिपत्य के लिए सघर्ष होना स्वाभाविक था। १०२० ई० मे प्रतीहार साम्राज्य का रूप सर्वथा लुप्त हो गया। वे राजपूत सामन्त जिनसे प्रतीहार साम्राज्य इतना शक्तिशाली था, सभी स्वतन्त्र हो गए। उनका यह विश्वास था कि इस प्रकार वे अपने निजी हितो की तो रक्षा करेगे ही साथ ही हिन्दू धर्म की भी रक्षा कर सकेंगे। वे समस्त उत्तर भारत के एक साम्राज्य स्थापित करने के आदर्श को बिल्कुल भूल गए। इसी समय गज़नी मे सुबुक्तगीन राजा बना। उसके और उसके पुत्र महमूद के शाही राजाओ से सघर्ष का वर्णन हम पहले कर चुके हैं।

जयपाल की मृत्यु के बाद महमूद ने प्राय प्रतिवर्ष भारत पर आक्रमण किया। वह किसी प्रसिद्ध स्थान पर आक्रमण करके उसके मन्दिरो को तोडकर और वहाँ का धन लूटकर अपनी राजधानी गज़नी लौट जाता था। कहा जाता है कि हिन्दू राजाओ ने इस आपत्ति से बचने के लिए एक सगठन बनाया। इस सगठन का नेता जयपाल का पुत्र आनन्दपाल था। कन्नौज के राजा राज्यपाल और चन्देल राजाओ ने इस सगठन मे प्रमुख भाग लिया। हिन्दू स्त्रियों ने अपने देश और धर्म की रक्षा के लिए अपने आभूषण बेचकर धन से इस हिन्दू सगठन की सहायता की। केवल बगाल का पालवशीय राजा महीपाल इस संगठन मे शामिल न हुआ, क्योकि वह अपने आन्तरिक झगडो मे फँसा हुआ था। १००८ ई० मे महमूद अपनी सेना लेकर ओहिन्द पहुँचा। फिरिश्ता के अनुसार इस लडाई मे ३०,००० गक्खर महमूद के विरुद्ध लडे और उसकी फौज को चीरते हुए अन्दर घुस गये और थोड़ी-सी देर मे ५००० तुर्कों को काट डाला, किन्तु इतनी हानि होने पर भी तुर्की सेना हतोत्साह न हुई। उनके तीरो और गोला-बारूद ने उनकी रक्षा की। आनन्दपाल का हाथी बारूद की आग को न सह सका और भाग निकला। सारी हिन्दू सेना उसके पीछे भाग निकली। तुर्क सेना ने उसका पीछा किया। लगभग २००० भारतीय सैनिक मारे गये।

इसके पश्चात् महमूद ने नगरकोट को लूटा। वहाँ से वह सात लाख दीनार, ७०० मन

सोने-चाँदी के बर्तन, २०० मन सोना, २००० मन चाँदी और २० मन मणियाँ लेकर गजनी लौटा।

इसके पश्चात् महमूद ने भारत पर अनेक आक्रमण किये, किन्तु कहीं भी उसे हिन्दुओं के ऐसे संगठन का सामना न करना पड़ा। १०१८ ई० में जब महमूद ने कन्नौज पर आक्रमण किया तो राज्यपाल वहाँ से भाग गया। महमूद ने कनौज के मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया और शहर को खूब लूटा। राज्यपाल की कायरता के कारण हिन्दू राजा उसके विरुद्ध हो गये। राज्यपाल कालंजर के चन्देल राजा विद्याधर के विरुद्ध युद्ध करता हुआ मारा गया। इस पर महमूद ने चन्देल राजा को दण्ड देने के लिए कालंजर पर दो बार आक्रमण किया। चन्देल राजा ने महमूद को बहुत-सा धन देकर उससे सन्धि कर ली।

१०२५-२६ ई० में महमूद ने सोमनाथ पर आक्रमण किया। कई छोटे-मोटे राजपूत राजा सोमनाथ के मन्दिर की रक्षा के लिए इकट्ठे हुए और उन्होंने बड़ी वीरता से मुसलमानों का सामना किया, परन्तु अन्त में उनकी हार हुई। ५००० हिन्दू इस युद्ध में काम आये। महमूद मूर्ति को तोड़कर और मन्दिर के अपार धन को लेकर गजनी लौटा। इस प्रकार अपने सत्रह आक्रमणों में महमूद ने भारत की सैनिक शक्ति को काफी कमजोर कर दिया और यहाँ की आर्थिक स्थिति इतनी खराब कर दी कि उसको सुधारना कोई आसान काम न रहा। पंजाब में मुसलमानी राज्य की स्थापना करके उसने पीछे आने वाले मुसलमानों के लिए भारत का द्वार भी खोल दिया।

महमूद एक महान् विजेता और मूर्तिभंजक ही न था। उसने ईराक तथा कैस्पियन सागर से गंगा तक विशाल साम्राज्य स्थापित करके अपने कुशल सेनानायक होने का तो परिचय दिया ही, वह विद्वानों और कलाकारों का भी संरक्षक था। अलबेरूनी, फिरदौसी, ऊसुरी तथा फर्रुखी उसकी राजसभा के प्रसिद्ध रत्न थे। इन विख्यात विद्वानों से वह स्वयं साहित्यिक और धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद करता था। उसका सचिव उतबी भी प्रसिद्ध विद्वान् था। उसने महमूद के समय की प्रसिद्ध घटनाओं का उत्तम वर्णन दिया है। महमूद ने अपनी राजधानी गजनी में अनेक सुन्दर महल, मस्जिद, विद्यालय और समाधियाँ बनवाईं। मुस्लिम जगत् के अनेक कलाकारों को उसने अपने दरबार में आमन्त्रित किया और गजनी में एक विश्वविद्यालय की स्थापना की।

महमूद अपनी न्यायप्रियता के लिए भी प्रसिद्ध था। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था और इस बात का ध्यान रखता था कि उसकी प्रजा सुन्नी धर्म के सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से पालन करे। इसीलिए समकालीन मुसलमान लेखक उसे आदर्श मुस्लिम शासक मानते थे। परन्तु भारतीयों के लिए तो वह एक लालची लुटेरा ही था, क्योंकि उसने भारत के अनेक नगरों को लूटा और अनेक सुन्दर मन्दिरों को, जो कला के सुन्दर उदाहरण थे, नष्ट किया।

अब हम उन हिन्दू राज्यों का वर्णन करेंगे जिन्होंने भारत में मुसलमानों का राज्य स्थापित होने से पूर्व उनके विरुद्ध संघर्ष जारी रखा।

कन्नौज—महमूद की लूट के पश्चात् कन्नौज प्रतीहार राजाओं के हाथ से निकल गया और १०९० ई० के लगभग गहड़वाल वंश के **चन्द्रदेव** ने उस पर अधिकार कर लिया। पंचाल के और कलचुरि वंशीय राजाओं को हराकर उसने इलाहाबाद और बनारस तक अपना राज्य फैला लिया और लगभग ११०० ई० तक राज्य किया।

चन्द्रदेव के पश्चात् **मदनचन्द्र** कन्नौज का राजा बना। उसके राज्यकाल में युवराज

गोविन्दचन्द्र ने मुसलमानो को हराया। १११४ ई० के आसपास **गोविन्दचन्द्र** कन्नौज के सिंहासन पर बैठा। उसने उत्तर प्रदेश और मगध के अधिकाश भाग पर अधिकार कर लिया। ११४३ ई० के लगभग वह विजय करता हुआ मुगेर तक पहुँच गया, परन्तु दस वर्ष बाद फिर बगाल के पाल राजाओं ने इस नगर पर अधिकार कर लिया। गोविन्दचन्द्र का दक्षिण कोसल के कलचुरि राजाओ से भी सघर्ष हुआ। उसने अणहिल पाटक के चौलुक्य नरेश और कश्मीर के राजा से कूटनीतिक सम्बन्ध रखे। सम्भवत उसकी चोल राजाओ से भी मैत्री थी, क्योंकि ११११ ई० के पीछे के एक अभिलेख मे चोलो की राजधानी मे गहडवाल राजाओ की वशावली खुदी है। इससे प्रतीत होता है कि उसके राज्यकाल मे कन्नौज नगरी फिर एक बार उत्तर भारत की राजधानी होने का गौरव प्राप्त कर सकी। गोविन्दचन्द्र स्वय अच्छा विद्वान् और विद्वानो का सरक्षक था।

गोविन्दचन्द्र के उत्तराधिकारी **विजयचन्द्र** ने सम्भवतः खुसरो मलिक के आक्रमण का सामना किया और उसे हराया। ११७६ ई० मे **जयचन्द** कन्नौज के सिंहासन पर बैठा। उसने पाल वश के पतन के पश्चात् गया जिले पर अधिकार कर लिया, परन्तु बगाल के राजा लक्ष्मणसेन ने थोडे दिन बाद उसे वापस ले लिया। बनारस और इलाहाबाद तक भी लक्ष्मणसेन ने आक्रमण किया। 'पृथ्वीराजरासो' आदि कई ग्रन्थों से पता चलता है कि साभर का चौहान राजा पृथ्वीराज तृतीय जयचन्द की पुत्री सयोगिता को स्वयवर स्थल से भगा ले गया था और पीछे से उसने उसके साथ विवाह कर लिया। इससे स्पष्ट है कि जयचन्द और पृथ्वीराज मे आपस मे द्वेष था। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि जयचन्द ने पृथ्वीराज के विरुद्ध शहाबुद्दीन गौरी की सहायता की। उस पर देश-द्रोहिता का आरोप लगाना उचित नही प्रतीत होता। जब गौरी ने पृथ्वीराज पर आक्रमण किया तो जयचन्द ने पृथ्वीराज की सहायता न की। यह उसकी भूल थी। ११९४ ई० मे मुहम्मद गौरी ने कन्नौज पर आक्रमण किया। इस युद्ध मे लडते हुए जयचन्द की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हरिश्चन्द्र गहडवाल राज्य का शासक बना, परन्तु १२२६ ई० मे इल्तुतमिश ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया।

बगाल—हम अध्याय १६ मे कह आये हैं कि पाल राजा महीपाल प्रथम ने कलचुरि, चोल और चालुक्य राजाओ के आक्रमणो से बगाल की रक्षा की। उसने १०२५ ई० मे पूर्व अपना राज्य बनारस तक फैला लिया। इन शत्रुओ के कारण ही सम्भवत महीपाल सुलतान महमूद के विरुद्ध हिन्दू सगठन मे शामिल न हो सका।

महीपाल के उत्तराधिकारी **नयपाल** को त्रिपुरी के कलचुरि राजाओ के विरुद्ध कई वर्षों तक युद्ध करना पडा। कलचुरि राजा गागेयदेव ने १०३४ ई० से पूर्व ही नयपाल को हराकर बनारस पर अधिकार कर लिया। नयपाल का गागेयदेव के पुत्र कर्ण से भी सघर्ष चलता रहा। बौद्ध विद्वान दीपकर श्रीज्ञान ने कर्ण और नयपाल मे सन्धि कराई। नयपाल के पश्चात् **विग्रहपाल तृतीय** बगाल का राजा बना। उसके राज्यकाल मे कर्ण ने फिर गौड पर आक्रमण किया, किन्तु विग्रहपाल ने उसे फिर हराया। अन्त मे फिर सन्धि हुई और कर्ण ने अपनी पुत्री यौवनश्री का विवाह पाल राजा से कर इस सघर्ष को समाप्त किया।

विग्रहपाल तृतीय के पश्चात् १०७० ई० के लगभग **महीपाल द्वितीय** राजा बना। उसके राज्य काल मे कुछ सामन्तो ने विद्रोह किया। इन विद्रोहियों ने महीपाल को हराया और मार दिया। उनका नेता **दिव्यकँवर्त** स्वयं बंगाल का शासक बना। इस समय पूर्वी बगाल

में एक दूसरे वश के राजा राज्य करने लगे, जिनके नाम के अन्त मे 'वर्मा' शब्द लगता है। दिव्य ने उत्तरी बगाल मे अपनी स्थिति दृढ कर ली। कुछ दिनो के बाद महीपाल द्वितीय के भाई **रामपाल** ने अपने सामन्तो की सहायता से दिव्य के वशज भीम को हरा कर उत्तरी बगाल पर फिर अधिकार कर लिया। उसने कामरूप की विजय की और पूर्वी बगाल के वर्मा शासक को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। गहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र के विरुद्ध भी उसने युद्ध किया और उसे पूर्व की ओर बढने मे रोक दिया। रामपाल ने उड़ीसा मे भी राज्य के एक दावेदार को सहायता देकर उसे वहाँ का राजा बनाया। इस प्रकार रामपाल ने बगाल को फिर एक शक्तिशाली राज्य बना दिया। उसकी ११२० ई० के लगभग मृत्यु हो गई।

रामपाल के पुत्र **कुमारपाल** और **मदनपाल** के राज्यकाल मे सामन्तो ने फिर विद्रोह किया और गहडवालो ने पश्चिमी मगध पर अधिकार कर लिया। मदनपाल ने गहडवालो से मुगेर जीत लिया। इसी समय उत्तर बिहार मे कर्णाटक प्रदेश के कुछ शासको ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया और पश्चिमी बगाल मे सेन राजाओ ने अपनी शक्ति बढा ली। मदनपाल बिहार के कुछ भाग पर ११६० ई० तक राज्य करता रहा, परन्तु अन्त मे सेन राजाओ ने पाल शक्ति का अन्त कर दिया।

सेन वश का पहला प्रसिद्ध राजा **विजयसेन** था। उसने पाल वश के अन्तिम राजा मदनपाल को हराकर बगाल पर अधिकार कर लिया। उसने पीछे आसाम, मिथिला और मगध के अधिकाश भाग को भी जीत लिया। विजयसेन के उत्तराधिकारी **बल्लालसेन** ने मिथिला को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया। वह साहित्य-प्रेमी था और उसने स्वय कई ग्रन्थ लिखे। बल्लालसेन का उत्तराधिकारी **लक्ष्मणसेन** ११७८ ई० मे बगाल का राजा बना। उसने अपने पिता के राज्यकाल मे गौड, कामरूप और कलिग के शासको को पराजित किया था। अपने राज्य काल मे उडीसा की विजय करके उसने पुरी मे एक विजय-स्तम्भ बनवाया। गहडवाल राजाओ से भी समय-समय पर उसका सघर्ष रहा। बिहार के अधिकाश भाग पर भी उसका अधिकार था। वह कवियो का आश्रयदाता था। एक मुसलमान इतिहासकार ने भी उसकी बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता और दानशीलता की प्रशसा की है। अन्त मे बख्त्यार खिलजी ने नदिया पर सहसा आक्रमण करके बगाल के अधिकाश भाग पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार बगाल मे सेन वश के राज्य का अन्त हुआ।

कामरूप—कामरूप में १००० ई० तक प्रालम्भ के वशज राज्य करते रहे। उनकी राजधानी **ब्रह्मपुत्र** नदी के तट पर हारूपेश्वर थी। इस वश के अन्तिम राजा त्यागसिंह की मृत्यु के पश्चात् प्रजा ने **ब्रह्मपाल** को राजा चुना। कहा जाता है कि ब्रह्मपाल के पुत्र **रत्नपाल** ने गुर्जर, गौड, केरल और दाक्षिणात्य राजाओ को हराया। इसमे कुछ अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। सम्भव है चालुक्य राजा विक्रमादित्य को, जिसने १०६८ ई० से पूर्व कामरूप पर आक्रमण किया था, रत्नपाल ने हराया हो और इन देशो की सेनाएँ विक्रमादित्य की सेना मे शामिल हो। बगाल के राजा रामपाल ने इस वश का अन्त करके **तिग्यदेव** को अपने अधीन कामरूप का शासक बनाया। कुछ दिन बाद तिग्यदेव ने विद्रोह किया, तब पाल राजा कुमारपाल ने अपने मन्त्री **वैद्यदेव** को उसका दमन करने के लिये भेजा। परन्तु कुमारपाल की मृत्यु के बाद सम्भवत: **वैद्यदेव** कामरूप का स्वतन्त्र शासक बन बैठा।

कश्मीर—रानी दिद्दा की मृत्यु (१००३ ई०) तक कश्मीर का इतिहास हम अध्याय

१६ में दे आये हैं। इसकी मृत्यु के बाद **संग्रामराज** राजा बना जिसने लोहर वंश की नींव डाली। १०२८ ई० मे **अनन्त** राजा बना। उसने अत्यधिक व्यय करके अपने को ऋणी बना लिया, किन्तु उसकी रानी सूर्यमती ने अच्छे मन्त्री नियुक्त करके राज्य की रक्षा की। अनन्त ने चम्पा और दर्वाभिसार के राजाओ को अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया। फिर उसने अपने पुत्र **कलश** के लिए राजसिंहासन छोड दिया। कलश ने अपने माता-पिता के प्रति विश्वासघात किया, इसलिए सेना ने उसे दबा दिया। अनन्त ने कलश की कृतघ्नता देखकर आत्महत्या कर ली और सूर्यमती उसकी चिता पर सती हो गई। इस दुर्घटना ने कलश की आँखें खोल दी और उसने कश्मीर का ठीक प्रकार से शासन किया। उरशा से काष्ठावाट तक के पहाडी प्रदेश के आठ राजाओ ने उसका आधिपत्य स्वीकार किया।

कलश के बाद उसका पुत्र **हर्ष**, जिसने अपने पिता के राज्यकाल में विद्रोह किया था, कश्मीर के सिंहासन पर बैठा। हर्ष ने राजपुरी के राजा के विरुद्ध दो आक्रमण किये। उसने एक सेना दुग्घघाट के विरुद्ध भी भेजी। इसमे उच्छल और सुस्सल नाम के दो भाइयो ने बडी वीरता दिखाई। हर्ष ने समाज-सुधार किया और विद्वानो को राज्याश्रय दिया, किन्तु अपने राज्यकाल के अन्तिम दिनो मे उसने धन के लोभ से मन्दिरों को लूटा। प्रजा पर उसने बहुत-से कर लगाये, क्योकि युद्धो मे बहुत धन व्यय हुआ था। इस पर प्रजा ने उच्छल और सुस्सल के नेतृत्व मे हर्ष के विरुद्ध विद्रोह किया और उसे और उसके पुत्र को ११०१ ई० मे मार डाला। कल्हण का पिता हर्ष का मित्र था, इसलिए हर्ष के राज्य की घटनाओ का कल्हण को पूर्ण ज्ञान था।

उच्छल ने कश्मीर का राजा होने पर अपने भाई सुस्सल को लोहर का शासक बनाया। कु दिन बाद **रड्ड** नाम का एक व्यक्ति ११११ ई० मे उच्छल को मार स्वय राजा बन बैठा। परन्तु एक वर्ष बाद रड्ड को मारकर **सुस्सल** राजा बना। सुस्सल के अत्याचार और अत्यधिक करो से दुखी होकर बहुत-से सामन्तो के नेतृत्व मे प्रजा ने विद्रोह किये। अन्त में हर्ष का पोता **भिक्षाचर** राजा बना। एक वर्ष बाद फिर **सुस्सल** राजा बना। परन्तु ११२८ ई० मे भिक्षाचर ने सुस्सल को मरवा दिया। उसी वर्ष सुस्सल के पुत्र **जयसिंह** ने भिक्षाचर से राज्य छीन लिया। जयसिंह ने सामन्तो का दमन करने का प्रयत्न किया। उसने २७ वर्ष राज्य किया, किन्तु उसके राज्यकाल मे कुछ सामन्तो ने मुसलमानो की सहायता से विद्रोह किया। इस विद्रोह को जयसिंह ने अपनी कूटनीति और अपनी सैनिक योग्यता से दबा दिया। उसकी मृत्यु ११५५ ई० मे हुई। जयसिंह के पुत्र **परमानुक** और उसके पुत्र **वन्तिदेव** ने ११७२ ई० तक राज्य किया। वे लोहर वश के अन्तिम राजा थे।

लोहर वश के अन्त होने के पश्चात् कश्मीर मे बहुत-से अयोग्य राजा हुए। उनके राज्य-काल मे बहुत से विद्रोह हुए। अन्त मे १३३९ ई० मे शाहमीर नामक मुसलमान ने अन्तिम हिन्दू रानी **कोटा** को सिंहासन से उतारकर एक मुसलमान राजवश की नींव डाली।

कश्मीर के इतिहास से यह स्पष्ट है कि उस समय राज्य की सुव्यवस्था राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर थी। जनता को राज्य के कल्याण की चिन्ता न थी, वे अपनी जाति या सामन्त का ही भला चाहते थे। रानियो का राजा पर अत्यधिक प्रभाव भी राज्य के लिए हानिकर सिद्ध हुआ। राज्य के कर्मचारियों मे चरित्र की बहुत कमी थी। उनमे नैतिकता या कर्त्तव्य-परायणता तो नाममात्र को न थी। अधिकतर राजा और राजकर्मचारी भोग-विलासी थे। इसी कारण मुसलमानो को कश्मीर पर अधिकार करने मे कोई कठिनाई न हुई।

नेपाल—ग्यारहवी शताब्दी के प्रारम्भ से नपाल मे सामन्तो की शक्ति बढ गई। राज्य में दो या तीन राजा पाटन, काठमाडू और भटगांव को राजधानी बनाकर राज्य करते थे। ग्यारहवी शताब्दी के अन्त मे तिरहुत के कर्णाटक राजा **नान्यदेव** ने कुल नेपाल पर अधिकार करके तीनो राजधानियो से शासन किया। उसकी मृत्यु के बाद ११४८ ई० मे नेपाल के पुराने राजवश के शासक राज्य करने लगे, परन्तु सम्भवत उन्हे तिरहुत के राजाओ का आधिपत्य स्वीकार करना पडा।

इसके पश्चात् नेपाल मे मल्ल वश के राजाओ ने राज्य किया। इस वश का सस्थापक **अरिमल्लदेव** था। । उसका राज्य तेरहवी शताब्दी ई० के प्रारम्भ मे शुरू हुआ। १२८७ ई० मे खासियो ने नेपाल पर आक्रमण किया। इससे इस राज्य की बहुत हानि हुई।

१३२४-२५ ई० मे गयासुद्दीन तुगलक ने तिरहुत पर आक्रमण किया। इस समय तिरहुत का राजा हरिसिह नेपाल भाग गया और वहाँ उसने आसानी से अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसके वशज सौ वर्ष तक नेपाल पर राज्य करते रहे।

मालवा—हम अध्याय १६ मे कह आये है कि १०१० ई० मे भोज मालवा का राजा बना। उसने ५५ वर्ष तक राज्य किया। वह परमार वश का सबसे प्रसिद्ध राजा था। उदयपुर अभिलेख के अनुसार भोज ने चेदि, लाट, कर्णाट, तुरुष्क आदि देशो के राजाओ के अनेक राज्यो को विजय किया। इस अभिलेख मे पर्याप्त अतिशयोक्ति प्रतीत होती है, क्योकि चौलुक्य राजा जयसिह तृतीय के एक अभिलेख मे लिखा है कि उसने भोज को हराया। बिल्हण के 'विक्रमाकदेवचरित' मे भी लिखा है कि चालुक्य राजा सोमेश्वर तृतीय ने भोज को हराया। भोज ने अन्हिलवाड के चालुक्य राजा भीम को हराया। उसने सम्भवत महमूद गजनवी के विरुद्ध भी युद्ध किया। इन्ही युद्धो मे से किसी मे लडते हुए उसकी मृत्यु हुई। भोज ने एक बडी झील बनवाई और अपनी राजधानी धारा मे एक सस्कृत का महाविद्यालय स्थापित किया। उसने ज्योतिष, वास्तुकला और काव्य-विवेचन पर स्वय कई ग्रन्थ लिखे।

भोज के उत्तराधिकारी **जयसिह** प्रथम के समय मे कलचुरि और चालुक्य राजाओ ने मालवा राज्य के अधिकतर भाग पर अधिकार कर लिया। इस समय जयसिह ने अपने पुराने शत्रु दक्षिण के चालुक्यो से सहायता ली। चालुक्य युवराज विक्रमादित्य ने मालवा से सब शत्रुओ को निकाल भगाया। इसके पश्चात जयसिह ने पूर्वी चालुक्यो के विरुद्ध विक्रमादित्य की सहायता की। इससे चिढकर कल्याण के चालुक्य राजा सोमेश्वर द्वितीय ने चेदिराज कर्ण से मित्रता करके मालवा पर आक्रमण कर दिया। इसी युद्ध मे जयसिह की मृत्यु हो गई। इस समय भोज के भाई **उदयादित्य** (१०८०—८६ ई०) ने शाकम्भरी के चौहानो की सहायता से चौलुक्य शत्रुओ को हराकर अपना राज्य वापस ले लिया।

उदयादित्य के पुत्र **लक्ष्मणदेव** ने कलचुरि राजा यश कर्ण को हराया और अग, गौड और कलिग पर आक्रमण किये। उसने पजाब के मुसलमान गवर्नर महमूद से अपने राज्य की रक्षा की और उससे बदला लेने के लिए कागडा पर आक्रमण कर दिया। कहा जाता है कि उसने चौलुक्य राजा कर्ण को भी हराया और विक्रमादित्य षष्ठ की सहायता से होयसल राज्य पर भी आक्रमण किया।

लक्ष्मणदेव के उत्तराधिकारी **नरवर्मा** (१०९४ ई०) ने नागपुर तक मध्यप्रदेश पर अधिकार कर लिया। उसे चन्देल राजा ने परास्त कर दिया और उसे २२ वर्ष तक चौलुक्य

राजा जयसिंह सिद्धराज के विरुद्ध लड़ना पड़ा। उसके उत्तराधिकारी **यशोवर्मा** (११३३ ई०) के समय मे चन्देलो ने भिलसा के आसपास का प्रदेश छीन लिया। चौहानो ने उज्जैन पर ही आक्रमण कर दिया और चौलुक्य राजा जयसिंह सिद्धराज ने नल के चौहानो की सहायता से यशोवर्मा को हराकर बन्दी बना लिया। जयसिंह सिद्धराज ने ११३५ ई० के लगभग समस्त मालवा को अपने राज्य मे मिला लिया।

२० वर्ष तक मालवा चौलुक्यो के अधिकार मे रहा। इसके पश्चात् **विन्ध्यवर्मा** ने चौलुक्य राजा मूलराज द्वितीय को हराकर अपने पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया। उसे होयसलो और यादवो के विरुद्ध लड़ना पड़ा, परन्तु उसके समय मे मालवा एक समृद्ध राज्य बन गया। उसकी मृत्यु ११९३ ई० के कुछ बाद हुई। उसके पुत्र **सुभटवर्मा** ने चौलुक्यो के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ किया और गुजरात पर आक्रमण कर दिया। उसने लाट पर अधिकार कर लिया और गुजरात की राजधानी अणहिल पाटक पर भी आक्रमण किया। उसे यादवो ने परास्त किया। उसके उत्तराधिकारी **अर्जुनवर्मा** ने भी चौलुक्यो को हराया, किन्तु उसे यादव राजा सिंघल ने हराया। उसने विद्वानो को राज्याश्रय दिया। उसके उत्तराधिकारी **देवपाल** (१२१८—१२३२ ई०) पर सिंघल ने फिर आक्रमण किया। चौलुक्य राजा मुसलमानो से लड़ने मे व्यस्त थे। इसी समय यादवो और परमारो ने मिलकर दक्षिण गुजरात पर आक्रमण कर दिया। चौलुक्यो ने इसके बाद दक्षिण लाट पर अधिकार कर लिया। इल्तुतमिश ने १२३३ ई० मे भिलसा पर अधिकार कर लिया और उज्जैन को लूटा। इसके बाद धीरे-धीरे मालवा का पतन होने लगा। १३०५ ई० मे अलाउद्दीन खिलजी ने मालवा पर अधिकार कर लिया।

अन्हिलवाड़—चौलुक्य वश के पहले दो राजाओ मूलराज और चामुण्ड का वर्णन हम अध्याय १६ मे कर आये हैं। चामुण्ड के पश्चात **दुर्लभ** (१०१०—१०२२ ई०) राजा हुआ। उसने अपने शत्रुओ को हराकर अपनी स्थिति दृढ कर ली। दुर्लभ के बाद **भीम प्रथम** (१०२२—१०६४ ई०) राजा बना। जब वह सिन्ध-विजय के लिए गया था परमार राजा भोज के सेनापति कुलचन्द्र ने भीम की राजधानी अन्हिलवाड को खूब लूटा। उसी के राज्यकाल मे १०२४ ई० मे महमूद गजनवी ने सोमनाथ को लूटा। इस समय भीम ने कन्था के दुर्ग मे शरण ली थी। महमूद के जाने के पश्चात् उसने सोमनाथ का जीर्णोद्धार कराया और आबू पर्वत पर परमार शासक को हराया जिसने उसे चित्रकूट दे दिया। भीम के उत्तराधिकारी **कर्ण** (१०६४—१०९४ ई०) ने ३० वर्ष तक राज्य किया। उसने बहुत-से स्मारक बनवाये। कर्ण के बाद **जयसिंह सिद्धराज** (१०९४—११४३ ई०) राजा बना उसने सोमनाथ का यात्री-कर हटा दिया। उसे २० वर्ष तक परमार राजा नरवर्मा के साथ युद्ध करना पड़ा। उसने राज्य का अनेक रूप से विस्तार किया। उसकी मृत्यु ११४३ ई० मे हुई।

११४३ ई० मे **कुमारपाल** राजा बना। उसने कोकण के राजा मल्लिकार्जुन, अजमेर के राजा अर्णोराज और सौराष्ट्र के अनेक राजाओ को हराया। उसने सोमनाथ का मन्दिर फिर से बनवाया। वह जैन मतावलम्बी था। उसका मुख्य मन्त्री हेमचन्द्र सूरि नामक जैन विद्वान् था जिसने 'अभिधान-चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ लिखा। कुमारपाल की मृत्यु (११७१-७२ ई०) के बाद ब्राह्मणो की सहायता से उसका भतीजा अजयपाल राजा बना। ११७६ ई० के लगभग

उसे एक प्रतीहार ने मार दिया । उसका पुत्र मूलराज द्वितीय अल्पवयस्क था अत उसकी माता ने अभिभाविका के रूप मे शासन किया । जब ११७८ ई० मे शिहाबुद्दीन गौरी ने अन्हिलवाड पर आक्रमण किया तो रानी ने आबू पर्वत के निकट मुस्लिम सेना को पराजित किया । मूलराज की मृत्यु ११७८ ई० मे हुई ।

१२वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे राजा **भीम द्वितीय** की निर्बलता के कारण राज्य का बहुत-सा काम बघेल सामन्त लवणप्रसाद और उसके पुत्र वीरधवल के हाथ मे आ गया । लवणप्रसाद ने देवगिरि के विरुद्ध युद्ध किया । १२३२ ई० मे उसका पुत्र **वीरधवल** राजा बना । उसने दिल्ली के सुल्तान बहराम शाह को हराया । उसके पुत्र **विशालदेव** (१२४३—१२६१ ई०) ने अपनी प्रजा को दुर्भिक्ष से रक्षा की । इस समय बघेल शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई । कर्णदेव (१२९६—१३६६ ई०) के राज्यकाल मे नुसरत खाँ ने १२९७ ई० मे अन्हिलवाड पर अधिकार कर लिया ।

बुन्देलखण्ड—बुन्देलखण्ड के चन्देल राजाओ का धग तक का इतिहास हम अध्याय १६ मे वर्णन कर आये हैं। धग की मृत्यु के बाद उसका पुत्र **गण्ड** राजा बना । उसके बाद १०१९ ई० से कुछ पूर्व **विद्याधर** राजा बना । उसने १०१९ ई० और १०२२ ई० मे गज़नी के शासक महमूद के आक्रमणो के समय अपनी राजधानी छोडना ही उचित समझा । अन्त मे महमूद ने उससे सन्धि कर ली । विद्याधर ने महमूद के जाने के बाद परमार राजा भोज को हराया । विद्याधर के उत्तराधिकारी **विजयपाल** ने कलचुरि राजा गागेयदेव को हराया । १०६० ई० मे **कीर्तिवर्मा** राजा बना । पहले उसके राज्य को कलचुरि राजा कर्ण ने छीन लिया । पीछे कीर्तिवर्मा ने कर्ण को पराजित किया । उसने ११०० ई० तक राज्य किया । **मदनवर्मा** (११२८–११६५ ई०) ने कलचुरियो को हराकर अपने राज्य का मान ऊँचा किया । उसने मालवा के परमार राजा को भी हराया और बनारस के गहडवाल राजा से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये ।

११६५ ई० मे **परमर्दी** राजा बना । ११८२ ई० मे चौहान राजा पृथ्वीराज ने उसे सिरसागढ के स्थान पर हराया । सन् ११९७ मे पृथ्वीराज के भाई हरिराज को हटाकर मुहम्मद गौरी ने अजमेर पर अधिकार कर लिया । १२०२ ई० मे कुतुबुद्दीन ने चन्देलो के प्रसिद्ध गढ कालजर पर आक्रमण किया । चन्देलो ने अत्यन्त वीरता और साहस के साथ युद्ध किया, किन्तु शत्रु सेना की अधिकता के कारण उन्हे भागकर किले मे शरण लेनी पडी । घेरा बहुत दिन तक चलता रहा और परमर्दीदेव उससे इतना परेशान हुआ कि अन्त मे वह तुर्कों का प्रभुत्व स्वीकार करने को तैयार हो गया । किन्तु समझौते पर हस्ताक्षर होने से पहले ही उसकी मृत्यु हो गई । उसके मुख्य मन्त्री अजयदेव ने प्रस्ताव वापस ले लिया और युद्ध जारी रखा । तुर्कों ने उस झरने का बहाव बदल दिया जिससे अजयदेव के सैनिको को पानी मिलता था । इस परिस्थिति मे अजयदेव को कालजर का किला खाली करना पडा और तुर्कों से सन्धि करनी पडी । इस प्रकार कालजर, महोबा और खजुराहो पर तुर्कों का अधिकार हो गया । परमर्दी के पुत्र **त्रैलोक्यवर्मा** (१२०५—१२४१ ई०) ने १२०५ ई० मे मुसलमानो को हराकर अपना राज्य वापस ले लिया । उसने रीवा पर और कलचुरियो के राज्य के कुछ भाग पर भी अधिकार कर लिया । १३०३ ई० तक इस वश के राजा राज्य करते रहे । परन्तु १३०४ ई० मे अलाउद्दीन खिलजी ने बुन्देलखण्ड के अधिकतर भाग पर अधिकार कर लिया ।

चेदि—इस राज्य में कलचुरि वंश के राजा राज्य करते थे। कोक्कल द्वितीय के बाद यहाँ **गांगेयदेव** (१०१५—१०४० ई०) राजा बना। उसने परमार राजा भोज और चोल राजा राजेन्द्र चोल से सन्धि करके दक्षिण भारत पर आक्रमण किया। परन्तु चौलुक्य राजा जयसिंह ने उनकी सगठित सेनाओं को परास्त किया। पीछे गांगेयदेव का भोज परमार से झगड़ा हो गया और भोज ने उसे हराया। गांगेयदेव बुन्देलखण्ड के चन्देल राजाओ को भी हराने मे असफल रहा। परन्तु अपने राज्य के पूर्व मे गांगेयदेव ने दक्षिण कोसल पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा महाशिवगुप्त ययाति को हराया और उड़ीसा को भी जीत लिया। उसने अपने राज्य के उत्तर-पूर्व मे बघेलखण्ड और बनारस पर भी अधिकार कर लिया। सम्भव है मिथिला और उत्तरी बिहार पर भी उसका कुछ समय के लिए अधिकार रहा हो। कुछ दिन बाद मुसलमानो ने बनारस के बाजार को लूटा। सम्भवत: इसका बदला लेने के लिए गांगेयदेव ने कागडा की घाटी पर आक्रमण किया जो मुसलमानों के राज्य मे थी। १०४० ई० के लगभग उसकी प्रयाग मे मृत्यु हुई।

गांगेयदेव के उत्तराधिकारी **कर्ण** (१०४०—१०७० ई०) ने बगाल के पाल राजाओं को हराया। इसके बाद उसने पश्चिमी और पूर्वी बगाल को जीता। कर्ण ने सम्भवत: पल्लव, कुङ्ग, मुरल और पाण्ड्य आदि के दक्षिण के राजाओ को भी हराया, जिन्होंने उसके विरुद्ध चोल राजाओ की सहायता की थी। कर्ण ने चन्देल राजा कीर्तिवर्मा को हराकर कुछ समय के लिए उसके राज्य के अधिकाश भाग पर अधिकार कर लिया। उसने चौलुक्य राजा से भी मित्रता करके मालवा पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। परमार राजा भोज की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र जयसिंह ने चौलुक्यो की सहायता से मालवा वापस ले लिया। पीछे चौलुक्य राजा भीम ने कर्ण को परास्त किया। इस प्रकार अन्त मे कलचुरियो की शक्ति क्षीण होने लगी।

कर्ण के उत्तराधिकारी **यश कर्ण** के राज्यकाल मे दक्षिण के चौलुक्यो ने चेदि राज्य को खूब लूटा। परमार राजाओ ने यश कर्ण की राजधानी को लूटा और चन्देल राजाओं ने उसे परास्त किया। गहड़वालो ने इलाहाबाद और बनारस उससे छीन लिए। उसके पोते **जयसिंह** ने चालुक्य राजा कुमारपाल और कुन्तल देश के राजा को हराया। परन्तु १२१२ ई० के लगभग चन्देल राजा **त्रैलोक्यवर्मा** ने सारे कलचुरि राज्य पर फिर अधिकार कर लिया।

दिल्ली के तोमर—१०४३ मे महीपाल तोमर ने हाँसी, थानेश्वर और नगरकोट आदि कई महत्त्वपूर्ण किलों पर अधिकार कर लिये। उसने गज़नी के शासकों से लाहौर भी लेना चाहा परन्तु वह इसमे सफल न हुआ। किन्तु ऐसे सकट के समय मे भी चौहानो ने विदेशियो के विरुद्ध तोमरवशीय राजपूतो की सहायता नहीं की। इसका यह परिणाम हुआ कि तोमर राज्य की स्वतन्त्रता समाप्त हो गई और उसे चौहानो का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। मुहम्मद गौरी के आक्रमण से पूर्व ही चौहान राजा विग्रहराज चतुर्थ ने तोमर राजाओं को हराकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया था।

शाकम्भरी के चौहान—इस काल मे दो बड़े राजपूत राज्य शाकम्भरी और अजमेर के चौहान और गुजरात के चौलुक्यो के थे। इन दोनों शक्तिशाली राज्यों मे ग्यारहवीं तथा बारहवीं शती ईसवी मे बराबर सघर्ष चलता रहा। चौलुक्य राजा मूलराज प्रथम ने चौहान राजा विग्रहराज द्वितीय को हराया। गुजरात के शासक जयसिंह सिद्धराज ने अपनी पुत्री का

विवाह शाकम्भरी के चौहान राजा अर्णोराज से करके इस विरोध को समाप्त करना चाहा। किन्तु कुमारपाल चौलुक्य के राज्यकाल मे फिर सघर्ष प्रारम्भ हो गया। उसने अजमेर के निकट अर्णोराज को हराया और उसे बडी लज्जास्पद सन्धि करने के लिए विवश किया। इस पराजय का प्रतिकार करने के लिए चौहान राजा विग्रहराज चतुर्थ ने चौलुक्य राज्य को खूब लूटा और चित्तौड पर अधिकार कर लिया। बाद मे भी यह सघर्ष चलता रहा। अन्त मे जब दोनो राजवश हार गए तो उन्होने ११८७ ई० मे सन्धि कर ली। किन्तु सन्धि होने पर भी ये दोनो शक्तिशाली राजवश मिलकर मुहम्मद गौरी के आक्रमण के समय विदेशियो का डटकर सामना न कर सके। चौहानो का मालवा के परमारों से विरोध था क्योकि आबू के परमार चौलुक्यो को अपना अधिपति समझते थे। पृथ्वीराज तृतीय, जयचन्द्र गहडवाल को अपना शत्रु समझता था। इसलिए मुहम्मद गौरी के आक्रमण के समय उसे किसी भी राजपूत राज्य की सहायता न मिल सकी। ग्यारहवी शताब्दी मे चौहानो को सम्भवत मुसलमानो के विरुद्ध युद्ध करना पडा। बारहवी शताब्दी मे अजयराज ने उज्जैन पर आक्रमण किया और वहाँ के परमार सेनापति को बन्दी बना लिया। 'पृथ्वीराज विजय' मे लिखा है कि अजयराज ने गजनी के शासक को पराजित किया था।

उसके पुत्र **अर्णोराज** ने भी मुसलमानो को हराया। **विग्रहराज चतुर्थ** (११५०—११६३ ई०) ने अपनी विजयो से चौहान साम्राज्य को बढाया। उसने दक्षिण राजपूताने को जाबालिपुर और नड्डुल आदि उन रियासतो को जीता जो पहले चौलुक्य राजा कुमारपाल को अपना अधिपति मानती थी। उसने तोमर राजाओ को हराकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया और पूर्वी पजाब मे मुसलमानो मे कई युद्ध लडे। इस प्रकार उसने आर्यावर्त्त को विदेशियो के शासन से मुक्त किया। विग्रहराज ने 'हरकेलि-नाटक' नामक ग्रन्थ लिखा। सोमदेव नामक कवि ने उसकी मुसलमानो पर विजय के उपलक्ष्य मे 'ललितविग्रहराज' नाटक लिखा।

पृथ्वीराज द्वितीय ने पूर्वी पजाब के शासक को हराया। उसके उत्तराधिकारी सोमेश्वर ने अपना बाल्यकाल कुमारपाल चौलुक्य की राज्यसभा मे बिताया, क्योकि उसकी माता चौलुक्य वश की राजकुमारी थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् ११७७ ई० मे **पृथ्वीराज तृतीय** राजा बना। वह इस समय बालक था, इसलिए उसकी माता ने अभिवाविका के रूप मे शासन चलाया। उसका वर्णन चन्दरबरदाई ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' मे किया है। पृथ्वीराज ने ११८२ ई० मे चन्देल राजा परमर्दी को हराया। ११८७ ई० मे गुजरात पर आक्रमण किया, परन्तु वह इसमे सफल न हुआ और उसे चौलुक्य राजा भीम द्वितीय के साथ सन्धि करनी पडी। पृथ्वीराज की इतनी प्रसिद्धि उसकी विजयो के कारण नही है जितनी कि कन्नौज के गहडवाल राजा जयचन्द की पुत्री सयोगिता के साथ विवाह के कारण, जिसका वर्णन चन्दरबरदाई ने किया है। कहते हैं कि जयचन्द ने अपनी पुत्री सयोगिता के विवाह के लिए कन्नौज मे राजसूय यज्ञ किया। पृथ्वीराज इस यज्ञ मे सम्मिलित न हुआ। किन्तु सयोगिता ने उसकी पत्थर की मूर्ति मे जयमाल डाल दी और अधेरे मे पृथ्वीराज उसे वहाँ से ले गया। पीछे उसने सयोगिता से विवाह कर लिया। पृथ्वीराज ने ११९१ ई० मे मुहम्मद गौरी को तराइन के स्थान पर हराया, परन्तु अगले वर्ष मुहम्मद गौरी एक लाख बीस हजार अश्वारोही सेना लेकर भारत आया। पृथ्वीराज ने तराइन के युद्ध-क्षेत्र में मुहम्मद गौरी का सामना किया। राजपूत बडी वीरता से लडे, किन्तु मुहम्मद गौरी की युद्ध-नीति के सामने वे सफल न हो सके। पृथ्वीराज का सेनापति

खांडेराव, जिसने तराइन के प्रथम युद्ध में गौरी को पराजित किया था, मारा गया। पृथ्वीराज निरुत्साह होकर युद्ध-भूमि से भाग निकला, किन्तु पकडा गया। इस प्रकार मुहम्मद की पूर्ण विजय हुई। कुछ समय बाद गौरी ने पृथ्वीराज को मरवा दिया।

मेवाड़ के गुहिल—ग्यारहवी शताब्दी मे गुहिल वश मे कोई प्रसिद्ध घटना न हुई। ११५१ ई० मे चालुक्य राजा कुमारपाल ने गुहिल राजाओ से चित्तौड का गढ छीन लिया। सन् ११७९ ई० से कुछ पूर्व महारावल सामन्तसिंह को हराकर नड्डुल के चौहान कीर्तिपाल ने मेवाड पर अधिकार कर लिया। चौलुक्यो की सहायता से उसे हराकर सन् ११८२ ई० के लगभग सामन्तसिंह के छोटे भाई कुमारसिंह ने मेवाड पर फिर अधिकार कर लिया।

इस वश का प्रसिद्ध राजा **जैत्रसिंह** था। उसके राज्यकाल के प्रारम्भ में इल्तुतमिश ने उसके राज्य पर आक्रमण किया, किन्तु जब उसने सुना कि गुजरात का सरदार **वीरधवल** जैत्रसिंह की सहायता को आ रहा है तो वह मेवाड छोडकर वापस चला गया। **जैत्रसिंह** ने मुसलमानो के विरुद्ध कोई हिन्दू सगठन न बनाया, वह रणथम्भौर के चौहान और गुजरात के हिन्दू राजाओं से लडता रहा। परन्तु उसके पोते **समरसिंह** (१२७३—१३०१ ई०) ने मुसलमानो के विरुद्ध बाघेला सरदार सारगदेव की सहायता की और उन्हे पराजित किया। सन् १३०३ ई० मे महारावल **रत्नसिंह** के समय अलाउद्दीन खिलजी ने **चित्तौड पर आक्रमण** किया। रत्नसिंह पराजित हुआ और लगभग २३ वर्ष तक चित्तौड मुसलमानो के अधिकार मे रहा। सन् १३२७ ई० के लगभग राणा **हम्मीर** ने फिर चित्तौड पर अधिकार कर लिया।

उत्तर भारत की मुस्लिम विजय—१०३१ ई० मे महमूद के पुत्र मसूद ने **नियाल्तिगीन** को पजाब का शासक नियुक्त किया। उसने १०३४ ई० मे **बनारस के बाजार को लूटा**। १०३७ ई० मे मसूद ने भारत पर आक्रमण किया और पूर्वी पजाब पर अधिकार कर लिया। मसूद की हत्या के बाद उसका पुत्र **मौदूद** गजनी और पजाब का राजा बना। उसके राज्यकाल मे तुर्कों ने गजनी पर आक्रमण किया। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर अपने देश को विदेशियो से स्वतन्त्र करने के विचार से हिन्दू राजाओ ने एक सगठन बनाया। परन्तु जब मुसलमान सेनाओं ने सहसा आक्रमण किया तो हिन्दू सेनाएँ योग्य सेनापति के अभाव मे डटकर उनका मुकाबला न कर सकी।

१०८५ ई० मे महमूद पजाब का शासक बना। उसने कन्नौज और आगरा पर अधिकार कर लिया, परन्तु उज्जैन और कालजर पर अधिकार करने के उसके प्रयत्न निष्फल रहे।

११५७ ई० मे गजनी पर गोरी शासको का अधिकार हो गया। इस समय महमूद का वशज **बहराम** लाहौर भाग आया। उसके बाद ११६० ई० मे **खुसरो मलिक** पजाब का शासक हुआ। ११७४ ई० मे गजनी के राजा ने अपने भाई शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी को पूर्वी प्रदेश का शासक नियुक्त किया।

सिन्ध तथा मुल्तान की विजय और गुजरात में गोरी की पराजय—११७५ ई० मे मुहम्मद गौरी ने मुल्तान और कच्छ पर अधिकार कर लिया। ११७८ ई० मे गौरी ने गुजरात के चौलुक्य राजा मूलराज द्वितीय पर आक्रमण किया। भीम ने मुहम्मद को पराजित किया और अपने देश के बाहर खदेड़ दिया। ११८२ ई० मे उसने निचले सिन्ध के शासक को अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया। ११८६ ई० मे मुहम्मद ने गजनवी वश के खुसरो मलिक के साथ छल करके पजाब पर अधिकार कर लिया।

तराइन के युद्ध में गोरी की पराजय—अब मुहम्मद के राज्य की सीमाएँ अजमेर तथा दिल्ली के पराक्रमी राजा पृथ्वीराज के राज्य को छूने लगीं। ऐसी परिस्थिति में कन्नौज और अजमेर के राजाओं ने अपनी सेनाओं का उचित सगठन किया। चौहानों ने हांसी और भटिण्डा जीत लिए और सीमान्त नगरों की किलेबन्दी की। मुहम्मद गौरी ने पहला आक्रमण ११८९ ई० में सरहिन्द पर किया। इस युद्ध में पूर्णतया तैयार न होने के कारण सम्भवतः नगर की रक्षा-सेना को हथियार डालने पड़े। किन्तु जैसे ही गौरी वापस जाने को तैयार हुआ पृथ्वीराज किले को छीनने के उद्देश्य से सेना लेकर वहाँ पहुँच गया। ११९१ ई० में भटिण्डा से २१ मील दूर तराइन के स्थान पर पृथ्वीराज और मुहम्मद गौरी का युद्ध हुआ। इसमें मुहम्मद गौरी घायल हुआ और पृथ्वीराज की पूर्ण विजय हुई। पीछे पृथ्वीराज ने भटिंडे के किले को भी गौरी के नियुक्त किये हुए अधिकारी से छीन लिया।

दिल्ली और अजमेर पर अधिकार—इस प्रकार मुहम्मद गौरी को गुजरात के चौलुक्य राजा भीम से और अजमेर तथा दिल्ली के पराक्रमी राजा पृथ्वीराज से हारना पड़ा। गजनी लौटने पर गौरी ने इन हारों का बदला लेने के लिए पूरी तैयारी की। तराइन के द्वितीय युद्ध में किस प्रकार उसने पृथ्वीराज को हराकर बन्दी बनाया, इसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। तराइन की विजय के पश्चात् मुहम्मद ने शीघ्र ही हाँसी, कुहराम, सरस्वती आदि सैनिक महत्त्व के स्थानों पर अधिकार कर लिया। उसने आगे बढ़कर अजमेर पर अधिकार कर लिया और वहाँ के विग्रहराज के संस्कृत कालेज के स्थान पर अजमेर की बड़ी मस्जिद बनवाई, जिसका नाम 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' पड़ा। विजय के पश्चात् उसने पृथ्वीराज के पुत्र को अजमेर का शासक नियुक्त किया और उसने गौरी को कर देने का वचन दिया।

इसके पश्चात् मुहम्मद गौरी ने दिल्ली के गढ़ पर आक्रमण किया और घमासान युद्ध के बाद उस पर अधिकार कर लिया। उसने दिल्ली के दुर्ग में एक बड़ी सेना कुतुबुद्दीन ऐबक के नेतृत्व में रखी और आप गज़नी चला गया।

बुलन्दशहर और मेरठ पर अधिकार—गौरी के गज़नी जाने के तुरन्त पीछे एक चौहान सेनापति ने हाँसी पर घेरा डाला। ऐबक ने उसे परास्त करके राजपूताना की ओर खदेड़ दिया। दोआब में गहड़वाल राजाओं ने ऐबक का वीरता से विरोध किया, किन्तु अजयपाल नामक देश-द्रोही के विश्वासघात के कारण बुलन्दशहर, मेरठ आदि स्थानों पर ऐबक का अधिकार हो गया। इसके पश्चात् ऐबक ने दिल्ली के तोमर राजा को निकालकर उसे अपने राज्य का केन्द्र बनाया।

इसी समय रणथम्भौर और अजमेर के राजपूतों ने विद्रोह किया। ऐबक पहले अजमेर की ओर चला। हिन्दू इस समाचार को पाकर भाग गये। इसके बाद वह छः महीने के लिए गज़नी चला गया। गज़नी से लौटने पर उसने अलीगढ़ पर अधिकार कर लिया।

कन्नौज पर अधिकार—मुहम्मद गौरी ११९४ ई० में फिर एक बड़ी सेना लेकर हिन्दुस्तान आ पहुँचा। उसने कन्नौज और बनारस के राजा जयचन्द पर आक्रमण किया। कन्नौज और इटावा के बीच चन्दवार नामक स्थान पर जयचन्द और गौरी का भयकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में एक तीर जयचन्द की आँख में लगा और वह मर गया। जयचन्द के मर जाने पर गहड़वाल सेना भाग पड़ी और गौरी का अधिकार बिहार के मध्य तक हो गया।

ग्वालियर पर अधिकार—११९५ ई० में मुहम्मद गौरी फिर भारत आया। उसने बयाना के शासक कुमारपाल को हथियार डालने के लिए विवश किया। इसके पश्चात् गोरी ने ग्वालियर के क़िले का घेरा डाला। ग्वालियर के राजा ने गौरी से सन्धि करने में ही बुद्धिमानी समझी। परन्तु

पीछे तुग़रिल ने ग्वालियर के राजा को इतना परेशान किया कि उसे क़िला छोड़कर जाना पड़ा और ऐबक ने उस क़िले पर अधिकार कर लिया।

राजस्थान और गुजरात में प्रतिशोध—११९६ ई० में राजपूतों ने गुजरात के चौलुक्य राजा भीम की सहायता से अजमेर को वापस लेने का इरादा किया। ऐबक सेना लेकर अजमेर होता हुआ आगे बढा। राजपूतो ने इस वीरता से उसका सामना किया कि उसे पीछे हटकर अजमेर में शरण लेनी पडी। इस आक्रमण का बदला लेने के लिए ११९७ ई० में ऐबक ने अन्हिलवाड़ (गुजरात) पर आक्रमण किया। उसने छल से राजपूतो को खुले मैदान में निकालकर छापामार युक्ति से उन्हे पराजित किया, किन्तु दिल्ली से दूर होने और बीच मे राजस्थान पर पूर्ण अधिकार न होने के कारण उसने गुजरात को अपने राज्य में नही मिलाया।

बुन्देलखण्ड की विजय—१२०२ ई० के अन्तिम दिनों में ऐबक ने कालंजर पर आक्रमण किया। चन्देल राजा परमर्दीदेव ने जब खुले मैदान मे अपनी जीत कठिन समझी तो किले मे शरण ली। जब किले के अन्दर की सामग्री समाप्त होने लगी तो उसने ऐबक से सन्धि करना ही ठीक समझा। किस प्रकार तुर्कों ने पानी का बहाव दूसरी ओर करके अजयदेव को किला छोड़ने के लिए विवश किया, इसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। इस प्रकार कालजर, महोबा और खजुराहो पर ऐबक का अधिकार हो गया।

बंगाल और बिहार की विजय—इस समय बंगाल मे लक्ष्मणसेन राज्य कर रहा था। वह एक निर्बल शासक था। उसने यज्ञ कराकर तुर्कों के आक्रमण का निराकरण करना चाहा, वीरता से उनके विरुद्ध लडकर नही। मुहम्मद बख्तियार खिल्जी नामक दुस्साहसी सैनिक ने पहले ओदन्त-पुरी के बौद्ध विहारो को नष्ट किया। उस समय सेन राजा ने उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही न की, इससे उसका हौसला बढ़ गया। उसने ऐबक से गौड पर आक्रमण करने की आज्ञा माँगी जो उसे तुरन्त मिल गई। उसने सेना सहित राजधानी नदिया मे घोडों के सौदागरो के रूप में घुसकर उस पर अधिकार कर लिया और लक्ष्मणसेन को वहाँ से अपनी जान बचाकर भागना पडा। इससे यह स्पष्ट है कि सेन राजा का निरीक्षण विभाग अत्यन्त अयोग्य और निर्बल था। यह सम्भव है कि लक्ष्मणसेन स्वय उन बौद्धों को नष्ट कराना चाहता था जो पाल-वंशीय राजाओ के भक्त थे। इसीलिए उसने बख्तियार को उस समय नही रोका जब वह ओदन्तपुरी के विहार को नष्ट कर रहा था। इस प्रकार बिना किसी विरोध के बख्तियार ने बहुत थोड़ी सेना की सहायता से सारे बिहार और बगाल को जीत कर लक्ष्मणसेन को वहाँ से निकाल दिया।

ऊपर दिए हुए विवरण को देखने से यह स्पष्ट है कि इस काल मे उत्तर भारत मे कई महान् सैनिक नेता हुए, जैसे—कलचुरि गागेयदेव और कर्ण, परमार राजा भोज, गहडवाल गोविन्दचन्द्र, चौलुक्य राजा जयसिंह-सिद्धराज, कुमारपाल और विक्रमादित्य चालुक्य। इन राजाओं को तुर्कों के आक्रमण का ध्यान भी था भारतीय सेनाएँ विदेशियो की सेनाओ से वीरता मे भी कम न थी, फिर भी हिन्दू राजा पराजित हुए, इसके अनेक कारण हैं। परस्पर की फूट उनकी हार का मुख्य कारण थी। फूट से शत्रु को लाभ हुआ। वे कभी मिलकर शत्रु का सामना न कर सके। प्रत्येक राजपूत वश अपनी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखना चाहता था और प्रत्येक राजपूत सामन्त अपना अलग राज्य स्थापित करना चाहता था। किसी को भी अपने पड़ोसी राज्य की स्वतन्त्रता का लेशमात्र भी ध्यान न था। इसी कारण प्रादेशिक राज्य समाप्त हो गए और ग्यारहवीं तथा बारहवीं शती ई० मे में अनेक राजपूत वंशों ने अपने अलग-अलग राज्य स्थापित कर लिए। किसी भारतीय राजा को

आपत्ति के समय बाहरी शत्रु के विरुद्ध अन्य राजाओ से सहायता नही मिली। कुछ राजाओ की राजनीतिक दृष्टि इतनी सकीर्ण थी कि जब विदेशी उन पर आक्रमण करते तो से वे भी उसी समय पुराने बैर का बदला निकालने के लिए उस पर आक्रमण कर देते। इसी कारण तुर्क लोग इतने थोडे समय मे बिना विशेष कठिनाई के सारे उत्तर भारत पर अधिकार करने मे सफल हुए।[1]

सांस्कृतिक अवस्था

शासन-व्यवस्था—इस काल मे राजा को ईश्वर का अवतार समझा जाता तथा वह वशानुगत होता था। कश्मीर के इतिहासकार कल्हण ने राजा के चुनाव की तत्कालीन पद्धति की हँसी उडाई है। युवराज का चुनाव राजा करता था। वह शासन मे प्रमुख भाग लेता था। गहडवाल वश के गोविन्दचन्द्र का चुनाव उसके पिता ने किया। रानियो को शासन-सम्बन्धी अधिकार न थे, हाँ कश्मीर मे रानी सूर्यमती ने अवश्य अपने पति अनन्त की शासन मे सहायता की। बहुधा मन्त्री भी वशानुगत होते थे।

राजा ब्राह्मणो और बौद्धो को बहुत भूमि, धन, भोजन, वस्त्र आदि दान मे देते थे। दुर्भिक्ष के समय राजकोष से दुर्भिक्ष पीडितो को सहायता दी जाती थी। वे सिंचाई का प्रबन्ध और विद्या का प्रचार करते और विद्वानो का आदर करते थे। परन्तु अत्याचारी और व्यसनी राजा मन्दिरो और विहारो को लूटते और प्रजा को कष्ट देते थे। राज्य की गडबड से तग आकर ब्राह्मण बहुधा अनशन व्रत करते थे, जिनका राजाओ पर बहुत प्रभाव पडता था। कभी-कभी अत्याचारी राजाओ के विरुद्ध प्रजा विद्रोह करती और उनकी हत्या कर देती थी।

सामन्त प्रथा का विकास इस काल की प्रमुख विशेषता है। परमार, चौलुक्य और चौहान राजाओ ने अपने सम्बन्धियों और अधिकारियो को भूमि और गाँव देकर इस प्रथा को प्रोत्साहन दिया। चौहान पृथ्वीराज के १५०, कलचुरि कर्ण के १३६ और चौलुक्य कुमारपाल के ७२ सामन्त थे। इन सामन्तों के अपने न्यायालय और सचिव होते। कुमारपाल ने जब पशुहत्या बन्द की तो अलग-अलग सामन्तो ने अलग-अलग दर से प्रजा से जुर्माने वसूल किये। चौहान राजकुमार कीर्तिपाल १२ गाँवो का स्वामी था, लखणपाल और अभयपाल के पास ११७७ ई० मे केवल एक एक गाव था। सामन्तो की सख्या बढ जाने से न्यायालयो की भी सख्या बढ गई। इससे प्रजा को बहुत से कर और जुर्माने देने पडे और बहुत कष्ट हुआ।

राजा की स्थायी सेना पर्याप्त न थी। सामन्तो की सेनाएँ भी उसमे शामिल होती थी। कुछ योद्धा अपने शस्त्र लाते, कुछ को सरकार से मिलते, कुछ मे अधिकारी सरकारी होते और कुछ मे अपने। भाडैत सिपाही भी बडी सख्या मे होते थे। राजा की अपनी सेना के प्रशिक्षण का उचित प्रबन्ध था, परन्तु अन्य सेनाओं मे अनुशासन की कमी थी। सेना मे सगठन का पूर्ण अभाव था। किले बनाने पर पूर्ण ध्यान दिया जाता।

बारहवी शताब्दी तक उपज का छठा भाग मालगुजारी के रूप मे लिया जाता था, किन्तु बारहवी शताब्दी से मालगुजारी नकद सिक्कों मे दी जाने लगी। राजाओ ने सिचाई की पूर्ण व्यवस्था की। भोज ने २५० मील मे एक झील बनाई थी जिससे खेतो की सिंचाई मे बहुत सहायता मिली।

अन्य बातों मे इस काल की शासन-व्यवस्था पहले काल की शासन-व्यवस्था के अनुरूप ही थी।

१. इस विषय का पूर्ण विवेचन अध्याय २५ में देखिए।

सामाजिक व आर्थिक दशा—राजपूतो को अपनी प्रतिष्ठा का बहुत ध्यान था। वे युद्ध-प्रेमी थे किन्तु जो शत्रु उनकी शरण मे आ जाता उसकी रक्षा करना वे अपना कर्त्तव्य समझते। वे स्त्रियों का आदर करते और उनकी रक्षा करने के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते। राजपूत अपने सरदार के प्रति पूर्ण भक्ति दिखलाते। वे ज़रा-सी बात पर आपस मे बहुत लड़ते। उनके अन्दर उस एकता तथा राष्ट्रीयता का अभाव था जो शत्रु से लडने के लिए सब राजपूतो को सगठित कर दे। इसीलिए विदेशियो ने उन्हे सरलता से हरा दिया।

राजपूत स्त्रियाँ पूर्ण रूप से पतिव्रता थीं। वे अपने सतीत्व की रक्षा के लिए हँसते-हँसते जौहर कर लेती थी। राजपूत कन्याओ को स्वयवर मे अपना पति चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। अधिकतर कन्याओ का विवाह वयस्क होने पर किया जाता था। अलबेरूनी ने लिखा है कि स्त्रियाँ अधिकतर शिक्षित थी। वे लिख-पढ सकती और सस्कृत समझ सकती थी।

ब्राह्मणो का क्षत्रिय लोग बहुत आदर करते थे। वे मन्दिरो मे पुजारी होते या राजकीय नौकरी करते थे। कुछ ब्राह्मण सेनापति थे और कुछ कृषि कार्य करते। वे वाणिज्य-व्यवसाय भी करते। शासन क्षत्रियो के हाथ मे था, परन्तु उनमें राष्ट्रीय भावना का अभाव था। राजपूत सिपाही केवल अपने नेता के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देते, पर देश की रक्षा का उन्हे कोई ध्यान न था।

इस काल के लेखो से पता चलता है कि वैश्यों की अपनी-अपनी श्रेणियाँ थी। उन्हे अब वेद मन्त्र का उच्चारण करने की अनुमति नही थी। अलबेरूनी ने लिखा है कि उनकी स्थिति शूद्र के स्तर तक गिर चुकी थी।

दसवी सदी तक उत्तर भारत मे हिन्दू समाज मुख्य रूप से चार वर्णों मे विभक्त था, किन्तु दसवी सदी के बाद इस अवस्था मे परिवर्तन आने लगा। जाति-शुद्धि की कल्पना बढ़ गई। अनेक जातियों ने माँस खाना छोड दिया। इस प्रकार खान-पान और वैवाहिक प्रतिबन्धो के आधार पर अनेक जातियाँ एक-दूसरे से अलग हो गईं। बहुत-सी नई उपजातियाँ समाज मे उत्पन्न हो गईं। उपजातियाँ व्यवसाय, अन्तर्जातीय विवाह, धार्मिक विभिन्नताओ, निवास-स्थान आदि के कारण बन गई। बारहवी शताब्दी मे कायस्थो की पृथक् जाति बन गई थी। उनमे भी निवास-स्थान के आधार पर उपजातियाँ बन गई, जैसे—माथुर तथा गौड।

शूद्रो को वेद पढने और यज्ञ करने का अधिकार नही था। उनमे भी अनेक उपजातियाँ बन गईं, जैसे—नाई, ग्वाले, कुम्हार आदि। अस्पृश्य शूद्रो मे चाण्डाल विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अलबेरूनी ने लिखा है कि डोम, चमार, नट आदि पचम वर्ण मे गिने जाते और वे गाँव के बाहर रहते थे।

अलबेरूनी ने लिखा है कि "हिन्दू लोग विदेशियो से बहुत घृणा करते हैं। वे समझते हैं कि हमारा देश सबसे अच्छा है, हमारा धर्म, हमारी सभ्यता, हमारा विज्ञान, हमारे रीति-रिवाज सबसे अच्छे हैं।" इससे स्पष्ट है कि हिन्दू समाज मे अब सकीर्णता आ गई थी। उसमे वह शक्ति न रह गई थी, जो विदेशियो को अपने समाज का अभिन्न भाग बना लेती।

बारहवी और तेरहवी शती तक पूर्वी भारत का व्यापार दक्षिण पूर्वी एशिया से बहुत उन्नत दशा मे था, अत इस प्रदेश के नगर बहुत समृद्ध रहे। सेन राजाओ ने भूमिकर नकद धन के रूप मे लेना प्रारम्भ कर दिया। इससे भी व्यापार को प्रोत्साहन मिला।

इस काल के भाष्यकारो ने हाथ के काम को उपपातक (छोटा पाप) कहा है। इसलिए शिल्पो की इस काल मे विशेष उन्नति नही हुई। शिल्पियो की शिक्षा इस काल मे भी कुशल शिल्पियो के पास होती थी।

धार्मिक अवस्था

बौद्ध धर्म—पाल राजाओ के राज्यकाल मे बौद्ध धर्म की बहुत उन्नति हुई। बोधगया, नालन्दा, ओदन्तपुरी और विक्रमशील के मठो मे पुरानी परम्पराएँ चलती रहीं और यहाँ के विद्वानों ने तिब्बत के बौद्धो को एक नव-जीवन प्रदान किया, किन्तु जब बारहवी शताब्दी के मध्य मे सेन राजाओ ने बगाल पर अधिकार कर लिया तो उन्होने हिन्दू धर्म की स्थापना की। बौद्धो का प्रभाव बिहार तक ही सीमित रह गया। जब ११९८ ई० के लगभग मुसलमानों ने बिहार पर अधिकार कर लिया तो वहाँ भी बौद्ध धर्म का प्रभाव समाप्त हो गया। विदेशियो ने बौद्ध मठों को तोड़ दिया और साधारण बौद्ध जनता भी हिन्दू धर्म की अनुयायिनी बन गई, क्योकि इस समय तक दोनो धर्मों मे कोई विशेष अन्तर नही रह गया था।

शैव सम्प्रदाय—इस काल मे हिन्दूधर्म के विभिन्न सम्प्रदायो मे पूर्णसमन्वय था। यह बात उत्तरी भारत मे बगाल, मध्यभारत, मालवा तथा पूर्वी पजाब से प्राप्त अभिलेखो से स्पष्ट है। पाल, चेदि, चन्देल आदि राजाओ के लेखो मे शिव की उपासना का उल्लेख है। चन्देल, चेदि, परमार तथा सेन नरेशो ने शिव मन्दिर बनवाये। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उत्तर भारत मे इस सम्प्रदाय का बहुत प्रचार था।

नाथ सम्प्रदाय—उनके मन्दिरो मे शिव की प्रतिमा मिलती है। ये समझते है कि यौगिक क्रिया के द्वारा जादू की शक्ति मिल जाती है, जिससे स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर को प्राप्त कर लेता है।

शक्ति-पूजा—इस काल मे बगाल मे शक्ति-पूजा का बहुत प्रचार हुआ। कलकत्ते का नाम ही कालिका देवी के नाम पर पडा है। इसी काल मे मध्य प्रदेश मे चौंसठ योगिनियो का मन्दिर बना, जो शक्ति के चौंसठ रूपो को प्रदर्शित करता है।

सूर्य पूजा—गहडवाल, चौहान आदि अनेक राजपूत राजाओ ने सूर्य मन्दिरो के लिए दान दिया। बगाल के सेन शासक भी सूर्य के उपासक थे।

पंचायतन पूजा—इस काल मे पचायतन पूजा बहुत लोकप्रिय हो गई। इसमे विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य तथा गणेश की एक साथ पूजा होती थी।

वैष्णव सम्प्रदाय—सेनवशीय राजाओ के अभिलेखो से ज्ञात होता है कि उनकी अभिरुचि वैष्णव मत की ओर अधिक थी। उत्तर भारत के दान-पत्रो और प्राप्त विष्णु की मूर्तियो से ज्ञात होता है कि वैष्णव धर्म का भी बहुत प्रचार था।

इस काल मे अवतारवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। क्षेमेन्द्र ने 'दशावतार-चरित' (१०६० ई०) मे और जयदेव ने 'गीतगोविन्द' (११८० ई०) मे अवतारो का विस्तृत विवरण किया। इस काल मे महात्मा बुद्ध को भी हिन्दू अवतारो मे सम्मिलित कर लिया गया।

शिक्षा—परमार राजा भोज ने बहुत-सी पाठशालाएँ खोली और हर प्रकार से विद्या का प्रचार किया। उसकी मृत्यु होने पर एक कवि ने लिखा कि आज धारा निराधार हो गई, सरस्वती निरवलम्ब हो गई और सब पण्डित खण्डित हो गए। 'कथा सरित्सागर' की कथाओ से ज्ञात होता है कि विद्या-प्राप्ति के लिए छात्र दूर-दूर से गुरुओ के पास जाते थे। कही-कही लडकियाँ भी पुरुष गुरुओ से संस्कृत भाषा पढती थी।

साहित्य—इस काल के अधिकतर राजा साहित्य-प्रेमी थे। उन्होने विद्वानो को राज्याश्रय दिया। उदाहरण के लिए भोज परमार का प्रभाव मालवा तक ही सीमित नही था। उसने साहित्य, दर्शन, धर्म, व्याकरण और वास्तुविद्या पर स्वय तो ग्रन्थ लिखे ही, हेमचन्द्र आदि अनेक विद्वानो

को साहित्य सृजन के लिए प्रेरणा दी और विग्रहराज चतुर्थ जैसे शासको को शिक्षा संस्थाएँ स्थापित करने और विद्वानों का संरक्षण करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार साहित्य की उन्नति हुई, किन्तु इस काल के साहित्य में कृत्रिमता अधिक तथा मौलिकता कम है।

महाकाव्य— इस काल का सब से प्रसिद्ध महाकाव्य 'नैषधचरित' है। इस ग्रन्थ की रचना बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में श्री हर्ष ने की। इसमे राजा नल की जीवन कथा का उसके दमयन्ती के साथ विवाह तक वर्णन है। श्री हर्ष ने इसमें अनेक छन्दों का प्रयोग किया है और यह ग्रन्थ उसके पाण्डित्य को प्रकट करता है। वह सम्भवतः कन्नौज के राजा जयचन्द और विजयचन्द्र का समकालीन था।

कश्मीर के राजा अनन्त के समय में क्षेमेन्द्र ने 'भारतमंजरी', 'रामायण-मंजरी', 'पद्य-कादम्बरी' आदि कई ग्रन्थो की रचना की। पहले दो ग्रन्थ महाभारत और रामायण का संक्षिप्त रूप और तीसरे मे बाण की कादम्बरी की कथा का पद्य मे वर्णन किया गया है। कश्मीर मे इसी समय मखक नाम का विद्वान् हुआ। उसने 'श्रीकण्ठचरित' नामक ग्रन्थ में शिव द्वारा त्रिपुर के नाश का वर्णन किया है।

जैन लेखको ने भी इस काल मे कई संस्कृत काव्य लिखे। ओडेयदेव वादीभसिंह का 'छत्र-चूडामणि', अभयदेव का 'जयन्त-विजय' और देवप्रभसूरि का 'पाण्डवचरित' विशेष रूप से उल्लेख-नीय हैं। 'पद्मानन्द' महाकाव्य मे अभयचन्द्र ने ऋषभ की जीवनी लिखी। वस्तुपाल ने 'नारायणा-नन्द' मे कृष्ण और अर्जुन की मित्रता का वर्णन किया है। इन जैन काव्यों मे प्रकृति, ऋतु, युद्ध और श्रृंगार-विषयक अनेक सुन्दर वर्णन मिलते हैं।

खण्ड-काव्य—बिल्हण ने 'चौर-पञ्चाशिका' नाम का गीति काव्य लिखा। इसमे प्रेम का सुन्दर वर्णन है। परन्तु इस काल का सर्वश्रेष्ठ गीति-काव्य 'गीतगोविन्द' है। इसकी रचना बारहवी शताब्दी मे जयदेव ने की, जो बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की राजसभा मे विद्यमान था। इस गीति-काव्य मे बडी मनोहर शैली मे कृष्ण और राधा के प्रेम का वर्णन है। श्रीकृष्ण के गुणो का, रासलीला का और गोपियो का विरह-वर्णन बहुत ही हृदयग्राही और ललित है।

इसी काल मे गोवर्धन ने 'आर्यासप्तशती' मे श्रृंगार-विषयक सात सौ आर्या छन्द लिखे और धोयी ने 'पवन-दूत' लिखा, जिसमे मलय पर्वत की गन्धर्व राजकुमारी कुवलयवती बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के पास पवन द्वारा अपना सन्देश भेजती है।

इस काल मे अनेक नीतिशतक भी लिखे गए। सिल्हण ने 'शान्ति-शतक' और गुमानि ने उपदेशशतक' लिखा। कश्मीर के क्षेमेन्द्र ने 'समयमातृका' नामक खण्ड-काव्य मे वेश्याओ के पाशो का वर्णन किया है। कुछ सुभाषित ग्रन्थ भी इस काल मे लिखे गए। कश्मीर के वल्लभदेव 'नेसुभाषितावली' की रचना की और श्रीधरदास ने 'सदुक्तिकर्णामृत' की।

ऐतिहासिक काव्य—ग्यारहवी शताब्दी मे पद्मगुप्त ने 'नवसाहसाकचरित' नामक ऐतिहासिक महाकाव्य लिखा। किन्तु इस काल का सब से प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य 'राजतरंगिणी' है। इसमे कल्हण ने प्रारम्भ से बारहवी शती तक का कश्मीर का इतिहास दिया है। उसने अपने से पूर्व के ऐतिहासिक ग्रन्थो, अभिलेखो, ताम्रपत्रो और प्रशस्तियो के आधार पर अपना ग्रन्थ लिखा, किन्तु इस ग्रन्थ के पहले तीन अध्यायो मे ऐतिहासिक तथ्य बहुत कम हैं।

सन्ध्याकर नन्दी ने 'रामचरित' मे अपने आश्रयदाता राजा रामपाल और दशरथ के पुत्र राम का साथ-साथ वर्णन किया। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी है, किन्तु काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नही है।

चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' अपने मूलरूप मे अपभ्रंश ग्रन्थ था। 'पृथ्वीराजविजय' इसी काल की रचना है, परन्तु 'पृथ्वीराज रासो' अपने वर्त्तमान रूप मे सम्भवत पन्द्रहवी शती की रचना है। बारहवी शताब्दी मे हेमचन्द्र ने 'द्वयाश्रय' काव्य नाम का संस्कृत ग्रन्थ लिखा, जिसमे चौलुक्य राजाओ का वर्णन है। इसका अन्तिम भाग 'कुमारपालचरित' प्राकृत मे है। हेमचन्द्र गुजरात के चौलुक्य राजा जयसिंह सिद्धराज और उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल का समकालीन था।

नाटक—इस काल के नाटको मे तत्कालीन समाज का चित्र नही मिलता। उनमे नाटक के तत्त्वो का कृत्रिम प्रयोग और भाषा-वैचित्र्य की भरमार है।

जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' मे राम की कथा का वर्णन किया है। यह जयदेव गीतगोविन्द के लेखक से भिन्न था। उमापतिधर का 'पारिजातहरण' और रामचन्द्र के 'नलविलास' और 'निर्भयभीम' भी इसी काल की रचनाएँ है। शाकम्भरी के चौहान राजा वीसलदेव विग्रहराज-रचित 'हरकेलि नाटक' के भी कुछ अश उपलब्ध हैं।

बिल्हण ने 'कर्णसुन्दरी' नाम की नाटिका मे अन्हिलवाड के राजा कर्णदेव के विवाह का वर्णन दिया है। जयसिंह सूरि ने 'हम्मीर-मदमर्दन' मे वीरधवल की किसी मुसलमान राजा हम्मीर के ऊपर विजय का वर्णन किया है।

गद्य-कथा-साहित्य और चम्पू—सोड्ढल ने 'उदयसुन्दरी' कथा लिखी। इसमे प्रतिष्ठान के राजा का एक नागकन्या से विवाह का वर्णन है। गद्य-पद्यमय नाटक को चम्पू कहते हैं। इस काल मे भोज ने 'रामायण चम्पू' और अभिनव कालिदास ने 'भागवत-चम्पू' और 'अभिनव-भारत चम्पू' नामक ग्रन्थ लिखे।

ग्यारहवी शताब्दी मे कश्मीर मे क्षेमेन्द्र ने 'बृहत्कथा-मजरी' और सोमदेव ने 'कथासरित्-सागर' नामक ग्रन्थ गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के आधार पर लिखे। सोमदेव के ग्रन्थ मे जादू आदि का खूब प्रयोग है। इसमे तत्कालीन समाज का जीता-जागता चित्र मिलता है। इसकी कथाएँ बडी रोचक हैं और भाषा भी सरल है।

'बेताल-पचविंशति' मे अनेक कथाएँ हैं, जिनमे एक तपस्वी त्रिविक्रमसेन नाम के राजा को धोखा देना चाहता है, किन्तु अन्त मे राजा एक बेताल की पहेलियो का ठीक उत्तर देकर अपनी रक्षा करता है। 'शुकसप्तति' और 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' नाम के कहानी-ग्रन्थ भी इसी काल की रचनाएँ हैं। इन ग्रन्थो के कई रूप उपलब्ध हैं।

हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित' मे जैन तीर्थंकरो की जीवन-कथाएँ लिखी। यह कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ नही है।

पञ्चतन्त्र की कहानियो के भी कई रूप इस काल मे लिखे गये, जैसे 'तन्त्राख्यायिका' और 'पञ्चाख्यायिका'। बंगाल मे इसका रूप 'हितोपदेश' कहलाया।

उपयोगी साहित्य

कोश-ग्रन्थ—इस काल मे कई कोश-ग्रन्थ लिखे गए। यादव प्रकाश ने 'वैजयन्ती' नाम का कोश तथा धारा के राजा भोज ने 'नाममालिका' नाम का सग्रह लिखा। महेश्वर ने 'विश्वप्रकाश' और मख ने 'अनेकार्थ-कोश' की रचना की।

हेमचन्द्र ने गुजरात मे चार कोश लिखे। 'अभिधान-चिन्तामणि' मे पर्यायवाची शब्द हैं और 'अनेकार्थ-सग्रह' मे एक शब्द के अनेक अर्थ दिये गए हैं। 'निघण्टुशेष' मे आयुर्वेद के शब्दो का

संग्रह है और 'देशीनाम-माला' मे प्राकृत के शब्दो का अर्थ है। क्षीरस्वामी ने इसी काल में 'अमर कोश' पर अपनी प्रसिद्ध टीका लिखी।

रीति-ग्रन्थ—धारा के परमार राजा भोज ने 'शृंगार-प्रकाश' और 'सरस्वती-कण्ठाभरण' नाम के दो रीति-ग्रन्थ लिखे। अलकार साहित्य मे सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ मम्मट-रचित 'काव्य-प्रकाश है। सम्भवत इस ग्रन्थ की रचना ग्यारहवी शती ई० के अन्त मे हुई। उसके पश्चात रुय्यक ने 'अलकार-सर्वस्व' की रचना की। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' मे ध्वनि, रस, गुण, दोष और अलकार का पूर्ण विवेचन किया है।

रामचन्द्र ने इसी काल मे 'नाट्य-दर्पण' की रचना की। केदार ने 'वृत्तरत्नाकर' नामक ग्रन्थ छन्द-शास्त्र पर लिखा और हेमचन्द्र ने 'छन्दानुशासन'। 'काव्य-दर्पण' भी इस काल का प्रसिद्ध रीति-ग्रन्थ है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है।

अर्थशास्त्र—धारा के परमार राजा भोज ने 'युक्तिकल्पतरु' नामक राजनीति-विषयक ग्रन्थ लिखा। इसमे कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भाँति न्याय, शासन, सेना, जहाज, भवन-निर्माण आदि की विवेचना विस्तार से की गई है। सोमेश्वर के 'मानसोल्लास' मे भी इन विषयो का पर्याप्त विवेचन है।

आयुर्वेद और वास्तुशास्त्र—चक्रपाणिदत्त ने इसी काल मे चरक और सुश्रुत पर अपनी प्रसिद्ध टीकाएँ लिखी। उसका मौलिक ग्रन्थ 'चक्रदत्त' है। परमार राजा भोज ने घोडो की चिकित्सा पर 'शालिहोत्र' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। 'समरागण-सूत्रधार' मे परमार राजा भोज ने अनेक प्रकार के महलो का वर्णन दिया है। यह ग्रन्थ भारतीय वास्तुशास्त्र के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है।

धार्मिक साहित्य—धारा के परमार राजा भोज (१०००—१०५५ ई०) के अनेक ग्रन्थो का वर्णन हम ऊपर कर चुके है। उसने धर्मशास्त्र पर बहुत-कुछ लिखा, क्योकि उसके उद्धरण धर्मशास्त्र के अनेक ग्रन्थो मे मिलते है। परन्तु उसका कोई ग्रन्थ इस विषय पर अब उपलब्ध नही है।

इस काल मे प्राचीन धर्म-ग्रन्थो पर अनेक भाष्य लिखे गए। इन भाष्यो मे धर्मशास्त्र के नियमो की इस प्रकार व्याख्या की गई कि उनके नियम तत्कालीन परिस्थितियो के अनुकूल हो सकें। आजकल का हिन्दू समाज बहुत कुछ उन्ही भाष्यकारो द्वारा दी हुई व्याख्याओं पर आधारित है जिन्होने अपने भाष्य ९०० ई० से १६०० ई० के बीच तैयार किये थे। तेरहवी शती ई० का सबसे प्रसिद्ध भाष्यकार कुल्लूक था।

इस काल के धर्म-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों मे सबसे प्रसिद्ध लक्ष्मीधर का 'कृत्यकल्पतरु' है। लक्ष्मीधर कन्नौज के राजा जयचन्द का मन्त्री था। 'कृत्यकल्पतरु' में चौदह काण्ड है, जिनमे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, दैनिक कृत्य, श्राद्ध, दान, पूजा, तीर्थ, व्रत, शुद्धि, शान्ति आदि अनेक धार्मिक कृत्यो का सविस्तार वर्णन है।

प्राकृत-ग्रन्थ—जैन लेखको ने इस काल मे जैन महापुरुषो पर अनेक ग्रन्थो की रचना की। इनमे धनेश्वर का 'सुरसुन्दरीचरित', गुणचन्द्र का 'महावीरचरित' और वर्धमान का 'महावीर-चरित' उल्लेखनीय है। ग्यारहवी शती मे शान्ति सूरि, देवेन्द्रमणि और अभयदेव ने जैनधर्म-ग्रन्थो पर भाष्य लिखे। इस काल का सबसे प्रसिद्ध जैन लेखक हेमचन्द्र था, जिसके प्राकृत ग्रन्थ 'कुमारपालचरित' का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।[1]

१. देखिए पृष्ठ ३५४

भारतीय भाषाओं के विकास मे प्राकृत का विशेष महत्त्व है क्योंकि प्राकृत से अपभ्रंश का विकास हुआ। अपभ्रश की उत्पत्ति सम्भवत उत्तर-पश्चिमी भारत मे हुई और वहाँ से वह देश के अन्य भागो मे फैली। जैन लेखको की प्राकृत मे अपभ्रश के शब्दो की भरमार थी। इसी से जैन मराठी और जैन गुजराती भाषाओ की उत्पत्ति हुई। मराठी भाषा के विकास मे भक्ति सम्प्रदाय के सन्तों और गुजराती के विकास मे जैन साधुओ ने बहुत योगदान किया। रामलीला के लिए जो भजन लिखे गए उनसे भी गुजराती के विकास मे बहुत सहायता मिली। बंगाली, असमिया, उडिया और बिहार की बोलियो की मागधी प्राकृत से उत्पत्ति हुई।

कला

वास्तु-कला—इस काल की वास्तुकला मे तीन शैलियाँ पाई जाती है। उत्तर भारत के मन्दिर नागर शैली मे, दक्षिण भारत के द्रविड शैली मे और चालुक्य राजाओ के बेसर शैली मे हैं।

उत्तर भारत की नागर शैली के मन्दिरो मे गर्भगृह वर्गाकार होता है और हर तरफ बीच का भाग निकला होता है। उसके ऊपर शिखर होता है। इस शिखर मे चोटी की ओर तिरछी होती हुई रेखाएँ (वक्र-रेखा-विशिष्ट) होती हैं। उनके ऊपर आमलक रखा रहता है। उसके ऊपर कलश और कीली होती है। इस शैली के दशावतार मन्दिर का वर्णन हम गुप्त-काल की वास्तुकला मे कर चुके हैं।[1]

भुवनेश्वर—नागर शैली के सबसे अच्छे उदाहरण इस काल के उडीसा के मन्दिर है। ग्यारहवी शताब्दी के मध्य भुवनेश्वर के ब्रह्मेश्वर मन्दिर मे उडीसा की वास्तुकला का विकसित रूप पाया जाता है। भुवनेश्वर के राजा-राणी मन्दिर मे मध्य-भारत के खजुराहो के मन्दिरो की शैली के भी कुछ तत्व पाये जाते है। भुवनेश्वर के लिंगराज मन्दिर मे भी कुछ भाग ग्यारहवी शताब्दी के हैं।

खजुराहो—मध्यभारत मे छतरपुर रियासत मे खजुराहो के मन्दिर भी नागर शैली के हैं। ये मन्दिर लगभग ९५० ई० से १०५० ई० के बीच बनाए गए थे। ये मन्दिर चन्देल राजाओ के सरक्षण मे बने थे। कन्दर्य महादेव मन्दिर मे ६५० से अधिक आदर्श व्यक्तियो और दिव्य विभूतियो के चित्र उत्कीर्ण है। सबसे बडे गुम्बद का व्यास ६ ७ मीटर है। खजुराहो के मन्दिरो मे विश्वनाथ का मन्दिर (१००० ई०) सर्वश्रेष्ठ है। इसके शिखर की ऊँचाई ३० ४ मीटर है। विष्णु मन्दिर भी विश्वनाथ के मन्दिर के ही अनुरूप है। इन मन्दिरो मे नीचे से ऊपर तक तक्षण-कला का उपयोग करके सुन्दर कुराई की गई है।

राजपूताना और मध्य भारत—उदयपुर मे उदयेश्वर का मन्दिर जो ग्यारहवी शताब्दी के मध्य मे बनाया गया था, चन्देल शैली के ही अनुरूप है।

सोलकी राजाओ ने दसवी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी के मध्य बहुत-से मन्दिर बनवाये। इनमे सबसे प्राचीन चार मन्दिर अन्हिलवाडा के पास मिले है। इन पर कुराई का बहुत सुन्दर काम है। इनमे सुनक-गाँव का नीलकण्ठ मन्दिर बहुत अच्छी दशा मे है। बडे मन्दिर ग्यारहवी शताब्दी मे बनाये गए थे। इनका श्रेष्ठ उदाहरण बडौदा राज्य मे मधेरा का सूर्य

मन्दिर है। इसमे उत्कीर्ण मूर्ति बहुत सुन्दर बनी हैं। आबू पर्वत पर विमल-शाह का जैन मन्दिर १०३२ ई० मे संगमरमर से बनाया गया। मुख्य मन्दिर जैन धर्म के तेईसवे तीर्थंकर ऋषभ का है।

बारहवी शताब्दी के मन्दिरो मे सिद्धपुर का रुद्रमाल और कुमारपाल द्वारा बनाया गया सोमनाथ का मन्दिर सुन्दर कृतियाँ हैं।

१२३० ई० मे तेजपाल ने आबू पर्वत पर एक जैन मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर के गुम्बद और खम्भो पर कुराई का काम बहुत ही सुन्दर है। तीर्थंकरों की मूर्तियो मे शान्ति और वैराग्य की मुद्रा बहुत प्रभावशाली है।

ग्वालियर के किले के अन्दर जो तीन मन्दिर बने हैं, वे भी इसी काल के हैं। 'तेली का मन्दिर' शायद सबसे पहला है, 'सास-बहू का मन्दिर' १०९३ ई० मे बना था। यह विष्णु मन्दिर है। भारतीय मस्जिदो के बनाने वालो ने इन्ही मन्दिरो के मण्डपो को देखकर गुजरात की मस्जिदो की छते बनाई थी।

बगाल मे सेन वश के राजाओ ने बहुत-से सुन्दर मन्दिर बनवाए, परन्तु उनमे से कोई भी अब अच्छी दशा मे नही है।

मूर्ति-कला—मूर्तिकला की दृष्टि से यह युग गुप्तकाल की समानता नही कर सकता। इस काल मे कुछ स्वतन्त्र खडी मूर्तियाँ बनी, परन्तु अलकरण के रूप मे मन्दिरों की दीवारो पर बनी मूर्तियाँ अधिक है। पाल-वश के समय मे पूर्वी भारत मे अनेक सुन्दर मूर्तियाँ बनाई गई। बगाल मे सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिमा 'उमा-महेश्वर' के नाम से पुकारी जाती है। इसमे बहुभुजी शिव की बैठी मूर्ति है, जिसकी गोद मे पार्वती सुखासन ढग से बैठी है। बगाल मे भी दक्षिण भारत की कास्य-प्रतिमा चतुर्भुजी नटराज के सदृश दसभुजी काँस्य-मूर्ति मिली है। इसे विद्वानो ने नर्तकेश्वर का नाम दिया है। उडीसा मे भी सुन्दर मूर्तियाँ बनाई गई और तक्षण कला का अच्छा विकास हुआ। ये मूर्तियाँ हम तत्कालीन मन्दिरो मे देख सकते हैं।

मध्यभारत मे हैहय वश के राजाओ के समय मे ग्यारहवी शताब्दी मे मैहर के पास एक स्तम्भ पर विष्णु के अवतारो की मूर्तियाँ खुदी हैं, जिसमे मत्स्य, बुद्ध, वामन, कल्कि की मूर्तियाँ एक के ऊपर दूसरी स्थित हैं। दूसरे स्तम्भ पर कूर्म, वराह, नरसिंह की प्रतिमाएँ है।

खजुराहो की मूर्तियाँ शृगार रस प्रधान हैं। ये मूर्तियाँ पूर्णतया सजीव प्रतीत होती हैं। ये ऐच्छिक भोग विलास की ओर सकेत करती हैं किन्तु उनमे निर्लज्ज काम-क्रियाओ का प्रदर्शन नही है जैसा कि उडीसा की कुछ मूर्तियो मे मिलता है।

सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि इस काल की कला मे प्रादेशिक विभिन्नता पाई जाती है। यह बात वास्तुकला और मूर्तिकला दोनो के लिए कही जा सकती है। इस काल की कला के श्रेष्ठ उदाहरण राजस्थान, गुजरात और बुन्देलखण्ड के मन्दिर हैं।

मध्य प्रान्त मे ग्यारहवी सदी का एक मन्दिर मिला है, जो "चौंसठ योगिनियो का मन्दिर' के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर शक्ति के ६४ विभिन्न रूपो की प्रतिमाएँ स्थापित की गई है।

ग्यारहवी सदी की चतुर्भुजी सूर्य-प्रतिमा मध्यभारत से मिली है।

चित्रकला—इस काल मे क्षेत्रीय तत्त्वो को लेकर चित्रण शैली मे अनेक शैलियाँ चल पडी, जैसे गुजरात शैली और राजपूताना शैली। राजपूताने की शैली मे ही तीन प्रकार की उपशैलियाँ थी—राजस्थानी, कश्मीरी और कागडा। गुजरात शैली मे जैन जीवन-पद्धति और धर्म से सम्बन्धित चित्र हैं। राजपूत शैली मे रासलीला, राग-रागिनी, नायक-नायिका-

भेद-सम्बन्ध अनेक चित्र मिलते हैं। पत्र-पुष्पलता और पशुओ के भी अनेक चित्र भाव-प्रधान हैं। गार्हस्थ्य और प्रेम की तो सभी चित्रों में सुन्दर अभिव्यक्ति पाई जाती है।

इस काल मे महायान मत के कारण बौद्ध धर्म की पुस्तको में देवताओ के अनेक चित्र बनाए गए। इनमे प्रज्ञापारमिता का चित्र मुख्य माना जाता है। बौद्ध तत्र के देवता लोकनाथ, अमिताभ, मैत्रेय, वज्रयानी तथा देवी तारा आदि के चित्र भी मिले हैं। इनका चित्रो का सम्बन्ध तन्त्रयान से है, विषय से नही। इनका मुख्य ध्येय देवता की अर्चना थी।

निष्कर्ष—उत्तर भारत मे १००० ई० से १२०६ ई० तक का समय सत्ता के विकेन्द्रीकरण और पतन का युग था। समाज मे भी अब सकीर्णता आ गई थी। अलबेरूनी के वर्णन से ज्ञात होता है कि उसमे अब विदेशियो को मिलाने की शक्ति नही रह गई थी। इस काल के टीकाकारो ने सामाजिक नियम पूर्णतया अपरिवर्तनशील बना दिए। एक-एक वर्ण मे सैकडों जातियाँ बन गई। हिन्दू समाज के टुकडे-टुकडे हो गए।

इस काल के साहित्य और कला से भी समाज के नैतिक पतन का पता चलता है। इस काल के साहित्य मे भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष पर ही विशेष ध्यान दिया गया।

राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र मे इस काल की प्रमुखतम विशेषता सामन्तवाद है। सामन्तवाद ने अव्यवस्था के युग मे व्यवस्था तो रखी किन्तु देश मे राष्ट्रीयता की भावना को प्राय पूर्णतया समाप्त कर दिया। इन्हीं सब कारणो से विदेशियों ने बहुत थोड़े समय मे समस्त उत्तर भारत पर अधिकार कर लिया।

परन्तु भारत के इतिहास मे इस काल के अध्ययन का भी विशेष महत्त्व है। इस काल मे वे सभी सस्थाएँ बनी जो प्राय उसी रूप मे उन्नीसवी शती ईसवी के अन्त तक विद्यमान रही। उदाहरण के लिए समाज मे अनेक उपजातियाँ, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था मे सामन्तवादी दृष्टिकोण, पौराणिक धर्म की लोकप्रियता और प्रादेशिक भाषाओ का विकास इसी काल की देन हैं। वर्तमान काल की घटनाओ को भली-भाँति समझने के लिए इस काल की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक दशा को समझना आवश्यक है।

सहायक ग्रन्थ

राजबली पाण्डेय — **प्राचीन भारत**, अध्याय २० व २२

परमात्माशरण — **मध्ययुगीन भारत**, अध्याय ५ व ६

चिन्तामण विनायक वैद्य — **मध्ययुगीन भारत**, भाग ३
अनुवादक—भगवानदास

आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव — **दिल्ली सल्तनत**, अध्याय ७ व ८

R. C. Majumdar and A. D Pusalkar — *The History and Culture of the Indian People*
The Struggle for Empire, Chapters 2, 3, 4, 15, 16, 17, 18, 20.

Ray, H C — *Dynastic History of Northern India*, Volumes 1 & 2

अध्याय २२

दक्षिण-पथ की राजनीतिक व सांस्कृतिक अवस्था

(लगभग १००० से १३०० ई०)

(Political and Cultural Condition of the Deccan)

(C. 1000—1300 A.D.)

राजनीतिक अवस्था

हम अध्याय १९ के प्रारम्भ मे कह आए है कि लगभग ८५० ई० से दो सौ वर्ष तक चोल राजाओ का राष्ट्रकूट राजाओ के साथ सघर्ष चलता रहा और उन्होने तुगभद्रा नदी से दक्षिण के भाग्त पर एकच्छत्र राज्य स्थापित किया। इस काल मे चोल राजाओ का कल्याणी के चालुक्य राजाओ से सघर्ष प्रारम्भ हुआ। इस सघर्ष मे पूर्वी चालुक्य राजाओ ने चोल राजाओ की सहायता की। अन्त मे १०७० ई० मे पूर्वी चालुक्य वश के राजा कुलोत्तुग ने चोल साम्राज्य और पूर्वी चालुक्य साम्राज्य दोनो पर अधिकार कर लिया। इस सगठन के फलस्वरूप कल्याणी के चालुक्यो के साथ सघर्ष ने पहले उग्र रूप धारण कर लिया। बारहवी शताब्दी के अन्त मे चोल और पश्चिमी चालुक्य दोनो महान् शक्तियाँ थक चुकी थी और उनका पतन प्रारम्भ हो गया। छोटे-छोटे राज्यो ने, जो पहले उनके अधीन थे, स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया। उत्तरी दक्षिण मे यादव और काकतीयो ने, मैसूर मे होयसलो ने और सुदूर दक्षिण मे पाण्ड्यो ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। हम इस अध्याय को कल्याणी के पिछले चालुक्यो के उत्कर्ष से प्रारम्भ करेगे जिनका चोलो के साथ सघर्ष इस काल की प्रमुख घटना है।

कल्याणी के पिछले चालुक्य—राष्ट्रकूट राज्य के पतन के पश्चात् उसी क्षेत्र मे चालुक्य वश की स्थापना हुई। इस वश का पहला राजा **तैल द्वितीय** था। उसने अपने २४ वर्ष के राज्यकाल (९७३—९९७ ई०) मे पहले पश्चिमी चालुक्यो के अधिकतर राज्य के भाग पर अधिकार कर लिया और महाराजाधिराज परमेश्वर और चक्रवर्ती आदि विरुद धारण किये। तैल द्वितीय ने चेदि, उडीसा, नेपाल और कुन्तल के राजाओ को हराया, पचाल देश पर अधिकार कर लिया और ९८० ई० से पूर्व चोल राजा उत्तम को हराया। लाट को जीतकर उसने अपने सेनापति बारप्प को वहाँ का शासक नियुक्त किया। गुजरात के चौलुक्य और मालवा के परमारो के विरुद्ध भी उसने युद्ध किये तथा परमार राजा मुञ्ज को हराया। इसी युद्ध मे मुञ्ज की मृत्यु हो गई।

९९७ ई० मे **सत्याश्रय** तैल द्वितीय का उत्तराधिकारी हुआ। परमार सिंधुराज ने उसे हराकर वे प्रदेश वापस ले लिये जो तैल ने मुञ्ज से छीन लिये थे। कलचुरि कोक्कल द्वितीय ने भी उसे हराया। सत्याश्रय ने उत्तरी कोकण के शिलाहार राजा को हराया। राजराज महान् ने उसके राज्य पर आक्रमण किया, परन्तु सत्याश्रय ने उसे हराकर चोल राज्य के कुर्नूल और गुण्टूर जिलो

पर अधिकार कर लिया ।

जयसिंह द्वितीय (१०१५—१०४२ ई०) को कलचुरि गांगेयदेव, परमार भोज और राजेन्द्र चोल के संगठन का सामना करना पड़ा । परन्तु जयसिंह द्वितीय ने उन सबके विरुद्ध अपने राज्य की रक्षा की । चोलो के साथ चालुक्यो के संघर्ष का मुख्य कारण वेंगी का चालुक्य राज्य था जिस पर दोनो ही अपना प्रभुत्व जमाना चाहते थे ।

सोमेश्वर प्रथम (१०४२—१०६८ ई०) को कई वर्षों तक चोलो के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा । राजाधिराज चोल ने चालुक्य राजा की सेनाओ को हराकर उसकी राजधानी कल्याणी को खूब लूटा । इस विजय के उपलक्ष्य मे राजाधिराज ने 'वीराभिषेक' नाम का उत्सव मनाया और 'विजय-राजेन्द्र' का विरुद धारण किया । परन्तु इस पराजय से सोमेश्वर निरुत्साहित न हुआ । उसने चोलो के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा । १०५० ई० तक उसने चोल सेनाओं को अपने राज्य से बाहर निकाल दिया और वेंगी के राजराज को अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया । राजाधिराज ने तब सोमेश्वर पर आक्रमण किया । किन्तु १०५४ ई० के कोप्पम् के युद्ध मे राजाधिराज चोल मारा गया । राजाधिराज की मृत्यु के पश्चात् उसके भाई चोल राजेन्द्रदेव ने चालुक्यो के विरुद्ध युद्ध जारी रखा और चोल राज्य की रक्षा की । इस विजय के उपलक्ष्य मे उसने कोल्हापुर मे एक विजय-स्तम्भ बनवाया । सोमेश्वर ने चोल राज्य पर कई आक्रमण किये, किन्तु १०६३ ई० मे उसकी पूर्ण पराजय हुई । इस हार के बाद सोमेश्वर भाग गया । पीछे उसने चोलो से बदला लेना चाहा परन्तु उसे सफलता न मिली ।

सोमेश्वर ने उत्तरी कोंकण जीता और गुजरात और मालवा पर भी आक्रमण किये, कलचुरि राजा कर्ण के विरुद्ध युद्ध किया और दक्षिण कोसल और केरल पर भी आक्रमण किये । उसने यादवो के विद्रोह को भी दबाया ।

१०६८ ई० मे **सोमेश्वर द्वितीय** राजा बना । चोल राजा वीर-राजेन्द्र अपने दामाद विक्रमादित्य को, जो सोमेश्वर द्वितीय का छोटा भाई था, राजा बनाना चाहता था । परन्तु सोमेश्वर द्वितीय ने उसे हराया और कुछ समय के लिए मालवा पर भी अधिकार कर लिया ।

१०७६ ई० मे **विक्रमादित्य षष्ठ** ने सोमेश्वर द्वितीय को हराकर उसे बन्दी बना लिया और स्वय राजा बन बैठा । बिल्हण ने अपनी पुस्तक 'विक्रमाकदेवचरित' मे उसकी जीवन-कथा लिखी । विक्रमादित्य ने ५० वर्ष तक राज्य किया । 'विक्रमाकदेवचरित' के अनुसार उसने गुर्जर, डाहल, मरु, सिन्धु, तुरुष्क, कश्मीर, विदर्भ, नेपाल और वङ्ग को जीता । परन्तु इसमे बहुत अतिशयोक्ति प्रतीत होती है । दक्षिण भारत मे उसने द्वार-समुद्र के होयसल, गोआ के कदम्ब, कोंकण के शिलाहार और सेयुण के यादवों को हराया । १०८५ ई० से कुछ पूर्व उसने काञ्ची पर भी अधिकार कर लिया । कई वर्षों तक कुलोतुग चोल के विरुद्ध भी उसे युद्ध करना पड़ा । उसका राज्य उत्तर मे नर्मदा तक और दक्षिण मे कडप्पा और मैसूर तक फैला हुआ था । बिल्हण के अतिरिक्त विज्ञानेश्वर नाम का विद्वान् विक्रमादित्य की राजसभा मे था । उसने याज्ञवल्क्य-स्मृति पर 'मिताक्षरा' नाम की टीका लिखी ।

सोमेश्वर तृतीय को होयसल राजा विष्णुवर्धन के विरुद्ध लड़ना पड़ा । कहा जाता है कि उसने आन्ध्र, तमिल, मगध और नेपाल के राजाओ को हराया । परन्तु ११३४ ई० से पूर्व उसे अपने पूर्वी चालुक्य प्रदेश खाने पड़े । वह एक विद्वान् था । उसने 'मानसोल्लास' नामक ग्रन्थ लिखा ।

११३८ ई० मे **जगदेक-मल्ल** राजा बना । उसके सामन्तो ने विद्रोह किये किन्तु उसने उन्हे

दबा दिया। उसने मालवा पर आक्रमण किया और चालुक्य कुमार-पाल से युद्ध किया। कुलोतुंग चोल द्वितीय और कलिंग के अनन्तवर्मा चोडगग को भी उसने हराया।

११५१ ई० के लगभग **तैल तृतीय** राजा बना। चालुक्य कुमार-पाल और कुलोतुंग चोल द्वितीय ने तैल के राज्य पर आक्रमण किया, परन्तु उसने उन्हे खदेड दिया। काकतीय राजाओ के विरुद्ध उसकी हार हुई। कलचुरि वश के बिज्जल ने, जो उसका सेनापति था, ११६० ई० मे चालुक्यों की राजधानी कल्याणी पर अधिकार कर लिया। चालुक्यवंशीय गण्डनायक ब्रह्म ने फिर चालुक्य राज्य पर अधिकार कर लिया। परन्तु अन्त मे देवगिरि के यादवो और होयसल वंश के वीर-बल्लाल प्रथम के आक्रमणो के सामने चालुक्य राजा न टिक सके। **सोमेश्वर चतुर्थ** को अपना राज्य छोडकर गोआ के एक सामन्त के यहाँ शरण लेनी पडी। उसके बाद इस वश का अन्त हो गया।

देवगिरि के यादव--इस वश का पहला प्रसिद्ध राजा **भिल्लम** (११८५–११९३ ई०) था। उसने कलचुरि और पश्चिमी चालुक्य राजाओ को हराकर चालुक्यो के साम्राज्य के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। हेमाद्रि के अनुसार उसने श्रीवर्धन के राजा अंतल को भी हराया। भिल्लम ने होयसल राजा वीर-बल्लाल द्वितीय और चोल राजा कुलोतुग को भी हराया। पीछे लगभग ११८८ ई० मे बल्लाल द्वितीय ने भिल्लम को हराया। चार वर्ष पीछे होयसल राजा बल्लाल ने यादवो के उस प्रदेश को जीत लिया जो कृष्णा नदी के दक्षिण मे था। भिल्लम को उत्तर मे कुछ सफलता मिली। उसने मालवा के विन्ध्यवर्मा और गुजरात के भीम द्वितीय को परास्त किया। परन्तु नड्डुल के चौहानो ने भिल्लम को हराया।

भिल्लम के उत्तराधिकारी **जैतुगी** (११९३—१२०० ई०) ने दक्षिण मे काकतीय, गंग और चोलो को और उत्तर में परमारो और चालुक्यो को हराया।

सिंघण (१२००–१२४७ ई०) इस वंश का सब से महान् राजा था। पश्चिमी चालुक्यो के राज्य पर उसने पूरा अधिकार कर लिया। उसने होयसल राजाओ से भी कृष्णा नदी के दक्षिण के कुछ प्रदेश वापस ले लिए। कोल्हापुर के शिलाहार भोज द्वितीय को दबाया। गुजरात पर कई आक्रमण किये और लाट पर अधिकार कर लिया। मालवा के मुसलमान शासक को और छत्तीसगढ और जबलपुर के चेदि राजा को हराया। होयसल राजाओ के जीतने के उपलक्ष्य मे उसने कावेरी के तट पर एक विजय-स्तम्भ बनवाया।

सिंघण के उत्तराधिकारी **कृष्ण** (१२४७—१२६० ई०) और **महादेव** (१२६०—१२७१ ई०) के राज्यकाल मे यादव साम्राज्य पूर्ववत् रहा। महादेव ने होयसलो से कुछ प्रदेश ले लिए और कोकण को अपने राज्य मे मिला लिया। उसके उत्तराधिकारी **रामचन्द्र** ने होयसल राज्य को अपने राज्य मे मिलाने का प्रयत्न किया। परन्तु इसमे वह असफल रहा। १२९४ ई० मे अलाउद्दीन ने यादवों की राजधानी देवगिरि पर आक्रमण किया और रामचन्द्र ने उसे कर देना स्वीकार करके उसे अपना अधिपति मान लिया। पीछे रामचन्द्र ने अलाउद्दीन को कर न देना चाहा, इसलिए १३०७ ई० मे मलिक काफूर ने उसे फिर हराया और रामचन्द्र को आत्मसमर्पण करना पडा। उसने सुल्तान को अपार धन भेंट किया। अलाउद्दीन ने उसका राज्य उसे लौटा दिया। रामचन्द्र के समय मे प्रसिद्ध मराठा विद्वान् ज्ञानेश्वर हुए। उन्होने मराठी मे गीता पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा।

रामचन्द्र का पुत्र **शंकरदेव** देशभक्त तथा कर्मठ शासक था। वह तुर्कों के प्रभुत्व को समाप्त करना चाहता था। काफूर के दिल्ली लौट जाने के उपरान्त उसने नियमित कर नही चुकाया।

इसलिए १३१३ ई० में अलाउद्दीन ने शंकरदेव को दण्ड देने के लिए काफूर को भेजा। शंकरदेव युद्ध में हारा और मारा गया। इस प्रकार यादवों का स्वतन्त्र राज्य समाप्त हुआ।

वारंगल के काकतीय—इस वंश के पहले राजा **बेत प्रथम** ने कल्याणी के चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम के आधिपत्य में नलगोण्डा जिले में अपने राज्य की नींव डाली। चालुक्य राजा ने उसके उत्तराधिकारी **प्रोल प्रथम** और **बेत द्वितीय** को कुछ और जिले दे दिये। परन्तु १११५ ई० में **प्रोल द्वितीय** स्वतन्त्र शासक हो गया। उसने तेलिंगाना और आन्ध्र के प्रदेश जीत लिये और पश्चिमी चालुक्य राजा तैल तृतीय को बन्दी बना लिया। उसके पुत्र **प्रतापरुद्र प्रथम** ने फिर ११६८ ई० के लगभग तैल तृतीय को परास्त किया और ११८५ ई० में पूर्व ही कुर्नूल जिले को अपने राज्य में मिला लिया।

पाण्ड्य, होयसल और यादवों के पारस्परिक संघर्ष से लाभ उठाकर **गणपति** (११९९ ई०) ने आन्ध्र, नैलोर, काञ्ची, कुर्नूल और कडप्पा जिलों पर अधिकार कर लिया, परन्तु १२५० ई० में पाण्ड्य राजा जटावर्मा सुन्दर ने उससे नैलोर और काञ्ची के जिले छीन लिये। तब गणपति ने वारंगल को अपनी राजधानी बनाया।

गणपति के पश्चात् उसकी पुत्री **रुद्राम्बा** १२६२ ई० के लगभग रानी बनी। मार्कोपोलो ने उसकी शासन-व्यवस्था की बहुत प्रशंसा की है। कडप्पा और कुर्नूल के सामन्त अम्बदेव ने उसके राज्यकाल में अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। रुद्राम्बा के पश्चात् उसका धेवता **प्रतापरुद्र द्वितीय** राजा बना। उसने अम्बदेव को हराकर कडप्पा और कुर्नूल पर फिर अधिकार कर लिया। जब १३०९-१० ई० में मलिक काफूर ने उसके राज्य पर हमला किया तो उसकी हार हुई और बहुत-सा धन देकर उसने काफूर से सन्धि की। प्रतापरुद्र द्वितीय ने नैलोर और काञ्ची को जीता और वह त्रिचिनापल्ली तक पहुँच गया। १३२३ ई० में उलुग खाँ ने उसे हराकर उसके राज्य को दिल्ली सल्तनत में मिला लिया।

वेंगी के पूर्वी चालुक्य—अध्याय १८ में हम इस वंश का लगभग १००० ई० तक का इतिहास दे चुके हैं। विष्णुवर्धन प्रथम या **राजराज प्रथम** (१०२२—१०६३ ई०) ने राजेन्द्र चोल की पुत्री से विवाह किया। उसके पुत्र का नाम राजेन्द्र चोल या कुलोत्तुंग था। राजराज के सौतेले भाई **विजयादित्य** ने १०६० ई० में राजराज से वेंगी का सिंहासन छीन लिया। कुछ दिन बाद कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने परमार जयसिंह की सहायता से विजयादित्य को हराया। किन्तु चोल राजा वीर राजेन्द्र ने फिर विजयादित्य को उसके सिंहासन पर बिठा दिया। परन्तु वीर राजेन्द्र की मृत्यु के बाद चोल राजा कुलोत्तुंग ने आन्ध्र देश पर अधिकार कर लिया। कुलोत्तुंग वास्तव में पूर्वी चालुक्यों के वंश का था। अब वह सारे चोल साम्राज्य का स्वामी बन गया। इस प्रकार पूर्वी चालुक्य राज्य चोल राज्य में मिल गया। इस समय कुलोत्तुंग से हारकर विजयादित्य ने गंग राजा की शरण ली।

उड़ीसा के पिछले पूर्वी गंग राजा—इस वंश का पहला प्रसिद्ध राजा **वज्रहस्त अनन्तवर्मा** १०३८ ई० में सिंहासन पर बैठा। उसके पोते **अनन्तवर्मा** चोडगंग ने (१०७८ ई०) पूर्वी चालुक्य राजा विक्रमादित्य को शरण दी थी। इसलिए चोल राजा कुलोत्तुंग पूर्वी गंग राजा का शत्रु हो गया। चोल राजा ने १०८३ ई० के पश्चात् दो बार गंग राज्य पर आक्रमण किया। परन्तु अनन्तवर्मा ने चोल राजा को हराकर विजगापटम जिले पर अधिकार कर लिया। जब उड़ीसा के सोमवंशी राजाओं के उत्तराधिकारियों में सिंहासन के लिए झगड़ा हुआ तो १११८ ई० में गंग राजा अनन्तवर्मा ने उड़ीसा को अपने राज्य में मिला लिया। अनन्तवर्मा ने बंगाल पर भी आक्रमण किया।

उसने ११५० ई० तक राज्य किया। यद्यपि वह कलचुरियो और परमारो के विरुद्ध सफल न हुआ, किन्तु उसने अपना राज्य गंगा से गोदावरी तक फैला लिया। उसने पुरी में जगन्नाथ का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया।

अनन्तवर्मा के उत्तराधिकारी दक्षिण-पश्चिमी बंगाल पर अपना अधिकार न रख सके। लक्ष्मणसेन ने पुरी तक का प्रदेश जीतकर वहाँ अपना विजयस्तम्भ बनवाया।

१०२५ ई० मे बख्त्यार खिलजी ने उडीसा पर आक्रमण किया, किन्तु वह अनन्तवर्मा के पोते **राजराज तृतीय** को हराने मे असफल रहा। **अनंग-भीम तृतीय** (१२१६—३५ ई०) ने गयासुद्दीन खिलजी को हराया, परन्तु काकतीय राजा गणपति के विरुद्ध वह सफल न हो सका। उसके पुत्र **नरसिंह प्रथम** ने १२४० ई० मे बगाल पर आक्रमण किया और वह लखनौती तक पहुँच गया। अन्त मे मुसलमानो ने उसे हरा दिया। नरसिंह प्रथम ने पुरी के निकट कोनारक का प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर बनवाया।

दक्षिण कोसल के सोमवंशी राजाज—नमेजय महाभव-गुप्त (१०२१–५५ ई०) इस वंश का बडा राजा था। उसने उडीसा की विजय की और ३४ वर्ष राज्य किया। इसके पश्चात् राजेन्द्र चोल ने कोसल को जीत लिया। **महाशिव-गुप्त तृतीय** ने कोसल पर फिर अधिकार कर लिया और कहा जाता है कि उसने कर्णाट, गुर्जर, लाट, राढ और गौड के राजाओ को भी हराया। उसका पुत्र **उद्योत-केसरी महाभव-गुप्त चतुर्थ** बारहवी शताब्दी के मध्य में गद्दी पर बैठा। उसने डाहल, ओड्र और गौड के राजाओ को हराया। इसके बाद कलिंग के गग राजाओ और कलचुरि राजाओ ने कोसल पर अधिकार कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि उद्योत-केसरी के समय मे सोमवशियो का अधिकार विशेष रूप से उडीसा पर था। १११९ ई० से पूर्व अनन्तवर्मा चोड गग ने उडीसा जीत लिया।

कोंकण के शिलाहार–शिलाहार वश की दो शाखाएँ थी। एक उत्तरी कोकण मे राज्य करती थी और दूसरी दक्षिणी कोंकण मे। उत्तरी कोकण के शिलाहारो ने ८१० ई० से १२६० ई० तक राज्य किया। पहले वे राष्ट्रकूटो को अपना अधिपति मानते थे। जब राष्ट्रकूटो की शक्ति क्षीण हो गई तो वे स्वतन्त्र हो गये। थोडे दिन बाद इस प्रदेश पर गुजरात के चालुक्यो ने अधिकार कर लिया और उनके बाद देवगिरि के यादवो ने।

दक्षिणी कोकण के शिलाहारो ने ८०८ ई० से ११०० ई० तक राज्य किया। पहले वे भी राष्ट्रकूटो को अपना अधिपति मानते थे और फिर चालुक्यो को। पिछले चालुक्यो के अन्तिम दिनो मे वे कुछ स्वतन्त्र हो गये। अन्त मे यादव राजा सिंघण ने उनके राज्य को अपने राज्य मे मिला लिया। उनकी राजधानी बिल्वपत्तन थी।

सांस्कृतिक अवस्था

शासन-व्यवस्था—दक्षिण भारत मे भी राजा की स्थिति उत्तर भारत के राजाओ की स्थिति से मिलती-जुलती थी। राजाओ का राज्याभिषेक बड़ी धूमधाम से होता तथा वे बडी शान से रहते थे। जब राजा राजसभा मे आता तो सब बडे कर्मचारी और राजदूत वहाँ उपस्थित होते थे। राजा उसी समय सामन्तो से भेंट लेता था। राजनीति का अन्तिम निर्धारण, न्याय और प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व भी मुख्य रूप से उसी का था। राजा अपने शत्रुओ को वश में करने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद चारो नीति काम मे लाते थे। कभी वे अन्य राजाओ से सन्धि करते, कभी तटस्थ रहते और कभी उनके विरुद्ध युद्ध करते थे। अमीरो राजकर्मचारियों, चोरो और दुराचारियों के

अत्याचार से प्रजा की सन्तान की भाँति रक्षा करना राजा का मुख्य कर्त्तव्य समझा जाता था ।

आय का मुख्य साधन भूमि-कर था । उपज के अनुसार अनाज का छठा, आठवाँ या बारहवाँ भाग कर के रूप में लिया जाता । घी और सुपारी का छठा, शाक, पुष्प और फलो का दसवाँ और पशुओं तथा सोने का पचासवाँ भाग कर के रूप मे लिया जाता था । मणियो और मोतियो पर भी कर लिया जाता, परन्तु श्रोत्रिय ब्राह्मणो से कोई कर न लिया जाता था । प्रजा मनमाने करो का विरोध कर सकती थी ।

राजाओ के सात या आठ मन्त्री होते । युद्ध-मन्त्री का पद बडे महत्त्व का था । बहुधा युद्ध का विभाग मुख्य मन्त्री अपने हाथ मे रखता था । पुरोहित का भी बहुत आदर था । कोषाध्यक्ष या 'गणक' कोष का प्रबन्ध करता था । सामन्तो और विदेशों के राजाओ से पत्र-व्यवहार करने के लिए अनेक प्रदेशो की लिपियो का जानने वाला अलग मन्त्री होता था । प्रतीहार, सारथि, भोजनाध्यक्ष राजवैद्य आदि प्रमुख अधिकारी थे । अन्त पुर और कुमारो की शिक्षा आदि का प्रबन्ध करने के लिए अलग अधिकारी थे ।

राज्य की शासन-व्यवस्था ठीक रखने के लिए राज्य को अनेक भागो मे बाँटा जाता था । काकतीय राजा प्रतापरुद्र द्वितीय (१२९०—१३२२ ई०) ने अपने राज्य को ७७ भागो मे बाँटा । उसके समय मे प्रत्येक भाग का शासन एक 'नायक' चलाता था ।

नगरो और गाँवो का प्रबन्ध नगर और ग्राम-सभाओ के हाथ मे था । ये सभाएँ गाँवो और नगरो मे न्याय की भी व्यवस्था करती थी । एक गाँव, दस गाँव, बीस गाँव, सौ गाँव और हजार गाँवो पर क्रम से एक के ऊपर एक राजकर्मचारी अपने से नीचे के कर्मचारियो के कार्य का निरीक्षण करता था । चोल राजाओ के समय मे स्थानीय शासन-व्यवस्था बहुत विकसित हो गई । उसका वर्णन हम अध्याय २३ मे करेंगे ।

राजसेना मे हाथी और घुडसवार भी पर्याप्त सख्या मे रखे जाते थे । अरब सौदागरो से भी बहुत-से घोडे सेना के लिए लिये जाते । इस काल मे सेना मे रथो का प्रयोग नही होता था । किलो के बनवाने और मरम्मत का पूरा ध्यान रखा जाता था । चुने हुए कुछ योद्धा राजा के अगरक्षक होते थे । चालुक्यो के समय मे ये 'महवासी' कहलाते थे ।

कल्याणी के चालुक्य राजाओ के अधीन अनेक सामन्त थे । इनको बहुत-से अधिकार प्राप्त थे । कभी-कभी सामन्तो के नीचे उपसामन्त होते । इनको अपने प्रदेश मे भूमि देने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी ।

सामाजिक और आर्थिक दशा–इस विषय की हमारी जानकारी मुख्य रूप से राजाओ के बारे में है । सामन्त और धनी लोग भी राजा के जीवन से प्रभावित होकर प्राय उसी तरह रहने का प्रयत्न करते थे । चालुक्य राजा शानदार महलो मे रहते थे । उनके स्नान के लिए तीर्थों से जल लाया जाता था । उनकी पोशाक के लिए चीन और लका तक से कपडा मगाया जाता था । उनके भोजन मे अनेक प्रकार के मास के और निरामिष पदार्थ सम्मिलित थे । पेय पदार्थ भी अनेक प्रकार के बनाये जाते थे । हाथियो के द्वन्द्व-युद्ध और घोडो की दौड का उन्हे शौक था । कुश्तियाँ, भैंसो, मुर्गों और कबूतरो के युद्ध भी होते थे । राजा कवियों आदि को आश्रय देते थे ।

राजवशो की स्त्रियो को साहित्य और ललित कलाओ की अच्छी शिक्षा दी जाती थी । चालुक्य राजा जयसिह द्वितीय की बडी बहन अक्कादेवी तो एक प्रान्त का शासन स्वय करती और युद्धो का भी सचालन करती थी । कलचुरि राजा सोविदेव की रानी सोवलदेवी (११७४ ई०) राजसभा के

सदस्यों, विद्वानों और कलाकारों के सामने भी संगीत और नृत्य का प्रदर्शन करने मे नही हिचकती थी।

पुसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, उपनयन, विवाह आदि सभी सस्कार प्रचलित थे। इन अवसरो पर पर्याप्त आमोद-प्रमोद और प्रीतिभोज होते थे।

ब्राह्मण लोगो का कार्य अधिकतर अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, देवपूजन, प्रतिग्रह आदि था। अन्य जातियों के लोग भी अपना-अपना कर्तव्य करते थे। शूद्र लोग जमीन जोतते और दूसरी जातियों की सेवा करते थे। कुलोत्तुग प्रथम के समय मे एक गाँव के भट्टों ने यह निश्चय किया था कि रथकार कौन-कौन से व्यवसाय कर सकते हैं। ब्राह्मण, जैन और शैव अधिकतर निरामिषाहारी थे। अलग-अलग जातियो के लोग अलग-अलग बस्तियो मे रहते थे।

अधिकतर लोग गाँवो मे रहते और खेती करते थे। कुछ प्रदेशों मे खेती योग्य भूमि कुछ वर्षों बाद किसानो मे बाँटी जाती थी। गाँवो मे बहुत से भूमिहीन मजदूर भी रहते थे। गाँव के कारीगरो को भी उपज का कुछ भाग दिया जाता था। मजदूरो को भी मजदूरी अनाज मे दी जाती। सिंचाई के लिए नदियो मे बाँध बाँधे जाते और तालाब बनाए जाते। कातना, बुनना मुख्य व्यवसाय थे। विदेशों को बहुत-सा कपडा भेजा जाता था। अधिकतर व्यवसायो की श्रेणियाँ थी। व्यापार की वस्तुएँ बैलगाडियो और पशुओ पर लादकर ले जाई जाती थीं। लका और चीन से भी व्यापार होता। चीन के जहाज भारतीय वस्तुएँ खरीदने के लिए भारत आते थे। काकतीय राजा गणपति ने तेरहवीं शताब्दी के मध्य मे अभय-शासन द्वारा व्यापारियो की सुरक्षा का प्रबन्ध किया।

शिक्षा व साहित्य—सस्कृत की उच्च शिक्षा के लिए राजा और धनी लोग पुष्कल दान देते थे। गाँव के विद्यालयो मे प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध था। शिक्षको को गाँव की जमीन मे कुछ भाग दिया जाता। मन्दिरो मे रामायण, महाभारत और पुराणो की कथा होती, जिससे जनसाधारण को नैतिक शिक्षा प्राप्त हो सके। मन्दिरो मे भजन भी गाये जाते। बौद्ध मठों और जैन पल्लियों मे भी शिक्षा की व्यवस्था होती थी। विद्वान् ब्राह्मण दक्षिण भारत मे अनेक स्थानो पर वेद, दर्शन, अर्थ-शास्त्र और राजनीति पढाते थे। ब्राह्मणो के अन्य पाठ्य-विषय शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द शास्त्र और ज्योतिष थे। अनेक स्थानो पर पुराण, धर्मशास्त्र, तर्क, मीमासा, आयुर्वेद, धनुर्वेद, और गन्धर्ववेद की भी शिक्षा दी जाती थी। १०५८ ई० मे नागइ मे एक घटिका थी जिसमे २०० विद्यार्थी वेद का और ५० शास्त्रो का अध्ययन करते थे। तीन आचार्य वेद पढ़ाते थे और तीन शास्त्र। इस प्रकार के महाविद्यालय अन्य स्थानो पर भी थे। यादव राजा सिंघण (१२१०—४७ ई०) के राज्यकाल मे प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य के पोते चागदेव ने ज्योतिष-शास्त्र के अध्ययन के लिए एक महाविद्यालय की स्थापना की।

शिल्पो की शिक्षा के लिए अलग सस्थाएँ न थी। प्राय पिता अपने पुत्र को घर पर ही शिल्प-सम्बन्धी शिक्षा देता था।

काव्य—धनञ्जय ने 'राघव-पाण्डवीय' नामक पुस्तक लिखी, जिसमे राम की कथा का वर्णन है, किन्तु यदि उसे दाहिने हाथ से बाये हाथ की ओर पढा जाए तो इसमे पाण्डवो की कथा का वर्णन मिलता है। एक दूसरे धनञ्जय ने भी 'राघव-पाण्डवीय' नामक ग्रन्थ की रचना की। वह कदम्ब कुल के राजा कामदेव के राज्यकाल मे था। इसी प्रकार चालुक्य राजा सोमेश्वर तृतीय के राज्य-काल मे 'पार्वती-रुक्मिणीय' नामक ग्रन्थ लिखा गया, जिसमे शिव-पार्वती और कृष्ण-रुक्मिणी का साथ-साथ वर्णन है। 'शतार्थकाव्य' की रचना सोम-प्रभाचार्य ने की। इसमें एक श्लोक के सौ अर्थ

होते हैं। इस प्रकार इस काल के साहित्य मे भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष को विशेष महत्त्व दिया गया है।

गुजरात के राजा बीसलदेव के राज्यकाल मे अमरचन्द्र ने 'बाल-भारत' की रचना की। 'पद्मानन्द महाकाव्य' मे पद्म ने ऋषभ की जीवन-कथा लिखी। यादव राजा कृष्ण के राज्य-काल मे जल्हण ने 'सूक्ति-मुक्तावली' की रचना की।

कश्मीरी कवि बिल्हण ने 'विक्रमाक देवचरित' मे कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ की सफलताओ का वर्णन किया है। यह पूर्णतया ऐतिहासिक ग्रन्थ नही है। प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्र ने गुजरात के राजा कुमारपाल की जीवन-कथा लिखी। काकतीय राजा प्रताप-रुद्र द्वितीय के समय मे विद्यानाथ ने 'प्रताप-रुद्र-यशोभूषण' नामक ग्रन्थ की रचना की।

नाटक—बिल्हण ने 'कर्णसुन्दरी' नामक नाटिका की रचना की। इसमे गुजरात के राजा कर्णदेव के विवाह का वर्णन है।

तेरहवी शती मे भडोच के जयसिंह सूरि ने 'हम्मीर-मदमर्दन' नाम का नाटक लिखा, जिसमे वीर-धवल नामक राजा की मुसलमानो के ऊपर विजय का वर्णन है।

गद्य-साहित्य—ग्यारहवी शताब्दी मे सोड्ढल ने 'उदय-सुन्दरी-कथा' नामक पुस्तक लिखी। इसमे प्रतिष्ठान के राजा के एक नाग कन्या के साथ विवाह का वर्णन है।

उपयोगीसाहित्य—रामानुज के गुरु यादव प्रकाश ने 'वैजयन्ती' और ११५० ई० के लगभग धनञ्जय ने 'नाममाला' नामक कोश लिखे। हेमचन्द्र-लिखित चार कोशो का वर्णन हम पहले कर चुके हैं।

चालुक्य राजा जगदेक-मल्ल (११३८—५० ई०) ने 'सगीत चूडामणि' और 'शार्ङ्गदेव सगीत-रत्नाकर' की रचना की। काकतीय राजा गणपति के सेनापति जय ने १२५४ ई० मे 'नृत्त-रत्नावली' लिखी। यादव राजा सिघण के रहसि नियुक्त मन्त्री सोड्ढल ने 'सगीत रत्नाकर' नामक ग्रन्थ की रचना की और स्वय सिघण ने इसकी टीका लिखी। बोप-देव ने 'मुग्ध-बोध' नामक व्याकरण ग्रन्थ भी यादव-काल मे लिखा।

चालुक्य राजा सोमेश्वर तृतीय ने 'मानसोल्लास' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमे वैद्यक, जादू, पशु-चिकित्सा, खाद्य-पेय, वस्त्र, सस्कार, मूर्तिकला, मणियो की पहचान, किले बनाना, चित्रकारी, सगीत, मनोविनोद और राजनीति-सम्बन्धी अनेक विषयो का विवेचन है। इसे सब विद्याओ का विश्वकोश कहना अत्युक्ति न होगी।

धर्मशास्त्र और दर्शन—इस काल मे दक्षिण भारत मे अनेक टीकाएँ लिखी गई। आत्रेय वरद-राज ने रामायण पर बारहवी शताब्दी मे 'विवेकतिलक' नामक प्रसिद्ध टीका लिखी। विष्णुचित्त ने तेरहवी शताब्दी मे विष्णुपुराण पर तथा विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य-स्मृति पर 'मिताक्षरा' नामक टीका लिखी। वह चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ की राजसभा मे था। मिताक्षरा टीका का भारत के अनेक भागो मे आज तक हिन्दू-कानून मे उपयोग किया जाता है। कोकण के शिलाहार राजा अपरार्क ने बारहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे याज्ञवल्क्य-स्मृति पर दूसरी प्रसिद्ध टीका लिखी। हेमाद्रि यादव राजा रामचन्द्र का मन्त्री था। उसने इसी काल मे 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि' नामक धर्म-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा।

बारहवी शताब्दी मे रामानुज ने 'श्रीभाष्य' लिखा। इसी शताब्दी मे श्रीभाष्य पर 'श्रुत प्रकाशिका' नाम की टीका लिखी गई। रामानुज के सिद्धान्तो पर वेदान्त-देशिक

(१२६८—१३६९ ई०) ने भी कई ग्रन्थों की रचना की। द्वैत सिद्धान्त पर आनन्दतीर्थ (११९८—१२७५ ई०) के ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यादव राजा सिंघण के राज्य-काल में 'वेदान्तकल्पतरु' नामक महत्त्वपूर्ण धर्मग्रन्थ लिखा गया।

धार्मिक दशा

इस काल से पूर्व नाथमुनि ने वैष्णव धर्म का प्रचार किया। उनके पोते यामुनाचार्य ने नाथमुनि के सिद्धान्तो का ठीक प्रकार से प्रतिपादन किया। यामुनाचार्य के शिष्य प्रसिद्ध आचार्य **रामानुज** थे। उनका जन्म मद्रास के निकट श्रीपेरुम्बुडूर नामक नगर मे हुआ। उन्होंने आरम्भ मे काञ्ची के विद्वान् यादवप्रकाश से दर्शन-शास्त्र पढ़ा। किन्तु इससे इन्हे सन्तोष न हुआ। **रामानुज** ने शकराचार्य के मत का खण्डन किया और विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया। उनके मतानुसार प्रकृति और जीव ईश्वर द्वारा इसी तरह नियन्त्रित हैं जिस तरह शरीर जीव द्वारा वास्तविक सुख आत्मा के परमात्मा के साथ सानिध्य मे है, न कि उसमे विलीन हो जाने से। उन्होने मन्दिरो की पूजा पद्धति मे भी सुधार किया। बहुत-से मन्दिरो मे उन्होने अछूतो को भी जाने दिया। उन्होंने उत्तर भारत मे भी यात्रा करके वैष्णव धर्म का प्रचार किया। रामानुज ने होयसल राजा विष्णुवर्धन को, जो पहले जैन धर्मावलम्बी था, विष्णु का उपासक बनाया। दूसरे प्रमुख वैष्णव आचार्य **निम्बार्क** थे। ये बेलारी जिले मे निम्बापुर के रहने वाले थे। उन्होने अपना अधिकतर समय वृन्दावन में व्यतीत किया। निम्बार्क ने गोपियो के साथ रास-लीला करते हुए कृष्ण की पूजा पर जोर दिया। रामानुज और मध्व कृष्ण के इस रूप पर बल नही देते थे। **मध्व** या आनन्द तृतीय का जन्म १२०० ई० के लगभग दक्षिणी कनारा मे हुआ था। वे मानते थे कि विष्णु और लक्ष्मी के रूप मे ईश्वर विश्व का शासन करता है। वे भागवत मे वर्णित कृष्ण के पुजारी थे, किन्तु उनके सिद्धान्तो मे राधा के लिए कोई स्थान न था। रामानुज के अनुयायियो की दो शाखाएँ हो गईं। उत्तर की शाखा के नेता **वेदान्त देशिक** (जन्म १२६८ ई०) थे और दक्षिण शाखा के **पिल्लेलोकाचार्य** (जन्म १२१३ ई०)। **ज्ञानेश्वर** ने भगवद्गीता पर मराठी मे टीका लिखी। ज्ञानेश्वर की प्रवृत्ति अद्वैतवाद की ओर थी। विष्णु के भक्तो मे **नामदेव** (१२७०-१३५०) का नाम भी उल्लेखनीय है। उनका विश्वास था कि भक्तिमार्ग से आत्मा का परमात्मा मे विलय हो सकता है। उनके अनुयायी सब जातियो को बराबर समझते हैं और वे अपने धार्मिक समाजो मे किसी को अस्पृश्य नही मानते। नामदेव के अभग महाराष्ट्र मे बहुत लोकप्रिय हैं।

दक्षिण की शैव सम्प्रदाय की शाखाओं मे वीरशैव या लिंगायतो का विशेष महत्त्व है। इस सम्प्रदाय का प्रचार कल्याणी के कलचुरि राजा बिज्जल के मन्त्री बसव ने किया। बसव के सम्प्रदाय पर शंकर और रामानुज दोनो के सिद्धान्तो का प्रभाव पडा। उसने शिव-लिंग और शिव के वाहन नन्दी को बहुत महत्त्व दिया। बसव की शिक्षाओ मे भक्ति और आत्मसमर्पण का विशेष महत्त्व है। सत्य, नैतिकता और स्वच्छता पर भी इस सम्प्रदाय वाले विशेष बल देते है। इस सम्प्रदाय वाले ब्राह्मणधर्म के सिद्धान्तों को नही मानते। वे यज्ञोपवीत का प्रयोग न कर रेशम के कपड़े में बाँधकर लिंग धारण करते हैं। गायत्री मन्त्र के स्थान पर वे एक अन्य मन्त्र का पाठ करते हैं। विधवाओ को वे पुनर्विवाह करने की अनुमति देते हैं और जातियो मे कोई भेदभाव नही मानते। तमिल देश के ६३ नायनार और ७७० अन्य सन्तो की वे पूजा करते है।

कला

इस काल मे दक्षिण मे वास्तुकला की अनेक शैलियो का विकास हुआ।

उत्तरकालीन चालुक्यों की राजधानी कल्याणी थी। उन्होने अनेक मन्दिर बनवाये। इनमें बारीक रेशे वाले पत्थर का प्रयोग किया गया। इस कारण इसमे सुन्दर नक्काशी सम्भव हो सकी जो कि उत्तरकालीन चालुक्यो के मन्दिरों की विशेषता है। वृत्ताकार स्तम्भो की पालिश भी बहुत अच्छी है। इन मन्दिरो के विमानो मे पूर्वकालीन चालुक्यो के मन्दिरो के विमानो और होयसल राजाओ के मन्दिरों के विमानो की शैलियों का सुन्दर समन्वय है। धारवाड ज़िले मे लकुण्डि नामक स्थान का 'काशी विश्वेश्वर मन्दिर' बहुत सजा हुआ है। इससे छ मील की दूरी पर इत्तगि नामक स्थान पर महादेव का मन्दिर है। यह काशी विश्वेश्वर से काफी बडा है और इसकी सजावट काशी विश्वेश्वर के मन्दिर से बहुत बढ़िया है। कुरुवत्ति का मल्लिकार्जुन मन्दिर भी उत्तरकालीन चालुक्य शैली का अच्छा उदाहरण है। गदग के छोटे-से मन्दिर में कुछ बहुत ही अलकृत स्तम्भ हैं। इन पर जो बारीक काम किया गया है वह देखने योग्य है। इन मन्दिरो मे अनेक अभिलेख और स्मारक पत्थर मिले हैं।

गग राजा जैन धर्म के सरक्षक थे। मैसूर राज्य मे श्रवण-बेल-गोला जैनो का प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ चन्द्रगिरि की पहाडी पर गग राजा राजमल्ल चतुर्थ के मन्त्री चामुण्डराय ने ९८० ई० मे 'चामुण्डराय बसदि' का निर्माण कराया। जैन मन्दिरो के सामने बनाए गए स्तम्भ कला के सुन्दर नमूने हैं। इनके शीर्ष देखने योग्य हैं। सन्त गोम्मटेश्वर की विशालकाय मूर्ति का वर्णन हम अध्याय १८ मे कर चुके हैं।

दक्षिण भारत के उत्तर-पश्चिम मे एक भिन्न शैली का विकास हुआ। इस शैली का सुन्दर उदाहरण थाना ज़िले मे अम्बरनाथ का मन्दिर है। १०६० ई० के लगभग चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम के शिलाहार सामन्त मुम्मुनि ने इस मन्दिर को बनवाया। इसके शिखर मे कई मंजिलें हैं जो दक्षिण के मन्दिरो की विशेषता है इनकी सजावट देखने योग्य है। खानदेश के लसने के नौ मन्दिर भी इसी शैली मे बने है। इसमे एक मन्दिर की शैली दक्षिण भारत के मन्दिरों की शैली के अनुरूप है। इसमे पाँच देवताओं की मूर्तियाँ है। प्रमुख मूर्ति शिव की है। ग्वालियर राज्य मे उदयपुर का उदयेश्वर मन्दिर भी इसी शैली मे बना है।

यादव राजा के मन्त्री हेमाद्रि ने तेरहवी शती ई० मे अनेक मन्दिर बनवाये। इन मन्दिरो में बाहर अधिक सजावट नही है। इनकी अलग शैली है। ये बहुत ठोस और स्थूल है। इस शैली के मन्दिर बरार तक में मिलते है।

सहायक ग्रन्थ

राधाकुमुद मुकर्जी	**प्राचीन भारत**, अध्याय १३ अनुवादक—डॉ० बुद्ध प्रकाश
राजबली पाण्डेय	**प्राचीन भारत**, अध्याय १२
नगेन्द्रनाथ घोष	**भारत का प्राचीन इतिहास**, अध्याय १५ और १७

Nilakanta Sastri — *A History of South India*, Chapters 10, 13, 14, 15, 16.

R. C. Majumdar and A. D. Pusalkar — *The History and Culture of the Indian People. The Struggle for Empire*, Chapters 6, 7, 8, 15, 16, 20

अध्याय २३

सुदूर दक्षिण की राजनीतिक व सांस्कृतिक अवस्था

(१०००—१३०० ई०)

(Political and Cultural Condition of South India)

(C. 1000—1300 A. D.)

राजनीतिक अवस्था

चोल राजाओ को इन तीन सौ वर्षों मे दक्षिण भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए अनेक राजवशो से सघर्ष करना पडा। सबसे पहले उन्हे राष्ट्रकूटो से सघर्ष करना पडा जिनकी शक्ति इस समय क्षीण हो रही थी। उनका स्थान जब कल्याणी के परवर्ती चालुक्यो ने ले लिया तो चोल राजाओ को उनके साथ अनेक युद्ध करने पडे। उन्हे देवगिरि के यादव, वारगल के काकतीय और द्वारसमुद्र के होयसल राजाओ के विरुद्ध भी अनेक युद्ध करने पडे। सभी शक्तियो पर विजय प्राप्त करके ग्यारहवी और बारहवी शती मे वे सबसे प्रमुख शक्ति बन गए। अन्त मे होयसल और पाण्ड्य राजाओ के लगातार आक्रमणो ने उनकी शक्ति क्षीण कर दी। इस प्रकार तेरहवी शती ईसवी के अन्त मे चोलो के महान् साम्राज्य की समाप्ति हो गई।

चोल साम्राज्य—१०१४ ई०मे राजराज महान् की मृत्यु के पश्चात **राजेन्द्र चोल** सिंहासन पर बैठा। उसने चोल साम्राज्य का विस्तार किया और उसे उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। उसने अपने राज्यकाल के प्रारम्भ मे ही राजाधिराज प्रथम को युवराज बनाया। उसने लका-विजय के कार्य को पूरा किया। लका, पाण्ड्य और चेर चोल साम्राज्य के प्रान्त बना लिए। चालुक्यो को भी उसने कई युद्धो मे हराया, परन्तु उसे कोई स्थायी सफलता न मिली। उसने पश्चिमी और दक्षिणी बगाल के राजाओ को हराया। बगाल का पाल राजा महीपाल भी उससे हारा। परन्तु उत्तर भारत के किसी राज्य को उसने अपने राज्य का भाग नही बनाया। इस समय पूर्वी द्वीप समूह के साथ भारत का व्यापार अरबो के हाथ मे था। चोल राजा अरबो पर प्रत्यक्ष आक्रमण न कर सके। किन्तु उन्होने पहले लका पर आक्रमण करके उन्हे हानि पहुँचाई। राजेन्द्र के सामुद्रिक अभियान का भी यही उद्देश्य था। सम्भवत वह भारत के चीन के साथ व्यापार की रक्षा करना चाहता था। इस समय मलय प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा और कई अन्य द्वीपो पर शैलेन्द्र राजाओ का आधिपत्य था। राजेन्द्र ने श्री-विजय के शैलेन्द्र राजा सग्राम-विजयोत्तुग वर्मा के विरुद्ध अपनी समुद्री सेना भेजी और मलय प्रायद्वीप मे कदार को जीता। चीन के सम्राटो के पास भी उसने कई राजदूत भेजे। उसकी १०४४ ई० में मत्यु हो गई।

१०४४ ई० मे **राजाधिराज** राजा बना। उसने विद्रोही पाण्ड्य और केरल के राजाओ को दबाया। चालुक्य युवराज **विक्रमादित्य** को उसने धन्नद और पूण्डूर मे हराया और चालुक्यों की राजधानी कल्याणी को लूटा। उसने लका के विरुद्ध भी युद्ध किया था। अपनी विजयो के उपलक्ष्य

मे उसने अश्वमेध यज्ञ किया। १०५४ ई० मे चालुक्य राजा सोमेश्वर से लडता हुआ वह कोप्पम् के स्थान पर मारा गया।

राजाधिराज के भाई **राजेन्द्र द्वितीय** ने चालुक्यों को हराकर कोल्हापुर को लूटा और वहाँ एक विजय-स्तम्भ बनवाया। उसने लका पर भी आक्रमण किया और वहाँ के राजा विजय-बाहु को एक पहाडी किले मे शरण लेने के लिए बाध्य किया। उसके राज्यकाल मे १०५५ ई० मे चोल राज्य मे बडा दुर्भिक्ष पडा।

राजेन्द्र द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् १०६३ ई० मे **वीर राजेन्द्र** राजा बना। उसने चालुक्यो के विरुद्ध युद्ध किया और सोमेश्वर प्रथम की सेना को हराया और तुंगभद्रा के तट पर एक विजय-स्तम्भ बनवाया। सोमेश्वर प्रथम की मृत्यु के बाद उसके दूसरे पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ ने चोलो का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। उसने एक चोल राजकुमारी से विवाह भी कर लिया। चोल-चालुक्य सघर्ष से लाभ उठाकर लका का राजा चोलो के आधिपत्य से स्वतन्त्र हो गया। वीर-राजेन्द्र की मृत्यु के बाद चोल सिंहासन के लिए युद्ध हुआ। विक्रमादित्य षष्ठ ने **अधि-राजेन्द्र** को राजा बनाया। उसके राज्यकाल मे कोई विशेष घटना न हुई।

अधिराजेन्द्र की मृत्यु के बाद इस वश की समाप्ति हो गई। पूर्वी चालुक्य राजा राजेन्द्र द्वितीय १०७० ई० मे **कुलोत्तुग प्रथम** के नाम से राजा बना। उसकी माता चोल राजा राजेन्द्र प्रथम की पुत्री थी और उसका पिता चोल राजा राजराज प्रथम की पुत्री की सन्तान था। इस प्रकार कुलोत्तुग के शरीर मे ७५ प्रतिशत चोल वश का रक्त था। उसके राजा बनने पर पूर्वी चालुक्य और चोल साम्राज्य मिल गए। १०७५ ई० मे कुलोत्तुग ने विक्रमादित्य को हराकर गगवाडी पर अधिकार कर लिया। उसने पाण्ड्य और केरल के राजाओ को भी कई युद्धो मे हराया। उसने अपनी पुत्री का विवाह लका के एक राजकुमार से करके विजयबाहु से सन्धि कर ली। श्री-विजय के राजा ने कुलोत्तुग क पास अपने राजदूत भेजे। उसने कन्नौज, कम्बोज, चीन और ब्रह्मा मे पेगन के राजा के साथ भी कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए। कुलोत्तुग ने अपने राज्य मे सर्वत्र सुख और शान्ति स्थापित की। उसने १०८६ ई० मे भूमि की जाँच-पडताल भी कराई।

कुलोत्तुग के बाद उसका पुत्र **विक्रम चोल** (१११८—३५ ई०), जो अपने पिता के राज्य-काल मे वेगी मे उसका प्रतिनिधि था, राजा बना। उसने वेंगी पर अधिकार कर लिया। उसके पुत्र **कुलोत्तुग द्वितीय** ने ११५० ई० तक राज्य किया। उसके उत्तराधिकारी **राजराज द्वितीय** (११५०—७३ ई०) के राज्यकाल मे होयसल राजा विष्णुवर्धन की शक्ति बढने के कारण चोलो का पाण्ड्य देश पर आधिपत्य न रहा। राजराज के उत्तराधिकारी **राजाधिराज द्वितीय** (११७३—११७९) ई० ने पाण्ड्य राजाओ के सिंहासन पर अपने मित्र कुलशेखर को बिठाया। उसके राज्यकाल मे चोलो के अनेक सामन्त स्वतन्त्र हो गए। **कुलोत्तुंग तृतीय** ११७८ ई० में चोल सिंहासन पर बैठा। वह इस वंश का अन्तिम महान् राजा था। उसने चेर और होयसल राजाओ को हराया और ११९३ ई० मे करुवूर में विजयाभिषेक किया। पाण्ड्य राजा जटावर्मा कुलशेखर के विरुद्ध भी उसने युद्ध किया।

राजराज तृतीय (१२१६—१२४६ ई०) के राज्य काल मे पाण्ड्य राजा चोल राजाओ से अधिक शक्तिशाली हो गए। उन्होने चोलों की राजधानी तजोर को लूटा और राजराज चोल को पाण्ड्य राजा का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। पीछे चोल राजा ने होयसल राजा की

सहायता से अपनी शक्ति कुछ बढ़ा ली। इस प्रकार राजराज के समय में होयसल राजा की सहायता के कारण चोल राज्य की स्थिति कुछ समय के लिए ठीक हो गई, किन्तु वास्तविक शक्ति चोल राजाओं के हाथ में न रही। राजराज तृतीय के उत्तराधिकारी **राजेन्द्र तृतीय** (१२४६––१२७९ ई०) के समय में पाण्ड्य राजा सुन्दर पाण्ड्य ने चोलों को हराकर राजेन्द्र तृतीय पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। इस प्रकार चोलों के महान् साम्राज्य की समाप्ति हुई।

दक्षिणापथ में चालुक्य साम्राज्य बारहवीं शताब्दी ई० के अन्त में समाप्त हो गया और सुदूर दक्षिण में चोल साम्राज्य तेरहवीं शताब्दी ई० के आरम्भ में लड़खड़ाने लगा। चोल राज्य की समाप्ति होने के बाद दक्षिण भारत के प्रायद्वीप में चार बड़े राज्य स्थापित हुए। काकतीयों और यादवों ने दक्षिणापथ में अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये।[१] होयसल और पाण्ड्यों ने सुदूर दक्षिण में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की। अब हम इन दो राजवंशों का वर्णन करेंगे।

होयसल—होयसल वंश का प्रथम शासक **नृपकाम** (१०२२––४७ ई०) अपने बाहुबल से अपने प्रदेश का नेता बन गया। उसका उत्तराधिकारी **विनयादित्य** (१०४७––११०१ ई०) चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ को अपना अधिपति मानता था। उसने और उसके पुत्र **एरेयंग** ने चालुक्य राजा की ओर से चोल और कलिंग के राजाओं के विरुद्ध युद्ध किये। एरेयग की मृत्यु विनयादित्य के जीवन-काल में ही हो गई। विनयादित्य की मृत्यु के बाद उसका पोता **बल्लाल प्रथम** (११०१––११०६ ई०) राजा बना। उसने पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण किया और परमार राजा जगद्देव को, जब उसने होयसल राज्य पर आक्रमण किया, हराकर पीछे खदेड़ दिया। सम्भवतः बल्लाल भी चालुक्यों को अपना अधिपति मानता था।

बल्लाल की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई **विष्णुवर्धन** राजा बना। वह होयसल राज्य का वास्तविक संस्थापक था। उसने १११७ ई० के लगभग पाण्ड्यों को हराकर नोडम्बवाडी पर अधिकार कर लिया। ११३१ ई० में पाण्ड्य, चोल और केरल के राजाओं को हराकर ख्याति प्राप्त की। ऐसा प्रतीत होता है कि होयसल राजाओं को अपने साम्राज्य-विस्तार में गंग राजाओं से पर्याप्त सहायता मिली। ११३७ ई० के एक अभिलेख में विष्णुवर्धन को महामण्डलेश्वर और गंगवाडी, नोडम्बवाडी और बनवासी का स्वामी कहा गया है।

विष्णुवर्धन के बाद उसका पुत्र **नरसिंह** और पोता **वीर-बल्लाल** (११७३––१२२० ई०) राजा बने। वीरबल्लाल ने चालुक्य सेनापति ब्रह्म और देवगिरि के यादव राजा भिल्लम को हराया और पाण्ड्य सामन्त कामदेव को नोडम्बवाडी का राजा बनाया। ११९३ ई० में कदम्बों को पराजित करके उसने होयसल राज्य की स्वतन्त्रता घोषित की।

वीर-बल्लाल के पुत्र **नरसिंह द्वितीय** (१२२०––१२३८ ई०) के राज्यकाल में होयसल राज्य के कुछ भाग पर उनके शत्रुओं ने अधिकार कर लिया, किन्तु नरसिंह ने पाण्ड्य और कदम्ब राजाओं को हराया।

उसके बाद **सोमेश्वर** (१२३८––१२६७ ई०) और **नरसिंह तृतीय** (१२४५––१२९२) ने राज्य किया। इस वंश के राजा **वीर-बल्लाल तृतीय** (१२९२––१३४२ ई०) को काफूर ने १३१० ई० में हराकर बन्दी बना लिया था। तीन वर्ष बाद जब अलाउद्दीन ने उसे मुक्त किया तो उसने विजयनगर के हिन्दू साम्राज्य की स्थापना में योग दिया।

१ इन दोनों राजवंशों का वर्णन हम अध्याय २२ में कर चुके हैं।

पाण्ड्य साम्राज्य—बारहवीं शताब्दी मे जब कुलोत्तुंग प्रथम के बाद चोल शक्ति क्षीण हो गई तो पाण्ड्य राजाओं ने अपनी शक्ति बढा ली। जब पाण्ड्य सिंहासन के लिए दो दावेदारों कुलशेखर और वीरपाण्ड्य मे संघर्ष हुआ तो चोल राजाओ ने **कुलशेखर** की सहायता की और लका के राजा ने वीरपाण्ड्य की। अन्त मे ११८२ ई० मे वीरपाण्ड्य की हार हुई और कुलशेखर का पुत्र **विक्रम** मदुरा के सिंहासन पर बैठा। परन्तु वह चोल राजाओ को अपना अधिपति मानता था। **जयवर्मा कुलशेखर** (११९०—१२१६ ई०) चोलो से पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया और उसने चोलों के अभिषेक कराने के भवन मे अपिरत्तलि मे अपना वीराभिषेक कराया।

१२१६ ई० मे **मारवर्मा सुन्दर पाण्ड्य** राजा बना। स्वतन्त्र पाण्ड्य शासकों मे वह सबसे प्रसिद्ध है। उसने चोल राजा कुलोत्तुग तृतीय को हराया, और उसे कर देने के लिए विवश किया। चोलों से उसने उरैयूर और तजोर छीन लिए।

कुलोत्तुग ने होयसल वंश के राजाओं की सहायता से अपना राज्य वापिस ले लिया किन्तु सम्भवत उसे पाण्ड्य राजाओं का आधिपत्य स्वीकार करना पडा। चोल राजा राजराज तृतीय (१२१६—१२४६ ई०) ने पाण्ड्यो के विरुद्ध फिर युद्ध किया और उसकी पराजय हुई किन्तु होयसल राजाओ ने फिर उसकी रक्षा की। मारवर्मा सुन्दर पाण्ड्य के बाद १२२८ ई० मे **मारवर्मा सुन्दर पाण्ड्य द्वितीय** राजा बना। उसने होयसल राजाओं से अपने राज्य की रक्षा की।

१२५१ ई० मे **जटावर्मा सुन्दर पाण्ड्य** राजा बना। वह बडा वीर और महत्त्वाकांक्षी था। उसके समय मे पाण्ड्य शक्ति का चरम उत्कर्ष हुआ। उसने युद्ध मे द्वारसमुद्र के होयसलों, वारगल के काकतीयो और सेन्दमण्डलम् के पल्लव सामन्तो को हराया। इस प्रकार उसने समस्त सुदूर दक्षिण पर राज्य किया। चोल राजा राजेन्द्र उसे कर देता था। लका के राजा ने भी उससे हारकर उसे बहुत-से मोती दिए। काञ्ची पर अधिकार करके उसने अपना वीराभिषेक कराया। १२६३ ई० मे उसके सेनापति जटावीर पाण्ड्य ने लका पर फिर आक्रमण किया। मलय प्रदेश के राजा चन्द्रभानु ने भी जो लका के एक भाग पर शासन करता था, उसका आधिपत्य स्वीकार किया। इस प्रकार समस्त लका और केरल उसके राज्य मे शामिल हो गए।

उसके बाद **मारवर्मा कुलशेखर** राजा बना। उसने त्रावनकोर और लका के विरुद्ध अपनी सेनाएँ भेजी। लका से वह बुद्ध का दाँत भारत लाया। उसके बाद सिंहासन के लिए झगडा हुआ। इस अवसर से लाभ उठाने के लिए मलिक काफूर ने पाण्ड्य साम्राज्य पर आक्रमण किया जिससे यह साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया और मदुरा पर मुसलमानो का अधिकार हो गया।

कुलशेखर के राज्यकाल में वेनिस के निवासी मार्कोपोलो ने दक्षिण भारत की यात्रा की। उसने पाण्ड्य राज्य की समृद्धि का वर्णन किया है।

केरल—राजराज चोल (९८५—१०१४ ई०) ने केरल के जहाजी बेडे को कण्डलूर मे हराकर केरल राज्य पर अधिकार कर लिया था। परन्तु बारहवीं शताब्दी में **वीर-केरल** ने इस राज्य की शक्ति को फिर बढाया। उसका उत्तराधिकारी **वीर-रविवर्मा** पाण्ड्य राजा को अपना अधिपति मानता था। कुलोत्तुग तृतीय ने पाण्ड्यो के साथ केरल के राजा को भी हराया। १२९९ ई० मे **रविवर्मा कुलशेखर** राजा बना। १३१० ई० मे जब मलिक काफ़ूर ने मदुरा पर आक्रमण किया तब चेर राजा रविवर्मा कुलशेखर ने अवसर पाकर चोल और पाण्ड्य राजाओ को पराजित करके उनके राज्यो के कुछ भागो को अपने राज्य मे मिला लिया। किन्तु थोड़े ही दिनों बाद काकतीय राजा रुद्र द्वितीय और उसके उत्तराधिकारी मार्तण्ड वर्मा ने केरल के राजा

से चोल प्रदेश छीन लिए। १३१७ ई० के बाद उसके पास केवल दक्षिण केरल अर्थात् त्रावनकोर रह गया। रविवर्मा के बाद इस वश का कोई प्रसिद्ध राजा नही हुआ।

लंका—पल्लवो के समय मे द्रविड प्रदेशो का लका से बराबर राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध रहा। हम ऊपर कह आए है कि राजराज चोल ने लका के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया। उसने अनुराधपुर को नष्ट किया और पोलोन्नरुव को चोल राज्य की राजधानी बनाया। राजेन्द्र प्रथम ने पूर्ण रूप मे लका पर अधिकार कर लिया। लका के राजा महिन्द पचम को वह बन्दी बनाकर ले आया और बारह वर्ष बाद चोलो के बन्दीगृह मे ही उसकी मृत्यु हुई। महिन्द पचम के पुत्र **कस्सप** ने चोलो को हराकर दक्षिणी लका पर अधिकार कर लिया। उसने १०२९ ई० तक राज्य किया। १०७० ई० के लगभग लका के राजा **विजयबाहु प्रथम** ने अपने देश को चोलो के आधिपत्य से मुक्त किया। मदुरा के पाण्ड्य राजाओ ने लका पर कई बार आक्रमण किया। तेरहवी शती ई० के अन्त और चौहदवी के आरम्भ मे लगभग बीस वर्षों तक पाण्ड्य राजाओ का लका पर आधिपत्य रहा। लका के राजा **पराक्रमबाहु तृतीय** को पाण्ड्य राजा मारवर्मा कुलशेखर का आधिपत्य स्वीकार करना पडा। चौदहवी शती ई० मे लका के राज्य की अवनति होने लगी। जब सुदूर दक्षिण मे मुसलमानो का प्रभाव बढ गया तो भारत और लका के राजनीतिक सम्बन्ध समाप्त हो गए। पहले वहाँ अरबो का प्रभाव बढा और पीछे पुर्तगालियो ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

सुदूर दक्षिण के राज्यो का शासन-प्रबन्ध

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारत मे केन्द्रित शासन पद्धति का सफल होना कठिन था। केवल चोल शासक ही अपने सामन्तो पर नियन्त्रण रखने मे सफल हुए। चोल राजाओ ने राजा के दैवी सिद्धान्तो को प्रोत्साहन दिया। उन्होने मृत सम्राटो की पूजा प्रारम्भ की और मन्दिरो का निर्माण कराकर भी उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न किया। चोल राजाओ के राजगुरु सामारिक और धर्म सम्बन्धी सभी विषयो मे उनको परामर्श देते थे। राजा को परामर्श देने के लिए मुख्य अधिकारियो की एक परिषद् भी थी।

चोल राजाओ की शासन-व्यवस्था का वर्णन हम अध्याय २० मे कर चुके है। इस काल के चोल राजाओ ने उसी व्यवस्था को चालू रखा। कुलोत्तुग ने भूमि की नाप कराई और उपज के अनुसार कर लगाया। उसने अपनी शासन-व्यवस्था मे आर्थिक और स्थानीय शासन-प्रबन्ध की ओर विशेष ध्यान दिया। उसने कन्नौज, श्रीविजय, कम्बुज और चीन से कूटनीतिक सम्बन्ध रखे।

चोल शासन-व्यवस्था मे समाज के ऊँचे वर्गो की सुविधा का अधिक ध्यान था, परन्तु धनी लोग देवी-देवताओ और निर्धनो पर पर्याप्त धन व्यय करते थे जिससे जनसाधारण का जीवन बहुत दूभर नही होता था। धनी लोग मन्दिर या मठ बनाते थे जिनमे शिक्षा का प्रबन्ध होता और रोगियो की चिकित्सा की जाती थी। सिचाई के लिए धनी लोग बाँध और तालाब बनवाते थे। इससे जनसाधारण को बहुत-सी सुविधाएँ प्राप्त हो जाती थी। राजेन्द्र चोल (१०१४—३५ ई०) ने अपनी राजधानी के निकट एक बहुत बडा जलाशय बनवाया।

मार्कोपोलो ने लिखा है कि पाण्ड्य राजा सबके साथ न्याय करता है। वह विदेशी व्यापारियो के साथ बडा अच्छा व्यवहार करता है, इसलिए वे बडी प्रसन्नता से वहाँ आते है। राजा के अग-रक्षक अपना जीवन देकर भी राजा की रक्षा करते थे। इस समय पाण्ड्य राज्य मे दो राजा

मिलकर राज्य करते थे, परन्तु विदेशी यात्री इस प्रणाली को नहीं जानते थे, अतः उन्होंने लिखा है कि इस राज्य मे दो स्वतन्त्र राजा थे।

चोल और पाण्ड्य राजा बड़ी थल और जल-सेना रखते थे। उनकी आय का लगभग ५० प्रतिशत सेना पर खर्च होता था। आय का एक बड़ा भाग मन्दिरो, ब्राह्मणो और छात्रवृत्तियो पर व्यय होता था। लगभग २५ प्रतिशत आय दुर्भिक्ष आदि आपत्तियो के लिए रखी जाती थी।

सामाजिक व आर्थिक दशा राजा व दरबारी बड़ी शान के साथ रहते थे। दरबारो मे सगीत और नृत्य मे कुशल वेश्याओ का विशेष स्थान था। राजकुमारियो को साहित्य और कला की अच्छी शिक्षा दी जाती थी। होयसल राजा बल्लाल प्रथम की रानियाँ सगीत और नृत्य मे बहुत प्रवीण थी। उच्च घरानो की स्त्रियाँ कभी-कभी सती भी हो जाती।

शहरो और गाँवो मे जातियाँ अपने-अपने मुहल्लो मे रहती। इस काल मे दक्षिण भारत के समाज मे ब्राह्मणो का प्रमुख स्थान था। उनसे कर नही लिया जाता था। उनमे अनेक भूमिपति थे। ये ब्राह्मण भी अपना अतिरिक्त धन व्यापार मे लगाते थे। उनमे से कुछ दक्षिण-पूर्वी देशो मे जाकर बस गए।

समाज मे दूसरा वर्ग अब्राह्मणो का था। इसमे क्षत्रियो और वैश्यो का उल्लेख बहुत कम मिलता है। शूद्रो मे दो वर्ग थे। एक वे जो अस्पृश्य न थे और दूसरे वे जिनका स्पर्श बुरा समझा जाता था। अछूत जातियाँ शहर के बाहर रहती थी। कुलोत्तुग प्रथम के राज्यकाल के अन्तिम दिनो मे एक गाँव के भट्टो ने शास्त्रो का अध्ययन करके यह निश्चय किया कि रथकार मकान, गाडी और रथ, गोपुर, मूर्तियाँ और यज्ञो के लिए पात्र आदि बना सकेगे। एक चोल राजा ने सतराशो को उत्सवों के समय शख और ढोल बजाने का विशेषाधिकार दिया। दक्षिण भारत के लोग वस्त्र बहुत कम पहनते थे। अधिकतर व्यक्ति जमीन पर बैठकर भोजन करते तथा शराब से परहेज करते थे। सब लोग दिन मे दो बार स्नान करते थे। पान खाने का बहुत रिवाज था।

कुछ भूमि की स्वामिनी ग्राम की सभा होती और कुछ भूमि के स्वामी किसान होते थे। पहले प्रकार का भूमि कर ग्रामसभा खजाने मे जमा करती थी। दूसरे प्रकार के किसान राजा के अधिकारियो को भूमि-कर देते थे।

बजर भूमि को कृषि योग्य बनाकर और जगलो को साफ करके उत्पादन बढाने का प्रयत्न किया जाता था। इस काल मे चोल राजाओ ने सिंचाई के लिए झीले बनवाई, जैसे कि राजेन्द्र प्रथम ने १६ मील लम्बा बाँध बनवाकर अपने नगर के पास एक बड़ी झील बनवाई जिससे उपज की वृद्धि हुई।

ग्यारहवी व बारहवी शती ईसवी मे जब व्यापार की उन्नति हुई तो नगरो का विकास हुआ। नगरो के लिए गाँवो मे गाँव की जरूरत से अधिक अन्न के उत्पादन की आवश्यकता हुई। इससे धन की भी आवश्यकता हुई। चोल व्यापारियो की समृद्धि का मुख्य आधार सामुद्रिक व्यापार था। पूर्वी समुद्र तट पर महाबलिपुरम्, कावेरीपत्तनम्, शलियूर और कोरकय और पश्चिमी तट पर किलोन से पूर्व के और पश्चिम के अनेक देशो से व्यापार होता था। पश्चिम मे व्यापार ईरान और अरब से होता था। फारस की खाडी मे सिरफ को भारत से बहुत सी वस्तुएँ भेजी जाती थी। इस काल में चीन के साथ व्यापार मे भी आशातीत वृद्धि हुई। क्योकि मध्य-एशिया पर मगोलो ने अधिकार कर लिया था इसलिए पश्चिमी एशिया और यूरोप को अधिकतर वस्तुएँ समुद्र द्वारा ही भेजी जाती थी। दक्षिण भारत से सूती कपड़ो, मसालो, औषधियो, मणियो,

हाथीदाँत, सींग, आबनूस और कपूर का निर्यात चीन को होता था। ये वस्तुएँ और सुगन्धित लकड़ियाँ जैसे चन्दन, इत्र और मसाले भी पश्चिमी देशों को भेजे जाते थे।

इटली का प्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो तेरहवीं शताब्दी में दक्षिण में आया था। उसने लिखा है कि पाण्ड्य राजा के पास अपार धन है, वह अनेक मणियों से जटित आभूषण पहनता है। उसके राज्यकाल में पश्चिमी देशों से अनेक जहाज, घोड़े आदि लेकर दक्षिण भारत के बन्दरगाहों पर पहुँचते थे। घोड़ों पर बहुत धन व्यय किया जाता। पाण्ड्य राज्य मणियों और मोतियों के व्यापार के लिए भी प्रसिद्ध था। भारत से चीन को सूती कपड़े, मसाले, औषधियाँ, मणियाँ, हाथीदाँत और सुगन्धित वस्तुएँ भेजी जाती। बारहवीं शताब्दी में चीन के राजाओं ने इस व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिया, क्योंकि इसके कारण चीन का बहुत-सा धन भारत आता था। परन्तु तेरहवीं शताब्दी तक यह व्यापार कुछ-न-कुछ चलता रहा।

विदेशी व्यापार की वृद्धि के कारण उत्पादन की वृद्धि हुई और आन्तरिक व्यापार को भी प्रोत्साहन मिला। व्यापार का नियन्त्रण श्रेणियों के हाथ में था। इनको दक्षिण में 'मणिग्रामम्' और 'वलञ्जियर' कहते थे। इन संस्थाओं के द्वारा व्यापारी अपने हितों की रक्षा करते थे। शहर की श्रेणियाँ 'नगरम्' कहलाती थीं। ये जहाँ जिस वस्तु का उत्पादन होता था वहाँ से खरीदकर सब स्थानों में उनकी बिक्री का प्रबन्ध करती थीं। कुछ व्यापारियों की श्रेणियाँ इतनी सम्पन्न थीं कि वे मन्दिर को दान में देने के लिए पूरा गाँव खरीद लेती थीं। 'नानादेशी' श्रेणी का व्यापार दक्षिण भारत से सुमात्रा तक फैला हुआ था। सम्भवतः जब व्यापारियों के हितों को हानि होती थी तो राजा उनको सहायता दे देते थे जैसे कि चोल राजाओं ने श्री विजय पर आक्रमण किया।

चोल शासन-काल के उत्तरार्ध में सिक्कों का बहुत प्रयोग किया जाता था किन्तु गाँवों में अब भी वस्तु-विनिमय होता था। धान के बदले में सभी वस्तुएँ मिल जाती थीं।

दक्षिण भारत में मन्दिरों का सामाजिक और आर्थिक जीवन में विशेष महत्त्व था। इनका निर्माण या तो राजा कराते थे या श्रेणियाँ। गाँवों में मन्दिर में ही सभी सार्वजनिक कार्य होते थे। इन मन्दिरों की आय बहुत होती थी। उदाहरण के लिए गाँवों की भूमि-कर की आय के अतिरिक्त तंजौर के मन्दिर में लगभग २५० सेर सोना, १२५ सेर मणियाँ और ३०० सेर चाँदी आती थी। मन्दिर में ४०० देव-दासियाँ, २१२ सेवक, ५७ संगीतज्ञ और कथावाचक रहते थे। इनके अतिरिक्त सैकड़ों पुरोहित मन्दिर से कुछ दूरी पर रहते थे। मन्दिर के प्रबन्धक मन्दिर के धन को व्यापार में लगा देते थे जिससे मन्दिर की आय कभी कम न हो।

शिक्षा व साहित्य

चोल राजा राजेन्द्र प्रथम ने दक्षिण अर्काट में एण्णायिरम् नामक स्थान पर पुष्कल दान देकर एक महाविद्यालय स्थापित किया, जिसमें ४० विद्यार्थी व्याकरण, १० बौधायन के सूत्र और २२० वेद का अध्ययन करते थे। १० विद्यार्थी वेदान्त, २५ व्याकरण और ३५ मीमांसा पढ़ते थे। इसमें १४ आचार्य थे। वीर-राजेन्द्र के समय में एक पाठशाला तिरुमुक्कूदल नामक स्थान में थी। उसमें विद्यार्थियों के रहने, भोजन और चिकित्सा का पूर्ण प्रबन्ध था। दक्षिण भारत में आयुर्वेद की शिक्षा का भी पूर्ण प्रबन्ध था। मन्दिरों में भी शिक्षा और चिकित्सा का प्रबन्ध था।

वैदिक साहित्य—कुलोत्तुंग द्वितीय (११३३—११५० ई०) विद्वानों का आश्रयदाता था। होयसल राजा रामनाथ के राज्यकाल (१२५४—९५ ई०) में भरतस्वामी ने सामवेद पर टीका लिखी। तेरहवीं शताब्दी के मध्य में एक विद्वान् ने ऐतरेय-ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक और कात्यायन

की सर्वानुक्रमणी पर टीकाएँ लिखीं। उसके छ शिष्य थे। इन्हीं अज्ञात विद्वानों ने उच्चारण के ग्रन्थ प्रातिशाख्य और कल्पसूत्रों तथा आश्वलायन-श्रौत-सूत्र पर टीका लिखी। इसी काल में हरदत्त ने आपस्तम्ब और आश्वालायन के गृह्यसूत्रों और गौतम और आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों पर अपनी प्रसिद्ध टीकाएँ लिखीं।

संस्कृत काव्य—होयसल राज्य के राजकवि विद्याचक्रवर्ती कहलाते थे। उनमें से एक राजकवि ने 'गद्यकर्णामृत' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें होयसल राजा नरसिंह द्वितीय और पाण्ड्य राजाओं के युद्ध का वर्णन है। बल्लाल तृतीय (१२९१—१३४२ ई०) के राज्यकाल में एक विद्वान् ने 'रुक्मिणीकल्याण' नामक ग्रन्थ लिखा और 'अलकार-सर्वस्व' और 'काव्य-प्रकाश' पर टीकाएँ लिखीं। शारदातनय ने 'भावप्रकाश' और 'शारदीय' नामक ग्रन्थ लिखे। 'भावप्रकाश' में साहित्य की आलोचना की गई है और 'शारदीय' एक संगीत का ग्रन्थ है। वेंकटनाथ या वेदान्त देशिक ने 'यादवाभ्युदय' नामक ग्रन्थ लिखा। उसने 'हस-सन्देश', 'पादुका-सहस्र', 'सकल-पशूर्योदय' आदि ग्रन्थ भी लिखे। 'हस-सन्देश' कालिदास के मेघदूत की शैली में लिखा गया है। 'पादुका-सहस्र' एक भक्तिकाव्य है और 'सकल-पशूर्योदय' में विशिष्टाद्वैत की शिक्षा का प्रतिपादन किया गया है।

दार्शनिक साहित्य—बारहवीं शताब्दी के मध्य में वरदराज ने 'तार्किक-रक्षा' नामक ग्रन्थ लिखा। अपरार्क ने 'न्यायसार' पर टीका लिखी। मल्लिनाथ ने 'तर्क-भाषा' पर टीका लिखी। चित्सुख ने शंकर-लिखित ब्रह्मसूत्र के भाष्य पर एक टीका लिखी। हरदत्ताचार्य ने 'श्रुति-सूक्ति माला' में शैव-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वेदान्त देशिक (१२६८—१३६९ ई०) ने रामानुज सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अपने अनेक ग्रन्थों में प्रतिपादन किया।

तमिल साहित्य—चोल राजाओं के समय में तमिल साहित्य की भी बहुत उन्नति हुई। दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक जैन मुनि तिरुत्तक्कदेवर ने 'जीवक-चिन्तामणि' में एक राजकुमार जीवक की कथा लिखी। इसकी कविता बहुत अच्छी है। तोलामोलि ने अपने ग्रन्थ 'शूलामणि' में एक जैन पौराणिक कथा का वर्णन किया है। कल्लाडनार ने शिव की चौसठ क्रीडाओं का वर्णन किया है। जयगोण्डार-रचित 'कलिंगत्तुप्परणि' में कुलोत्तुंग प्रथम के कलिंग युद्ध का वर्णन किया है। ओट्टक्कूतन ने 'पिल्लैत्तमिल' में बालकों पर सुन्दर कविता की है। पुगलेन्दि ने 'नल वेण्बा' में नलदमयन्ती की कथा का वर्णन किया है। अव्वै नाम की महिला ने कुलोत्तुंग चोल के समय में कई ग्रन्थ लिखे। उसकी कविता में व्यंग, मानवता, हास्य आदि भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति है। इसी कारण वह इतनी लोकप्रिय है। तमिल का इस काल का सबसे प्रसिद्ध कवि कम्बन था, जिसने 'रामावतारम्' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। वह कुलोत्तुंग तृतीय के राज्यकाल में था। कम्बन ने अपना राम-काव्य वाल्मीकि रामायण के आधार पर लिखा है। कम्बन की रामायण तमिल साहित्य का एक महान् ग्रन्थ माना जाता है।

आण्डार नम्बि ने अपने ग्रन्थों में शैव-भक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। कुलोत्तुंग द्वितीय के राज्यकाल में शेक्किलार ने 'पेरिय-पुराण' नामक ग्रन्थ लिखा। इस पुस्तक में शैव सन्तों की जीवन-कथाओं का वर्णन है। तिरुवरङ्गत्तु अमुदनार ने रामानुज की प्रशंसा में 'रामानुजनूर्रण्डादि' नामक कविता रची। इस काल में तमिल भाषा के व्याकरण ग्रन्थ भी लिखे गए। कुलोत्तुंग तृतीय के समय तमिल छन्दशास्त्र पर भी कई ग्रन्थ लिखे गए।

इस काल में शैव-सिद्धान्त पर भी तमिल में कई ग्रन्थ लिखे गए। ११४८ ई० में तिरुवियलूर उय्यवन्ददेवार ने 'तिरुवुण्डियार' में और तिरुक्कडवूर उय्यवन्ददेवार ने ११७८ ई० में 'तिरुक्कलि

रुप्पदियार' में शैव सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। मेटकण्डार ने 'शिव-ज्ञान-बोदम्' लिखा। अरुणन्दि ने 'शिव-ज्ञान-सुत्तियार' मे शैव सिद्धान्तों का वर्णन किया। उमापतिशिवाचार्य का नाम भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

कन्नड साहित्य—कन्नड भाषा का सर्वप्रसिद्ध लेखक पम्प है। उसने ९४१ ई० में 'आदि-पुराण' लिखा जिसमे पहले तीर्थंकर का जीवन-चरित्र है। पोन्न ने 'शान्ति-पुराण' में सोलहवें तीर्थंकर की जीवन-कथा और 'जिनाक्षरमाले' नामक एक अन्य ग्रन्थ लिखा। चालुक्य तैल द्वितीय के राज्य-काल मे रन्न ने ९९३ ई० मे दूसरे तीर्थंकर पर 'अजित-पुराण' लिखा। उसके 'साहसभीमविजय' मे भीम के द्वारा दुर्योधन के वध का वर्णन है। चावुण्डराय ने 'चावुण्डराय-पुराण' लिखा जिसमे तिरसठ जैन विद्वानो के जीवन-चरित्र हैं। इस प्रकार दसवी शताब्दी मे जैन सिद्धान्तो से प्रेरणा पाकर अनेक विद्वानो ने कन्नड भाषा मे अनेक सुन्दर ग्रन्थो की रचना की।

११०५ ई० मे नागचन्द्र ने 'मल्लिनाथ-पुराण' मे उन्नीसवे तीर्थंकर की और 'रामचन्द्र-चरित्र-पुराण' मे सोलहवे तीर्थंकर की जीवन-कथाएँ लिखी। ११४५ ई० मे कर्णपार्य ने बाईसवे तीर्थंकर पर 'नेमिनाथ-पुराण' लिखा। ये जैन पुराण अधिकतर गद्य-पद्य मिश्रित कन्नड भाषा मे हैं।

वीर-बल्लाल द्वितीय के समय मे नेमिचन्द्र ने 'लीलावती' नाम का ग्रन्थ लिखा। शिशुमायण ने १२३२ ई० के लगभग 'अर्जुन-चरित' और 'त्रिपुरदहन' नामक गीति-काव्य लिखे। १२३५ ई० के लगभग आण्डय्य ने 'मदन-विजय' लिखा। इस प्रकार होयसल राजाओ के समय में जैन विद्वानो ने कन्नड भाषा मे अनेक ग्रन्थ लिखे।

लिंगायतो ने भी कन्नड साहित्य की समृद्धि मे बहुत योग दिया। इस सम्प्रदाय का संस्थापक बसव माना जाता है। उसका जन्म ११२५ ई० के लगभग बीजापुर जिले मे हुआ था। उसने लगभग ७०० वचन लिखे। ये वचन भक्ति से ओतप्रोत हैं और बहुत लोकप्रिय है। ये गद्य मे हैं, किन्तु उनमें एक अद्भुत संगीत है। बसव के अतिरिक्त दो सौ अन्य लेखको ने भी वचनो मे अपनी शिक्षाएँ लिखीं। नरसिंह प्रथम के राज्यकाल मे हरिहर ने 'गिरिजाकल्याण' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमे शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है। राघवाक ने 'हरिश्चन्द्र-काव्य' और 'सोमनाथ-चरित' नामक ग्रन्थ लिखे। 'हरिश्चन्द्र-काव्य' मे हरिश्चन्द्र की कथा बडी ही आकर्षक शैली मे वर्णन की गई है। राघवाक ने षट्पदी छन्द का प्रयोग कर इसे लोकप्रिय बनाया।

तेलगु साहित्य—ग्यारहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे नन्नय ने महाभारत के दो पर्वों का तेलगु भाषा मे स्वच्छन्द अनुवाद किया। वीर-शैव सम्प्रदाय के विद्वानो ने भी इस भाषा के साहित्य के विकास मे योग दिया। मल्लिकार्जुन पण्डित ने 'शिव-तत्त्वसार' और उसके शिष्य नन्नेचोड ने 'कुमार-सभव' नामक ग्रन्थ लिखे। तेलगु का सबसे प्रसिद्ध कवि टिक्कन (१२२०—१३०० ई०) था। उसने महाभारत का अनुवाद आरम्भ किया। इसी समय केतन ने तेलगु भाषा मे दण्डी के 'दशकुमार चरित' का अनुवाद किया। इस काल मे गणित, धर्मशास्त्र और व्याकरण आदि पर भी तेलगु मे कई ग्रन्थ लिखे गए।

धार्मिक अवस्था

वैदिक धर्म—इस काल मे भी सुदूर दक्षिण के कुछ राजाओ ने वैदिक यज्ञ किये, किन्तु शैव और वैष्णव धर्म की विशेष उन्नति हुई। राजाधिराज (१०४४—५२ ई०) ने अपनी विजयो के उपलक्ष्य में अश्वमेध यज्ञ किया।

जैन मत—होयसल राजा जैन-धर्मावलम्बी थे। पीछे से वे वैष्णव हो गए, किन्तु जैन धर्म का संरक्षण करते रहे। चोल और पाण्ड्य राजा कट्टर शैव थे। अनुश्रुति के अनुसार उन्होने जैन-धर्मावलम्बियो पर अत्याचार किया। कहते हैं कि पाण्ड्य राजा सुन्दर ने ८००० जैनियो को सूली पर चढ़ा दिया था। उत्तर भारत मे गुजरात और राजस्थान में जैन धर्म की अवस्था अच्छी रही।

शैव मत—चोल राजाओ के सरक्षण मे शैव मत का सुदूर दक्षिण भारत मे बहुत प्रचार हुआ। उन्होने अनेक शैव मन्दिर और मठ बनवाये। तेरहवी शताब्दी मे मेयकण्ड-देव ने शैव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'शिव ज्ञान बोदम्' है। उसके अनुसार ईश्वर की भाँति प्रकृति और जीव भी शाश्वत है। ईश्वर सदा जीवो पर कृपा करके आत्माओं का उद्धार करता है। इस मत मे गुरु का विशेष महत्त्व है।

वैष्णव धर्म—चोल राजा वैष्णव धर्म के विरोधी थे। कुलोत्तुग द्वितीय ने चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर से विष्णु की मूर्ति हटवा दी थी। इसीलिए रामानुज को मैसूर मे आश्रय लेना पडा था। रामानुज ने होयसल राजा विष्णु-वर्धन को जैन मत छोडने और वैष्णव धर्म का अनुयायी बनने के लिए सहमत किया। मेलकोट मे उसने एक मठ की भी स्थापना की। रामानुज ने शकर के अद्वैत-वाद का खण्डन किया। उन्होने ब्रह्मसूत्र पर 'श्री-भाष्य' नामक टीका लिखी। रामानुज का सिद्धान्त था कि यद्यपि आत्मा और प्रकृति परमात्मा के भाग हैं, उनका अलग अस्तित्व है और वे शाश्वत है। इस सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। रामानुज के अनुसार ईश्वर की कृपा से कर्मफल नष्ट हो सकता हे। ईश्वर न्यायकारी और दयालु है। रामानुज के भक्ति के उपदेशो ने मुस्लिम आक्रमणो के कारण व्यथित हिन्दू जाति मे नये जीवन और आशा का सचार किया। मध्व ने तेरहवी शताब्दी मे शकराचार्य के अनुयायियो के सिद्धान्तो का खण्डन किया। उसने कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। पिल्लेलोकाचार्य ने दक्षिण मे वैष्णव धर्म का प्रचार किया।

इस काल की प्रमुख धार्मिक प्रवृत्तियाँ दो थी—जनसाधारण मे शिव और विष्णु की भक्ति का प्रचार और बौद्धो और जैनियो के सिद्धान्तो का खण्डन।

इस्लाम—किंवदन्ती के अनुसार ग्यारहवी शताब्दी मे त्रिचनापल्ली के निकट इस्लाम धर्म का प्रचार तुर्की के एक सैयद राजकुमार नथदवली ने किया। इब्नबतूता ने भी लिखा है कि होयसल राजा बल्लाल तृतीय की सेना मे २०,००० मुसलमान थे। यह कहना कठिन है कि इस्लाम का हिन्दू धर्म पर कोई विशेष प्रभाव पडा। हिन्दू धर्म मे एकेश्वरवाद, भक्ति सम्प्रदाय, सामाजिक समानता और गुरु की आवश्यकता को इस्लाम की देन कहना सन्देहास्पद है। ये सिद्धान्त पहले भी हिन्दू धर्म मे विद्यमान थे। हाँ समय की आवश्यकता को समझकर धर्म-प्रचारको ने उन पर बल दिया।

ईसाई धर्म—आठवी शताब्दी मे मलाबार तट पर बहुत-से भारतीय ईसाई हो गए थे। बगदाद, निनवेह और जेरुशलम से भी बहुत-से ईसाई यहाँ आकर बस गए थे। १२९३ ई० मे मार्कोपोलो भारत आया था। उसने लिखा है कि सैण्ट टॉमस पर्वत के निकट बहुत-से ईसाई रहते थे। उसके वर्णन से प्रकट होता है कि तेरहवी शती तक ईसाई धर्म का विशेष प्रचार दक्षिण भारत मे न था।

कला

चोल राजा कला-प्रेमी थे। उन्होंने पल्लव शैली को अपनाया। प्रारम्भिक चोल मन्दिर पत्थर के बहुत सादा भवन हैं। इस प्रकार के बहुत-से मन्दिर पुदुकोट्टाइ मे विद्यमान हैं। नार्तामलय मे 'विजयालय चोलेश्वर' इस प्रकार के मन्दिरो का सुन्दर उदाहरण है। कुम्भकोणम् मे नागेश्वर

के मन्दिर मे गर्भगृह के बाहर मनुष्यों और स्त्रियों की मूर्तियां खुदी है। ये बड़ी सुन्दर बनी है। परान्तक प्रथम के राज्यकाल मे श्रीनिवास नल्लूर मे 'कोरगनाथ का मन्दिर' बनाया गया। परान्तक द्वितीय के समय में कोडुम्बलूर मे 'मूवकोविल' बनाया गया। ये दोनों चोल शैली के अच्छे उदाहरण हैं। राजराज प्रथम के राज्यकाल मे प्रारम्भ मे तिनेवली जिले के ब्रह्मदेशम् नामक स्थान पर तिरुवालीश्वरम् का मन्दिर बनाया गया। इसका विस्तार मूर्तिकला और पच्चीकारी का काम बहुत ही सुन्दर है। राजेन्द्र चोल (१०१४ से १०४४ ई०) ने एक नई राजधानी बसाई। उसने इसका नाम गगइ-कोण्ड-चोलपुरम् रखा। इसमे सिंचाई की पूरी व्यवस्था मन्दिर और महल थे। चोल कला का पूर्ण विकास हम तंजोर के 'राजराजेश्वर मन्दिर' और गगइ-कोण्ड-चोलपुरम् के 'गगइकोण्ड-चोल चोलेश्वर' मन्दिर मे पाते हैं। तंजोर का मन्दिर १००९ ई० मे राजराज प्रथम ने बनवाया। यह मन्दिर ४५७ मीटर लम्बे और २२८.७ मीटर चौड़े प्राकार के अन्दर स्थित है। पूर्व की ओर इसका गोपुरम् (बड़ा द्वार) है। इसके विमान की ऊँचाई, जो २५ मीटर वर्ग एक चबूतरे पर स्थित है, लगभग ६०८ मीटर है। इसमे १३ मंजिले है जो नीचे से ऊपर की ओर छोटी होती चली गई हैं। इनकी तक्षण कला बहुत ही सुन्दर है। इसके ऊपर एक बहुत भारी अर्ध-गोलाकार भव्य गुम्बद है। गगइ-कोण्ड-चोलपुरम् का मन्दिर, जिसे राजेन्द्र प्रथम ने बनाया, तंजोर के मन्दिर के अनुरूप है। इसमे कला का सौंदर्य अधिक विकसित रूप मे पाया जाता है। दोनो मन्दिरो की सजावट बहुत ही सुन्दर है। राजराज द्वितीय के समय मे दाराशुरम् मे 'ऐरावतेश्वर' और कुलोत्तुग तृतीय के समय मे त्रिभुवन मे 'कम्फरेश्वर' का मन्दिर भी चोल शैली मे बने हैं। विक्रम चोल (१११८—११३३ ई०) ने चिदम्बरम् मे 'नटराज' मन्दिर को फिर नये सिरे से बनवाया और श्रीरंगम् मे रंगनाथ' मन्दिर की मरम्मत कराई।

चोल राजाओ के राज्यकाल मे काँसे की भी अनेक मूर्तियाँ बनाई गई। इनमे नटराज की बड़ी मूर्ति सबसे सुन्दर बनी है। शिव, ब्रह्मा, सप्तमातृका, लक्ष्मी और भूदेवी के साथ विष्णु, अनुचरो सहित राम-सीता और शैव सन्तो की भी सुन्दर मूर्तियाँ बनाई गई हैं। शैव सन्तो मे सबसे लोकप्रिय ज्ञानसम्बन्दर है। कालियनाग के सिर पर नाचते हुए बालकृष्ण की मूर्ति भी बहुत सुन्दर बनी है।

होयसल राजाओ ने अपने मन्दिरो मे बढ़िया काले पत्थर का प्रयोग किया। इसमे बारीक तक्षण कला सम्भव हो गई। इनके मन्दिरो की एक विशेषता यह थी कि दो, तीन या चार एक-से मन्दिर एक साथ एक ही स्थान मे बनाए जाते थे। मन्दिर का मुख्य भवन नक्षत्राकार होता और ये मन्दिर चबूतरो पर बनवाये जाते थे। इनमे बाहर की दीवारो पर बहुत-सी पक्तियो मे तक्षण कला की जाती थी। इनके विमान पिरामिड के आकार के किन्तु कम ऊँचे हैं। विमान की दीवारो के नीचे के भाग मे देवकोष्ठ होते थे जिनमे मूर्तियाँ रखी होती। इन मन्दिरो के खम्भे और उनके शीर्ष भी बहुत सुन्दर बने हैं। इन मन्दिरों की तक्षण कला हाथी दाँत के कारीगरो की तक्षण कला से मिलती है. होयसल कला के श्रेष्ट उदाहरण सोमनाथपुर का 'केशव मन्दिर', बेलूर का 'केशव मन्दिर' और हेलेबिड का 'होयसलेश्वर' मन्दिर हैं। बेलूर का मन्दिर १११७ ई० मे होयसल राजा बिट्टिग ने बनवाया। होयसलेश्वर मन्दिर लगभग १.८ मीटर ऊँचे एक चबूतरे पर स्थित है। ऊँचाई मे अलंकरण की ११ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पक्ति की लम्बाई २१०.४ मीटर से अधिक है। सारे धरातल पर तक्षण किया गया है। इनमें हजारों हाथियो, चीतो, फूल-बेल, दिव्य पशु-पक्षियो के चित्र है। इसमे २१०.४ मीटर की एक पट्टी पर रामायण के दृश्य अंकित हैं। इस मन्दिर की

तक्षण कला मे मनुष्य के अथक परिश्रम की सुन्दर व आश्चर्यजनक अभिव्यक्ति है।

पिछले पाण्ड्य राजाओं ने मन्दिरो के सुन्दर गोपुरम् (द्वार) बनाने में अपने कलाप्रेमी होने का परिचय दिया। बारहवी शताब्दी के श्रीरंगम् के टापू पर जम्बुकेश्वर के मन्दिर के दूसरे अहाते का गोपुरम् और तेरहवीं शताब्दी का चिदम्बरम् का पूर्वी गोपुरम् इस शैली के विकास के सुन्दर उदाहरण हैं।

इस काल मे उत्तर भारत के समाज मे सकीर्णता आ गई थी परन्तु दक्षिण भारत मे यह प्रगति का युग था। दक्षिण भारत में ही स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं का विकास हुआ। वहीं शंकर और रामानुज ने नए दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया और वहीं तमिल देश और महाराष्ट्र के सन्त कवियो ने भक्ति मार्ग के द्वारा समाज सुधार की दिशा में नया मार्गदर्शन किया। दक्षिण भारत के लोगो ने ही अरब व्यापारियों का स्वागत किया और दक्षिण पूर्वी एशिया और चीन के साथ व्यापार मे प्रमुख भाग लिया।

सहायक ग्रन्थ

राजबली पाण्डेय	**प्राचीन भारत**, अध्याय २१
राधाकुमुद मुकर्जी	**प्राचीन भारत**, अध्याय १४ अनुवादक—बुद्ध प्रकाश
नगेन्द्र नाथ घोष	**भारत का प्राचीन इतिहास**, अध्याय १६
Nilakanta Sastri	*A History of South India,* Chapters 10, 12, 13, 14, 15, 16,
R. C. Majumdar and A. D. Pusalkar	*The History and Culture of the Indian People. The Struggle for Empire,* Chapters 9, 10, 11, 12, 13 15, 16, 20.

विदेशों में भारतीय संस्कृति

अध्याय २४

भारत के विदेशों के साथ सम्बन्ध

(India's Relations with the World)

भारत और पाकिस्तान के उपमहाद्वीप मे वे सब वस्तुएँ उपलब्ध हैं जो जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक हैं। इसलिए कुछ लोगो की ऐसी धारणा बन गई है कि भारतीय सदा से कूपमण्डूक रहे और उनके विदेशो के साथ कोई सम्बन्ध न थे। ऐसा समझना भारी भूल है। अत्यन्त प्राचीन काल से ईसा की दसवी शती तक भारतीयों के पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया, चीन, जापान और दक्षिण पूर्वी एशिया के अनेक देशो से व्यापारिक तथा सास्कृतिक सम्बन्ध बने रहे। जब भारत पर विदेशी सत्ता स्थापित हो गई तो भारतीयो को स्वतन्त्र रूप से विदेशों के साथ व्यापारिक तथा सास्कृतिक सम्बन्धो को बनाए रखने का अवसर न रहा किन्तु दक्षिण पूर्वी एशिया के देशो मे भारतीय सस्कृति बारहवी शती ईसवी तक विद्यमान रही।

पश्चिमी एशिया—पश्चिमी एशिया से भारत के व्यापारिक सम्बन्ध प्रागैतिहासिक काल में भी थे। इसके कई प्रमाण मिले हैं। एलम और मैसोपोटामिया मे पाँच ऐसी मुहरे मिली हैं जिन पर कुब्बदार बैल की आकृति और सिन्धु घाटी की लिपि खुदी है। इनका समय लगभग २७०० ई०पू० है। लोथल मे कुछ ऐसी मुहरे मिली हैं जो ईरान की खाडी मे बेहरीन के टापू की मुहरो के अनुरूप हैं। इनसे लोथल और ईरान के व्यापारिक सम्बन्धो का पता लगता है। एक यहूदी इतिवृत्त से ज्ञात होता है कि लगभग ८०० ई० पू० मे सोलोमन के राज्यकाल मे एक जहाज पूर्वी देशो से सोना, चाँदी, हाथीदाँत, वनमानुष, मोर, इमारती लकडी और बहुमूल्य मणियाँ लेकर लौटा था। इन वस्तुओं के नाम पूर्णतया भारतीय है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये सब वस्तुएँ वहाँ भारत से लाई जाती थी। एक जातक कथा मे कुछ व्यापारियो के भारत से बावेरु जाने का वर्णन है। बावेरु की पहचान बेबीलोन से की गई है। मैसोपोटामिया मे जो वनमानुषो और भारतीय हाथियो की आकृतियाँ और भारतीय सागौन के लट्ठे मिले है उनसे भी इस मत की पुष्टि होती है कि ईसा पूर्व नवी शती मे भी भारत और पश्चिमी एशिया के व्यापारिक सम्बन्ध थे।

भारत और ईरान के राजनीतिक सम्बन्ध ईसा पूर्व छठी शती मे प्रारम्भ हुए। उस समय ईरान के सम्राटो ने अपना साम्राज्य सिन्ध नदी की घाटी तक फैला लिया। ईरान के सम्राट् दारा ने स्काइलेक्स नाम के व्यक्ति को सिन्ध नदी की खोज करने के लिए भेजा था और कुछ भारतीय सिपाही ईरान के सम्राट् की ओर से यूनानियो के विरुद्ध लडे थे। हिरोडोटस और टीसियस ने भी पाँचवी और चौथी शती ई०पू० मे भारत का वर्णन किया है जिससे यह स्पष्ट है कि भारत और पश्चिमी एशिया के उस समय भी घनिष्ठ सम्बन्ध थे।

३२७ ई० पू० मे सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारत और पश्चिमी देशो के सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ हो गए। सैल्यूकस और उसके उत्तराधिकारी ने क्रमश: मेगस्थनीज और डाइमेकस को मौर्यों की राजसभा मे अपने राजदूत बनाकर भेजा। ऐसी किंवदन्ती है कि मौर्य राजा बिन्दुसार ने

सैल्यूकस के उत्तराधिकारी एण्टियोकस सोटर को लिखा था कि वह कुछ अंजीर, मीठी शराब और एक दार्शनिक अपने देश से भारत भेज दे। अशोक ने कुछ धर्म-प्रचारक सीरिया, मकदूनिया, एपिरस या कोरिन्थ, मिस्र और साइरीन के यूनानी शासकों के पास भेजे थे। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मौर्यकाल में भी भारत और पश्चिमी देशों के घनिष्ठ सम्बन्ध बने रहे। परन्तु जब पार्थिया में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हो गई तो भारत का यूनानी राज्यों के साथ सीधा सम्बन्ध न रहा। जब बैक्ट्रिया पर शक और यूह्-ची प्रजातियों के आक्रमणकारियों ने आक्रमण किए और सीरिया में अराजकता फैल गई तो अधिकतर व्यापारियों ने थल मार्ग से जाना छोड़ दिया। वे समुद्र के मार्ग से मिस्र पहुँचने लगे। ४५ ईसवी में हिपेलस ने मॉनसून हवाओं का पता लगा लिया। इस कारण अब भारतीय जहाजों को समुद्र तट के साथ-साथ चलने की आवश्यकता न रही। वे सीधे समुद्र में जाकर तीन महीने से भी कम समय में सिकन्दरिया पहुँचने लगे।

जब रोम साम्राज्य की स्थापना हुई तो पश्चिमी एशिया में सर्वत्र शान्ति और सुव्यवस्था हो गई। इससे भारतीय व्यापार को भी प्रोत्साहन मिला। इस समय रोम के बाजारों में भोग-विलास की भारतीय वस्तुओं की बहुत माँग थी। पश्चिमी और दक्षिणी भारत के बन्दरगाहों से बहुमूल्य मणियाँ, मोती, रेशमी कपड़े, मलमल, इत्र, धूप और मसाले सिकन्दरिया भेजे जाते थे। पाण्डेचेरी के निकट एरिकामेडु में रोम के सोने के अनेक सिक्के और इटली में बने तीन मृद्भाण्ड मिले हैं। प्लिनी के अनुसार लगभग ५,००,००० पौण्ड के सोने के सिक्के प्रतिवर्ष इन वस्तुओं का मूल्य चुकाने के लिए रोम से भारत भेजे जाते थे। इस समय पश्चिमी देशों और भारत के व्यापारी सिकन्दरिया में मिलते थे। दूसरी शती ईसवी में सिकन्दरिया में अनेक भारतीय व्यापारी रहते थे।

चीनी आख्यानों से हमें ज्ञात होता है कि चौथी शती ईसवी में भारत और ईरान के बीच बराबर व्यापार होता था। बाण ने लिखा है कि हर्ष की अश्वशाला में अनेक ईरानी घोड़े थे। तबरी नाम के ईरानी लेखक ने लिखा है कि एक भारतीय नरेश ने ईरान के सम्राट खुसरो द्वितीय के पास एक राजदूत भेजा था। अजन्ता के भित्ति-चित्रों से हमें यह पता लगता है कि यह नरेश चालुक्य वंश का पुलकेशी द्वितीय था जिसने हर्ष को पराजित किया था। ईरान के विद्वानों का मत है कि शतरंज का खेल भारत से ही उस देश में पहुँचा था। भारत में इसे चतुरंग कहते थे। इस प्रकार ऐतिहासिक काल में भी भारत और ईरान के घनिष्ठ सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध रहे।

अरब के साथ भी भारत के सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से है। अरब के साहित्य में भारतीय तलवारों का उल्लेख मिलता है। अदन में बना हुआ इत्र हिन्दुस्तान के बाजारों में बिकता था। अरब के साहित्य से हमें ज्ञात होता है कि अरब के प्रसिद्ध बन्दरगाह डाबा में प्रतिवर्ष एक मेला होता था जिसमें भारत के व्यापारी भी शामिल होते थे। ६३७ ई० पू० में कडेसिया के युद्ध में अरबों ने ईरानियों को हरा कर ईरान से हिन्दुकुश तक के समस्त प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् अरबों की तीव्र इच्छा भारत पर अधिकार करने की हुई। पहले उन्होंने समुद्र के मार्ग से तीन अभियान भारत पर आक्रमण करने के लिए भेजे किन्तु तीनों ही असफल हुए। सातवीं शती के उत्तरार्ध में उन्होंने ५० वर्षों तक भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित काबुल व जाबुल राज्यों पर अधिकार करने के लिए अनेक प्रयत्न किए किन्तु वे सभी असफल रहे।

सिन्ध नदी के मुहाने पर देबाल का बन्दरगाह है। अरबों ने समुद्र के द्वारा इस बन्दरगाह पर ६४३ और ६६० ई० में दो आक्रमण किए किन्तु दोनों ही बार सिन्धियों ने उन्हें पराजित किया।

७०८ ई० के लगभग एक जहाज लका से अरब जा रहा था। देबाल के निकट कुछ समुद्री डाकुओं ने इसे लूट लिया। इराक के राज्यपाल ने सिन्ध के राजा दाहर को लिखा कि वह समुद्री डाकुओं से उन स्त्रियो को मुक्त करा दे जिन्हे उन्होने उस जहाज मे से लेकर बन्दी बना लिया था। जब दाहर ने लिखा कि उसका समुद्री डाकुओं पर कोई नियन्त्रण नही है अत वह उन स्त्रियो को मुक्त कराने मे असमर्थ है तो इराक के राज्यपाल हज्जाज ने सिन्ध को जीतने का सकल्प किया। देबाल पर आक्रमण करने के लिए जो पहले दो अभियान अरबो ने भेजे वे पूर्णतया असफल रहे। तीसरा अभियान मुहम्मद इब्न कासिम के नेतृत्व मे भेजा गया। उसने देबाल के किले पर अधिकार करके तीन दिन तक देबाल के निवासियो का वध कराया। इसके पश्चात् उसने सिन्ध के अनेक नगरो पर बिना किसी कठिनाई के अधिकार कर लिया क्योकि सिन्ध की जनता मे अनेक बौद्ध और हिन्दू दाहर के विरुद्ध थे। जब मुहम्मद का दाहर के साथ युद्ध हुआ तो वह इतनी वीरता से लडा कि अरब सेना के पैर उखड गए किन्तु इसी समय एक तीर दाहर को लगा और उसके हाथी से गिरते ही भारतीय सेना मे भगदड मच गई। इस प्रकार सिन्ध पर अधिकार करके मुहम्मद ने मुल्तान पर भी अधिकार कर लिया।

सिन्ध की विजय से हमे यह नही समझ लेना चाहिए कि अरबो की सैन्य शक्ति भारतीयो की अपेक्षा अच्छी थी। सिन्ध को जीतने के पश्चात् अरब आगे न बढ सके। उत्तर मे कश्मीर और कन्नौज के राजाओ ने और दक्षिणापथ मे प्रतीहार और चालुक्यवशीय नरेशो ने उनको सिन्ध से आगे न बढने दिया। उनका राज्य मसूरा और मुल्तान के दो छोटे राज्यो तक ही सीमित रहा।

जब मुस्लिम साम्राज्य की राजधानी बगदाद बनाई गई तो भारतीय सस्कृति का वहा प्रसार हुआ। पचतन्त्र की कहानियाँ अरबी भाषा मे लिखी गईं। भारतीय आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक-सहिता का भी अरबी भाषा मे अनुवाद किया गया। आठवी शती ईसवी मे कुछ भारतीय विद्वान् अरब गए। वे गणित के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ब्रह्म स्फुट सिद्धान्त' और 'खण्ड खाद्यक' अपने साथ ले गए और उन्होने अरबी भाषा मे इनका अनुवाद किया। सम्भवत इन्ही विद्वानो के द्वारा भारतीय अक और दशमलव प्रणाली अरब पहुँची। अरबो ने बीजगणित भी भारतीयो से सीखा। आठवी शती ईसवी मे जब बगदाद मे हारुन-अल-रशीद खलीफा था तो उसने अनेक भारतीय विद्वानो को वहाँ बुलाया। इन विद्वानो ने अकगणित, बीजगणित, ज्योतिष और आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थो का सस्कृत से अरबी भाषा मे अनुवाद किया। आयुर्वेद के जिन ग्रन्थो का इन विद्वानो ने अनुवाद किया वे चरकसहिता, सुश्रुतसहिता, माधवनिदान और अष्टागहृदय थे।

बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन का भी इस्लाम पर बहुत प्रभाव पडा। अलजाहीज ने नवी शती ई० मे जिन जिन्दीक फकीरो का वर्णन किया है वे भारतीय साधु प्रतीत होते हैं। अबु अल-अलाअलमारी (९७३—१०५३ ई०) पर भारतीय सस्कृति का इतना प्रभाव पडा कि वह शाकाहारी हो गया और एकान्त का जीवन बिताने लगा। अरब के विद्वानो ने भूगोल और सगीत के बहुत से शब्द भारतीय भाषाओ से लिये। अनेक अरब व्यापारी भारत आए और उन्होने भारत का बडा उपयोगी वर्णन लि [illegible]।

मध्य एशिया भारत और पश्चिमी एशिया के सम्बन्ध अधिकतर व्यापार पर आधारित थे किन्तु मध्य एशिया के साथ वे विशेष रूप से सास्कृतिक थे। सिन्ध नदी से हिन्दुकुश तक का प्रदेश तो प्राचीनकाल मे सांस्कृतिक रूप में भारत का अभिन्न भाग था। ऋग्वेद मे स्वात, कुर्रम और गोमल नदियो का उल्लेख है। मौर्य राजा सारे अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान पर राज्य करते

थे। पीछे जिन राजाओ ने इस प्रदेश पर राज्य किया उन पर भी भारतीय संस्कृति की पूरी छाप थी। यह बात उनके सिक्को, अभिलेखो और कलाकृतियो से स्पष्ट है। मुसलमानो के इस प्रदेश पर अधिकार करने से पूर्व यहाँ बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म का पूर्णरूप से प्रचार था। हिन्दुकुश से परे भी जो यूनानी, शक, यूह्-ची और पह्लव राजा राज्य करते थे, वे भी भारतीय धर्मों के अनुयायी हो गए। उन्होने भारतीय भाषाओ और लिपियो का प्रयोग किया। बल्ख मे अनेक ब्राह्मण और श्रमण रहते थे।

उस समय चीनी तुर्किस्तान का व्यापारिक, सास्कृतिक और राजनीतिक बहुत महत्त्व था। एक ओर तो इस स्थान के द्वारा भारत का चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था और दूसरी ओर पश्चिमी एशिया से। बल्ख से चीन जाने वाले मार्ग पर सबसे प्रसिद्ध नगर काशगर था। कुछ नष्ट-भ्रष्ट नगर, सैकडो मन्दिर, मूर्तियाँ और भित्ति-चित्र उन दोनो मार्गों पर मिले हैं जो काशगर से चीन को जाते थे। इन अवशेषो से यह बात स्पष्ट हो गई है कि इस प्रदेश मे अनेक भारतीय रहते थे और उन्होने यहाँ अपनी कला, धर्म, भाषा, लिपि और शासन-व्यवस्था स्थापित की। खोतन, कूची और काराशहर भारतीय संस्कृति के मुख्य केन्द्र थे। यहाँ के शासको के नाम पूर्णतया भारतीय थे। खोतन मे एक राजा का नाम महाराज राजातिराज देव विजित सिंह, कूची के राजाओ के नाम सुवर्ण पुष्प, हरिपुष्प, हरदेव आदि और कारा शहर के राजाओ के नाम इन्द्रार्जुन और चन्द्रार्जुन आदि थे। खोतन की सब से प्रसिद्ध सस्था गोमती विहार थी। फाहियान ने लिखा है कि इस विहार मे ३००० बौद्ध भिक्षु रहते थे। गोमती विहार के अतिरिक्त खोतन मे १४ अन्य बडे विहार थे। प्रतिवर्ष वहाँ मूर्तियो का जुलूस निकाला जाता था। गोमती विहार के भिक्षु इस जुलूस का नेतृत्व करते थे। खोतन मे बुद्ध की अनेक विशालकाय मूर्तियाँ मिली है जो १८ से २१ मीटर तक ऊँची हैं। अनेक स्तूप विहार और मन्दिर तथा सस्कृत तथा प्राकृत मे लिखे बौद्ध ग्रन्थ यहाँ मिले हैं। इन ग्रन्थो की लिपि भी ब्राह्मी या खरोष्ठी है। इन ग्रन्थो से यह निर्विवाद सिद्ध है कि यहाँ बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार था।

कूची मे संस्कृत पढाने के लिए 'कातन्त्र व्याकरण' का उपयोग किया जाता था। धार्मिक ग्रन्थो के अतिरिक्त यहाँ ज्योतिष और आयुर्वेद के भी ग्रन्थ मिले है। चौथी शती ईसवी में यहाँ भी अनेक स्तूप और मन्दिर विद्यमान थे। राजकीय महलो मे भी बुद्ध की मूर्तियो की पूजा होती थी। भिक्षु-भिक्षुणियों के कई सघ थे जो अपना प्रबन्ध स्वय करते थे। भारतीय सगीत का भी कूची मे प्रचार था। किस प्रकार भारतीय सस्कृति मध्य एशिया मे फैली इस बात पर कुमारजीव की जीवन कथा से पर्याप्त प्रकाश पडता है। कुमारजीव का पिता कुमारायन भारत से कूची गया। उसके पाण्डित्य से प्रभावित होकर कूची के राजा ने उसे अपना राजगुरु नियुक्त किया। वहाँ कुछ दिन बाद कुमारायन का विवाह राजा की बहिन जीवा से हुआ। उनका पुत्र कुमारजीव था। वह अपनी माता के साथ भारत आया और वहाँ उसने बन्धुदत्त से आगमो का अध्ययन किया। भारत से लौटने पर कुमारजीव काशगर मे ठहरा और वहाँ उसने चारो वेदो, ब्राह्मण-ग्रन्थो, दर्शनशास्त्र और ज्योतिष का अध्ययन किया। जब वह कूची पहुँचा तो उसने वहाँ के लोगो को ३८३ ई० तक बौद्ध ग्रन्थ पढाये। उसी वर्ष चीनियो ने कूची पर आक्रमण किया और वे कुमारजीव को बन्दी बना कर चीन ले गये। कुमारजीव कान्सु मे कुसंग के शासक के पास १५ वर्ष रहा। ४०१ ई० में वह चीन के सम्राट् से मिला। ४०१ से ४१२ ई० तक कुमारजीव चीन की राजधानी मे रहा और वहाँ उसने अपना पूरा समय बौद्ध धर्म और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थो का संस्कृत से चीनी भाषा मे अनुवाद

करने में लगाया। ४१२ ई० में चीन में ही उसकी मृत्यु हुई।

चीन के निकट तुनहुआंग में बुद्ध की सहस्र गुफाएँ मिली हैं। इनमें अनेक चित्रित चित्र हैं जिनमे अनेक भारतीय कथाओं के दृश्य दिखलाए गए हैं। जैसे कि एक चित्र में राजा शिवि को एक चिड़िया को छुड़ाने के लिए अपने शरीर का मांस गिद्ध को देते हुए दिखाया गया है। निया और एण्डेयर मे कुछ मुहरें मिली हैं जिन पर कुबेर और त्रिमुख की आकृतियाँ बनी हैं। गणेश की एक चित्रित मूर्ति भी यहाँ मिली है। कुछ अन्य स्थानो पर विष्णु तथा शिव की मूर्तियाँ मिली हैं जिनसे स्पष्ट है कि यहाँ ब्राह्मण धर्म का भी पर्याप्त प्रचार था।

चीन—चीन के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध ईसा से पूर्व दूसरी शती में ही प्रारम्भ हो गए थे। २ ई० पू० में यूची शासकों ने कुछ बौद्ध ग्रन्थ चीन के सम्राट् को उपहार रूप मे दिए थे ६५ ई० में चीन के सम्राट् ने कुछ राजदूत भारत भेजे जो दो बौद्ध भिक्षुओं को भारत से अपने साथ चीन ले गए। धर्मरक्ष और काश्यप मातंग नाम के इन दोनो भिक्षुओ ने अनेक बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद चीनी भाषा में किया। दूसरी शती ईसवी से बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव चीन के विद्वानो और अभिजात-वर्ग पर पड़ा। तीसरी व चौथी शती ईसवी मे चीन मे अनेक बौद्ध विहारो का निर्माण हुआ और अनेक बौद्ध धर्म प्रचारक मध्य एशिया से चीन पहुँचे। इनमे सबसे प्रसिद्ध कुमारजीव था। हम ऊपर बतला चुके हैं कि उसके पिता कुमारायन भारतीय राजकुमार थे और माता 'जीवा' कूची की राजकुमारी थीं। उन्होने बौद्ध धर्म की शिक्षा कश्मीर मे प्राप्त की थी। जब ४०१ ई० मे चीनियों ने कूची पर आक्रमण किया तो वे कुमारजीव को बन्दी बना कर चीन ले गए। यहाँ कुमारजीव ने सौ से अधिक संस्कृत भाषा मे लिखे बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। उनके बाद कश्मीर के अन्य कई विद्वानो ने भी भारतीय साहित्य का चीन मे प्रचार करने मे योग दिया। चौथी शताब्दी के अन्त मे **संघभूति** ने 'विनयपिटक' का अनुवाद चीनी भाषा मे किया। **गौतमसंघ** ने 'अभिधम्मपिटक' का अनुवाद किया। पाँचवी शताब्दी मे पुण्यज्ञात, धर्मयशस्, यश, विमलाक्ष, बुद्धजीव ने भी भारतीय साहित्य का प्रचार चीन मे किया। ये सभी विद्वान् कश्मीर के निवासी थे। **धर्मक्षेम** मध्यदेश से चीन गया। गुणवर्मा ४३५ ई० के लगभग लका से कैंटन गया और **बोधिधर्म** ५२६ ई० के लगभग दक्षिण भारत से चीन गया। बगाल और कामरूप से **ज्ञानभद्र, जिनयशस्** और **यशोगुप्त** छठीं शताब्दी मे चीन गये। उज्जयिनी से **उपशून्य** और **परमार्थ** समुद्र के रास्ते ५४६ ई० मे चीन पहुँचे। परमार्थ वहाँ २३ वर्ष रहा और उसने ७० ग्रन्थों का अनुवाद किया। उत्तर-पश्चिमी भारत से **बुद्धभद्र, विमोक्षसेन** और **जीवगुप्त** चीन गये। लाट देश से **धर्म-गुप्त** चीन गया। उसकी ६१९ ई० मे चीन मे ही मृत्यु हुई।

नालन्दा विश्वविद्यालय से भी कई विद्वान् चीन गये। ६२७ ई० मे **प्रभाकरमित्र**, जो अभिधम्म का विद्वान् था, चीन की राजधानी पहुँचा। दक्षिण भारत का निवासी **बोधिरुचि** ६९३ ई० मे चीन पहुँचा। उसने कुछ अन्य विद्वानो की सहायता से ५३ भारतीय पुस्तकों का अनुवाद चीनी भाषा मे किया। **सुभाकरसिंह** ने रहस्यमय बौद्ध धर्म का चीन मे प्रचार किया। ७२० ई० मे **वज्रबोधि** चीन पहुँचा। आठवीं शताब्दी मे **अमोघवज्र** ने भी रहस्यमय बौद्ध धर्म का प्रचार किया। वह अपने साथ ५०० पुस्तकें ले गया जिनमे से ७७ का उसने अनुवाद किया। उन भारतीय विद्वानों में जिन्होने चीन आकर भारतीय साहित्य का प्रचार किया, सम्भवत. अन्तिम विद्वान्

धर्मदेव था जिसने अनेक भारतीय पुस्तको का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। उसकी १००१ ई० में चीन मे ही मृत्यु हो गई।

चीन से भी अनेक विद्वान् भारत आए। फाहियान चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मे विनयपिटक की प्रतियाँ लेने भारत आया था। हर्ष के राज्यकाल मे युवान च्वाग भारत आया था। उसने चीन मे बौद्ध धर्म के प्रचार मे सक्रिय भाग लिया। युवान च्वाग के बाद सातवी शती ईसवी मे ही इत्सिग भारत आया।

बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ चीन मे भारतीय कला का प्रचार हुआ। तुनहुआग मे बुद्ध की १८.३ मीटर से २१.३ मीटर तक ऊँची विशालकाय मूर्तियाँ मिली है। वहाँ के भित्ति-चित्रो पर भी भारतीय कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। तीन भारतीय कलाकार—शाक्यबुद्ध, बुद्ध-कीर्ति और कुमारबोधि भी चीन गये। चीनी कला मे गन्धार मथुरा और गुप्त शैली सभी के उदाहरण मिलते है। तुन हुआग मे ही गुफाओ मे बुद्ध की एक सहस्र मूर्तियाँ मिली है।

भारतीय सगीत का भी चीनी सगीत पर बहुत प्रभाव पडा। ५८१ ई० मे एक सगीत मण्डली भारत से चीन गई थी। भारतीय ज्योतिष, गणित और आयुर्वेद पद्धति भी चीन मे बहुत लोकप्रिय थी।

तिब्बत—सातवी शती ईसवी मे तिब्बत का शासक स्रोन्सनगम्पो बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। उसने अनेक बौद्ध विहारो और मन्दिरो का निर्माण कराया और बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद अपने देश की भाषा मे कराया। जब पालवश के राजा बगाल मे राज्य करते थे तब भारत और तिब्बत के सम्बन्ध बहुत घनिष्ट हो गए। तिब्बत की लिपि कश्मीरी लिपि से मिलती-जुलती है। भारत से सास्कृतिक सम्बन्ध स्थापित होने पर अनेक भारतीय विद्वान् तिब्बत गये। उन्होने उद्यान के विद्वान् पद्मसभव को तिब्बत बुलाया। उनके बाद मगध के **कमलशील** और नालन्दा विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री **ज्ञान अतीस दीपकर** तिब्बत गये। १०५३ ई० मे उनकी मृत्यु हो गई। इन विद्वानो ने सस्कृत के अनेक ग्रन्थो का तिब्बत की भाषा मे अनुवाद किया। तिब्बत के विद्वानो ने भी भारतीय विद्वानो के काम को आगे बढाया। उन्होने पाणिनिकृत व्याकरण, अमर-कोष, मेघदूत, काव्यादर्श, अष्टागहृदय आदि भारतीय ग्रन्थों को पढकर उनका अनुवाद तिब्बत की भाषा मे किया। सस्कृत के बहुत-से भारतीय ग्रन्थ, जो अब भारत मे प्राप्त नही हैं, हमे तिब्बत से प्राप्त हुए है।

मध्य एशिया से ही बौद्ध धर्म का प्रचार मगोलिया, कोरिया और जापान मे हुआ। सातवी शती मे कोरिया से पाँच भिक्षु भारत आए और ७३६ ई० मे बोधिसेन नाम का भिक्षु भारत से जापान गया। वह ७६० ई० तक वही रहा। इसी वर्ष चीन मेही उसकी मृत्यु हो गई।

दक्षिण-पूर्वीएशिया—प्राचीन काल मे हिन्दचीन के प्रायद्वीप व पूर्वी द्वीपसमूह को सुवर्ण भूमि कहते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मिलिन्दपञ्ह, जातक-कथाओ, बृहत्कथा और कथाकोष मे सुवर्ण भूमि का उल्लेख है। 'एरिथ्रियन सागर के पैरिप्लस' नामक पुस्तक मे भी लिखा है कि पहली शती ईसवी मे अनेक भारतीय व्यापारी दूर देशो को जाते थे। पुराणो मे पूर्वी द्वीपसमूह और उनके पास के द्वीपो को द्वीपान्तर कहा गया है। वामन-पुराण मे द्वीपान्तर मे इन्द्रद्वीप, कशेरु, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, कटाह, सिहल, गन्धर्व, वरुण और कुमार नामक नौ द्वीपो की गिनती की गई है। विद्वानो का मत है कि नागद्वीप से निकोबार द्वीप, वरुण से बोर्नियो और कटाह से मलय प्रायद्वीप के केदाह प्रान्त के उत्तरी भारत का अभिप्राय है। ये नौ प्रायद्वीप भारतवर्ष का ही एक भाग समझे जाते थे। वे यज्ञादि पुण्य कर्म करने से पवित्र किये देश माने जाते थे। 'कौमुदी-महोत्सव'

चम्पक नाटक में, जो सातवी शताब्दी मे लिखा गया, एक ऐसे राजकुमार का वर्णन है जो सुख की खोज में कटाह नगर गया। 'कथासरित्सागर' में भी लिखा है कि बहुत से व्यापारी मणियाँ आदि लेने के लिये ताम्रलिप्ति से कटाह जाते थे। इन व्यापारिक सम्बन्धो के फलस्वरूप भारत के इन देशों के साथ सास्कृतिक और राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गए। अनेक क्षत्रिय राजकुमारों ने यहाँ भारतीय उपनिवेशो की स्थापना की और धर्म-प्रचारकों ने भारतीय धर्मों का प्रचार किया।

ऐसी परम्परा है कि कम्बोडिया मे, जिसे पहले कम्बुज कहते थे पहली शती ई० मे कौण्डिन्य नामक भारतीय ने एक नए राज्य की स्थापना की। उसने ही यहाँ के निवासियो को वस्त्र पहनना सिखाया। उसके उत्तराधिकारियो के नाम पूर्णतया भारतीय थे और वे १४वीं शती ईसवी तक यहाँ राज्य करते रहे। इसी प्रकार दूसरी शती ईसवी मे अन्नम् मे 'चम्पा' नाम के राज्य का शासक श्रीमार था। उसके उत्तराधिकारी यहाँ छठी शती ईसवी तक राज्य करते रहे। इसी प्रकार बर्मा मे 'श्रीक्षेत्र' नाम का, थाइलैण्ड मे 'द्वारावती' और मलय प्रायद्वीप, अराकान, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो और बाली मे अनेक भारतीय उपनिवेशो की स्थापना की गई। ब्रह्मा के वे निवासी, जिन्होने भारतीय सस्कृति को अपना लिया था, मॉन कहलाते थे। सातवी शताब्दी मे मॉन लोगो का सबसे प्रसिद्ध राज्य 'श्रीक्षेत्र' था। इसका प्रभाव उत्तर मे स्याम और दक्षिण मे मैनम नदी के तट तक फैला हुआ था। मॉन लोग हीनयान बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।

मॉन लोगो के राज्य के उत्तर मे इरावती की घाटी मे बर्मा मे प्यू लोगो का राज्य था। इन्होने इस प्रदेश मे नवी शताब्दी तक राज्य किया। चीनी इतिहास से पता चलता है कि सातवी और आठवी शताब्दियों मे प्यू लोगो का राज्य एक शक्तिशाली राज्य था। इसकी सीमाएँ पूर्वी यूनान, कम्बुज और द्वारावती तक फैली हुई थीं। नवी शताब्दी मे इस राज्य मे उत्तरी और मध्य बर्मा का अधिकतर भाग सम्मिलित था। उत्तर से मॉन लोगो और दक्षिण से म्रम्म लोगो के आक्रमणो के कारण नवी शताब्दी के उत्तराध मे इस राज्य का पतन हो गया।

म्रम्म लोग सम्भवत तिब्बत के रहने वाले थे। वे नवी और दसवी शताब्दियो मे बडी सख्या मे बर्मा पहुँचे। वे भी भारतीय सस्कृति मे रग गये। उन्होने पगन को राजधानी बनाकर 'ताम्रद्वीप' नाम के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। १०४४ ई० मे **अनिरुद्ध** नामक व्यक्ति इस राज्य का राजा बना। उसने अपने राज्य मे थेरवाद (बौद्ध धर्म का प्राचीन रूप) का प्रचार किया। उसने मॉन लोगो को हराकर उनसे बौद्ध ग्रन्थ और पवित्र अवशेष प्राप्त किए। प्यू लोगो की राजधानी प्रोम नगर के निकट श्रीक्षेत्र थी, उसने श्रीक्षेत्र को नष्टभ्रष्ट कर डाला। अनिरुद्ध ने अनेक पगोडा (बौद्ध मन्दिर) और मठ बनवाये। उत्तर अराकान और शान रियासत के सरदारो को हराकर अपना राज्य-विस्तार किया। उसके राज्य मे तनासरिम को छोड़ कर प्राय समस्त बर्मा शामिल था। लका के राजा ने चोल राजाओ के विरुद्ध अनिरुद्ध से सहायता माँगी थी। १०७७ ई० मे अनिरुद्ध की मृत्यु के बाद उसका बडा पुत्र और उसके बाद उसका छोटा पुत्र **क्यनजित्थ** १०८४ ई० में राजा बने। क्यनजित्थ के राज्यकाल मे बर्मा का भारत से घनिष्ठ सम्पर्क रहा। उसने बहुत-से बौद्ध और वैष्णव विद्वानो को भारत से बुलाया और उनसे प्रेरणा पाकर उसने पगन मे प्रसिद्ध 'आनन्द मन्दिर' बनवाया। यह मन्दिर बर्मा म भारतीय वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। क्यनजित्थ ने अनेक पगोडो और बोध-गया के प्रसिद्ध मन्दिर की मरम्मत कराई। १११२ ई० मे क्यनजित्थ की मृत्यु के बाद उसका नाती **अलौंगसिथु** राजा बना। उसके ५५ वर्ष के राज्यकाल मे अनेक विद्रोह हुए जिन्हे उसने बडी कुशलता से दबाया। इस वश के राजा १२८७ ई० तक बर्मा

में राज्य करते रहे और उनके राज्यकाल में भारतीय संस्कृति का वहाँ खूब प्रसार हुआ। तेरहवीं शताब्दी के अन्त मे मगोलो के आक्रमण के कारण इस राज्य का अन्त हो गया।

म्म्म वश के राज्यकाल मे थेरवाद बौद्ध-धर्म का बर्मा मे बहुत प्रचार हुआ। भारतीय नगरों और प्रदेशो के नाम पर बर्मा में भी नाम रखे गए, जैसे श्रीक्षेत्र, हसवती, असिताञ्जन, अपरान्त, अवन्ति, वाराणसी, गन्धार, कम्बोज, मिथिला, पुष्कर, राजगृह, सकाश्य, उत्कल, वैशाली आदि।

बर्मा मे पालि भाषा का एक नया रूप हो गया। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो, विनय और दर्शन का भी, बर्मा में भारतीय बौद्ध धर्म के इन अगो से एक भिन्न रूप हो गया। यह कार्य बारहवी शताब्दी से अब तक बराबर चलता आ रहा है। १४४२ ई० के एक अभिलेख मे लिखा है कि वहाँ २९५ पालि ग्रन्थो और सस्कृत ग्रन्थो का सग्रह किया गया। बर्मा का धर्मशास्त्र मनु, नारद और याज्ञवल्क्य के धर्मशास्त्रो पर आधारित है।

बर्मा मे भारतीय कला का श्रेष्ठ उदाहरण 'आनन्द मन्दिर' है। इस मन्दिर के देखने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि इसके बनाने वाले भारतीय कारीगर थे। शिखर से धरातल तक सारी तक्षण कला पर भारतीय कला की अमिट छाप है। पगन के आसपास लगभग एक हजार मन्दिरो के खडहर है। वे सब आनन्द मन्दिर की शैली मे ही बने प्रतीत होते हैं।

थाइलैण्ड का सबसे प्रसिद्ध हिन्दू राज्य द्वारावती का था। वह राज्य कम्बोडिया से बगाल की खाडी तक फैला हुआ था। यहाँ बहुत-से बौद्ध अवशेष मिले हैं जो भारतीय तक्षण कला के सुन्दर उदाहरण है। तेरहवी शताब्दी में थाई लोगो ने इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया। उससे पूर्व इस प्रदेश मे भारतीय सस्कृति का खूब बोलबाला रहा।

हिन्दचीन मे यूनान प्रदेश को पहले गन्धार कहते थे। यहाँ थाई लोगो ने सातवी शताब्दी में अपना राज्य स्थापित किया और वे लगभग ६०० वर्ष तक वहाँ राज्य करते रहे। यहाँ के राज्यो और नगरो मे से बहुतो के नाम भारतीय थे—जैसे विदेह, मिथिला, कौशाम्बी आदि। गन्धार के हिन्दू राज्य को १२५३ ई० मे मगोलो ने जीत लिया।

थाई लोगो ने तेरहवी शताब्दी मे 'सुखोदय' नाम का एक छोटा राज्य स्याम मे स्थापित किया। यहाँ के राजा रामकाम्हेग ने अपनी राजधानी मे अनेक मन्दिर, मठ और बुद्ध की मूर्तियाँ बनवाईं। ये राजा चौदहवी शताब्दी के मध्य तक स्याम मे राज्य करते रहे। १३५० ई० के लगभग सुखोदय के स्थान पर अयोध्या का राज्य स्थापित हुआ। स्याम मे सुखोदय और अयोध्या दोनो ही बौद्ध धर्म के केन्द्र रहे। यहा पालि भाषा का प्रचार था और यहाँ की वास्तुकला और तक्षण-कला पर भारतीय कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

कम्बोडिया मे कम्बुज का राज्य कुछ समय के लिए शैलेन्द्र राजाओ के आधीन हो गया, किन्तु ८०२ ई० मे यहाँ का राजा जयवर्मा द्वितीय स्वतन्त्र हो गया। उसने भारत से हिरण्यदाम नामक एक तान्त्रिक ब्राह्मण को बुलाया। जयवर्मा ने अगकोर थाम को अपनी राजधानी बनाया। ८८९ ई० मे यशोवर्धन यहाँ का राजा बना। उसके सस्कृत अभिलेखो से ज्ञात होता है कि सस्कृत यहाँ की राजभाषा थी। उसने मन्दिरो, आश्रमो और मठो के लिए हिन्दू सस्थाओं के अनुरूप ही नियम बनाये। इस वश के अन्य राजा सस्कृत साहित्य के विद्वान् थे। उन्होने भारतीय दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, गणित और व्याकरण का अध्ययन किया। सूर्यवर्मा द्वितीय के समय मे दक्षिणी बर्मा और मलय प्रायद्वीप का उत्तरी भाग भी कम्बुज राज्य मे सम्मिलित थे। उसकी बडी सेना थी। उसने कोटिहोम, लक्षहोम आदि अनेक यज्ञ कराये। उसने अगकोरवाट नामक प्रसिद्ध विष्णु-मन्दिर

बनवाया। ११८१ ई० में जयवर्मा सप्तम राजा बना। उसने अगकोर थाम की नई राजधानी बनवाई। उसने बेयन के मन्दिर का भी निर्माण कराया। इस मन्दिर का दैनिक खर्च ३४०० गाँवो की आय से चलता था। इसमे ४३९ अध्यापक थे और ९७० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। जयवर्मा सप्तम के राज्य मे ७९८ मन्दिर और १०२ अस्पताल थे। उसके राज्य के बाद कम्बुज राज्य का पतन हो गया।

कम्बुज मे नगरो के नाम पूर्णतया भारतीय थे, जैसे ताम्रपुर, आढ्यपुर, ध्रुवपुर, ज्येष्ठपुर, विक्रमपुर आदि। उनमे विद्वानो के रहने के लिए विप्रशालाएँ, भोजन के लिए सत्र, और चिकित्सा के लिए 'आरोग्यशालाएं' थी। यात्रियो के ठहरने के लिए वह्नि-गृह थ।

कम्बुज मे बौद्ध धर्म की अपेक्षा हिन्दू धर्म का अधिक प्रचार था। ब्राह्मणो को वेद-वेदाग, सामवेद और बौद्ध ग्रन्थों का पूर्ण ज्ञान था। राजा भी धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते। व्याकरण, वैशेषिक, न्याय और अर्थशास्त्र भी पाठ्य विषय थे। अभिलेखो से ज्ञात होता है कि यहाँ के निवासियो को सस्कृत काव्य-शैली का पूर्ण ज्ञान था।

भारत के साथ कम्बुज का घनिष्ठ सम्पर्क रहा। भारतीयो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध होते। बहुत-से भारतीय कम्बुज मे जाकर बसे। कम्बुज के ब्राह्मण भी भारतीय विद्वानो से विद्या प्राप्त करने के लिए भारत आते। बहुत-से विद्वानो ने नगरो से दूर आश्रम बनाए। इनका व्यय राजाओ और धनी नागरिको की सहायता से चलता। यशोवर्मा ने ही १०० आश्रम स्थापित किए।

कम्बुज की कला का श्रेष्ठ उदाहरण अगकोरवाट है जिसे सूर्यवर्मा द्वितीय ने (१११३—११४५ ई०) मे बनाया। इस भवन के चारो ओर ३ २ किलोमीटर लम्बी और १९८ १ मीटर चौडी एक नहर है। इसमे अनेक वीथियाँ, मीनारे और पिरामिड हैं। कम्बुज की कला की शैली गुप्त शैली के अनुरूप है। यहाँ की तक्षण कला मे बहुत-से दृश्य भारतीय महाकाव्यो से लिये गए हैं।

हिन्दचीन के पूर्वी तट पर, जिसे अब अन्नम् कहते हैं, चम्पा का हिन्दू राज्य था। यहाँ ७५७ ई० से ८६० ई० तक पाण्डुरग वश ने और उनके बाद ९८५ ई० तक भृगु वश ने राज्य किया। जब यहाँ के राजाओ ने उत्तर की ओर अपना साम्राज्य बढाना चाहा तो उन्हे चीन के सम्राटो से लडना पडा। जब इस राज्य के उत्तर मे रहने वाले अन्नम् लोग चीन से स्वतन्त्र हो गए तो चम्पा के लोगो का उनसे सघर्ष चलता रहा। पश्चिम से कम्बुज के निवासी भी चम्पा पर आक्रमण करते रहते। कम्बुज के राजा जयवर्मा सप्तम ने चम्पा के राजा को ११९० ई० मे हराकर चम्पा पर अधिकार कर लिया। ३० वर्ष बाद चम्पा का राज्य फिर स्वतन्त्र हो गया। १२८२—८५ ई० मे मगोल सरदार कुबला खाँ के आक्रमणो से चम्पा की बहुत हानि हुई। पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त मे अन्नम् लोगो ने चम्पा पर अधिकार कर लिया।

चम्पा के समाज मे भारतीय समाज की भाँति ही चार जातियाँ थी, किन्तु ब्राह्मणो और क्षत्रियो की सख्या अधिक थी।

चम्पा की राजभाषा सस्कृत थी। यहाँ के राजा सस्कृत के विद्वान् थे। उनके अभिलेखो मे सस्कृत का ही प्रयोग किया गया। भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, व्याकरण के अध्ययन का ही प्रचलन था।

यहाँ शव मत का सबसे अधिक प्रचार था। भद्रवर्मा ने माइसन मे भद्रेश्वर-स्वामी अर्थात् शिव का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया जो राष्ट्रीय महत्त्व का मन्दिर बन गया। अनेक राजाओ ने इस मन्दिर को दान दिया। शक्ति, गणेश और कार्तिक के भी अनेक मन्दिर थे। शिव और पार्वती के

वाहन नन्दी, विष्णु, राम और कृष्ण की भी पूजा होती। अन्य हिन्दू देवता, जिनकी पूजा प्रचलित थी, ब्रह्मा, इन्द्र, यम, चन्द्र, सूर्य, कुबेर और सरस्वती थे। बौद्ध धर्म का मुख्य केन्द्र डॉनडुओंग था जहाँ एक बडे बौद्ध मन्दिर के खण्डहर मिले हैं।

यहाँ के मन्दिर बादामी के चालुक्य राजाओ के मन्दिरो के अनुरूप हैं।

मलय प्रायद्वीप मे पश्चिमी तट पर तक्कोल, जिसे अब तकुआ पा कहते हैं, भारतीय व्यापारियों का पहला पडाव था। वहाँ से ये व्यापारी स्याम, कम्बोडिया और अन्नम् जाते। पूर्वी तट पर नखोन श्री धम्मराट और चैया प्रसिद्ध उपनिवेश थे जहाँ के भग्नावशेषो से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये भारतीय संस्कृति के मुख्य केन्द्र थे। नखोन श्री धर्मराट मे एक बडा स्तूप और पचास मन्दिर मिले है। यह बौद्ध संस्कृति का केन्द्र था। चैया पहले ब्राह्मण संस्कृति और पीछे बौद्ध संस्कृति का केन्द्र बन गया।

पश्चिमी जावा मे पाचवी शताब्दी के एक राजा पूर्णवर्मा के संस्कृत के चार अभिलेख मिले है। इसके दो या तीन दशाब्दी बाद सञ्जय ने मध्य जावा मे एक शक्तिशाली राज्य की नीव डाली।

सुमात्रा मे सबसे प्रसिद्ध भारतीय उपनिवेश 'श्रीविजय' था। यहाँ के एक राजा जयश्रीनाश ने ६८६ ई० के लगभग जावा के विरुद्ध एक सेना भेजी। इत्सिग ने लिखा है कि सातवी शताब्दी मे श्रीविजय बौद्ध संस्कृति का मुख्य केन्द्र था। ७७५ ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि श्रीविजय ने मलय प्रायद्वीप और बका के टापू पर अधिकार कर लिया। आठवी शताब्दी मे काँची का निवासी और नालन्दा विश्वविद्यालय का प्राध्यापक धर्मपाल और दक्षिण भारत का विद्वान् वज्रबोधि श्रीविजय गये। इन विद्वानो ने वहाँ भारतीय संस्कृति का प्रचार किया।

आठवी शताब्दी मे शैलेन्द्र राजाओ ने अपने साम्राज्य की स्थापना की। उन्होने ७७५ ई० मे श्रीविजय पर और ७८२ ई० मे जावा पर अधिकार कर लिया। इन राजाओ ने इस प्रकार मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बाली और बोर्नियो आदि सब द्वीपो पर अधिकार करके अपनी शक्ति बढा ली। एक अरब व्यापारी इब्न खोर्दाज़बेह (८४४—४८ ई०) ने लिखा है कि इस राज्य की दैनिक आय २०० मन सोना थी।

शैलेन्द्र राजा महायान बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। इसीलिए उन्होने चण्डी कल्सन और बोरोबुदूर के सुन्दर मन्दिर बनवाये। ७७९ ई० मे तारा का सुन्दर मन्दिर बनाया गया। शैलेन्द्र राजा बालपुत्र देव ने जावा के विद्यार्थियों के ठहरने के लिए नालन्दा मे एक मठ बनवाया।

नवी शताब्दी मे शैलेन्द्र राजाओ को कम्बुज के राजा जयवर्मा द्वितीय (८०२—८६९ ई०) और जावा के राजा के विरुद्ध युद्ध करने पडे। ये दोनो राज्य स्वतन्त्र हो गए और शलेन्द्र राजाओ का राज्य श्रीविजय तक ही सीमित रह गया।

पहले शैलेन्द्र राजाओ और चोल राजाओ मे मित्रता थी। शैलेन्द्र राजाओ ने चोल राज्य मे नेगपटम् मे एक बौद्ध विहार बनवाया। परन्तु १०२५ ई० मे राजेन्द्र चोल ने शैलेन्द्र राज्य के कई भागो, जैसे कटाह, श्रीविजय आदि, पर आक्रमण करके अधिकार कर लिया। इसका मुख्य कारण यह था कि चोल राजा पूर्वी देशो के व्यापार पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करना चाहते थे। राजेन्द्र चोल की मृत्यु के बाद शैलेन्द्र राजाओं ने फिर अपनी शक्ति बढा ली, किन्तु चोल राजा वीरराजेन्द्र (१०६३ ई०) ने उन्हे अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया। १०९० ई० मे चोल और शैलेन्द्र राजाओ मे फिर मित्रता हो गई। इसके बाद चोल राजाओ ने

सुमात्रा और मलय प्रायद्वीप पर अपना आधिपत्य रखने का विचार छोड दिया। शैलेन्द्र साम्राज्य भी प्राय: इसी समय समाप्त हो गया।

विजय नामक राजा ने चीनियो की सहायता से अपने शत्रु कडिरि के राजा जयकरवग को हराकर अपने को जावा का प्रमुख शासक बना लिया। उसने मजपहित को अपनी राजधानी बनाया। १३२० ई० तक इस राज्य के राजा जयनगर ने जावा के अतिरिक्त मदुरा और बोर्नियो पर भी अधिकार कर लिया। १३८९ ई० तक इस राज्य की बहुत उन्नति हुई। अनेक विदेशी व्यापारी और विद्वान् यहाँ आते। परन्तु १३८९ ई० मे मजपहित के राजा राजसनगर की मृत्यु के बाद घरेलू युद्ध के कारण इस राज्य का पतन हो गया और अन्त मे मुसलमानों ने इस पर अधिकार कर लिया।

सुवर्ण द्वीप में भारतीय संस्कृति

इन देशो की राजनीतिक उथल-पुथल से हमारा अधिक सम्बन्ध नही है। अत: अब हम इन उपनिवेशो की सस्कृति का वर्णन करेगे। इमे हम चार भागो मे बाँट सकते हैं—समाज, धर्म, कला और साहित्य।

समाज—जावा, सुमात्रा और चम्पा के साहित्य व अभिलेखो से यह स्पष्ट है कि इन देशो मे भारत की भाँति ही चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। अनुलोम विवाह जिसमे वर का वर्ण वधू के वर्ण से एक वर्ण ऊँचा होता है, बाली मे कुछ दिन पूर्व तक प्रचलित था। इस प्रकार के विवाह होने पर सन्तान का वर्ण पिता का वर्ण होता था। बाली मे शूद्रो को अस्पृश्य नही समझा जाता था। वे खेती व शिल्पकारी का व्यवसाय करते थे। अपराधियो को दण्ड भी उनके वर्ण के अनुसार ही कम या ज्यादा दिया जाता था। ऐसी ही प्रथा प्राचीन भारत मे थी। उसी अपराध के लिए ब्राह्मणो को सबसे कम, क्षत्रियो को उससे अधिक और वैश्यो और शूद्रो को क्रम से कुछ अधिक दण्ड दिया जाता था।

चम्पा मे ब्राह्मणो का बहुत आदर था। परन्तु उनका राजा या सरकार पर कोई विशेष प्रभाव न था। बाली मे क्षत्रियो को ब्राह्मणो से श्रेष्ठ गिना जाता है। कुछ दिन पहले तक कम्बोडिया और स्याम के निवासी शिखा और यज्ञोपवीत धारण करते थे। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन देशो मे वर्ण-व्यवस्था भारतीय वर्ण-व्यवस्था के ही समान विद्यमान थी।

स्त्रियो की दशा इन देशो मे भारत की अपेक्षा अच्छी थी। जावा मे गुणप्रिया ने स्त्री होते हुए भी राज्य किया। कुछ प्रदेशो मे भाइयो के होते हुए भी लडकी सिंहासन पर बैठती थी। उन्हे स्वयवर द्वारा अपना पति चुनने का अधिकार था। बाली मे पर्दे की प्रथा न थी। स्त्रियाँ नि.सकोच पुरुषों से मिल सकती थी। राजकीय घरानो मे सती का भी रिवाज था।

यहाँ के निवासियो के मुख्य खाद्यान्न चावल और गेहूँ थे। फूलो, ताड के पेड, शहद आदि से शराब बनाई जाती थी। पान खाने का बहुत रिवाज था। वेश-भूषा भी इन लोगो की पूर्णतया भारतीय थी। यहाँ के निवासियों के मनोविनोद, जुआ खेलना, मुर्गे लडाना, सगीत और नाटको का अभिनय थे। इन अभिनयो के कथानक प्राय रामायण और महाभारत से लिये जाते थे।

भारत की भाँति ही इन देशो मे भी समाज दो वर्गों मे बँटा था। अभिजात वर्ग मे ब्राह्मणों और क्षत्रियो की गणना की जाती थी और उन्हे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे—जैसे कि वे बढिया प्रकार के कपडे और आभूषण पहनते थे और पालकियो और हाथियो पर सवारी कर सकते थे। साधारण व्यक्तियो को ये विशेषाधिकार न थे।

धर्म—इन सभी देशो मे हिन्दू धर्म बहुत लोकप्रिय था। ब्रह्मा, विष्णु और शिव सभी हिन्दू देवताओं की पूजा होती थी। बाली मे शिव, गणेश, नन्दी, अगस्त्य, ब्रह्मा, स्कन्द और महाकाल की मूर्तियाँ मिली है। शिव के अनुयायियो की सख्या सबसे अधिक थी, वैष्णवों की उससे कुछ कम। शिव, विष्णु और त्रिमूर्ति की जावा और कम्बुज मे अनेक मूर्तियाँ मिली है। जावा मे शिव को त्रिशूल और विष्णु को शख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये दिखाया गया है। फाहियान जब चौथी शती ईसवी मे जावा गया था तो उसने देखा था कि वहाँ ब्राह्मणधर्म का बहुत प्रचार था। बौद्ध धर्म अधिक लोकप्रिय न था। किन्तु छठी शती ईसवी मे वहाँ बौद्ध धर्म के अनुयायियो की सख्या बहुत अधिक हो गई। उपनिषदो के दार्शनिक तत्त्व और तान्त्रिक क्रियाओ से भी इन देशो के निवासी पूर्णतया परिचित थे। कम्बोडिया के अभिलेखो मे वेद, वेदाग, सामवेद, और बौद्ध धर्मग्रन्थो मे पारगत ब्राह्मणो का उल्लेख है। यहाँ के राजाओ और उनके मन्त्रियो को भी धर्मशास्त्रो का पूर्ण ज्ञान था। यहाँ रामायण, महाभारत और पुराणो के पाठ की भी प्रथा विद्यमान थी।

जावा और सुमात्रा मे सातवी शती ईसवी तक बौद्ध धर्म का हीनयान सम्प्रदाय बहुत लोकप्रिय था किन्तु आठवी शती मे शैलेन्द्र राजाओ के राज्यकाल मे महायान सम्प्रदाय का बहुत प्रचार हुआ।

बाली मे शिव और सूर्य की पूजा बहुत लोकप्रिय थी। वहाँ गृह्य-सूत्रो के अनुसार बहुत-से सस्कार किये जाते। कृषि की देवी 'श्री' और विद्या की देवी 'सरस्वती' के उपलक्ष्य मे उत्सव मनाये जाते। पितृ-पूजा भी प्रचलित थी। काली और दुर्गा को प्रसन्न करने के लिए पशु-बलि दी जाती। पूजा मे घृत, कुशा, तिल और मधु का प्रयोग भारत की भाँति ही बाली मे किया जाता। नदियो के नाम बाली मे भी गगा, सिन्धु, यमुना, कावेरी, सरयू और नर्मदा आदि थे। पुरोहित अधिकतर ब्राह्मण ही होते।

कम्बोडिया के अभिलेखो से ज्ञात होता है कि वहाँ के निवासियो को मोक्ष प्राप्ति की तीव्र इच्छा थी। यहाँ के राजाओ ने भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखे और अनेक आश्रमों की स्थापना की जो भारतीय सस्कृति के केन्द्र थे। इन आश्रमो मे अनेक विद्वान् स्वाध्याय और मनन मे अपना जीवन बिताते थे।

सभी देशो मे पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता थी। ब्राह्मण और बौद्ध सम्प्रदायो की साथ-साथ पूर्ण उन्नति हो रही थी। राजा और प्रजा सभी धर्मों का समान आदर करते थे।

कला

इन सभी उपनिवेशो मे भारतीय कला का पूर्ण विकास हुआ। कम्बोडिया की प्रारम्भिक कला पूर्णतया भारतीय है। वही से गुप्त कला का प्रसार हिन्दचीन मे हुआ। बहुत से स्थानो पर अमरावती शैली की बुद्ध की मूर्तियाँ है। मलय प्रायद्वीप मे महाकाल की मूर्ति मिली है और वहाँ एक ऐसा आभूषण मिला है जिसमे विष्णु को अपने वाहन गरुड़

पर दिखाया गया है। तकुआ-पा के निकट कई भारतीय शैली के अनुरूप मन्दिरों के खण्डहर मिले हैं। बोर्नियों में विष्णु, ब्रह्मा, शिव, गणेश, नन्दी और स्कन्द की मूर्तियाँ मिली हैं।

जावा की कला पर भारतीय कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। सम्भवत. डियग के पठार के हिन्दू मन्दिरो का निर्माण आठवीं शती ईसवी मे हुआ था। इन मन्दिरों के नाम महाभारत के पात्रों के नाम पर हैं। इनकी कला गुप्तकालीन मन्दिरों की कला के अनुरूप है। इनमें तीन मुख्य मन्दिर ब्रह्मा, विष्णु और शिव के हैं। इनमे भी शिव मन्दिर बहुत भव्य है। इसमे ४२ फलक ऐसे हैं जिनमे रामायण की कथा के दृश्य दिखाए गए हैं। प्रम्बनन की घाटी मे अनेक बौद्ध मन्दिर हैं जैसे कि चण्डी कलसन, चण्डी सेघु और चण्डी सेवु। चण्डी कलसन का निर्माण शैलेन्द्र राजाओ ने आठवीं शती ईसवी में तारादेवी के उपलक्ष्य में कराया था। चण्डी मेन्दुत मे बैठे हुए बुद्ध की तीन और बोधिसत्वो की दो मूर्तियाँ कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। किन्तु जावा का सर्वश्रेष्ठ स्मारक बोरोबुदूर है। इसका निर्माण एक शैलेन्द्र राजा ने नवी शती ईसवी मे कराया था। इसमे नीचे की छः मजिलें वर्गाकार हैं जिनके ऊपर की तीन मजिले वृत्ताकार हैं। सबसे ऊपर की मंजिल के ऊपर घंटाकार स्तूप है। नीचे की मजिल की दीवारो पर नरक के वीभत्स दृश्य दिखलाए गए हैं। इससे ऊपर की दीवारो पर बुद्ध के जीवन और उसके पूर्व जन्म के दृश्य १४०० मूर्तियों मे दिखाए गए हैं। इनमे कुछ महायान सम्प्रदाय के देवी देवता हैं। सबसे नीचे की छत की लम्बाई लगभग ९१.४ मीटर है और सबसे ऊपर की मजिल का व्यास २७.४ मीटर है। उपर्युक्त विवरण से इस भवन की विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है किन्तु यह अपनी मूर्तिकला और अलकरण के लिए भी बहुत प्रसिद्ध है।

बोरोबुदूर के निकट शिव का भी एक सुन्दर मन्दिर है। इसे चण्डी बनोन कहते हैं। इसमें विष्णु, शिव, ब्रह्मा, गणेश और अगस्त्य की सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं। शैलेन्द्र राजाओ के पतन के बाद शिव की पूजा बहुत लोकप्रिय हो गई। इसका श्रेष्ठ उदाहरण चण्डी लोरो जगरग है। यह एक चबूतरे पर बना है और इसके पास १५६ छोटे मन्दिर हैं। इस मन्दिर के अन्दर शिव की मूर्ति के अतिरिक्त ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियाँ मिली है। इसमें राम और कृष्ण के जीवन के अनेक दृश्य चित्रित किये गए हैं। शिव, ब्रह्मा, दुर्गा, महिषमर्दिनी, शेषनाग पर सोये हुए आठ हाथ वाले विष्णु, अप्सराओ, सीता-हरण, बालि-वध और हनुमान-सीता मिलन के चित्र भी बहुत सुन्दर बने हैं।

जावा मे ध्यानी बोधिसत्व, शिव, दुर्गा और महिषमर्दिनी की कासे की भी सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं।

कम्बुज का सर्वश्रेष्ठ स्मारक अगकोरवाट है। इसका निर्माण बारहवी शती ईसवी मे सूर्यदेव वर्मा द्वितीय ने करवाया था। इसके चारों ओर ४ किलोमीटर लम्बी तथा १९८.१ मीटर चौड़ी खाई है इसमे पूर्व से पश्चिम जाने वाली वीथी की लम्बाई लगभग २४३ ८ मीटर और उत्तर से दक्षिण की वीथी की लम्बाई १९८ १ मीटर है। बीच के शिखर की ऊंचाई धरातल से ७६.२ मीटर से अधिक है। इनसे इस भवन की विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है। इसमे अलंकृत मूर्तियाँ बहुत भव्य बनी है और प्रतिसाम्य का बहुत ध्यान रखा गया है।

चम्पा मे भी अनेक मन्दिर हैं। डोगडुओग के मन्दिर बौद्ध और माइसन और पोनगर के मन्दिर शैव हैं। इन मन्दिरों की रचना मद्रास के निकट मामल्लपुरम् के गुफा मन्दिरों की रचना के अनुरूप है।

बर्मा का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर आनन्द मन्दिर है। इसका निर्माण ग्यारहवी शती के अन्त मे हुआ था। यह लगभग १७१८ मीटर चौडे और इतने ही लम्बे चौकोर आगन मे बना है। मुख्य मन्दिर वर्गाकार है जिसकी प्रत्येक भुजा ५३ ७ मीटर है। इस मन्दिर के चारो ओर बीचोबीच मे १७.४ फुट लम्बे चार वलभियुक्त द्वारमण्डप है। मन्दिर मे २ ४ मीटर ऊँचे सिंहासन पर बुद्ध की ९.४ मीटर ऊँची बुद्ध की विशालकाय मूर्ति है। बाहर से इस मन्दिर की दीवार लगभग १२ मीटर ऊँची है। उनके ऊपर प्राचीरयुक्त मुडेरे है जिनके प्रत्येक कोने मे एक स्तूप है। इन छज्जों के ऊपर दो छतदार वीथियाँ है जो वृत्ताकार है। इन दो छत्तो के ऊपर चार तग छज्जे है जिनके ऊपर स्तूप हैं। इस मन्दिर के प्रत्येक भाग का अनुपात बहुत ठीक रखा गया है और प्रतिसाम्य का पूरा ध्यान रखा गया है। इसकी मूर्तिकला से इसका सौदर्य बहुत बढ गया है। इन उत्कीर्ण चित्रो मे बुद्ध के जीवन और जातक कथाओ के दृश्य दिखलाये गये है। विद्वानो का मत है कि जिन कलाकारो ने इसका निर्माण किया वे सब भारतीय थे। यह बर्मा की वास्तुकला का श्रेष्ठ उदाहरण है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इन प्रदेशो की कला पर भारतीय कला का बहुत प्रभाव पडा है।

साहित्य—कम्बुज, चम्पा, मलय प्रायद्वीप और जावा मे प्राप्त सस्कृत अभिलेखो से यह बात स्पष्ट है कि इन सभी देशो मे सस्कृत साहित्य के अध्ययन का प्रचलन था। इन अभिलेखो मे भारतीय धार्मिक साहित्य, व्याकरण, भाषा-विज्ञान, दर्शन, राजनीति विज्ञान और काव्यो का उल्लेख है। कम्बुज के अभिलेखो मे ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख है जो वेद, वेदाग, सामवेद, और धर्मशास्त्रो मे पारगत थे। प्रतिदिन रामायण, महाभारत और पुराणो की कथा कहने की व्यवस्था की जाती थी। अनेक लोग इन पुस्तको की प्रतियाँ मन्दिरो को दान मे देते थे। यह एक पुण्य कार्य समझा जाता था। कम्बुज के कुछ नरेश जैसे इन्द्रवर्मा और यशोवर्मा सस्कृत के विद्वान् थे। यशोवर्मा का मन्त्री ज्योतिष का विद्वान् था। नवी तथा दसवी शती ईसवी के अभिलेखो से यह स्पष्ट है कि इनके रचयिता सस्कृत के सभी छन्दो को जानते थे। उनमे वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, बौद्ध तथा जैन साहित्य, छहो दर्शन, वात्स्यायन के कामसूत्र और मनुस्मृति का उल्लेख है। इनकी काव्य-शैली बडी मनोहारी और परिमार्जित है। इन अभिलेखो से यह भी ज्ञात होता है कि इनके लेखको को रामायण, महाभारत, पुराण और कालिदास के ग्रन्थो का भी पूर्ण ज्ञान था। एक अभिलेख मे चार श्लोक ऐसे है जिनमे रघुवश के चार श्लोकों की झलक स्पष्ट दिखलाई देती है।

जावा के अभिलेखो की लिपि पल्लव और वेगी की लिपि से मिलती-जुलती है। जावा का साहित्य भारतीय साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करके ही विकसित हुआ है। व डिरि, सिंहमारि और मजपहित के राजाओ के सरक्षण मे १००० ई० से १५०० ई० तक इस साहित्य का बहुत विकास हुआ। इस साहित्य की भाषा जावा की भाषा है जिसमे सस्कृत के शब्दो का प्राचुर्य है। विषय भारतीय हैं और छन्द भी सस्कृत भाषा के है। सबमे प्रसिद्ध ग्रन्थ रामायण और महाभारत के अनुवाद हैं। महाभारत से प्रेरणा प्राप्त कर अनेक काव्य, जैसे अर्जुन-विवाह, भारत-युद्ध, स्मरदहन, सुमन-सान्तक लिखे गए। स्मृति, पुराण, इतिहास, भाषा-विज्ञान और आयुर्वेद पर भी भारतीय ग्रन्थो के अनुरूप ही अनेक पुस्तके लिखी गई।

बोर्नियो म लगभग ४०० ईसवी के चार अभिलेख मिले है जिनसे ज्ञात होता है कि वहाँ के राजा मूलवर्मा ने अनक यज्ञ कराये और ब्राह्मणो को बहुत दान दिया। ये अभिलेख यूपो पर उत्कीर्ण हैं।

बर्मा और लका मे भारतीय बौद्ध साहित्य का भली-भाँति अध्ययन किया जाता था। वहाँ का पालि साहित्य इसी भारतीय साहित्य पर आधारित है।

इन उपनिवेशों की राजनीतिक व्यवस्था पर भी भारतीय धर्मशास्त्रो और अर्थशास्त्रो का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। वहाँ भी सूर्य और चन्द्र की कलाओ पर आधारित वर्ष और शक सवत् का प्रयोग होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत का अपने पडोसी पूर्वी राज्यो पर बहुत प्राचीन काल से व्यापक सांस्कृतिक प्रभाव पडा। बर्मा, थाइलैण्ड, मलाया, कम्बोडिया, जावा और लका की संस्कृति पर व्यापार और धर्म-प्रचार के कारण भारतीय सस्कृति का बहुत प्रभाव पडा। किन्तु भारतीयो ने इन देशो का आर्थिक शोषण नही किया। रमेशचन्द्र मजूमदार ने ठीक ही कहा है—"भारत के औपनिवेशिक और सास्कृतिक विस्तार की कहानी भारतीय इतिहास का एक जाज्वल्यमान किन्तु विस्मृत परिच्छेद है। प्रत्येक भारतीय को इसका गर्व होना चाहिए।"

सहायक ग्रन्थ

राजबली पाण्डेय	**प्राचीन भारत**, अध्याय २३
राधाकुमुद मुकर्जी	**प्राचीन भारत**, अध्याय १५ अनुवादक—बुद्ध प्रकाश
नगेन्द्रनाथ घोष	**भारत का प्राचीन इतिहास**, अध्याय १८
R. C Majumdar, H C Raychaudhuri and Kalikankar Datta	*An Advanced History of India*, Part I, Chapter 15
R. C. Majumdar	*Ancient India*, Chapter 22.
R C. Majumdar and A D Pusalkar	*The History & Culture of the Indian People, The Classical Age*, Chapter 24.
R. C. Majumdar and A. D. Pusalkar	*The History & Culture of the Indian People, The Imperial Kanauj*, Chapter 14.
R C. Majumdar and A. D Pusalkar	*The History & Culture of the Indian People, The Struggle for Empire*, Chapter 21.

अध्याय २५

पूर्व-मध्यकालीन भारत के इतिहास का सिंहावलोकन

(A Survey of Early Medieval Indian History)

पूर्व-मध्यकाल के भारत के इतिहास को दो भागों मे बाँटा जा सकता है। ७१२ ई० से १००० ई० तक का काल सुधार और सत्ता के पुनःसस्थापन का युग था। जबकि १००० ई० से १२०६ ई० तक का काल सत्ता के विकेन्द्रीकरण और पतन का युग था।[1]

पाँचवी शताब्दी के अन्तिम वर्षों और छठी शताब्दी के आरम्भिक वर्षों मे हूणो के आक्रमण के कारण गुप्त साम्राज्य को बडा जबर्दस्त धक्का लगा। दशपुर के यशोधर्मा ने एक बडे साम्राज्य की स्थापना करके कुछ समय के लिए राजसत्ता को पुन स्थापित कर दिया। किन्तु उसका साम्राज्य चिरस्थायी न हो सका। उसकी मृत्यु के साथ ही उसका साम्राज्य नष्ट हो गया। हर्षवर्धन और कान्यकुब्ज के यशोवर्मा के साम्राज्यो की भी यही दशा हुई। इन साम्राज्यो के असफल होने का मुख्य कारण यह था कि ये शासक अपनी जनता मे से ऐसे योग्य अधिकारी न चुन सके जो उनके साम्राज्य और सफलताओ को चिरस्थायी बनाते। आठवी शताब्दी मे उत्तर मे प्रतीहारो ने, दक्षिण में राष्ट्रकूटो ने और पूर्व मे पाल राजाओ ने स्थायी साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। सिन्ध मे अरब लोग पहले ही बस चुके थे और उत्तर भारत पर उनके आक्रमण का पूरा डर था, किन्तु शास्त्रकारो ने आर्यावर्त्त का एक व्यापक अर्थ किया। उनके अनुसार वह प्रदेश, जहाँ आर्य लोग रहते हैं और जहाँ आर्य लोग विदेशियो से हारकर भी कुछ समय बाद उन्हे अपने देश से निकालने मे समर्थ हुए आर्यावर्त्त कहलाता है। इस परिभाषा से प्रोत्साहन प्राप्त कर गुर्जर प्रतीहार राजाओं ने एक चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। हूण और अरबो के आक्रमण उन्हे हिला न सके। उन्होने फिर एक बार गुप्त राजाओ से भी विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया।

इस काल मे राजनीतिशास्त्र मे कोई नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित नही किये गए, किन्तु सोमदेव सूरि ने 'नीतिवाक्यामृत' नाम के ग्रन्थ की रचना की। मेधातिथि ने मनुस्मृति पर और विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर टीकाएँ लिखी। सोमदेव ने राजनीति को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का आधार माना। उसने लिखा है कि जो कोई व्यक्ति अपना राज्य स्थापित कर ले, राजा कहलाने का अधिकारी है। मेधातिथि के अनुसार राजा को लोक-कल्याण और अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए पुण्य कार्य करने चाहिए। इस प्रकार राजा के धर्मनिरपेक्ष कर्त्तव्यों पर बल दिया गया है। प्रतीहार राजाओं ने शासन-व्यवस्था को गुप्तकाल से भी अधिक सगठित और केन्द्रित बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने गुप्तकाल की सामन्त प्रथा को शक्तिहीन करके योग्य राजकर्मचारी नियुक्त

१ विशेष विवरण के लिए देखें—
Indian History Congress Proceedings, 1955. Presidential Address, Section II by Dr. R. B Pandey.

किए। मसूदी ने लिखा है कि भारत में प्रतीहार साम्राज्य से अधिक डाकुओ से सुरक्षित कोई देश नहीं है। इससे प्रतीहारों के शासन की श्रेष्ठता स्पष्ट विदित है।

समाज वर्णाश्रम धर्म पर आधारित था। इस काल के स्मृतिकार यह भली प्रकार समझते थे कि प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था नवीन परिस्थिति मे पूर्ववत् नही चल सकती, इसलिए उन्होंने समाज के नियमों को लचीला बनाने का प्रयत्न किया। हूण आदि विदेशी जातियाँ हिन्दू समाज में पूर्णतया घुल-मिल गई। केवल सिन्ध में रहने वाले अरब भारतीय समाज में न मिल सके। कपिल नाम के एक शक ने संस्कृत में एक ग्रन्थ की रचना की। ब्राह्मण और क्षत्रिय वशो मे हूण कन्याओ का विवाह हुआ। परन्तु अरबो की सर्वथा भिन्न संस्कृति से बचने के लिए हिन्दुओं ने अपने को उनसे बिलकुल अलग रखा। जिन हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बना लिया गया उनकी शुद्धि करके उन्हे फिर हिन्दू समाज मे वापस ले लिया गया। इस प्रकार की व्यवस्था देवल स्मृति में स्पष्ट की गई है। इस प्रकार इस काल के हिन्दू समाज मे उतनी सकीर्णता न थी जितनी पीछे से आ गई।

गुप्तकाल मे हिन्दू, बौद्ध और जैन सभी को अपने धर्म के सिद्धांतो का प्रतिपादन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। इस काल मे कुमारिल ने मीमांसा और वैदिक कर्मकाण्ड का समर्थन किया और अवैदिक मतो का खण्डन किया जिससे हिन्दू धर्म मे एक नवीन शक्ति का सचार हुआ। परन्तु कुमारिल का वैदिक कर्मकाण्ड को पुन.स्थापित करने का यह प्रयत्न पूर्णतया सफल न हुआ। शकराचार्य ने वेदो के प्रति पूर्ण आदर प्रदर्शित किया, किन्तु वैदिक कर्मकाण्ड को इतना महत्त्व न दिया। उन्होने उपनिषदो के दार्शनिक सिद्धान्तो और बौद्ध धर्म की महायान शाखा के सिद्धान्तो मे सुन्दर समन्वय स्थापित करके अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन किया। इसका फल यह हुआ कि बौद्ध धर्म का अस्तित्व ही भारत मे समाप्त हो गया। यही नही, हिन्दू धर्म मे इतनी शक्ति आ गई कि यह इस्लाम और ईसाई धर्म के आक्रमणो का भी सफलतापूर्वक सामना कर सका। शकर ने शैव, वैष्णव और शाक्त सम्प्रदायो की बुराइयाँ दूर करके भक्ति-मार्ग मे नवीन जीवन का सचार किया और समस्त देश मे अपने दर्शन और धर्म का प्रचार करने के लिए स्थान-स्थान पर पीठ और मठ स्थापित किये। उनके कार्य से यह स्पष्ट झलकता है कि वे एक महान् सुधारक और सगठनकर्ता थे।

इस काल के साहित्य मे भी हमे उसी सुधार और सगठन की भावना का दर्शन होता है जो धार्मिक क्षेत्र में दिखाई देती है। नाटको मे जनसाधारण की समस्याओ और भावनाओ का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई पडता है। 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित' मे भवभूति ने राम के जीवन का वर्णन किया है। 'मुद्राराक्षस' में विशाखदत्त ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना और किस प्रकार इस नये राज्य ने अपनी स्थिति दृढ़ की, इसका वर्णन है। नवी शताब्दी मे भीम के 'प्रतिभा चाणक्य' और राजशेखर के 'बाल-रामायण' तथा 'बाल-भारत' में राजनीतिक महत्त्व की घटनाओ का वर्णन है। भारतीय इतिहास मे प्राय सभी राजनीतिक जागरण राम-राज्य के आदर्श और शिव की बुराइयो को नष्ट करने वाली शक्तियो से अनुप्राणित हुए हैं। इस काल के नाटको के मुख्य विषय भी यही हैं। काव्यो के मुख्य विषय भी इस राजनीतिक पुनर्जागरण की भावना से ओतप्रोत हैं। राजानक रत्नाकर ने 'हर-विजय' मे शिव के द्वारा अन्धक राक्षस का नाश दिखाया है। अभिनन्द के 'रामचरित', वासुदेव के 'युधिष्ठिर-विजय', धनञ्जय के 'राघव-पाण्डवीय' और पद्मगुप्त के 'नव-साहसांक-चरित' मे हमे इसी राजनीतिक जागरण का दर्शन होता है। इस काल मे छन्दशास्त्र और काव्यमीमासा के भी कुछ ग्रन्थ लिखे गए। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन विद्वानो ने बहुत-से दर्शन-ग्रन्थ भी लिखे। व्याकरण, कोष, आयुर्वेद, गणित, ज्योतिष के कुछ ग्रन्थो की रचना भी इस काल में हुई।

इस सुधार और पुनःस्थापन के आन्दोलन के होते हुए भी उत्तरी भारत के अनेक छोटे हिन्दू राज्य एक-एक करके तुर्क और अफ़गानों के आक्रमणों के सामने धराशायी हो गए। इससे पहले भी पारसी, यूनानी, पह्लव, शक, कुषाण और हूण आदि जातियो ने भारत पर आक्रमण किए थे, किन्तु भारतीयो ने शीघ्र ही अपने बाहुबल से अपने को उनके नियन्त्रण से मुक्त कर लिया। उनमे बहुत-से तो पूर्णतया भारतीय हो गए। किन्तु मुसलमानो के आक्रमणों के विरुद्ध सभी हिन्दू राज्य असफल हुए। अब हम उन कारणो का विवेचन करेगे जिनके कारण भारतीय मुसलमानो के विरुद्ध असफल रहे।

राजनीतिक कारण

चौथी शताब्दी ईसवी तक उत्तर भारत मे राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनो प्रकार के राज्य स्थापित रहे। गणतन्त्र राज्यो की प्रजा शासन मे सक्रिय भाग लेती रही। किन्तु पाँचवी से दसवी शताब्दी तक निरकुश राजतन्त्र का बोलबाला रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता की राजनीति मे कोई रुचि न रही। वह राजनीतिक मामलो से पूर्णतया उदासीन हो गई। प्रजा किसी भी राजवश या राजा को स्वीकार करने लगी। जब विदेशियो ने अपना राज्य स्थापित किया तो भारतीय प्रजा ने उनके राज्य को भी प्रारम्भिक सघर्ष के बाद स्वीकार कर लिया।

भारत की असफलता का वास्तविक प्रमुख कारण सामन्त प्रथा का उदय था। छोटे-छोटे सामन्तो को उनकी सेवाओ के बदले में भूमि दे दी गई, उन पर केवल सकट के समय केन्द्रीय सरकार को कुछ सेना भेजने का उत्तरदायित्व था। इन सेनाओ मे न वह अनुशासन था न उतने अच्छे अस्त्र-शस्त्र जो एक शक्तिशाली राजा की अच्छी प्रकार प्रशिक्षित सेना मे होते हैं। साधारण जनता केवल इन सामन्तो के प्रति अपनी भक्ति रखती थी। इस प्रकार जनता का दृष्टिकोण प्रादेशिक हो गया। केन्द्रीय सरकार या देश की सहायता करने के कर्त्तव्य की उन्हे कोई अनुभूति न रही। जब केन्द्रीय सरकार पर कोई आपत्ति आती तो वे उसकी सहायता करना अपना कर्त्तव्य नही समझते थे।

प्राचीन भारत मे एक अखिल भारतीय साम्राज्य का आदर्श विकेन्द्रीकरण की शक्तियो को अधिक प्रबल होने से रोके रखता था। प्रतीहार और राष्ट्रकूटो ने दसवी शताब्दी के मध्य तक इस आदर्श को सामने रख कर देश के टुकडे-टुकडे न होने दिए। किन्तु ये शक्तिशाली राज्य अपना प्राधान्य स्वीकार कराने के लिए आपस मे लडते रहते थे। दिल्ली, कन्नौज, बुन्देलखण्ड और गुजरात के राजाओ की युद्ध-शक्ति आपस मे लडते रहने के कारण बहुत कम हो गई। गहडवाल और चौहानो के बीच कोई तीस वर्ष तक चक्रवर्तित्व के लिए कशमकश चलती रही। फलत. दोनो राष्ट्र बलहीन हो गए। इस प्रकार ये राज्य सगठित होकर विदेशियो का सामना न कर सके। वे व्यक्तिगत शौर्य दिखला सके किन्तु सगठित शौर्य का प्रदर्शन करने मे असमर्थ रहे। कुछ भारतीय राजा तो विदेशी शत्रु के आक्रमण के समय ही अपने शत्रुओ से पुराने वैर का बदला लेने की सोचते। इस काल मे कोई ऐसा नेता न हुआ जो भारत की विदेशियो से रक्षा कर सकता। पृथ्वीराज तृतीय, गुजरात का भीमदेव द्वितीय और बुन्देलखण्ड का परमाल सब भोग विलासी थे। जयचन्द्र ने देश के सकट के समय मे भी अपने व्यक्तिगत और राजनैनिक द्वेष को नहीं छोडा। जब शिहाबुद्दीन गौरी ने इन राज्यो पर आक्रमण किए तो इनकी सेनाएँ विदेशी सेनाओ के सामने न टिक सकीं। इस प्रकार इन राज्यो की आपस की फूट दासता का कारण बनी।

दक्षिण भारत की राजनीतिक अवस्था इतनी खराब न थी जितनी उत्तर भारत की। वहाँ के निवासी अपने राज्य की रक्षा के लिये सब-कुछ न्यौछावर करने को तैयार रहते। परन्तु उत्तर भारत की जनता मे राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव था। लोगों मे यह भावना न थी कि राज्य हमारा है और राजा भी हमारा ही होना आवश्यक है। जनता जो भी राजा हो उसके प्रति राजभक्ति दिखाने को सदा उद्यत रहती थी। राजपूत अपने देश के लिए नही अपितु अपने स्वामी के लिए प्राण न्यौछावर करते। जब मुसलमान राजा हो गए तो कुछ समय बाद जनता उनके प्रति भक्ति दिखाने लगी।

भारतीयो की मुसलमानो के विरुद्ध असफलता का एक अन्य कारण भारत का दूसरे देशो से बिलकुल अलग हो जाना भी था। पश्चिमी एशिया मे अरबो ने और मध्य एशिया मे तुर्कों ने अपनी शक्ति बढा ली थी। इससे भारत के एशिया, यूरोप और अफ्रीका के देशो से सम्बन्ध न रहे। समुद्र पर भी अरबों और शैलेन्द्र राजाओ का अधिकार हो गया। जब भारत का दूसरे देशो मे सम्पर्क न रहा तो यहाँ के निवासी कूपमण्डूक हो गए। उनकी धारणा बन गई कि कलियुग मे भारतवर्ष म्लेच्छो के अधीन होगा। इस प्रकार के मिथ्या विश्वासो का परिणाम भारतीयो के लिए अनर्थकारी हुआ। वे समझ बैठे कि हमारी पराजय अवश्य होगी। विदेशियो मे धार्मिक उत्साह और धनलिप्सा प्रबल थी। भारतीयो मे इस प्रकार के उत्साह का पूर्ण अभाव था।

लगभग ५०० वर्ष तक तोरमाण से महमूद गजनवी के समय तक उत्तर भारत पर कोई विदेशी हमले न हुए। केवल सिन्ध पर अरबों का अधिकार हो गया। शेष उत्तरी भारत बाह्य आक्रमणो के भय से सर्वथा मुक्त रहा। राजपूत राजा निःसदेह बडे पराक्रमी थे। उन्हे पराधीनता असह्य थी। पृथ्वीराज चौहान ने तुर्कों की सैनिक बाढ को रोकने का प्रयत्न किया। परन्तु जब वह बाँध टूट गया तो एक के बाद एक सारे हिन्दू राज्य समाप्त हो गए। बाह्य आक्रमणो से मुक्त रहने के कारण वे अपने को सब से विद्वान् और शक्तिशाली समझ बैठे। ऐसी दशा मे वे विदेशियो के विरुद्ध लडने की तैयारी ही क्या करते।

उन्हे अन्तिम समय तक यह पता नही लगता था कि शत्रु की सेना कितनी है और उसकी युद्ध योजना क्या है। उन्होने विदेशियो की उस युद्ध प्रणाली को नही अपनाया जिसके द्वारा वे सहसा आक्रमण करके भारतीयो पर विजय प्राप्त कर लेते थे और भारतीयो को सोचने विचारने या तैयारी करने का अवसर ही नही देते थे। उन्होने तोपखाने की ओर भी ध्यान नही दिया। उनकी अश्व-सेना भी इतनी अच्छी न थी जितनी विदेशियो की।

इस काल में भारतीय राजाओ की सैनिक शक्ति भी कम हो गई। छोटे-छोटे सामन्तो की इतनी सामर्थ्य कहाँ थी कि हाथी, घोडो और पैदल सेनाओ को बडी सख्या मे रखकर उसका खर्च चला सके। विदेशी आक्रमण के समय सब सामन्त अपनी सेना इकट्ठी करते थे। एक सगठित और पूर्णतया प्रशिक्षित सेना रखना प्राय असम्भव हो गया। सेना का नेतृत्व करने के लिए विविध सामन्तो मे झगडा होता था। भारतीय सेनाएँ अपने सामन्त के प्रति भक्ति रखती थी, उनमे देशभक्ति की भावना का प्राय अभाव था। अश्वसेना भी अब इतनी अच्छी न रही जितनी पहले, जब घोडे फारस से मँगाए जाते थे। एक नेता न होने के कारण भारतीय सेना का सगठन भी ढीला रहता था। भारतीय राजा युद्ध की चालो मे इतने कुशल न थे जितने कि तुर्क योद्धा। इसलिए उनकी थोडी सेना भी भारतीयो की बडी सेना को पराजित कर सकी।

सामाजिक कारण

प्राचीन काल मे जाति-प्रथा इतनी जटिल नही हुई थी कि समाज की प्रगति मे बाधक हो जाए। गुप्तकाल मे अन्तर्जातीय विवाह तो होते ही थे, विदेशियो के साथ भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना बुरा नही समझा जाता था। पूर्व-मध्यकाल मे हिन्दू समाज ने विदेशियों से अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए अपने सामाजिक नियम पूर्णतया अपरिवर्त्तनशील बना दिए। उनमे थोडा भी हेर-फेर करना सम्भव न रहा। जाति-प्रथा ने हिन्दू समाज के टुकडे-टुकडे कर दिए। एक-एक वर्ण मे सैकडो जातियाँ बन गई। ब्राह्मणो मे ही विभिन्न प्रदेशो के आधार पर दस उपजातियाँ बन गई। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रा मे भी अनेक उपजातियाँ बन गई। इन उपजातियो में [illegible] के अन्दर ही खानपान, वैवाहिक सम्बन्ध आदि होते। उन्हे अपने वर्ण का तो पता भी न [illegible] हिन्दू जाति सगठित होने के स्थान पर टुकडे-टुकडे हो गई। भारतीय जनसख्या का अधिक-से-अधिक दसवाँ भाग लडने योग्य रह गया। शेष नौ भाग अपने को विदेशियो के विरुद्ध लडने के अयोग्य समझने लगे। वे किसी भी राजा के सामने सिर झुकाने को तैयार रहते। शत्रु के विरुद्ध लडना केवल राजपूतो या क्षत्रियों का कर्त्तव्य माना जाने लगा। ऐसा टुकड़े-टुकडे मे बँटा हिन्दू-समाज सगठित तुर्कों का सामना कैसे कर सकता था।

राजपूत राजा भी जब तुर्कों के विरुद्ध हार गए तो मध्य-देश को छोड कर राजस्थान के मरु-स्थल या पहाडो मे जा बसे और वही उन्होने अपने नए राज्य स्थापित कर लिए।

अलबेरूनी ने स्पष्ट लिखा है कि हिन्दू लोग एक बार अपवित्र हुई वस्तु को शुद्ध करके फिर अपने समाज मे लेना नही चाहते। इसका यह अर्थ स्पष्ट है कि वह हिन्दू समाज जिसने असंख्य यूनानियो शको, कुषाणो और हूणो को अपनी सस्कृति मे रगकर आत्मसात् कर लिया था, अब अपने उन भाई-बहनो को भी लेने को तैयार न था जो किसी कारण से अपने से अलग हो गए थे। जाति-प्रथा इतनी जटिल हो गई कि खान-पान के बन्धन उसका आवश्यक अग समझे जाने लगे। अपने मे भिन्न सस्कृतियो से सम्पर्क न रहने के कारण समाज मे नए विचारो के समाविष्ट न होने से उसका पतन हो गया। उच्च कुलो मे विधवा विवाह बुरा समझा जाता और विधवाओ को बडा कष्टमय जीवन बिताना पडता था।

आर्थिक कारण

इस काल मे सिचाई के साधनो का विकास होने के कारण कृषि उन्नत दशा मे थी। उद्योगो मे वस्त्र व्यवसाय और चमडा व्यवसाय बहुत अच्छी दशा मे थे। भारतीय नगर बहुत समृद्ध थे। उच्च समाज मे अनेक प्रकार के वस्त्र और आभूषण पहने जाते थे। दरबारो मे भोग-विलास के सभी साधन विद्यमान थे। वस्तुपाल और तेजपाल जैसे सेठ अब भी दो करोड रुपये दान मे दे सकते थे, किन्तु जनसाधारण की, विशेष रूप से किसानो और कारीगरो की आर्थिक दशा अच्छी न थी। सम्भवत यह आर्थिक विषमता भी कुछ अश मे हिन्दुओ की पराजय का कारण रही हो।

धार्मिक कारण

इस काल मे अहिसा तत्त्व का पुनरुदय हुआ। बौद्धो, जैनो और वैष्णवो ने अहिसा पर इतना बल दिया कि युद्ध करना बिलकुल अनावश्यक मान लिया गया। सभी ब्राह्मण और वैश्य शान्तिप्रिय और अहिसाप्रेमी बन गए। राजपूतो को छोडकर प्राय सारा हिन्दू समाज युद्ध के प्रति अनिच्छुक

और कमजोर हो गया। इसके फलस्वरूप बहुत-से स्थानों पर भारतीयो ने बिना लड़े ही विजय की आशा बाँध ली। बगाल, बिहार आदि मे कुछ भारतीय बिना लड़े ही मुसलमानो के अधीन हो गए।

वाम-मार्ग और तान्त्रिको की क्रियाओं ने धर्म का स्थान ले लिया। धर्म मे बाह्याडम्बर प्रमुख हो गया। उसका वास्तविक स्वरूप प्राय नष्ट हो गया। विनयपिटक के अनुशासन के स्थान पर गुह्य-समाज मे बुद्ध को भोग-विलास मे लीन प्रदर्शित किया गया और मांस, मछली, शराब और स्त्रियो का उपभोग देव-पूजा का आवश्यक भाग माना जाने लगा। व्यभिचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया और बौद्ध मठ व्यभिचार के अड्डे बन गए। बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ भी शराब का प्रयोग करने लगे और यदि कोई इसके विरुद्ध दण्ड देने की व्यवस्था करता तो वे बड़ी सख्या में इसका विरोध करते। शकर द्वारा स्थापित मठ भी भोग-विलास के अड्डे बन गए। बहुत-से सन्यासी समाज पर भार-रूप हो गए। उनमे वह त्याग और समाज-सेवा की भावना न रही जो शकर के प्रारम्भिक अनुयायियो मे थी। मन्दिरो मे देवदासियो का रखना एक साधारण-सी बात हो गई। समाज मे नैतिक आदर्शों की ओर अब किसी का ध्यान न था। इब्नबतूता ने तो यहाँ तक लिखा है कि भारतीय समाज में व्यभिचार को हेय नही समझा जाता।

साहित्य और कला

साहित्य और कला मे भी इस काल मे कोई नवीन कृतियाँ न हुई। इस काल मे अधिकतर ग्रन्थो पर भाष्य लिखे गए। नवीन विचारो का प्राय सर्वत्र अभाव रहा। इस काल के साहित्य मे कालिदास की सहज कल्पना और स्वाभाविकता का सर्वथा अभाव है। विचारो मे दुरूह कल्पना और भाषा मे कृत्रिमता भरी पड़ी है। काव्यो मे अब वह नैतिकता न रही जो गुप्तकाल मे थी। शृगार के अश्लील वर्णन करने मे इस काल के कवियो को लेशमात्र भी सकोच न हुआ। क्षेमेन्द्र जैसे महाकवियों ने अपनी पुस्तक 'समय-मातृका' मे एक वेश्या की आत्मकथा लिखी। इसमे नायिका का जो चरित्र चित्रित किया गया है उससे समाज के नैतिक पतन की पराकाष्ठा स्पष्ट दिखाई पडती है। दामोदरगुप्त के 'कुट्टिनीमतम्' को पढने से यह भावना दृढ हो जाती है। इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव हमे राजशेखर की 'कर्पूर-मजरी' से लेकर नयचन्द्र सूरी की 'रम्भा-मजरी' तक के काव्यो मे बहने वाले मस्त शृगार की बाढ को देखने से ही हो जायगा। 'नैषध-चरित' जैसे श्रेष्ठ काव्य मे भी अलकार और छन्दशास्त्र की विलक्षण कृतियो का बाहुल्य है। नाटक और विज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थो का प्राय अभाव रहा।

कला मे भी बडे-बडे मन्दिरो और सजावट का बाहुल्य है। गुप्तकाल की सादगी तथा सौष्ठव इस काल की कृतियो मे नही मिलता। समाज के नैतिक पतन की छाप इस काल की कलाकृतियो मे स्पष्ट दिखलाई देती है। मन्दिरो की तक्षण कला मे भी शृगार के दृश्यो का बाहुल्य है।

इस प्रकार हिन्दू समाज की वह प्रेरक शक्ति प्राय समाप्त हो गई जिसने उसे ऊँचा उठाया था। इसी कारण हिन्दू समाज विदेशियो का सफलतापूर्वक सामना न कर सका।

उपर्युक्त विवेचन से पाठकों को यह नही समझ लेना चाहिए कि हिन्दुओ ने सब जगह बिना लडे मुसलमानों के आगे हथियार डाल दिए। राजस्थान, आसाम, उडीसा और दक्षिण भारत मे कई ऐसे प्रदेश थे जो मुसलमानो के चंगुल मे न फँसे। उत्तर भारत के हिन्दू जमीदार भी केन्द्रीय विदेशी सत्ता के निर्बल होते ही विद्रोह का झडा खडा कर देते थे। जो हिन्दू शासको के दबाव मे मुसलमान हो जाते प्रायः उन्हे फिर हिन्दू समाज में लेना कठिन था, किन्तु शेष हिन्दू अपने धर्म की रक्षा के लिए अब भी अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार थे। यही कारण है कि बिहार और उत्तर प्रदेश मे ७००

वर्ष के मुसलमानी शासन के बाद भी मुसलमान अल्पसख्या मे रहे। हिन्दुओ की धार्मिक आस्था उन्हे जीवित रख सकी, परन्तु अब उसमे इतनी शक्ति न थी कि विदेशियो को निकालकर फिर भारतीय स्वतन्त्रता स्थापित कर सके।

सहायक ग्रन्थ

राजबली पाण्डेय	**प्राचीन भारत**, अध्याय २२
चिन्तामण विनायक वैद्य	**हिन्दू सभ्यता का अन्त**, सातवी पुस्तक, प्रकरण २५, २६
आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव	**दिल्ली सल्तनत**, अध्याय ४
R. C Majumdar and A D. Pusalkar	*The History and Culture of the Indian People, The Struggle for Empire,* Chapter 4
U N. Ghoshal	*Studies in Indian History & Culture,* Chapter 17.

शब्द-सूची

अ

आ

इ

द

ध

न

फ

ब

भ

म

य

र

श

स

ह

मोहेंजोदड़ो मुहरें

मोहेंजोदड़ो शिव पशुपति

प्लेट 2

साची-स्तूप

नन्दनगढ : अशोक स्तम्भ

गाधार—बुद्ध

अमरावती—स्तूप

अमरावती   नल-गिरि हाथी दमन

मुखलिग —खोह

अन्जता गुफा सख्या 19

नालदा   कांसे की बुद्ध मूर्ति

देवगढ शेषशायी

महाबलिपुरम् महिषासुर मर्दिनी

प्लेट 7

महाबलिपुरम पाँडव रथ

बगाल विष्णु मूर्ति

तंजौर वृहदीश्वर मन्दिर

प्लेट 8 खजुराहो विश्वनाथ मंदिर

(इस पुस्तक के समस्त चित्र भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के सौजन्य से प्राप्त हैं)